अधीनस्थ की ज्ञानमीमांसा

समाजशास्त्र में दलित एवं दलित प्रश्नों की पड़ताल

अजय कुमार

भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान
राष्ट्रपति निवास, शिमला

© भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला
© Indian Institute of Advanced Study, Shimla

प्रथम संस्करण, 2024
First Edition, 2024

सर्वाधिकार सुरक्षित।
प्रकाशक की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में या माध्यम से पुस्तक का कोई भी भाग पुनः प्रस्तुत या प्रसारित नहीं किया जा सकता है।
All rights reserved.
No part of book may be reproduced or transmitted, in any form or by any means, without the written permission of the publisher.

ISBN: 978-93-82396-97-0

मूल्य | Price : 675/-

सचिव
भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान
राष्ट्रपति निवास, शिमला–171005 द्वारा प्रकाशित

Published by
The Secretary
Indian Institute of Advanced Study
Rashtrapati Nivas, Shimla-171005

मुद्रक : एक्सेल प्रिंटिंग यूनिवर्स, नई दिल्ली–110067
Printed at Excel Printing Universe, New Delhi-110067

टाइपसेट : ऊषा कश्यप, नई दिल्ली
Typeset by : Usha Kashyap, New Delhi

आभार

दलित जीवन की निर्मितियाँ भला अकेली कहाँ होती हैं? उसकी उपलब्धियाँ, सफलताएँ-असफलताएँ व्यक्तिगत न होकर सामूहिक हैं। दलित अध्ययनों की निर्मिति से ही सामूहिक जीवन बोध जुड़ा है। सबसे पहले मैं भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला का धन्यवाद दूँगा जिसने वर्ष 2017 में मुझे फ़ेलोशिप प्रदान की। मैं संस्थान की तत्कालीन शासी निकाय की अध्यक्षा प्रोफ़ेसर चन्द्रकला पाड़िया और निदेशक प्रोफ़ेसर ए.के. चतुर्वेदी व उनके बाद शासी निकाय के अध्यक्ष रहे प्रोफ़ेसर कपिल कपूर एवं निदेशक रहे प्रोफ़ेसर मकरंद आर.परांजपे का आभार व्यक्त करता हूँ। वर्तमान निदेशक प्रोफ़ेसर नागेश्वर राव का भी मैं आभारी हूँ कि उन्होंने इसे प्रकाशित करवाने में रूचि दिखाई।

प्रोफ़ेसर शेखर पाठक, डॉ. समीर बनर्जी, प्रोफ़ेसर विजय वर्मा, प्रोफ़ेसर माधवन, प्रोफ़ेसर जगदीश लाल डावर, प्रोफ़ेसर त्रिलोकी सिंह, प्रोफ़ेसर मुंडोली नारायणन, प्रोफ़ेसर डमरूधर नाथ, डॉ.मार्टिन, प्रोफ़ेसर बहारुल इस्लाम, प्रोफ़ेसर विजयारामास्वामी (अब हम सबके बीच नहीं हैं), डॉ.प्रदीप नायक, डॉ. ललिता राजा, डॉ. गिरिजा, डॉ. गौहर, डॉ. प्राची दुबले, डॉ. लियोन मोरेनास, डॉ. ज्योति सिन्हा, प्रोफ़ेसर हितेंद्र पटेल, प्रोफ़ेसर सुजाता पटेल, प्रोफ़ेसर रेखा चौधरी, प्रोफ़ेसर शरद देशपांडे, डॉ.संघमित्रा साधू, डॉ. सुतपा दत्ता, प्रोफ़ेसर डी.आर. पुरोहित, श्री आशुतोष भारद्वाज, डॉ. देबजानी हलधर, डॉ. विक्रम कुलकर्णी, डॉ. सतेंद्र कुमार, डॉ. हरिप्रिया सोइबाम, डॉ. अभिषेक कुमार यादव, डॉ. मैथ्यू के साथ संस्थान में एक अच्छा और बेहतरीन वक्त गुजरा। इन सभी ने मेरे वैचारिक जीवन को कुछ न कुछ समृद्ध किया है।

संस्थान का प्रशासनिक दायित्व निर्वहन करने वाले अधिकारियों में मुख्य रूप से कार्यवाहक सचिव व लाइब्रेरियन श्री प्रेमचंद, पूर्व सचिव डॉ.कर्नल विजय तिवारी, निदेशक महोदय के पर्सनल सेक्रेटरी रविंदर सैनी का भी धन्यवाद। पूर्व अकादमिक संसाधन अधिकारी श्रीमती रेनू बाला व वर्तमान अकादमिक संसाधन अधिकारी सुश्री रीतिका शर्मा तथा कार्यालय सहयोगियों शारदा जी, अशोक जी,

प्रोमिला जी और हेमशंकर भाई का धन्यवाद। पूर्व एकाउंट ऑफिसर श्री राकेश कुमार सिंह और श्री अविनाश सोलंकी, इस्टेट ऑफिसर श्रीमती विजयलक्ष्मी भारद्वाज, आर.एम.ओ. डॉ. मीनू अग्रवाल, देवराज जी उनका मेस स्टॉफ और संस्थान के सभी अनुभागों के कर्मचारियों के साथ ही अध्येताओं के आवागमन की सुविधा का ख्याल रखने वाले ड्राइवर बंधु श्री पदम देव, श्री अमन वर्मा, राकेश, भाग्य चंद्र इन सभी लोगों का आभार। संस्थान अपने पुस्तकालय में लगभग दो लाख किताबों के साथ भारत के बेहतरीन पुस्तकालयों में से एक है। पुस्तकालय की देखभाल में लगे सभी कर्मचारियों का भी आभार क्योंकि पुस्तकालय और पुस्तकालयकर्मियों के बिना यह अध्ययन संभव नहीं हो पाता।

बाबासाहेब भीमराव आंबेडकर विश्वविद्यालय, लखनऊ में मेरे पीएचडी शोध पर्यवेक्षक प्रोफ़ेसर बी.बी.मलिक के साथ एक शोध छात्र के रूप में मुझे उनसे सैद्धांतिक और व्यावहारिक स्तर पर बहुत कुछ सीखने को मिला। उनके सहयोग के लिए मैं उनका धन्यवाद करता हूँ। बाबासाहेब भीमराव आंबेडकर विश्वविद्यालय, लखनऊ के समाजशास्त्र विभाग के प्रोफ़ेसर कामेश्वर चौधरी ने पीएचडी से लेकर मेरे आईसीएसएसआर पोस्ट-डॉक्टोरल फ़ेलोशिप के पर्यवेक्षक के रूप में अकादमिक स्तर पर जिस तरह का स्नेह दिया और सहयोग किया, समस्याओं को किस तरह से हल किया जाए, संकटों से कैसे उबरा जाए, यह सब उन्होंने सिखाया। इसके लिए उनका धन्यवाद। समाजशास्त्र विभाग के प्रोफ़ेसर मनीष कुमार वर्मा, प्रोफेसर बी.एन. दुबे, प्रोफ़ेसर जया श्रीवास्तव और डॉ. ब्रजेश कुमार ने हमेशा मेरा मार्गदर्शन किया, इसके लिए इन सभी का आभार। समाजशास्त्र विभाग के ऑफिस स्टाफ, अजय कुमार की सहायता के प्रति भी आभार।

लखनऊ विश्वविद्यालय के बिना यह विवरण अधूरा रहेगा। इस विश्वविद्यालय परिसर में मैंने अपने छात्र जीवन के शानदार आठ वर्ष आचार्य नरेन्द्र देव अंतर्राष्ट्रीय छात्रावास में एक अंत:वासी छात्र के तौर पर गुजारे हैं, इस विश्वविद्यालय परिसर ने व्यक्तिगत तौर पर सीमित अर्थों में मुझे वह सभी सुविधाएं उपलब्ध करायीं जो मुझे अपने अध्ययन के दौरान जरूरी थीं। इस परिसर ने मुझे लड़ना, चलना, भिड़ना, संघर्ष और सहयोग जैसे विचार सिखाए। परिसर में ही मैंने सामूहिकता का भाव भी सीखा जिसने मुझे आगे की शिक्षा प्राप्त करने में सरलता के साथ ही वैचारिक रूप से संबलता प्रदान की। इस परिसर ने मुझे सभी धर्मों, जातियों के साथ सामंजस्यपूर्ण जीवन जीने एवं सामूहिकता के साथ रहने का हुनर भी सिखाया। इस परिसर में मैंने कई सुंदर दोस्तियाँ कायम की जो अभी तक बरकरार हैं। कुल मिलाकर लखनऊ विश्वविद्यालय परिसर भी ख़ुद एक दोस्त जैसा ही था, जिसके बिना मैं अपनी शैक्षिक यात्रा की कल्पना भी नही कर सकता। मेरा

महबूब मेरा लखनऊ विश्वविद्यालय, आपका बहुत-बहुत शुक्रिया।

लखनऊ के हजरतगंज में स्थित डॉ.आंबेडकर पी. जी. छात्रावास के बिना यह कहानी अधूरी सी लगती है। इस छात्रावास में मैं अपनी पीएचडी के दौरान एक अंत:वासी के तौर पर रहा हूँ। एक दलित छात्र के लिए शहरों की जिन्दगी किस तरह से कठिन होती है। इसकी गूँजें इस छात्रावास में जब छात्र प्रवेश लेते हैं, तब सुनाई पड़ती हैं। इस छात्रावास में प्रवेश लेने से पहले छात्र शहर में पढ़ाई करने के लिए किराये के मकान में रहते हैं। ये सब कहानियाँ आप सभी जानते हैं कि एक दलित जीवन के लिए शहर किस तरह से अनेकों बार विभेदकारी होते हैं। अगर सरकार द्वारा इस तरह के छात्रावास संचालित न हों तो दलित छात्रों का एक तबका शिक्षा की सार्वजानिक पहुँच से बाहर ही रह जाएगा। इस छात्रावास में ही मैंने भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला की फ़ेलोशिप के लिए प्रस्ताव की रूपरेखा तैयार की। इसलिए इस छात्रावास का इस मोनोग्राफ़ के साथ एक भावनात्मक लगाव भी जुड़ा हुआ है।

मैं अपनी स्मृतिशेष माँ और पिताजी के प्रति आभार प्रकट करता हूँ, जिनके संघर्षों और प्रयासों की वजह से मैंने अपनी शैक्षिक उपलब्धियाँ हासिल की। बड़े भईया विनोद कुमार, भाभी मनोज कुमारी वर्मा का विशेष आभार जिन्होंने कभी निराश नहीं होने दिया। भईया ने पीएच.डी. करने के लिए प्रोत्साहित ही नहीं किया बल्कि लेखन और गंभीर अध्ययन की तरफ प्रेरित भी किया, शायद मेरे सबसे बड़े समालोचक भी वही रहे हैं। मुझे जरूरत की हर वह सामग्री उपलब्ध कराई जो मुझे आवश्यक लगी। सिमोन और ओनिल का आभार। न भुला सकने वाली याद, गाँव से कक्षा 8 पास करने के बाद मेरे भईया और मेरी आगे की पढ़ाई के लिए उन्नाव शहर का आशियाना मेरी मौसी तथा मौसा जी (जिन्हें हम अम्मा और बाबू ही कहते थे) का भूरी देवी मुहल्ले का घर जहाँ पूरे परिवार का भरपूर प्यार और सहारा मिला। भारत ज्ञान विज्ञान समिति एवं संगठनकर्ता साथियों डॉ. सी.एस. वर्मा, संजीव सिन्हा, डॉ. वीना गुप्ता सहित सभी साथियों का आभार।

अपने मित्रों जावेद, इरशाद, मोईन, विकास, आनंद, राजेश, अमरनाथ, अमित निर्मल, समीर, सोहराब, साकिब, डॉ. संत, ओमर रशीद, डॉ. आर.बी. रावत, डॉ. एस.के. मुन्ना, डॉ. आकाश गौतम, डॉ. लवलेश, सुनीता और शुभ, प्रेम कुमार, पीयूष, जावेद, डॉ. रजनीश, डॉ. नीतू रावत, डॉ. शशि पाल, डॉ. रूचि, मनोज प्रभाकर पासवान, अनिकेत पाल का आभार। मित्रों की इस कड़ी में हमेशा आपकी परेशानियाँ बढ़ाने और घटाने के लिए खड़े रहने वाले मित्रों डॉ. धीरज कुमार, डॉ. कौशलेन्द्र प्रताप सिंह, प्रशांत सिंह राठौर, अंशिका बाजपेई, रोहित सिंह,

डॉ.रमाशंकर सिंह और डॉ. खुशबू सिंह, अखिलेश सिंह, तुषार कान्त का विशेष आभार। शिमला में शानदार दोस्तियाँ कायम हुईं उन मित्रों में डॉ. मीनू जीवन, डॉ. टीना कर्मवीर, विजय जी, गौरव ठाकुर, नितीश जस्सल, अश्विनी शर्मा, सुरेश प्रभोई, अनिल कटवाल का आभार। दिल्ली के मित्रों राजदीप, शिवम शर्मा का आभार। भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला द्वारा 2016 में आयोजित गाँधी विंटर स्कूल के मित्रों में डॉ. बिप्लव, राजीव, रउफ, सचिन, पवन, विकास स्वरूप, नितांजलि का आभार। लखनऊ विश्वद्यालय की सार्वजनिक हस्ती प्रोफ़ेसर रमेश दीक्षित, उनकी जीवनसाथी एवं पत्रकार डॉ. वंदना मिश्र का विशेष आभार। इसके साथ ही दलित अध्ययनों और दलित आंदोलन से संबंधित साहित्य और पुस्तकें उपलब्ध कराने के लिए भीम पुस्तक भण्डार के स्मृतिशेष आर.पी. राम का विशेष रूप से आभार।

शिमला में फ़ेलोशिप अवधि के दौरान एक भावनात्मक रिश्ता छत्तीसगढ़ के कांकेर राजघराने से जुड़ा, कांकेर राजघराने के सूर्यप्रताप देव ''जॉली बाबा'' ने हमेशा ही जिन्दादिली से हौसलाअफजाई की। ''जॉली दा'' अब हमारे बीच नहीं है। पुस्तक प्रकाशन के इस अवसर पर वह हमारे बीच होते तो बहुत खुश होते।

मैं उन सभी विद्वानों, लेखकों तथा विशेषज्ञों के प्रति आभारी हूँ जिनके विचारों को प्रस्तुत मोनोग्राफ़ में संदर्भ हेतु लिया गया है। टाइपिंग के लिए शिमला के पुष्पलाल और प्रीतम जी का आभार। प्रोफ़ेसर कामेश्वर चौधरी, प्रोफ़ेसर विवेक कुमार, प्रोफ़ेसर बी.बी. मलिक, प्रोफ़ेसर बद्री नारायण, प्रोफ़ेसर निशिकांत कोलगे, प्रोफ़ेसर अभय कुमार दुबे, प्रोफ़ेसर सार्थिक बाघ, डॉ. अर्चना सिंह, डॉ. कमल नयन चौबे और डॉ. शुभनीत कौशिक ने मेरे काम पर टिप्पणियाँ की, उनका आभार। पुस्तक के अंतिम तकनीकी कार्य इंडेक्सिंग को पूरा कराने में सहायता के लिए डॉ.रमाशंकर सिंह, डॉ. मोहिनी का विशेष आभार। सबसे महत्त्वपूर्ण बात, मेरे लिए इस पुस्तक को प्रकाशित करना संभव हुआ, इसके लिए प्रोफेसर आनंद कुमार, डॉ.रत्नाकर त्रिपाठी, डॉ.आदित्य प्रताप देव का आभार व्यक्त करना चाहूँगा जिन्होंने हमेशा ही वैचारिक रूप से मुझे संबल दिया बल्कि व्यक्तिगत तौर पर हर वह संभव मदद दी जिसकी मुझे ज़रूरत थी। अंत में जो भी त्रुटियाँ, कमियाँ हैं, उनके लिए मैं उत्तरदायी हूँ।

अजय कुमार
सहायक प्राध्यापक
समाजशास्त्र विभाग
बाबासाहेब भीमराव अम्बेडकर विश्वविद्यालय, लखनऊ–226025

प्राक्कथन

दलितों का समाजशास्त्रीय अध्ययन और इसके मायने

पिछले चार दशकों में दलित समुदायों के अध्ययन और विश्लेषण के लिए विद्वानों के बीच दिलचस्पी बढ़ी है। पहले इसे जाति और जाति प्रथा के अध्ययन का हिस्सा माना जाता था। दलितों पर अध्ययन और शोध कार्यों की 1980 के दशक में व्यवस्थित शुरुआत हुई और अगले दशक में इसने तेजी पकड़ी। अब यह बौद्धिक और राजनीतिक विमर्श का प्रमुख दायरा बन चुका है। दलित अध्ययन में लगातार दिलचस्पी बढ़ने के दो प्रमुख पहलू हैं। पहला यह है कि आधुनिक सामाजिक बदलाव, वोट देने के तरीके, चुनावी अध्ययन, राष्ट्र निर्माण, सामाजिक न्याय, मानवाधिकार, समानता और विकास की बहसों में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में दलितों का जरूरी तौर पर संज्ञान लिया जा रहा है। दलित अध्ययन में दिलचस्पी बढ़ने का दूसरा पहलू 1980 के दशक के दौरान कई तरह की राजनीतिक परिस्थितियों के उभार से जुड़ा हुआ है। 1980 के दशक का एक महत्त्वपूर्ण घटनाक्रम देश की सबसे बड़ी आबादी वाले राज्य उत्तर प्रदेश में एक प्रमुख राजनीतिक ताकत के रूप में बहुजन समाज पार्टी (बीएसपी) का उभार था। राजनीतिक परिदृश्य पर बीएसपी का उभार दलित नेता कांशीराम की सोच और दूरदृष्टि का नतीजा था। उन्होंने दलित आंदोलन और दलित सशक्तीकरण के मुद्दे में निर्णायक बदलाव किया। बीएसपी के राजनीतिक उभार के अलावा दलितों में मध्य वर्ग तैयार होने का भी असर दिखा, जिन्हें सरकार की संरक्षणात्मक आर्थिक नीतियों से लाभ मिल रहा था। इस दलित मध्य वर्ग में बुद्धिजीवी भी शामिल थे। इस प्रकार से लेखकों और समाज विज्ञानियों ने दलित अध्ययन के इतिहास में नए अध्याय का सूत्रपात किया।

वास्तव में भारत में दलित अध्ययन को सिर्फ किसी विषय या अनुशासन के अध्ययन तक सीमित नहीं कर सकते हैं। दलित अध्ययनों को समाज विज्ञान के सैद्धांतिक अनुशासन के संरचनात्मक ढाँचे से इतर भी देखना होगा क्योंकि इसकी बनावट समाज विज्ञान के बहु-अनुशासनिक दृष्टिकोण, अनुभव और आंदोलनों के आधार पर हुई है। भारत में दलित अध्ययन कई स्तरों पर किए जा रहे हैं। इनमें अकादमिक स्तर पर विश्वविद्यालयों और शोध संस्थाओं द्वारा तथा आंगिक बुद्धिजीवियों द्वारा स्वयं के अनुभव के आधार पर। इन अध्ययनों में एक विशेष प्रकार का समाजशास्त्र है। इसके साथ ही साहित्य जगत में आलोचना, आत्मकथा, कहानी, कविता और उपन्यासों के आधार पर जो विमर्श और बहस का निर्माण हुआ है, उसको भी आधार बनाकर समाज विज्ञान में, दलित अध्ययनों की निर्मिति रेखांकित की जा सकती है।

दलित, समाज अध्ययन की विषय वस्तु क्यों और कैसे बन रहे हैं? कौन इन पर अध्ययन करना चाहता है? इन दलित अध्ययनों की ज्ञानमीमांसा क्या है? दलित अध्ययनों पर किसका नियंत्रण है? दलित अध्ययनों की वर्तमान बहस क्या है? दलित अध्ययनों की दिशा क्या है? इस तरह के प्रश्नों के आलोक में इस शोध परियोजना में आगे बढ़ने का प्रयास किया गया है। यह मोनोग्राफ़ मूल रूप से उन अध्ययनों को ध्यान में रखकर सृजित किया गया है जो 1950 के बाद हुए हैं लेकिन इसके दिशा निर्देशक के रूप में बाबासाहेब डॉ. भीमराव आंबेडकर के विचार और उनके उत्तर जीवन को ध्यान में रखा गया है।

प्रस्तुत किताब भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला में ''दलित अस्मितावादी इतिहास लेखन : वैकल्पिक अधीनस्थ समाजशास्त्र की तलाश में (एक समीक्षात्मक मूल्यांकन)'' के नाम से मिली फ़ेलोशिप पर आधारित है जिसे पाठकीय सुविधा और रचनात्मक बनाने के लिए ''अधीनस्थ की ज्ञानमीमांसा : समाजशास्त्र में दलित एवं दलित प्रश्नों की पड़ताल'' शीर्षक से प्रकाशित किया जा रहा है। प्रस्तुत किताब के प्रथम अध्याय 'दलित श्रेणी का उद्‌भव और विकास : समाज, राज्य और अकादमिया : अवधारणात्मक विश्लेषण' में दलित शब्द के व्यापक विस्तार को जानने के क्रम में यह पड़ताल की गई है कि दलित शब्द किस तरह से सार्वजनिक हुआ, किस तरह से यह दलित जातियों के लिए मुक्ति

का साधन और राजनीतिक गोलबंदी का माध्यम बन गया और किस तरह से इसकी राजनीतिक अभिव्यक्ति ने समाज, राज्य और अकादमिक जगत को प्रभावित किया। अध्याय दो 'अस्मितावादी इतिहास लेखन, डॉ. आंबेडकर और दलित प्रश्न : नए क्षितिज का संधान' में जाति संबंधी इतिहास लेखन के विभिन दृष्टिकोणों को व्याख्यायित किया गया है। यह भी रेखांकित किया गया है कि डॉ. आंबेडकर सिर्फ दलितों के नेता नहीं थे बल्कि उन्होंने भारतीय समाज, इतिहास, राजनीति को लेकर अपनी आलोचनात्मक राय रखी जो उन्हें एक बड़े राजमर्मज्ञ और दार्शनिक के रूप में स्थापित करती है। अध्याय तीन 'दलित अस्मितावादी इतिहास लेखन : समाज विज्ञान में दलित प्रस्थिति का शोध एवं उसकी समाजशास्त्रीय अनुगूँजें' है। इस अध्याय में दलित अस्मितावादी इतिहास लेखन के अंतर्गत दलितों के ऊपर इतिहास लेखन की कुछ पुस्तकों एवं अध्ययनों के विवरण और उनकी समीक्षाओं को प्रस्तुत किया गया है। इसलिए इस अध्याय में इतिहास एवं समाज विज्ञान में दलित अध्ययनों की निर्मिति पर डॉ. आंबेडकर से संबंधित कुछ महत्त्वपूर्ण अध्ययनों के लेखन को भी प्रस्तुत किया गया है। अध्याय चार 'दलित अध्ययन : भारतीय इतिहास और समाज के प्रति नया नज़रिया' में पिछले अध्याय की बहस को बढ़ाते हुए इस बात को रेखांकित किया गया है कि पिछले तीन दशकों में दलित समुदाय के बारे में विशेष अध्ययन और विश्लेषण के लिए विद्वानों और समाज विज्ञानियों की दिलचस्पी क्यों बढ़ रही है। इस अध्याय में हम यह भी देखेंगे कि दलित अध्ययन को लेकर भारतीय इतिहास और समाज को लेकर नया नज़रिया क्या बन रहा है। अध्याय : पाँच 'दलित अध्ययन और समाजशास्त्र : वैकल्पिक समाजशास्त्र की तलाश में' है। इसमें हम यह देखेंगे कि दलित अस्मितावादी लेखन और दलित अध्ययनों का समाजशास्त्र पर क्या प्रभाव पड़ा है? इसने समाजशास्त्र को किस तरह से प्रभावित किया है? दलित अध्ययन और समाजशास्त्र का संबंध क्या है? क्या दलित अध्ययनों के माध्यम से किसी प्रकार के वैकल्पिक समाजशास्त्र की ओर बढ़ा जा सकता है। दलित आंदोलन, दलित राजनीति और अकादमिया के अनुभव हमें यह बताते हैं कि दलित अस्मितावादी लेखन को अकादमिक ज्ञान निर्मिति की दुनिया में ठीक से नहीं देखने के कारण या दलित प्रश्नों को अकादमिक परिप्रेक्ष्य में ठीक से नहीं

देखा गया है। इसके साथ ही यह अध्याय इस बात की पड़ताल भी करता है कि दलित देशज ज्ञान को समाजशास्त्र की ज्ञान परंपरा में किस तरह से देखा गया है?

अनुक्रम

	आभार	iii
1.	प्राक्कथन	vii
2.	अध्याय एक : दलित श्रेणी का उद्‌भव और विकास : समाज, राज्य और अकादमिया का एक अवधारणात्मक विश्लेषण	15
3.	अध्याय दो : अस्मितावादी इतिहास लेखन, डॉ. आंबेडकर और दलित प्रश्न : नए क्षितिज का संधान	60
4.	अध्याय तीन : दलित अस्मितावादी इतिहास लेखन : समाज विज्ञान में दलित प्रस्थिति का शोध एवं उसकी समाजशास्त्रीय अनुगूँजें	121
5.	अध्याय चार : दलित ज्ञान की निर्मिति : पाठ और पाठशाला से बाहर के लोग	188
6.	अध्याय पाँच : दलित अध्ययन और समाजशास्त्र : वैकल्पिक समाजशास्त्र की तलाश में	287

7.	अध्याय छ : समाहार	348
8.	संदर्भ सूची	352
9.	परिशिष्ट	
	परिशिष्ट – I	412
	परिशिष्ट – II	418
	परिशिष्ट – III	419
	परिशिष्ट – IV	421
10.	अनुक्रमणिका	425

संक्षिप्ताक्षर

ए.टी.पी.	: आदि तमिलझार पेरावई
ए.आई.एस.सी.एस.	: आल इंडिया सोशियोलोजिकल कॉन्फ्रेंस
ए.आई.एस.सी.एफ.	: ऑल इंडिया शेड्यूल्ड कास्ट फेडरेशन
बी.जे.पी.	: भारतीय जनता पार्टी
बामसेफ	: बैकवर्ड एंड माइनॉरिटीज़ एम्पलाइज़ कम्युनिटीज़ फेडरेशन
बी.एस.–4.	: बहुजन समाज स्वाभिमान संघर्ष समिति
डी.एस.–4	: दलित शोषित समाज संघर्ष समिति
बी.एस.पी.	: बहुजन समाज पार्टी
सी.पी.आई.एम.	: कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ़ इंडिया मार्क्सवादी
सी.पी.आई.	: कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ़ इंडिया
सी.एस.डी.एस.	: सेंटर फॉर द स्टडी ऑफ़ डेवलेपिंग सोसाइटी
सी.एस.एस.ई.आई.पी.	: सेंटर फॉर द स्टडी ऑफ़ सोशल एक्सक्लूजन एंड इन्क्ल्युसिव पॉलिसी
सी.ई.आर.डी.	: कमेटी ऑन द एलिमिनेशन ऑफ़ रेसियल डिस्क्रीमिनेशन
सी.ई.डी.ए.डबल्यू.	: कमेटी ऑन द एलिमिनेशन ऑफ़ डिस्क्रीमिनेशन अगेंस्ट विमेन
एस.पी.	: समाजवादी पार्टी
एस.एन.डी.पी.	: श्री नारायण धर्म परिपालन
एस.एन.सी.सी	: स्टूडेंट नॉन वायलेंस कोआर्डिनेशन कमेटी
एस.सी.	: शेड्यूल्ड कास्ट
एस.टी.	: शेड्यूल्ड ट्राइब
एस.एस.	: सत्यशोधक समाज
ई.पी.डब्ल्यू.	: इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली

एफ.आई.आर.	: फ़र्स्ट इन्फोर्मेशन रिपोर्ट
आई.एन.सी.	: इंडियन नेशनल कांग्रेस
आई.सी.सी.एस.आर.	: इंडियन काउंसिल ऑफ़ सोशल साइंस रिसर्च
आई.एस.एस.	: इंडियन सोशियोलोजिकल सोसाइटी
आई.आई.डी.एस.	: इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ़ दलित स्टडीज़
आई.एल.पी.	: इंडियन लेबर पार्टी
एन.सी.डी.एच.आर.	: नेशनल कैम्पैन ऑन दलित ह्यूमन राइट्स
एन.जी.ओ.	: नॉन गवर्नमेंट ऑर्गनाइज़ेशन
एन.एच.आर.सी.	: नेशनल ह्यूमन राइट्स कमीशन
ओबीसी	: अदर बैकवर्ड क्लास
आर.पी.आई.	: रिपब्लिकन पार्टी ऑफ़ इंडिया
यू.जी.सी.	: यूनिवर्सिटी ग्रांट्स कमीशन
यू.एन.	: यूनाइटेड नेशंस
यू.पी.	: उत्तर प्रदेश

अध्यायः एक

दलित श्रेणी का उद्‌भव और विकास : समाज, राज्य और अकादमिया का एक अवधारणात्मक विश्लेषण

भारतीय समाज के एक खास वर्ग ने 1980 के दशक के दौरान विद्वानों, सामाजिक कार्यकर्त्ताओं, सरकार, राजनीतिज्ञों और विश्व समुदाय का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया है, वह है भारतीय समाज का दलित वर्ग। यह नाम उन्हें भारतीय राजनीति, उनके संघर्ष, उनके आन्दोलन, उनके नेतृत्व, भारतीय मीडिया, अकादमिक विचार-विमर्श एवं शोध ने दिया है जिसको आज के समय में उन्होंने अपनी पहचान के रूप में अपना लिया है। इसके माध्यम से उन्होंने अपनी पहचान के साथ ही अनेक प्रकार के संघर्षों, विचारों, संगठनों, राजनीतिक दलों, प्रकाशनों और साहित्य के साथ ही सांस्कृतिक क्रियाकलापों जैसे गीत, संगीत, नृत्य, नाटक जैसी सांस्कृतिक पूँजी का निर्माण किया है।

दलित शब्द एवं मीमांसा : अस्पृश्यों के अनेक नाम

भारतीय जाति व्यवस्था में अस्पृश्य होने का अर्थ है : 'निम्न होना एवं विस्तृत संस्तरणात्मक सामाजिक व्यवस्था से आंशिक रूप से बाहर होना'। अस्पृश्य निम्न जातियों का वह पृथक समूह है जो उच्च प्राणियों (दोनों मानव एवं दैवीय) से, विशिष्ट संबंधों की अत्यधिक सामूहिक अशुद्धता के कारण, अलग कर दिए जाते हैं। उन्हें अनेक नामों से जाना जाता है जैसे 'अस्पृश्य', 'हरिजन' (एक सम्मानजनक नाम जिसे नरसी मेहता ने सबसे पहले प्रयोग किया और महात्मा गाँधी द्वारा उसे स्वीकारा एवं प्रचलित किया गया), बाह्य जातियाँ (जिनका प्रयोग जे.एच. हट्टन द्वारा किया गया) 'दबी हुई जातियाँ' (जिनका प्रयोग ब्रिटिश अफसरों द्वारा किया गया), 'बहिष्कृत जातियाँ', 'परिहस' (सामान्य, किन्तु निश्चित रूप से तमिल

शब्द 'पर' अथवा 'पराई', ढोल से लिया गया।[1] प्राचीन काल में इनके लिए 'म्लेच्छ' 'चांडाल' (मनु द्वारा प्रयुक्त शब्द), तथा पंचम (पाँचवां वर्ग), अवर्ग (अर्थात् चारों वर्णों से बाहर), निषाद, पुलकस, अन्त्यज्य, अतिशूद्र आदि नामों का प्रयोग किया गया। 'अनुसूचित जाति' शब्द सर्वप्रथम 1935 में प्रयुक्त हुआ, जब ब्रिटिश सरकार ने भारत सरकार (अनुसूचित जाति) आदेश 1936 में प्रकाशित करवाया जिसमें कुछ निश्चित जातियों, प्रजातियों एवं जनजातियों को अनुसूचित जातियों की श्रेणी में रखा गया। इससे पूर्व जनसंख्या के इन समूहों को 'दबी हुई जातियों' के रूप में सामान्यतया जाना जाता था। 'दलित' शब्द का सर्वप्रथम उपयोग 1931 में पत्रकारिता के लेखों में अस्पृश्यों को दर्शाने के लिए हुआ और महाराष्ट्र के दलित पैंथर आंदोलन के साथ 1970 के प्रारम्भ में इसका उपयोग बढ़ा।

दलित : शब्दकोशीय अर्थ

संस्कृत शब्दकोशों में दलितों से संबंधित तीन शब्द 'दल', 'दलन' और 'दलित' मुख्य रूप से मिलते हैं (संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, 1928 तथा आप्टे का संस्कृत-इंग्लिश शब्दकोश, 1957, 2008)। जिनमें से 'दल' का अर्थ है अंश, खण्ड व टुकड़ा, फूल की पंखुडी और बीज, दाल के दो टुकड़े। यह संज्ञा है। 'दलन' का अर्थ है दलना, तोड़ना, काटना। यह क्रियापद है। 'दलित' का अर्थ दलन किया हुआ, नष्ट किया हुआ, तोड़ा हुआ, पिसा हुआ, यह विशेषण पद हैं। इसी प्रकार हिंदी शब्दकोश में दलित का अर्थ पराजित और शोषित (समानांतर हिंदी शब्दकोश, नेशनल बुक ट्रस्ट ऑफ़ इंडिया) तथा प्रामाणिक हिंदी शब्दकोश में दलित का अर्थ मसला हुआ, कुचला हुआ, नष्ट किया हुआ, दरिद्र और पीड़ित लिखा है (प्रामाणिक हिंदी शब्दकोश, लोक भारती, इलाहाबाद)।[2] मानक हिंदी शब्दकोश में दलित का अर्थ लिखा है, 'जिसका दमन किया गया हो, कुचला गया हो, टुकड़े-टुकड़े कर दिया गया हो, हीन अवस्था में पड़ा हुआ, नष्ट या ध्वस्त किया हुआ'।[3] दलित से ही एक दूसरा शब्द दलित वर्ग भी बना

1. रोबर्ट डिलीज (1999) : 9-13.
2. समानांतर हिंदी शब्दकोश (2013) एवं प्रामाणिक हिंदी शब्दकोश (2009).
3. मानक हिंदी शब्दकोश (2004).

है, जिसका शब्दकोषीय अर्थ है, ''समाज का वह निम्नतम वर्ग, जो उच्च कहे जाने वाले वर्ग के उत्पीड़न के कारण आर्थिक दृष्टि से बहुत हीन अवस्था में हो, जैसे दास-प्रथा वाले देशों में दास, सामंती व्यवस्था में कृषक और पूँजीवादी व्यवस्था में मजदूर।'' दलित समानार्थी अंग्रेज़ी शब्द के अनुसार अंग्रेज़ी में दलित के लिए (नालन्दा चैम्बर्स, 1998. ऑक्सफ़ोर्ड मानक, 1993) आदि कोशों में 'डिप्रेस्ड' और 'सप्रेस्ड' दो शब्दों का उल्लेख मिलता है।[4] (ऑक्सफ़ोर्ड इंग्लिश-हिंदी डिक्शनरी, 2003) में जिनका अर्थ दलित, खिन्नचित्त, अवसन्न तथा दमन किया हुआ, दबाया हुआ, अवशोषित किया हुआ बताया गया है। डिप्रेस्ड क्लास का अर्थ हरिजन जाति, अछूत जाति, अवसन्न जाति तथा दलित वर्ग किया गया है। अंग्रेज़ी में पददलित के लिए 'डाउनट्रॉडेन' शब्द का प्रयोग हुआ है। इन सभी शब्दकोशों में से एक भी कोश ऐसा नहीं है जो दलित का अर्थ सम्मानजनक रूप में करता हो। इसके विपरीत सभी कोशों में इस शब्द का अर्थ अपमानित किया हुआ, पराजित किया हुआ, कुचला हुआ, फाड़ा हुआ, टुकड़े-टुकड़े किया हुआ, विनष्ट किया हुआ, शोषण किया हुआ, दलन किया हुआ, हीन अवस्था में पड़ा हुआ, ध्वस्त किया हुआ आदि अपमानजनक और हेय रूप में ही किया गया है। केवल 'प्राकृत हिंदी कोश' में ही दलित शब्द का अर्थ पिसा हुआ, खण्डित हुआ के साथ विकसित और खिला हुआ भी मिलता है।[6] दलित आंगिक बुद्धिजीवी माता प्रसाद ने अपनी पुस्तक 'उत्तरांचल सहित उत्तर प्रदेश की दलित जातियों का दस्तावेज़' में लिखा है कि 'सबसे पहले भारत में शोषित और पीड़ित दलित जातियों के लिए डिप्रेस्ड शब्द का प्रयोग श्रीमती ऐनी बेसेन्ट ने किया था।[7] डॉ. आंबेडकर दलित के लिए अंग्रेज़ी के डिप्रेस्ड के बजाय सप्रेस्ड शब्द का प्रयोग अधिक समीचीन मानते थे। अछूतों के लिए पहले उन्होंने 'हैवनाट', 'आउटकास्ट्स', और 'डिप्रेस्ड' आदि शब्दों का प्रयोग किया, लेकिन बाद में इसके लिए उन्होंने सप्रेस्ड शब्द का प्रयोग करना ज़्यादा अच्छा माना। वास्तव में सप्रेस्ड शब्द दलित शब्द का अधिक समानार्थी प्रतीत होता है।

---

4. नालन्दा विशाल शब्द सागर (2012) एवं ऑक्सफ़ोर्ड मानक शब्दकोश (1993).
5. ऑक्सफ़ोर्ड इंग्लिश-हिंदी डिक्शनरी (2003).
6. प्राकृत हिंदी कोश (1987).
7. माता प्रसाद (2007).

इस प्रकार से दलित शब्द के संदर्भ में इसके शब्दकोशीय अर्थ के साथ इसकी बनती बिगड़ती पहचान के आधुनिक रूप को समझा जाए तो इसके सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक महत्त्व को समझा जा सकता है। जैसा कि उपरोक्त वर्णन से दलितों कि प्रस्थिति के संदर्भ में पता चलता है कि भारतीय समाज में दलित या अछूत होने से तात्पर्य जाति व्यवस्था पर आधारित व्यवस्था में निम्न स्तर पर होना है। इन्हें विभिन्न अलग-अलग नामों से पुकारा जाता रहा है, जैसे अछूत, हरिजन, (यह शब्द नरसी मेहता के द्वारा दिया गया था जिसे गाँधी जी ने अपना कर लोकप्रिय बनाया), हरि का अर्थ है ईश्वर या भगवान और जन का अर्थ है लोग महात्मा गाँधी ने हरिजन शब्द का प्रयोग हिंदू समाज के उन समुदायों के लिए करना शुरु किया था जो सामाजिक रूप से बहिष्कृत माने जाते थे। इनके साथ ऊँची जाति के लोग छुआछूत का व्यवहार करते थे अर्थात उन्हें अछूत समझा जाता था। सामाजिक पुनर्निर्माण और इनके साथ भेदभाव समाप्त करने के लिए गाँधी ने उन्हें यह नाम दिया था और बाद में उन्होंने हरिजन नाम से एक समाचार-पत्र भी निकाला जिसमें इस सामाजिक बुराई को लेकर वे नियमित लेख लिखते थे। लेकिन अब हरिजन शब्द को प्रतिबन्धित कर दिया गया है! हरिजन शब्द के स्थान पर अनुसूचित जाति का इस्तेमाल करना अनिवार्य कर दिया गया है। हरिजन शब्द पाकिस्तान के दलितों के लिए भी प्रयुक्त होता है जिन्हें 'हरी' कहा जाता है और जो मिट्टी के झोपड़े बनाने के लिए जाने जाते हैं। गाँधी हरिजन नाम वाले तीन पत्रों का प्रकाशन करते थे। हरिजन बन्धु (गुजराती में) हरिजन सेवक (हिंदी में) हरिजन (अंग्रेज़ी में) इन तीन पत्रों में महात्मा गाँधी देश के सामाजिक एवं आर्थिक मुद्दों पर लिखते थे। आजकल 'दलित' शब्द का प्रयोग ऐसे समुदायों तथा लोगों के लिए किया जा रहा है, जिन्हें अमानवीय व्यवहार, अन्याय, भेदभाव, सामाजिक निर्योग्यताओं, सामाजिक प्रताड़ना, राजनीतिक एवं आर्थिक वंचनाओं और असुविधाओं के लम्बे दौर से गुजरना पड़ा है। परंपरागत रूप से अनुसूचित जातियाँ (एस.सी.) हरिजन अर्थात् ईश्वर की संतान के नाम से जानी जाती रही हैं। इस शब्द का प्रयोग महात्मा गाँधी ने सन् 1933 में शुरू किया। कुछ दलित नेताओं द्वारा हरिजन नामकरण को निंदात्मक रूप में देखा गया। ये लोग अपने आपको 'दलित' अर्थात् शोषित कहलाना पसंद करते

हैं।[8] हिंदू जाति (सामाजिक) व्यवस्था के क्रम में इनका स्थान सबसे नीचे होने के कारण ये लोग अवर्ण कहलाते हैं, अर्थात् वे लोग जिनका स्थान 'चातुवर्ण्य व्यवस्था' से बाहर है। ये लोग देश के विभिन्न भागों में 'परिअल', 'पंचम', अतिशूद्र, अत्यज या नामशूद्र के नाम से जाने जाते हैं। ऐसा माना जाता है कि इन लोगों का स्पर्श और कभी-कभी उनकी छाया और यहाँ तक कि उनकी आवाज़ भी सवर्ण हिंदुओं को अपवित्र कर देती है। यद्यपि कानूनी रूप में अब ये लोग अस्पृश्य नही हैं, तथापि अभी भी उनमें से कई लोग इस कलंक से ग्रसित हैं।[9] दलित एक राजनीतिक शब्दावली है। यह शब्द दलित पैंथर आंदोलन से आया। इसका शब्दिक अर्थ 'दमित' या 'खंडित' होता है। दलित पैंथर आंदोलन ने 1972 में दलित शब्द का अर्थ अनुसूचित जाति व जनजाति, नवबौद्ध, कामगार जन, भूमिहीन व गरीब किसान, स्त्री और राजनीतिक, आर्थिक और धर्म के नाम पर शोषित सभी लोग तय किया।[10] प्रसिद्ध दलित लेखक गंगाधर पंतवाने ने इस शब्द को एक और अर्थ दिया। उनके अनुसार दलित शब्द में केवल जाति अंतर्निहित नहीं है। यह बदलाव व क्रांति का प्रतीक है, यह मानवता में भरोसा करने का प्रतीक है।[11] दलित लेखक और साहित्यकार ओमप्रकाश वाल्मीकि दलित शब्द के संदर्भ में लिखते हैं कि दलित शब्द का अर्थ है जिसका दलन किया गया हो और दमन हुआ हो, दबाया गया है, शोषित, सताया हुआ, गिराया हुआ, उपेक्षित, घृणित, रौंदा हुआ, मसला हुआ, कुचला हुआ, विनिष्ट, मर्दित, पस्तहिम्मत, हतोत्साहित, वंचित आदि।[12] दलित लेखक और साहित्यकार श्यौराज सिंह बेचैन दलित शब्द की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि दलित वह हैं जिसे भारतीय संविधान ने अनुसूचित जाति का दर्जा दिया है।[13] कँवल भारती का मानना है कि दलित वह है जिस पर अस्पृश्यता का नियम लागू किया गया है, जिसे कठोर और गंदे कार्य करने के लिए बाध्य किया गया है जिसे शिक्षा ग्रहण करने और स्वतंत्र व्यवसाय करने से मना किया गया और जिस पर सछूतों ने सामाजिक

8. गोपाल गुरू (2001).
9. घनश्याम शाह (2009).
10. माता प्रसाद (1992).
11. गंगाधर पंतवाने (1986).
12. ओमप्रकाश वाल्मीकि (2001) : 13.
13. ओमप्रकाश वाल्मीकि (2001): 13.

निर्योग्यताओं की संहिता लागू की, वही और वही दलित हैं, और इसके अंतर्गत वही जातियाँ आती हैं जिन्हें अनुसूचित जातियाँ कहा जाता है।[14]

दलित लेखक और साहित्यकार मोहनदास नैमिशराय के अनुसार दलित शब्द मार्क्स प्रणीत सर्वहारा शब्द का समानार्थी लगता है। लेकिन इन दोनों शब्दों में पर्याप्त भेद भी हैं। दलित शब्द की व्याप्ति अधिक है तो सर्वहारा की सीमित। दलित के अंतर्गत सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक शोषण का अंतर्भाव होता है तो सर्वहारा केवल आर्थिक शोषण तक ही सीमित है। प्रत्येक दलित व्यक्ति सर्वहारा के अंतर्गत आ सकता है। लेकिन प्रत्येक सर्वहारा को दलित कहने के लिए बाध्य नहीं हो सकते अर्थात सर्वहारा की सीमाओं में आर्थिक विषमताओं का शिकार वर्ग आता है जबकि दलित विशेष तौर पर सामाजिक विषमता का शिकार होता है।[15] मराठी कवि नारायण सुर्वे का कहना है कि दलित शब्द की मिली जुली परिभाषाएँ हैं, इसका अर्थ केवल बौद्ध या पिछड़ी जातियाँ ही नहीं समाज में जो भी पीड़ित हैं, वे दलित हैं। ईश्वर निष्ठा या शोषण निष्ठा जैसे बंधनों से आदमी को मुक्त रहना चाहिए उसका स्वतंत्र अस्तित्व सहज स्वीकार किया जाना चाहिए।[16] शरण कुमार लिंबाले के अनुसार हमें सर्वप्रथम दलित साहित्य में 'दलित' शब्द की व्याख्या निश्चित करनी होगी। दलित केवल-हरिजन और नवबौद्ध नहीं। गाँव की सीमा के बाहर रहने वाली सभी अछूत जातियाँ, आदिवासी, भूमिहीन, खेत मजदूर, श्रमिक, कष्टकारी जनता, और यायावर जातियाँ सभी की सभी 'दलित' शब्द की परिभाषा में आती हैं। दलित शब्द की परिभाषा में केवल अछूत जाति का उल्लेख करने से काम नहीं चलेगा। इसमें आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए लोगों का भी समावेश करना होगा।[17] राजेंद्र यादव स्त्रियों को भी दलित मानते थे। पिछड़ी जातियों को भी दलितों में शामिल करते हैं। बाबुराव बागुल दलित विश्लेषण को सम्यक क्रांति का नाम मानते हैं जो कि क्रांति का साक्षात्कार है।[18] इसी प्रकार की मान्यता अर्जुन डांगले की भी है उनका कहना है कि दलित

14. ओमप्रकाश वाल्मीकि (2001):13.
15. ओमप्रकाश वाल्मीकि (2001) :14.
16. ओमप्रकाश वाल्मीकि (2001):15.
17. शरण कुमार लिंबाले (2000): 42.
18. ओमप्रकाश वाल्मीकि (2001) में उद्धत : 15. इसके लिए (बाबूराव बागुल (1978), दलित साहित्य: आजचे क्रांतिविज्ञान, बुद्धिस्ट पब्लिशिंग हाउस, नागपुर। (बाबूराव

शब्द का अर्थ साहित्य के संदर्भ में नए अर्थ देता है। दलित यानी शोषित पीड़ित समाज धर्म व अन्य कारणों से जिसका आर्थिक, सामाजिक सांस्कृतिक शोषण किया जाता हो वह मनुष्य और वही मनुष्य क्रांति कर सकता है यह दलित साहित्य का विश्वास है।[19] इस प्रकार दलित शब्द व्यापक अर्थबोध की अभिव्यंजना देता है। भारतीय समाज में जिसे अस्पृश्य माना गया, वह व्यक्ति ही दलित है। दुर्गम पहाड़ों, वनों के बीच जीवन यापन करने के लिए बाध्य जनजातियाँ और आदिवासी, जरायमपेशा घोषित जातियाँ सभी इस दायरे में आती हैं। सभी वर्गों की स्त्रियाँ, दलित, बहुत कम श्रम मूल्य पर चौबीसों घंटे काम करने वाले श्रमिक, बंधुवा मजदूर दलित कि श्रेणी में आते हैं।[20] डॉ. आंबेडकर के अनुसार दलित जातियाँ वे हैं जो अपवित्रकारी होती हैं, इनमें निम्न श्रेणी के कारीगर, धोबी, मोची, भंगी और, सेवक जातियाँ जैसे-चमार, डंगरी (मरे हुए पशु उठाने के लिए) सऊरी (प्रसूति का कार्य करने वाले) ढोला (डफली बजाने) वाले आते हैं। कुछ जातियाँ परंपरागत कार्य करने के अतिरिक्त कृषि-मजदूरी का भी कार्य करती हैं। कुछ दिनों पूर्व तक इनकी स्थिति अर्धदास, बँधुआ मजदूर जैसी रही है।[21] हरिजन, दलित, और अनुसूचित जाति के संबंध में पुरुषोत्तम दास अग्रवाल कहते हैं हरिजन शब्द जाति व्यवस्था में निहित ऐतिहासिक अन्याय की चेतना को सवर्ण दृष्टिकोण से व्यक्त करने वाला शब्द है। इसमें एक प्रकार का पश्चाताप का भाव है। दलित शब्द करुणा या पश्चाताप को नहीं बल्कि बेवजह दमन और अपमान का शिकार होने के स्वाभाविक रोष को व्यक्त करता है। अनुसूचित जाति अंग्रेज़ प्रशासकों की देन है। इसमें निहित सोच के लिए जाति-व्यवस्था की प्रताड़ना की समस्या कुल मिलाकर विशेष अवसर पाने की समस्या है।[22]

बागुल, 'दलित साहित्य मानवीय साहित्य है' हाल के वर्षों में दलित लेखक और सार्वजनिक टिप्पणीकार, चंद्रभान प्रसाद ने हर साल दिल्ली में लॉर्ड मैकाले का जन्मदिन मनाने की शुरुआत की है, ताकि एक समान नियम बनाकर औपनिवेशिक आधुनिकता स्थापित करने में उनकी भूमिका की सराहना की जाए जिससे दलितों को फायदा हो।)

19. ओमप्रकाश वाल्मीकि (2001): 15.
20. ओमप्रकाश वाल्मीकि (2001): 15.
21. माताप्रसाद (1992).
22. चमन लाल (2001).

इस प्रकार से हम पाते हैं कि दलित शब्द आधुनिक है लेकिन दलितपन प्राचीन है। इस शब्द की उत्पत्ति को लेकर विद्वानों में मतभेद हैं। मुरूगकर का मानना है कि 1970 के दशक में दलित पैंथर्स नामक दलितों के एक राजनीतिक दल दलित पैंथर द्वारा दलित शब्द का प्रयोग सर्वाधिक किया गया। दलित पैंथर्स द्वारा दलित शब्द की परिभाषा में समाज के अनुसूचित जाति/जनजाति, नवबौद्ध, मजदूर, भूमिहीन एवं गरीब किसान, उच्चवर्ग, वर्ण के आर्थिक एवं धार्मिक रूप से पीड़ित एवं शोषित सदस्यों को भी शामिल किया गया था।[23] ओमप्रकाश वाल्मीकि के अनुसार ''दलित शब्द का अर्थ है जिसका दलन और दमन हुआ है, दबाया गया, उत्पीड़ित, शोषित, सताया हुआ, उपेक्षित, घृणित, रौंदा हुआ, मसला हुआ विनष्ट, मर्दित, पस्त-हिम्मत, हतोत्साहित, वंचित आदि से है।''[24]

समाजशास्त्री नन्दूराम दलित पैंथर्स द्वारा प्रतिपादित दलित शब्द की परिभाषा को नकारते हुए कहते हैं ''पैंथर्स द्वारा दी गयी वर्गीय परिभाषा के विपरीत आज देश में दलित शब्द का प्रयोग पूर्व में तथाकथित अस्पृश्य जातियों के लिए किया जा रहा है। वर्तमान समय में समाज विज्ञान के छात्र दलित, अस्पृश्य एवं अनुसूचित जाति शब्दों का प्रयोग एक-दूसरे के पर्याय के रूप में करने लगे हैं।''[25] खापर्डे द्वारा अपनी पुस्तक में लिखा गया है कि ''महात्मा फुले द्वारा दलित शब्द का प्रयोग दलित, शूद्र, अतिशूद्र तीनों का ही समान अर्थों में प्रयोग किया है। आपके अनुसार शूद्र में अछूत, पिछड़ी जातियाँ और अतिशूद्र में विशेष जातियाँ हैं। ऊँची जाति के ब्राह्मणों द्वारा शूद्रों को सदैव अपना दास बनाए रखने के लिए षड़यन्त्र पूर्वक शूद्र और अतिशूद्र में विभाजन कर दिया गया। सम्भवत: महात्मा फुले उन प्रथम व्यक्तियों में से हैं जिन्होंने दलित शब्द को दलितोद्धार के रूप में प्रयोग किया।''[26] मुरूगकर द्वारा ''दलित शब्द को उसके संक्षिप्त रूप से निकालकर 1970 के महाराष्ट्र दलित पैंथर आंदोलन द्वारा विस्तृत अर्थों में प्रयोग किया गया। दलित पैंथर द्वारा दलित शब्द का अर्थ अनुसूचित और अनुसूचित जनजाति, नवबौद्ध, भूमिहीन और गरीब किसान, स्त्रियों और सभी मानव जिनका राजनीतिक,

23. लता मुरूगकर (1991).
24. ओमप्रकाश वाल्मीकि (2001)
25. नन्दूराम (1995).
26. डी.के. खापर्डे (1990).

आर्थिक और सामाजिक शोषण आदि के रूप में व्यक्त किया गया है।''[27] गंगाधर पंतवाने के अनुसार ''दलित जाति नहीं है, वह न तो प्रतीक है। अपितु वह तो परिवर्तन और क्रांति का प्रतीक है। दलित मानवतावाद पर विश्वास करते हैं। वे भगवान के अस्तित्व, पुर्नजन्म, आत्मा, धार्मिक पुस्तक के अस्तित्व को नकारते हैं क्योंकि वे विभाजन और स्वर्ग-नरक का भेद सिखाते हैं। वे अपने देश में सताए हुए लोगों का प्रतिनिधित्व करते हैं।[28] दलित का अर्थ जाति या निम्न जाति से नहीं है और न ही गरीब है। इसका सारतत्त्व यह है कि राज्य में व्यक्तियों को कई भागों में बांटा जाता है और प्रत्येक भाग का अपना महत्त्व होता है, प्रत्येक भाग को महत्त्व प्रदान करने का प्रयत्न किया जा रहा है। ''इन्हें विभिन्न नामों से हमारे देश में पुकारा जाता रहा है, दास, दस्यु, राक्षस, असुर, निषाद, अवर्ण, परिहार, आदि-द्रविण, पण्चम, मलिच्छ, स्वपच, चण्डाल, अछूत, बाहरी जातियाँ, डिप्रेस्ड क्लास, अनुसूचित जातियाँ, हरिजन, दलित।''[29] विभिन्न राज्यों में इन्हें विभिन्न नामों से पुकारा जाता है। पंजाबी में चूहरा, उत्तर-पश्चिम भारत में भंगी, उत्तर भारत में लाल बेगी, मराठी में महार, केंद्रीय भारत में चमार, तेलगु में माला, तमिल में पेरियार, मलयालम में पुलायन, दक्षिण भारत में चण्डाल व बंगाल में नामशूद्र और मद्रास में पंचम। इन नामों को अपमान की भाषा से निकालने का दलित आंदोलनों द्वारा प्रयत्न किया जा रहा है। घनश्याम शाह के अनुसार दलित गरीब और निचले अस्पृश्य तबके की पहचान का शब्द है, जिसे संवैधानिक तथा प्रशासनिक भाषा में अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति के नाम से जाना जाता है, जो संविधान के अनुच्छेद 341 (1, 2) में चिन्हित हैं।[30]

दलित शब्द से मोटे तौर पर आशय जनसंख्या के उस शोषित व पीड़ित वर्ग से है जो परंपरागत आधार पर सदियों से सामान्यत: सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक अधिकारों से वंचित रहा है।[31] वास्तव में, सामाजिक असमानता, प्रताड़ना और अस्पृश्यता की प्रथा ने इस वर्ग की स्थिति को अधिक दयनीय

27. लता मुरूगकर (1991)
28. गंगाधर पंतवाने (1986)
29. विवेक कुमार (2005): 54 (3).
30. घनश्याम शाह (2001).
31. वी.आर.के.अय्यर (1976).

बना दिया और इसी दयनीतया से 'दलन' प्रारम्भ हुआ और यही दलन समय के साथ दलित बना जो आज के आधुनिक शब्द 'दलित' के रूप में जाना जाता है। मानक हिंदी कोश में दलित का अर्थ दलितद्दर, दरिद्र तथा गया-बीता और बहुत ही निम्न कोटि का माना गया है। इससे यह भाव निकलता है कि जिसको दबाया, प्रताड़ित किया गया है और जिसका 'दलन' किया है, जिसे पनपने न दिया गया हो तथा जिसको प्रताड़ित और ध्वस्त करने की पुरजोर कोशिश की गयी है, वो दलित हैं। दलित शब्द के विषय में डॉ. आंबेडकर के अनुयायियों ने कहा कि ''जिसे तोड़ दिया गया हो और जिसे उसके सामाजिक दर्जे से ऊपर बैठे लोगों ने जान बूझकर नियोजित रूप से कुचल डाला है, इस शब्द में छुआ-छूत और जातिगत श्रेणीक्रम का नकार निहित है यही दलित हैं।[32] घनश्याम शाह मानते हैं कि दलित गरीब और निचले अस्पृश्य तबके की पहचान का शब्द है, जिसे संवैधानिक तथा प्रशासनिक भाषा में अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति के नाम से जाना जाता है, जो संविधान के अनुच्छेद 341 (1, 2) में चिन्हित हैं।[33] दलित शब्द से मोटे तौर पर आशय जनसंख्या के उस शोषित व पीड़ित वर्ग से है जो परंपरागत आधार पर सदियों से सामान्यत: सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक अधिकारों से वंचित रहा है।[34] दलित शब्द को लेकर और कई विद्वानों ने अर्थ बताने का प्रयास किया है। वी.टी. राजेश्वर के अनुसार दलित तोड़ा, मसला, दबा, कुचला और उपेक्षित वर्ग है। वे कहते हैं कि दलित 'दल' शब्द से निकला है। दल को हम आक्सफोर्ड संस्कृत, अंग्रेज़ी शब्दकोश में पाते हैं, द्रविड़ भाषा के अंतर्गत दलित का अर्थ टूटा हुआ, छितरा हुआ, फुटन, टुकड़े-टुकड़े, बरबाद हुआ और शोषित कह सकते हैं।[35] सर मोनिस्टर विलियम के अनुसार ''दलित शब्द कई भारतीय भाषाओं व द्रविड़ भाषा में है। यह समाज के उपेक्षित और अस्पृश्य प्रताड़ित समाज को चिन्हित करता है।''[36] दलित कौन हैं इस संदर्भ में जॉन सी.बी. वैबस्टर के अनुसार दलित (''उत्पीड़ित'' अथवा

32. घनश्याम शाह (2001).
33. घनश्याम शाह (2001).
34. वी.आर.के. अय्यर (1976).
35. वी.टी.राजेश्वर (1985) : 1-15.
36. प्रवेश कुमार (2011).

''खण्डित'') एक नया शब्द नहीं है। स्पष्ट रूप से इसका उपयोग 1930 के दशक में ''पददलित वर्गों के हिंदी एवं मराठी अनुवाद के रूप में किया गया, जिसे अंग्रेजों ने उनके लिए उपयोग किया, जो आज अनुसूचित जातियाँ कहलाती हैं।[37] 1930 में पददलित वर्गों का एक समाचार पत्र ''दलित बन्धु'' (दलितों का मित्र) पुणे में प्रकाशित हुआ।[38] अपने मराठी भाषणों में इस शब्द का उपयोग डॉ.आंबेडकर ने भी किया। 1948 में प्रकाशित ''द अनटचेबल्स'' में डॉ. आंबेडकर ने ''खण्डित व्यक्तियों'', 'दलित' के एक अंग्रेज़ी अनुवाद, को अस्पृश्यों के कुल पूर्वजों को सन्दर्भित करने के लिए चुना, जिसका कारण स्वयं प्रमाणित रहा होगा, क्योंकि इसकी व्याख्या उन्होंने नहीं की। दलित पैन्थरों ने इस शब्द को पुनर्जीवित किया और अपने 1973 के दलित पैंथर घोषणा पत्र में, अनुसूचित जातियों, जनजातियों, नव बौद्धों, कामगार लोगों, भूमिहीन एवं गरीब कृषक, महिलाओं और उन सभी को जिनका राजनीतिक एवं आर्थिक रूप में व धर्म के नाम पर शोषण किया जाता है, को सम्मिलित करने के लिए इस शब्द के निर्देश्य को विस्तृत किया।[39] इस प्रकार ये एक संकुचित परिभाषा है जिसमें वे सभी सम्मिलित हैं जो समान रूप से स्थित हैं अथवा प्राकृतिक रूप से समवर्गी हैं। 1970 के प्रारम्भ से इस शब्द का उपयोग प्रेस एवं सामान्य बोलचाल में विस्तृत रूप से बढ़ा है, जहाँ सामान्यतया इसका उपयोग अपने मूल, संकुचित जाति आधारित अर्थ में किया जाता है। समाज विज्ञानियों ने भी दलितों के विषय में विभिन्न तरीकों से लिखा है, दो दृष्टिकोण प्रभुत्वशाली हैं। जो लोग भारतीय समाज की वर्ग व्याख्या का उपयोग करते हैं, वे ऐसे वर्ग अथवा व्यावसायिक श्रेणियों, जैसे कृषक, कृषि श्रमिक, फैक्ट्रियों में काम करने वाले, विद्यार्थी एवं इसी प्रकार के अन्य लोगों को दलित की श्रेणी में सम्मिलित करते हैं। इसे अधिकांश मार्क्सवादी ऐतिहासिक लेखनों, अध्ययनों एवं कुछ कम अंशों में दलित पैंथर घोषणा पत्र में देखा जा सकता है। जाति की सम्प्रदायवादी व्याख्या करने वालों के लिए दलित हिंदू समाज के अंतर्गत ही वे लोग हैं जो उन जातियों के हैं जिन्हें हिंदू धर्म, उनके वंशानुगत व्यवसाय के कारण अशुद्ध करने वाला मानता है।[40] काम्बले 1979, गुप्ता 1985,

37. जॉन सी.बी.वेबस्टर (1994).

38. अतुलचन्द्र प्रधान (1986).

39. गेल ओम्वेट (2006).

प्रधान 1986 एवं नाथ 1987 द्वारा प्रस्तुत दलित आंदोलन का इतिहास इसी मान्यता पर आधारित है।

डॉ.आंबेडकर ने डिप्रेस्ड क्लास शब्द का अधिक प्रयोग किया पर साहित्यिक समाज में 'दलित' के मायने को उभारने का श्रेय भी डॉ. आंबेडकर को ही जाता है। 1905 में दलित शब्द का प्रयोग यूरोप के देशों में भी हुआ जिसका अर्थ उपेक्षित, शोषित, डिप्रेस्ड वर्ग से लिया गया।[41] इस शब्द का प्रयोग अमेरिका में सर बुकर टी. वाशिंगटन के द्वारा श्वेत और अश्वेत की लड़ाई में भी किया गया है। भारत में इस शब्द का अधिक प्रभावी तरीके से दलित पैंथर आंदोलन के नेतृत्वकर्ताओं के द्वारा अधिकाधिक प्रयोग किया गया। दलित पैंथर ने यूरोप के काले लोगों और भारत के दलितों में समानता को ढूँढ़ने की कोशिश की और माना कि जिस प्रकार यूरोप में काले लोगों को मनुष्य मानने से इनकार किया गया और इस आधार पर उनका शोषण किया गया। ठीक इसी प्रकार से भारत में दलितों को भी समान रूप से प्रताड़ित किया गया तथा इसी आधार पर उन्हें शोषण से भी जूझना पड़ा है। दलित शब्द के उद्‌भव से पहले अस्पृश्य और उपेक्षित समाज के लिए 'डिप्रेस्ड क्लास' शब्द का प्रयोग किया गया जिसका अर्थ एंग्लो इण्डियन भाषा में 'अस्पृश्य' ही होता है। स्वतंत्रता से पूर्व डिप्रेस्ड क्लास शब्द ने दलितों को वर्तमान की शोषित व्यवस्था की खिलाफत के लिए एक सामूहिक पहचान उपलब्ध करायी। इस शब्द ने तमाम दलित, अछूत जातियों को एकजुट करने और इन जातियों के मध्य विद्यमान असमानताओं को दूर करने का कार्य किया। 'दलित' जातियों के एकीकरण को लेकर 18 अक्टूबर 1906 को सत्यनारायण चन्द्रावरकर और विट्ठल भाई राम जी शिंदे के नेतृत्व में ''डिप्रेस्ड क्लास मिशन सोसाइटी ऑफ़ इंडिया'' की महाराष्ट्र में स्थापना की गयी।[42] इसके माध्यम से अछूत और पिछड़ी जाति के लोगों को एकजुट करने का प्रयास किया गया और साथ ही साथ पहचान की राजनीति का शुभारम्भ भी लगभग यहीं से माना जा सकता है। इस काल में समाज व्यवस्था में दो भिन्न पहचानों का उद्‌भव

40. जे.आर. काम्बले (1979), एस.के. गुप्ता (1985),त्रिलोकनाथ (1987) एवं अतुलचन्द्र प्रधान (1986).
41. एस.एम.माइकल (2007).
42. दत्त (2005).

हुआ। एक वह समाज जो विगत वर्षों से सवर्ण और अगड़ी जाति का था तथा दूसरी ओर वह समाज जो अछूत, पिछड़ा और निम्न जाति का था। 60 से 70 के दशक में इन जातियों की एकजुटता का श्रेय दलित पैंथर आंदोलन को जाता है। सन् 1972 में दलित चिन्तकों और विचारकों ने ब्लैक पैंथर आंदोलन से प्रेरणा लेकर मुम्बई में नामदेव ढसाल और जे. वी. पंवार के नेतृत्व में दलित पैंथर आंदोलन चलाया, जिसने दलितों में चेतना पैदा की तथा दलित पहचान को और अधिक विस्तारित किया। दलित पैंथर आंदोलन के मानने वालों का मानना था कि पैंथर बिना किसी भय के अपने हक के लिए लड़ता है। राजा ढाले ने 1972 में एक लेख लिखा जिसका शीर्षक था ''काला स्वतंत्रता दिवस''। इस लेख ने दलितों में चेतना पैदा करने का कार्य किया। इस लेख ने दलितों के पढ़े-लिखे वर्ग में चेतना जागृत करने में अधिक सहयोग दिया। द मैनिफेस्टो ऑफ़ दलित पैंथर में स्पष्ट किया गया है कि दलित कौन है? 1975 से पहले सभी अनुसूचित जाति, जनजाति, भूमिहीन मजदूर, स्त्रियाँ, छोटे किसान और आदिवासी सभी दलित की श्रेणी में आते थे।[43] डॉ. आंबेडकर ने दलित जातियों में अपवित्रकारी जातियों को ही शामिल किया : बुनकर, धोबी, मोची, भंगी, चमार, ढंगरी, सउरी, उफली वादक आदि।[44] किन्तु समय के साथ दलित शब्द एक स्पष्ट वर्ग के लिए प्रयोग में आने लगा। 1980 और प्रमुखत: 1990 के बाद इस शब्द को मात्र और मात्र अनुसूचित जाति और जन-जातियों के साथ जोड़ दिया गया पर कई दलित विद्वान जैसे गेल ओम्वेट अभी भी दलित अनुसूचित जाति, जनजाति, पिछड़े वर्ग की महिलाओं को दलित मानती हैं। परन्तु आज दलित को मात्र अनुसूचित जाति, जनजाति के साथ ही जोड़ कर देखा जाता है। 'दलित' शब्द के 'भाव' में समय के अनुसार परिवर्तन आने लगा है। जहाँ एक दौर में उसे तमाम अनुसूचित जाति, जनजाति और गरीब, भूमिहीन लोगों के साथ जोड़ा जाता था वहीं अब दलित शब्द को एक संकुचित दायरा प्रदान किया गया। इस प्रकार दलित शब्द को केवल अस्पृश्य जातियों की पहचान के रूप में ही परिभाषित किया गया, परन्तु समय के साथ दलित शब्द को एक संघर्ष करने के शस्त्र के

43. के. सी.दास (2004).

44. धनंजय कीर (1981).

रूप में प्रयोग किया जाने लगा और क्रांति और सामूहिक संघर्ष को पर्याय माना जाने लगा। इसी आधार पर गंगाधर पंतवाने मानते हैं कि ''दलित एक जाति नहीं है, यह क्रांति के द्वारा बदलाव का चिन्ह है।''[45] गोपाल गुरू का मानना है कि ''दलित शब्द दलित पहचान को बताता है कि वो कौन? यह शब्द सामाजिक बदलाव और क्रांति की भावना के लिए संघर्ष का सन्देश देता है।''[46]

दलित शब्द की वर्गवादी व्याख्या के अंतर्गत दलित यानि कि केवल अनुसूचित जाति, जनजाति नहीं, बल्कि सभी शोषित दलित हैं, इस प्रकार की परिभाषा मार्क्सवादी समर्थकों ने की है। म.ना. वानखेड़े कहते हैं, ''दलित शब्द की परिभाषा केवल बौद्ध अथवा पिछड़े हुए नहीं, बल्कि जो भी शोषित, श्रमजीवी हैं वे सभी 'दलित' परिभाषा में सम्मिलित हैं।''[47] इसी प्रकार की परिभाषा नामदेव ढसाल ने की है। वे कहते हैं, ''दलित यानी अनुसूचित जाति, जनजाति, बौद्ध, श्रमिक जनता, मजदूर, भूमिहीन, खेत मजदूर, यायावर और आदिवासी हैं।''[48] वानखेड़े और ढसाल ने समाज के सभी दुर्बल घटकों को अपनी परिभाषा में सम्मिलित किया है। केवल अछूत, बहिष्कृत जाति ही दलित है, ऐसी यह परिभाषा नहीं है। यह परिभाषा व्यापक सामाजिक और राजनीतिक एकीकरण की भावनाओं से निर्मित हुई है। दरअसल यह परिभाषा केवल परिभाषा नहीं है, यह तो लड़ाई की तैयारी से की हुई एक प्रकार की मोर्चाबंदी है। शोषितों की जात शोषित होती है। सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक आदि शोषण के सभी प्रकारों से कलंकित शोषितों के सभी रिश्तेदार घटक 'दलित' हैं, यह ऐसी परिभाषा है।[49] वानखेड़े और ढसाल ने शोषितों को दलित कहा। परंतु ऐसी व्यापक परिभाषा मार्क्सवाद विरोधियों को मान्य नहीं हुई। दलित शब्द की सर्वस्वीकृत परिभाषा अछूत जाति, यायावर जनजाति के अर्थ में हुई है। इसका अर्थ ये नहीं माना जाए कि वानखेड़े,

45. घनश्याम शाह (2001).
46. घनश्याम शाह (2009).
47. देखें म.ना. वानखेड़े, दलितों का विद्रोही वाङ्मय: 73.,उद्धत शरण कुमार लिंबाले (2000) : 80.
48. नामदेव ढसाल,दलित पैंथर का जाहीरनामा, उद्धत शरण कुमार लिंबाले (2000):80.
49. शरण कुमार लिंबाले (2000): 80.

ढसाल द्वारा की गई परिभाषा कम महत्त्व की है। व्यापक, सामाजिक और राजनीतिक एकीकरण की भूमिका को ध्यान रखते हुए वानखेड़े, ढसालकृत परिभाषा समाज जागृति और संगठन की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। आज भारतीय समाज और राजनीतिक जीवन में जिस उच्च स्वर से जिस 'बहुजनवाद' की भाषा बोली जा रही है, उसका निनाद वानखेड़े, ढसाल की परिभाषा में सुनने को मिलता है। दलित साहित्य को एक आंदोलन माना जाए तो वानखेड़े, ढसाल की भूमिका, व्यापक हित और व्यापक दृष्टि से उचित लगती है।[50]

सन् 1931 में भारत के तत्कालीन जनगणना कमिश्नर द्वारा जातियों के वर्गीकरण के आधार पर जनगणना में दलित जातियों के लिए निम्न अर्थ दिये गए हैं, मैंने दलित जाति (डिप्रेस्ड कास्ट) उन जातियों को माना है जिनके साथ शारीरिक स्पर्श होने के फलस्वरूप उच्च जाति के हिंदुओं को अपनी शुद्धि करना आवश्यक हो जाता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि इस शब्द को किसी पेशे से सम्बद्ध कर दिया जाए, वरन यह शब्द उन्हीं जातियों के लिए प्रयुक्त होगा, जिनका उदाहरण के तौर पर हिंदू समाज में अपनी परंपरागत स्थिति के कारण, मंदिर में प्रवेश निषिद्ध है, या जिनके कुएँ अलग हैं, या जिन्हें पाठशालाओं में नहीं बैठने दिया जाता है, और बाहर ही रहना पड़ता है या जो इसी प्रकार की अन्य सामाजिक असमानताओं से पीड़ित हैं।[51]

अनुसूचित जाति शब्द जिसे आमतौर पर दलित शब्द की जगह पर प्रयोग किया जाता है, ब्रिटिश शासन के जमाने में भारत सरकार अधिनियम, 1935 के समय का है। यह अधिनियम राज्यों को अधिक अधिकार देकर एक राष्ट्रीय संघीय ढाँचा बनाने का प्रस्ताव था। इसी में पहली बार अनुसूचित जाति शब्द का प्रयोग किया गया। इस शब्द को भारत सरकार (अनुसूचित जाति) आदेश, 1936 ने और स्पष्ट किया जिसमें ब्रिटिश शासन के तहत राज्यों की जातियों की एक सूची या शेड्यूल था। आजादी के बाद संविधान की धारा 341 और 342 के इस प्रावधान में भारत के राष्ट्रपति और राज्यों के गर्वनरों की जिम्मेदारी तय की गई कि वे जातियों व जनजातियों की पूरी सूची तैयार करें और बाद में जरूरत हो

50. शरण कुमार लिंबाले (2000) : 80.
51. जे.एच.हट्टन (1929).

तो इसे दुरूस्त भी करें। जातियों व जनजातियों की वस्तुत: पूरी सूची बनाने का काम संविधान (अनुसूचित जाति) आदेश, 1950 और संविधान (अनुसूचित जनजाति) आदेश, 1950 के तहत किया गया। पहले आदेश के तहत 25 राज्यों के पहले शेड्यूल में 1,108 जातियाँ थी। जबकि संविधान (अनुसूचित जनजाति) आदेश, 1950 के पहले शेड्यूल में 25 राज्यों में कुल 744 जनजातियाँ ही दर्ज हुईं। अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के विकास के लिए संविधान ने त्रिस्तरीय रणनीति की रूपरेखा रखी।

दलित शब्द पर समकालीन बहसः न्यायपालिका के संदर्भ में

दलित शब्द की पहचान और संघर्ष को लेकर जो बहस सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक, एवं अकादमिक जगत में हो रही थी या हो रही है हाल ही के वर्षों में दलित शब्द की पहचान और उसकी राजनीति को लेकर भारत के विभिन्न न्यायालयों के जो फैसले आए हैं, क्या इसके तहत आज दलित शब्द लिखने और बोलने पर पाबंदी लग जाएगी ? अदालत द्वारा मीडिया के लिए ऐसे निर्देश जारी कर दिए गए हैं। सरकार को भी इस शब्द के इस्तेमाल से बचने को कहा गया है। ऐसे हालात में उनका क्या होगा जिनके लिए दलित शब्द उनकी पहचान से जुड़ा है। दलित अपने इतिहास, परंपरा, संघर्ष, साहित्य और अस्मिता को दलित शब्द के साथ समाहित करके चलते हैं। हाल के कुछ वर्षों में दलित उभार के तमाम आंदोलन और प्रतिरोध देखने को मिले हैं। लेकिन, क्या अब इस शब्द के लिखने-बोलने पर पाबंदी लगने वाली है। 6 जून 2018 को बाम्बे हाईकोर्ट ने अपने एक आदेश में प्रेस काउंसिल ऑफ़ इंडिया (पीसीआई) को कहा है कि मीडिया में इस्तेमाल किए जाने वाले दलित शब्द को वे छह सप्ताह के भीतर बंद कर दें। महाराष्ट्र के अमरावती जिले के भीम शक्ति संगठन से जुड़े सामाजिक कार्यकर्त्ता पंकज मेश्राम ने दो साल पहले बाम्बे हाईकोर्ट की नागपुर बेंच में दलित शब्द के इस्तेमाल के खिलाफ याचिका दायर की थी। अपनी अपील में उन्होंने कहा कि दलित शब्द असंवैधानिक और आपत्तिजनक है। इसके प्रयोग से नागरिकों की भावनाओं को ठेस पहुँचती है। मेश्राम के वकील एस. आर. नानावारे ने अदालत को केंद्रीय सामाजिक न्याय एवं अधिकारिता मंत्रालय द्वारा 15 मार्च 2018 को जारी परिपत्र का भी हवाला दिया जिसमें केंद्र और राज्य

सरकारों को दलित शब्द का इस्तेमाल करने से बचने और उसकी जगह पर अनुसूचित जाति से जुड़ा शब्द इस्तेमाल करने की सलाह दी गई थी। याचिका पर सुनवाई करते हुए जस्टिस बी.पी. धर्माधिकारी और जस्टिस जेड. ए. हक़ की खंडपीठ ने कहा कि चूँकि केंद्र सरकार ने इस संबंध में अधिकारियों को जरूरी निर्देश जारी किया है, इसलिए हम पाते हैं कि वह कानून के अनुसार प्रेस काउंसिल और मीडिया को उस शब्द का इस्तेमाल करने से बचने के लिए उपयुक्त निर्देश जारी कर सकती है। प्रेस काउंसिल ऑफ़ इंडिया, मीडिया के लिए एक तरह से नैतिक नियंत्रणकारी संस्था का दायित्व निभाती है। इसके निर्देश हालाँकि बाध्यकारी नहीं हैं, लेकिन माना जाता है कि अलग-अलग मीडिया संस्थानों द्वारा उनका पालन किया जाएगा। इससे पूर्व मध्य प्रदेश हाईकोर्ट भी इसी तरह का एक निर्देश जारी कर चुका है। वर्ष 2018 की शुरुआत में ही मध्य प्रदेश हाईकोर्ट ने कहा था कि केंद्र और राज्य सरकारों को पत्राचार में दलित शब्द के इस्तेमाल से बचना चाहिए क्योंकि यह शब्द संविधान में नहीं है। बाम्बे हाईकोर्ट के ताजा निर्देशों के बाद सवाल उठने लगे हैं कि क्या अब दलित शब्द को लिखने-बोलने पर पाबंदी लगने जा रही है। बाम्बे हाईकोर्ट में इसकी याचिका डालने वाले पंकज मेश्राम का कहना है कि वे अपने समुदाय के सम्मान के लिए संघर्ष कर रहे हैं। वे कहते हैं कि जिस समुदाय के पास संघर्ष करने का इतना समृद्ध इतिहास है, उसके लिए ऐसे शब्द का इस्तेमाल किया जाना उचित नहीं है। उनका मानना है कि दलित शब्द का इस्तेमाल केवल वोट बैंक की राजनीति के लिए ही किया जाता है।

दलित शब्द के समर्थक और विरोधी दोनों हैं। इस शब्द का समर्थन करने वाले इससे एक सकारात्मक अर्थ ग्रहण करते हैं, उनका कहना है कि इससे समुदाय की मुक्ति और उसके दृढ़ संघर्ष का अर्थ प्रतिध्वनित होता है। जबकि, इसका विरोध करने वाले दलित शब्द के साथ अपनी पहचान जोड़ने में सहज महसूस नहीं कर पाते हैं। लेखक और समाज विज्ञानी काँचा इलैया का कहना है कि दलित शब्द को भारत भर में स्वीकार्यता मिली है और यह समुदायों को एक-दूसरे के पास लाने वाला बन रहा है। इस शब्द के जरिए अलग-अलग राज्यों के लोग अपनी भाषा और सांस्कृतिक विभिन्नताओं के बावजूद एक साथ आए हैं। इसने पूरे समुदाय के लिए एक राष्ट्रीय पहचान का निर्माण किया है। वहीं,

प्रसिद्ध सामाजिक कार्यकर्त्ता गेल ओम्वेट कहती हैं कि अनुसूचित जाति एक कानूनी शब्द और यह तटस्थ जैसा है। यह किताबों में लिखे जाने के लिए तो ठीक हो सकता है। लेकिन, जातीय उत्पीड़न के खिलाफ आंदोलन और कार्रवाइयों में ज़्यादा मजबूत और दृढ़ पहचान की जरूरत होती है। जो कि अनुसूचित जाति शब्द से नहीं मिलती। जबकि, दलित शब्द से प्रतिरोध और विरोध को एक पहचान मिलती है।

दलित अस्मितावादी लेखनः दलित चेतना एवं अस्मिता की निर्मिति

समाज विज्ञान के विभिन्न अनुशासनों में अस्मिता या पहचान का पद अक्सर मनुष्य की वैयक्तिकता या समुदाय-समूह के साथ उसके रिश्तों को व्यक्त करने के लिए इस्तेमाल किया है। यह अवधारणा समाजशास्त्र, संस्कृति अध्ययन, राजनीति विज्ञान, और मनोविश्लेषण के लिए महत्त्वपूर्ण है। हालाँकि ये सभी अनुशासन अस्मिता की परिभाषा अलग-अलग तरीके से परिभाषित और संसाधित करते हैं। अस्मिता की आवश्यकता एवं अस्मिता का संकट मानव समाज के सामने हमेशा ही रहा है। पहचान की जरूरत का सवाल और उसकी जरूरत किसे है।[52] यह एक ऐसा दायरा है जिसके तहत व्यक्ति और समुदाय यह बताते हैं कि वे ख़ुद को क्या समझते हैं और क्या समझा जाना पसंद करते हैं। वे यह भी बताते हैं कि वे क्या नहीं समझा जाना पसंद करते हैं। अस्मिता का यह दायरा अपने आप में एक बौद्धिक, ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक संरचना का रूप ले लेता है जिसकी रक्षा करने के लिए व्यक्ति और समुदाय किसी भी सीमा तक जा सकते हैं। वे ख़ुद की और दूसरे भी उनकी अस्मिता के उसी दायरे के मुताबिक शिनाख्त करते हैं। शुरूआत में चिंतकों का ख्याल था कि व्यक्ति का स्वायत्त वजूद अपने आप में एक असंदिग्ध तथ्य है और उसी से उसकी अस्मिता या पहचान प्रवाहित होती है। इसी विचार ने आगे जाकर उदारतावाद के केंद्र में व्यक्ति की इयत्ता को ला बैठाया। मार्क्सवाद अस्मिता की स्वायत्तता को स्वीकार न करके सामाजिक प्रक्रिया के अधीन देखता है। लेकिन वह वर्गीय संरचनाओं को छोड़कर

52. बद्री नारायण (अक्टूबर, 5, 2012) नेशनल सेमिनार ऑन द पॉलिटिक्स ऑफ़ आइडेंटिटी इन इंडिया, कांशीराम शोधपीठ, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ द्वारा आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी में प्रस्तुत वक्तव्य से।

बाकी सभी अस्मिताओं को भ्रांत चेतना मानता है। भारतीय संदर्भ में इसकी मिसालें पिछले सौ साल से बिखरी पड़ी हैं। दलित अस्मिता एक बहुत महत्त्वपूर्ण उदाहरण है। कभी तो दलित समुदाय ख़ुद को आदि द्रविड़ के रूप में, कभी पतित हो चुके क्षत्रियों के रूप में और कभी नागरिक समाज के दलित सदस्य के रूप में देखते हैं। इससे स्पष्ट है कि अन्य अस्मिताओं की तरह उनकी आधुनिक अस्मिता कोई स्वायत्त, नैसर्गिक और स्थायी रूप नहीं है। बीसवीं सदी ने अस्मिता के इस विचार पर कई गंभीर प्रश्नचिह्न लगाए हैं। अस्मिताएं सामाजिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक परिवर्तनों के मुताबिक बनतीं-बिगड़ती रहती हैं। एक समय में अस्मिता का कोई एक पहलू अधिक प्रमुखता प्राप्त करके उनकी राजनीतिक अभिव्यक्ति बन जाता है।[53]

अस्मिता की प्रक्रिया सामाजिक होती है। अस्मिता लगातार चलती रहती है, बनती रहती है। समुदाय और राष्ट्र हमेशा बताते रहते हैं कि ये अपने हैं, वो दूसरे हैं, और यही विषमता बढ़ाती है, बनाती है।[54] हालाँकि इस पहचान का स्वरूप सभी के लिए एक जैसा और सुपरिभाषित नहीं है। किसी समुदाय की पहचान उसकी अपनी ही निगाह में उसके महत्त्व और उसकी आत्मछवि से निकलती है। इस आत्मछवि में यथार्थ भी हो सकता है और कल्पना भी। जब कोई समुदाय अपने अस्तित्व और भूमिका को समझने की समस्याओं से जूझता हुआ अपने आप से सवाल करता है कि हम कौन हैं, और दूसरे समुदायों के मुकाबले हमारी समाज में क्या अहमियत है या हम किस तरह दूसरों से संबंधित हैं, तो उसकी पहचान बनने की प्रक्रिया शुरू होती है।[55]

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि आधुनिक शिक्षा के प्रचार-प्रसार से दलित जातियों में नई चेतना और नये बोध का जागरण तैयार हो रहा था, इसके साथ ही डॉ. आंबेडकर जैसा बहुआयामी व्यक्तित्व दलितों को प्राप्त हो गया जिसने दलितों की पहचान व दलित आंदोलन को एक नई दिशा व आयाम दिया।

---

53. अभय कुमार दुबे (2007).
54. आनंद कुमार (अक्टूबर. 5. 2012) नेशनल सेमिनार ऑन द पॉलिटिक्स ऑफ़ आइडेंटिटी इन इंडिया, कांशीराम शोधपीठ, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ द्वारा आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी में प्रस्तुत वक्तव्य से।
55. ललित मोहन (2017).

इस प्रकार से दलित चेतना से ही दलित आंदोलन तथा दलित राजनीति का आविर्भाव हुआ है, जो कि प्रत्येक क्षेत्र को प्रभावित कर रही है। इस तरह से दलित चेतना एक वैचारिक भाव है। दलित चेतना वास्तव में दलित पहचान एवं दलित इतिहास के प्रश्नों को अपने में समेटे है। दलित चेतना मुख्यत: जाति विरोधी है। इसके साथ ही देशभर में किसी एकीकृत दलित आंदोलन का वजूद न तो कभी था और न ही आज है। कई किस्म के दलित आंदोलन तरह तरह के दलित संबंधी मुद्दे उठाते हुए नाना प्रकार की विचारधाराओं के आधार पर गोलबंद होते रहते हैं। लेकिन इन सभी प्रयासों में एक बात समान है। विचारधारा और मुद्दे अलग-अलग होने के बावजूद सभी आंदोलन एक दलित पहचान अथवा अस्मिता का दावा जरूर करते हैं। बहरहाल, दलित आंदोलनों की प्रकृति और पहचान के मायनों के बारे में मतभेदों के बावजूद सभी तरह के दलित आंदोलन अपने लिए समतामूलक, आत्मसम्मानयुक्त और छुआछूत रहित समाज बनाने के लिए प्रतिबद्ध होते हैं। घनश्याम शाह द्वारा कही गई यह बात न केवल देशभर के दलित आंदोलनों के लिए सही है बल्कि दलित अस्मितावादी लेखन पर भी समान रूप से लागू होती है।[56] आज सभी भारतीय भाषाओं में दलित अस्मितावादी लेखन, दलित साहित्य और उसके द्वारा निर्मित दलित चेतना, जिसमें समतामूलक, आत्मसम्मानयुक्त और छुआछूत रहित समाज बनाने की प्रतिबद्धता दिखाई देती है। यह उसका अखिल भारतीय स्वरूप भी है और दलित अस्मितावादी लेखन एवं दलित साहित्य की अवधारणा का लक्ष्य भी। इन लक्ष्यों के आधार पर भारत की विभिन्न भाषाओं के दलित साहित्य समानधर्मा साहित्य हैं, लेकिन दलित अस्मितावादी लेखन एवं दलित साहित्य में इस समानधर्मिता के बावजूद एक बात स्पष्ट रूप से दिखाई देती है कि भारतीय भाषाओं के दलित साहित्य में अपनी पहचान और अस्मिता का स्वरूप सभी के लिए एक जैसा और सुपरिभाषित नहीं है।

अस्मिता या पहचान क्या है? अस्मिता की परिभाषा देते हुए रिचर्ड जेनिकिंस सोशल आइडेंटिटी में बताते हैं कि अस्मिता एक मानवीय क्षमता है जिसकी जड़ें भाषा में यह जानने के लिए हैं कि कौन क्या है? और इसमें यह भी शामिल

56. ललित मोहन (2017) वही.

है कि हम कौन हैं? और दूसरे (अन्य) कौन हैं? आदि। यह एक बहुमुखी वर्गीकरण है, अथवा मानवीय संसार को मानचित्रित करना है एवं इसमें व्यक्तिगत एवं सामूहिक गुणों के सदस्यों के रूप में हमारें स्थानों की खोज है। अस्मिता के और पहलू (अन्य) की ओर प्रकाश डालते हुए एस्टोन बताते हैं: यह (अस्मिता) एक वस्तु नहीं है, अस्मिता एक प्रक्रिया है। यह कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो किसी के पास हो सकती है या नहीं हो सकती, यह ऐसी चीज है जिसमें कोई जीता/मरता है। आमतौर पर हम अस्मिता को एक वस्तु की भाँति ग्रहण करते हैं और अस्मिता की प्रक्रिया का उल्लंघन कर बैठते हैं या अनदेखा कर देते हैं।[57] दलित साहित्य में दलित अस्मिता के संदर्भ में देखें तो हम इस बात को सीधे तौर पर अनदेखा कर देते हैं, यह गलती है, दलित अस्मिता में 'दलित' का एक वस्तु के रूप में चित्रण या इसकी अस्मिता की प्रक्रिया का चित्रण भी करते हैं तो सीधी और सपाट प्रक्रिया के रूप में ही, जैसे 'हम यह हैं और तुम यह हो' यहाँ हमारे 'हम' होने और तुम्हारे 'तुम' होने की जटिल प्रक्रिया की जटिलता में न उलझकर उसे (अस्मिता को) बहुत सीधे-सीधे रूप में प्रस्तुत किया जाता है। सही मायने में देखें तो अस्मिता इतना सरल और सीधा साधा मामला नहीं है। अस्मिता के संबंध में एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अस्मिता में हम कौन हैं? और दूसरे (अन्य) कौन है? या वे क्या सोचते हैं कि हम कौन हैं? यह एक बहुमुखी वर्गीकरण है। किसी की पहचान अथवा किसी अस्मिता के शत्रु जो कि बहुमुखी रूप में हम ही हैं, अत: एकवचन या बहुवचन दोनों में ही कभी भी हम अंतिम नहीं समझे जाने चाहिए।[58]

दलित साहित्य के संदर्भ में भी हम यही बात देखते हैं कि इसमें हम की प्रक्रिया में एकवचन को बहुवचन पर आरोपित कर दिया जाता है। भारत की अलग-अलग भाषाओं के दलित साहित्य को एक मानना ऐसे ही अंतविर्रोधों को उजागर करता है। ऐसा नहीं है कि इन अलग-अलग भाषाओं की अस्मिताएं (बहुमुखी/बहुवचन) एक व्यापक अस्मिता नहीं बन सकती या बननी चाहिए। अपने लक्ष्यों के दृष्टिकोण से देखें तो इन अलग-अलग दलित साहित्य में/के

57. रिचर्ड जेनिकिंस (2014).
58. रिचर्ड जेनिकिंस (2014) वही.

लक्ष्य एक समान होने के कारण एक व्यापक अस्मिता लिए हैं, लेकिन बावजूद इसके इन अलग-अलग भाषाओं के दलित साहित्य में अनेक आधारों पर व्यापक मतभेद और अंतर भी दिखाई देते हैं। अत: अखिल भारतीय या किसी एक भाषा के दलित साहित्य को एकवचन (हम) के रूप में देखना उसके बहुवचन (हम) को खंडित/ अनदेखा करता है। दलित साहित्य का अध्ययन करने वाले किसी भी अध्येता को यह बात स्पष्ट रूप से दिखाई देती है कि न केवल भारतीय भाषाओं के दलित साहित्य में बल्कि भारत की किसी एक भाषा के दलित साहित्य में भी अस्मिताओं की बहुलता स्पष्ट रूप से दिखाई देती है और यह बहुलता उनमें सांस्कृतिक इतिहासों, मिथकों, प्रतीकों, कथाओं, विधाओं के स्तर के साथ साथ उनके संघर्ष के तरीकों की हिमायत (पक्षधरता) तक में दिखाई देती है। अत: ऐसी स्थिति में किसी भी भाषा के दलित साहित्य में अस्मिताओं के सहअस्तित्व को नकारकर उसे एकवचन (हम) की अस्मिता के रूप में देखना दलित साहित्य में एक खतरनाक प्रवृत्ति को जन्म दे रहा है। फिर चाहे वह किसी भी भाषा का दलित साहित्य क्यों न हो।

जेनिकिंस के अनुसार समाजशास्त्रीय उद्देश्य से अस्मिता शब्द की निम्न मानकों पर व्याख्या की गई है: अस्मिता वह तरीका इंगित करती है जिसमें एक व्यक्ति अथवा समूह दूसरे व्यक्ति अथवा समूह के संबंध में भिन्न होते हैं। पहचान करना व्यक्तियों के बीच, संबंधों के समूह की समानता और असमानताओं के बीच एक व्यवस्थित स्थापना और अर्थ है। एक साथ समझने पर समानता और असमानता पहचान के गत्यात्मक सिद्धांत हैं और मानव संसार के केंद्र में है। इसी संदर्भ में आगे जेनिकिंस कहती हैं, असमानता अस्मिता की कुंजी है, असमानता समांगता को विकृत करती है। अमौलिकतावाद एक ऐसा स्वाभाविक गुण है जो असमानता को अस्मिता में सम्मिलित करता है। यह समझना होगा कि अस्मिता कभी न बदलने वाली स्थिर आद्य (प्रारंभिक) नहीं है, अपितु यह अपने मौलिक स्वरूप में पूर्णत: सामाजिक-सांस्कृतिक है तथा संधिवार्ता योग्य व लचीली है।[59]

दलित साहित्य में दलित अस्मिता के संदर्भों को देखने पर एक बात तो स्पष्ट होती है कि दलितों की एक अस्मिता जो दलित साहित्य के द्वारा उनके लक्ष्यों

59. रिचर्ड जेनिकिंस (2014) वही.

के तौर पर निर्मित होती दिखती है, जिसमें–समतामूलक, आत्मसम्मानयुक्त और छुआछूत रहित समाज बनाने के लिए प्रतिबद्धता दिखाई देती है और साहित्य का इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए सांस्कृतिक स्तर पर इस्तेमाल करना है और इस रूप में एक व्यापक स्तर पर दलित अस्मिता का निर्माण करना सम्मिलित है। दूसरे स्तर पर देखें तो दलित साहित्य में (चाहे किसी भाषा का क्यों न हो।) इस व्यापक अस्मिता के बावजूद अलग–अलग अस्मिताओं का सह–अस्तित्व में होना। यहाँ यह अस्मिताएं एक दूसरे से असमानता लिए हुए हैं और ये असमानताएँ अगर उन आधारों को छोड़ दिया जाए जो दलित साहित्य को व्यापक एकता के लक्ष्यों के आधार पर एकजुट/निर्मित करते हैं तो ये साहित्य एक दूसरे को उन सभी रेखाओं (पहलुओं) पर काटती है। इस आधार पर देखें तो व्यापक अस्मिता के रूप में उस अन्य को शामिल किया जाना चाहिए जो उसके लक्ष्यों में उन्हीं की भाँति एक कतार में खड़े दिखाई देते हैं यानि जिनका भी लक्ष्य– समतामूलक, आत्मसम्मान युक्त (सभी मनुष्यों के लिए) और छुआछूत रहित समाज बनाने का है। अगर ऐसा नहीं किया जाता है तो दलित साहित्य में लक्ष्यों के आधार पर निर्मित अस्मिता उसी आधार पर खंडित होगी जिस आधार पर इसका निर्माण किया जा रहा है। इस संदर्भ में देखें तो शैला बेन हबीब जिस तथ्य की ओर इशारा करती हैं वह महत्त्व प्राप्त कर लेगी, वे कहती हैं– अस्मिता का वह सिद्धांत जो कि असमानता पर आधारित है के विरोधाभास में (एक) अन्य सिद्धांत जो कि असमानता तथा समानता दोनों पर बल देता है। यह समानता तथा असमानता दोनों की अंत: क्रीड़ा है।

लेकिन सरल और सीधी दिखाई देने पर भी यह बात इतनी सीधी और सरल नहीं है। यह स्थिति (सिक्के) के एक तरफ़ का बयान है इसके दूसरी तरफ़ का बयान दूसरा है। दूसरी तरफ़ का बयान यह कहता है कि–दलित साहित्य द्वारा निर्मित की जा रही अस्मिता या पहचान वास्तव में दलित अस्मिताओं/पहचानों के लिए है जहाँ ये अस्मिताएं अपने लक्ष्यों के आधार पर एक व्यापक दलित अस्मिता का निर्माण कर रही हैं, वहीं ये अस्मिताएं एक दूसरे को काट भी रहीं हैं जिन्हें अनदेखा किया गया है/जा रहा है। इन्हें बहुत ही सरल एवं सपाट रेखा के रूप में भी प्रस्तुत किया जा रहा है। दूसरे शब्दों में दलित साहित्य द्वारा निर्मित दलित अस्मिताओं/पहचानों के सह–अस्तित्व को नकार कर उसे मात्र एक ही

साहित्यधारा मराठी के दलित साहित्य (उसमें भी वर्चस्व वाली साहित्य धारा) के रूप में देखा/दिखाया जा रहा है। अभय कुमार दुबे अपने लेख 'नए शहर की तलाश में' इस बात को रेखांकित करते हुए बताते हैं कि दलित चेतना की इन धाराओं को केवल मराठी तक सीमित मान लेना अनुचित होगा। यह भी एक गलतफ़हमी है कि आधुनिक दलित साहित्य का जन्म सबसे पहले मराठी में हुआ था। तेलुगू क्षेत्र में जब गाँधी के हरिजनोद्धार से प्रभावित होकर एन.जी.रंगा हरिजन नायक्कुडु (हरिजन नेता, 1933)[60] और उन्नव लक्ष्मीनारायण मलापल्ली (हरिजन बस्ती, 1922) की रचना कर रहे थे उस समय मार्क्सवाद से प्रभावित युवा साहित्यकारों की एक पीढ़ी ने वर्गीय शोषण को केंद्र बनाकर प्रभावशाली रचनाशीलता के नए आयाम प्रस्तुत किए। लेकिन राष्ट्रवादी साहित्य की भाँति यह वामपंथी साहित्य भी जातिगत भेदभाव और दमन की चक्की में पिसते हुए दलित समुदाय को मुक्तिकामी स्पर्श देने में नाकाम रहा। रंगा और लक्ष्मीनारायण ने हरिजनों का जातिप्रथा के दायरे में मुक्ति का अधूरा सपना दिखाने की कोशिश की थी और वामपंथी कह रहे थे कि वर्ग संघर्ष के सार्वभौम अपरंपार में शोषण के अन्य सभी रूप समाकर नष्ट हो जाएंगे। दलितों ने यह तर्क मानने से इनकार कर दिया। बीस और तीस के दशक में भाग्य रेड्डी वर्मा के नेतृत्व में आदि-आंध्र महासभा के दलित आंदोलन और तटवर्ती आंध्र के क्षेत्र में ईसाई मिशनरियों के शैक्षिक प्रयासों से बने माहौल में एक सर्वथा नई दलित साहित्यिक सांस्कृतिक परंपरा ने जन्म लिया। इसके शीर्ष पर गुर्रम जाषुवा थे, जो अपनी प्रखरता और अनूठे कृतित्व के लिए दलित महाकवि कहलाए। जाषुवा के नाम थे भीमन्ना, कुसुम धर्मन्ना और स्वयं भाग्य रेड्डी वर्मा। इन विलक्षण प्रतिभाओं ने जिस साहित्य की रचना की और ऊंची जातियों की सांस्कृतिक धारा के सामने जो चुनौती पेश की वह आगे चलकर साहित्य का एक पंचम वेद ही बन गई। दलित साहित्य

---

60. गोगिनेनी रंगा नायकुलु, जिन्हें एनजी रंगा (7 नवंबर 1900 - 9 जून 1995) भी कहा जाता है, एक भारतीय स्वतंत्रता सेनानी, सांसद और किसान नेता थे। वह किसान दर्शन के एक प्रवक्ता थे, उन्हें भारतीय किसान आंदोलन के पिता माना जाता था। इसके लिए देखें Parliamentary career: http://rajyasabha.nic.in/photo/princets/p16.html

के संदर्भ में ही इसी प्रकार के तथ्यों की ओर ध्यान दिलाते हुए अभय कुमार दुबे अपने लेख नए शहर की तलाश में आगे बताते हैं–तेलुगू की ही तरह उत्तर भारत के हिंदी क्षेत्र में भी दलित साहित्य की संभावनाएँ तीस के दशक में ही दिखाई देने लगी थीं। इसकी पृष्ठभूमि में बीस के दशक में कानपुर में चले आदि–हिंदू आंदोलन द्वारा उत्पन्न विद्रोह की भावना थी। यह आंदोलन पंजाब के तत्कालीन आदि–धर्म आंदोलन, मद्रास के आदि–द्रविड़ आंदोलन और महाराष्ट्र में चल चुकी सत्यशोधकों की मुहिम जैसा था। इसके नेता स्वामी अछूतानंद और रामचरण दास थे।

अछूतानंद का आत्मानुभव आगे चलकर डॉ. आंबेडकर की आधुनिकता के साथ समागम करके हिंदी दलित साहित्यकारों की दलित चेतना में रूपायित हुआ। इसी जमाने में महावीर प्रसाद द्विवेदी की सरस्वती में हीरा डोम की कविता 'अछूत की शिकायत' प्रकाशित हुई और कानपुर के ही एक अछूत मिल–मजदूर काशीबाबा ने 'छोटे और बड़े का सवाल' शीर्षक से एक कहानी की रचना की। अभय कुमार दुबे अपने इसी लेख 'नए शहर की तलाश' में दलित साहित्य की इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का अध्ययन करते हुए बताते हैं कि तेलुगू और हिंदी से मिलने वाला दलित साहित्य का यह ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य आगे चलकर साम्राज्यवाद–विरोधी आंदोलन में गाँधी और कांग्रेस द्वारा सामाजिक–सांस्कृतिक परिदृश्य पर हावी होते चले जाने के कारण नेपथ्य में चला गया। डॉ. आंबेडकर के नेतृत्व में दलित हितों ने गोलमेज सम्मेलनों में गाँधी और अंग्रेजों के सामने अपनी शर्तें रखी क्योंकि स्वराज उनके लिए समता की आकांक्षा के अलावा कुछ नहीं हो सकता था। 1963 के बाद जैसे मराठी में दलित साहित्य का उद्घोष हुआ, वैसे ही न केवल जाषुवा और भीमन्ना की तेलुगू में, न केवल हीरा डोम और काशीबाबा की हिंदी में बल्कि गुजराती, तमिल और कन्नड़ में भी दलित साहित्य की धाराएं फूट पड़ीं। ऐसे ही संकेत मलयालम में दलित साहित्य के प्रसिद्ध समीक्षक ए.अच्युतन अपने लेख मलयालम में दलित साहित्य : नए आयाम में बताते हैं, मलयालम दलित कविता में नए आयाम की सही पहचान 1960 के बाद की रचनाओं में देख सकते हैं। कविता के कथ्य और शिल्प में दलित सत्व बोध का निर्माण करने का सार्थक प्रयास ही समसामयिक दलित कविताओं का प्रमुख लक्ष्य है। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि भारत की भाषाओं में दलित साहित्य

विभिन्न ऐतिहासिक कारणों के साथ अस्तित्व में आ रहा है। इसके पीछे एक भाषा का दूसरी भाषा पर प्रभाव नहीं बल्कि अपने सामाजिक-ऐतिहासिक कारणों से ही प्रभाव ग्रहण करते हुए आगे बढ़ रहा है।

वर्तमान समय में दलितों के बीच ऐसे कई संप्रदाय सक्रिय हैं जो भक्ति का प्रचार करते हैं। मैत्री का संदेश देने वाले इनमें से कई संप्रदायों की शुरूआत हिंदू धर्म के दायरे के बाहर हुई थी लेकिन इनके पास आस्थावान हिंदुओं से पृथक आधार नहीं है। इस सिलसिले में छत्तीसगढ़ क्षेत्र के सतनामियों का उदाहरण दिया जाता है। लॉरेंस बाब को उद्धृत करते हुए घनश्याम शाह बताते हैं सतनामी धार्मिक जीवन का सार छत्तीसगढ़ के ग्रामीणों के बीच प्रचलित हिंदू धर्म की ग्रामीण किस्म के अलावा कुछ नहीं है। यहाँ तक कि अधिकतर सतनामी हिंदू देवी-देवताओं की ही पूजा करते हैं। सतनामियों और उस इलाके की अन्य जातियों में अंतर यह है कि सतनामी अपने संगठन के संकीर्ण दायरे में ही हिंदू धर्म की एक भिन्न आचरण पद्धति का पालन करते हैं। उनके अपने पुरोहित, अपने पवित्र स्थल और अपने प्रमुख त्योहारों का अलग कैलेंडर होता है। ये बातें उन्हें अपने हिंदू पड़ोसियों से अलग कर देती हैं। इस भिन्नता को प्रतीक के रूप में दर्शाने वाला सफेद झंडा हर सतनामी बस्ती में प्रमुखता से फहराता हुआ देखा जा सकता है। ऐसे तरीकों से सतनामी अपनी अलग पहचान हासिल करते हैं और यह पहचान स्थानीय सीमाओं से परे चली जाती है। सतनामी एक जाति भी है और एक क्षेत्रीय धार्मिक समुदाय के रूप में उनकी पहचान भी है। दलित साहित्य में अस्मिता के निर्माण की यह वर्चस्ववाली धारा 'हम' और 'तुम्हारे' के बीच इतना यांत्रिक विभाजन करती है कि इतिहास में उनके अपने पूर्वजों के सांस्कृतिक संघर्षों तक को जो उन्होंने किए थे, को विस्मृत करने का प्रयास करती है/मानने से इनकार कर देती है। हैरतअंगेज बात तो यह है कि अपनी साहित्य धारा को आंबेडकरवादी साहित्य का नाम देने की वकालत करने वाले लोग भी इसको अनदेखा करते हैं।

दलित आंदोलन पर विस्तार से काम करने वाली एलिनॉर जेलिएट ने अपने लेख 'गौरव का लोकगीत : समकालीन दलित विश्वास के तीन घटक' की शुरूआत डॉ. आंबेडकर द्वारा मराठी में लिखी गई तीन पंक्तियों के अंग्रेज़ी अनुवाद से की है, हिंदुओं को चाहिए थे वेद, इसलिए उन्होंने व्यास को बुलाया जो सवर्ण

नहीं थे। हिंदुओं को चाहिए था महाकाव्य, इसलिए उन्होंने वाल्मीकि को बुलाया जो ख़ुद अछूत थे। हिंदुओं को चाहिए था एक संविधान, और उन्होंने मुझे बुला भेजा। अभय कुमार दुबे का मानना है कि डॉ. आंबेडकर की ये पंक्तियाँ स्पष्टत: दो संदेश देती हैं कि तुम कला और संस्कृति की रचना में किसी से पीछे नहीं हो। ये पंक्तियाँ और भी आगे जाकर दलितों को विश्वास दिलाती हैं कि वे कला और संस्कृति के मूल रचयिता हैं। इस प्रकार देखें तो नई दलित अस्मिता के निर्माण के अति उत्साह में दलित साहित्य की इस वर्चस्ववादी धारा का यही सबसे कमजोर पक्ष भी दिखाई देने लगता है कि स्वयं अपने इतिहास और संस्कृति को द्वन्द्वात्मकता के आधार पर न देखकर उस इतिहास और सांस्कृतिक दृष्टिकोण के शिकार हो जाते हैं, जो अंग्रेजों ने भारत में उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद को स्थापित करने के लिए विकसित की थी। दलित साहित्य में स्पष्टत: देखने में आ रहा है कि दलित साहित्य में वर्चस्ववादी यह धारा बार-बार डॉ. आंबेडकर का नाम लेती तो है पर डॉ. आंबेडकर की इतिहास दृष्टि को दरकिनार करके उपनिवेशवादी दृष्टिकोण की नस्ल पर आधारित इतिहास दृष्टि को ही केंद्रीय आधार बनाने में लगी है। दलित साहित्य में अस्मिता के निर्माण की इस वर्चस्ववादी धारा में दलित अस्मिता की निर्माण प्रक्रिया में यह पहलू स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। जिस प्रकार वर्तमान भारत में हिंदू धर्म की एक धारा इस्लाम से पूर्व के भारत को एकात्मक हिंदू धर्म के रूप में प्रस्तुत करती है ठीक उसी प्रकार दलित साहित्य में अस्मिता की यह धारा (वर्चस्ववादी) दलितों और गैर दलितों को दो धाराओं में विभाजित करके देखती है। यद्यपि इन दो धाराओं को वो अलग-अलग समय में अलग-अलग नाम दे देती है, बौद्ध एवं हिंदू, आर्य एवं अनार्य, क्षत्रिय एवं ब्राह्मण, मूल निवासी शासक एवं बाहरी आक्रमणकारी आदि के रूप में देखना।

यद्यपि देखा जाए तो दोनों धाराओं के दलित साहित्य में अस्मिता निर्माण की प्रक्रिया के रूप में स्थापित की जाने वाली घटनाएँ भारत के इतिहास में सीधे-सीधे उच्च वर्णों के साथ, उनके आपसी संघर्ष की घटनाएँ ही दिखाई देती हैं जिन्हें दलित साहित्य की वर्चस्ववादी (यह धारा) अपने इतिहास के रूप में देखती है। उनके कोई सीधे-सीधे कारण जो दलितों से संबंधित हों प्राय: दिखाई नहीं देते, हाँ, यह बात अवश्य है कि इतिहास में इनके बीच (उच्च वर्णों के आंतरिक

संघर्ष में) संघर्ष की स्मृतियाँ और रेखाएँ खीचीं हुई हैं। इन संघर्षों के परिणामस्वरूप इनकी वर्गीय स्थिति में बदलाव अवश्य आया होगा/आएगा इन संघर्षों का आधार वर्गीय स्थिति में परिवर्तन करेगा। लेकिन दलित साहित्य की यह धारा वर्गीय स्थिति को महत्त्व नहीं देती, क्योंकि अगर देगी तो उस दलित साहित्य में गैर दलितों को भी शामिल करना पड़ेगा इससे दलित जातियों के आधार पर निर्मित की जा रही दलित अस्मिता बाधित होगी। अत: वे इसे जाति तक सीमित रखने के कारण जन्म के आधार पर ही केवल दलितों की जाति से जोड़कर देखते हैं लेकिन इतिहास में देखने पर हम पाते हैं कि आपसी संघर्षों के कारण उनकी वर्गीय स्थिति में बदलाव हुआ, जिसके कारण उनकी स्थिति में बदलाव आता रहा है, फिर इस बदलाव के कारण एक वर्ग ने शूद्र वर्ण की स्थिति प्राप्त की। दूसरा अगर इसे इतिहास प्रक्रिया के रूप में देखा जाए तो फिर यह नस्लों के बीच का संघर्ष नहीं है। फिर दलित साहित्य में जाति या वर्ण की ऐतिहासिकता में इनकी अस्मिता का नस्ल के रूप में देखा जाना अंतर्विरोधपूर्ण होगा। साथ ही उन ऐतिहासिक तथ्यों को भी अनदेखा करना होगा जिसमें वेदों के समय से पूर्व ही भारत में संसार की प्रमुख नस्लें आर्य, ऑस्ट्रोनॉयड, मंगोलॉयड, द्रविड़, अपने अपने सांस्कृतिक आधारों के साथ स्थापित हो चुकी थीं। वर्ण की व्यवस्था इन विभिन्न नस्लों की व्यवस्था थी जिसे बाद में निजी संपति के विकास और पितृसत्ता की सामाजिक मान्यता ने पेशों के विशेषीकरण की नई व्यवस्था के साथ जोड़ दिया जो जाति व्यवस्था पर आधारित थी।

नृतत्त्वशास्त्री स्पष्ट बताते हैं कि भारत में अलग-अलग प्रदेशों के ब्राह्मणों और शूद्रों में कोई नस्लीय विभिन्नताएँ नहीं हैं वे समान नस्ल के लोग हैं। हिंदू धर्म के भीतर जातियों की उत्पत्ति के संदर्भ में एस.जी. सरदेसाई जिन बिंदुओं को इंगित करते हैं, वे इन अस्मिताओं के अत्यंत महत्त्वपूर्ण तथ्यों को उजागर करते हैं, हिंदू धर्म के भीतर जातियों की उत्पत्ति विभिन्न तरीकों से हुई। पहले आदिम हिंदू आर्य कबीलों में वर्ग विभाजन हुआ। दूसरे, आर्य और गैर आर्य कबीलों के बीच संकरण हुआ। भले ही उसकी मात्रा कितनी भी क्यों न रही हो, जिसे 'शुद्ध आर्य रक्त' की डींग हांकने वाले और वर्ण संकर की निंदा करने वाले कितना ही इनकार क्यों न करें, इस संकरण को कुछ सीमा तक धर्म, विधि और रीतियों द्वारा मान्यता प्रदान कर दी गई (इस रूप का ज़्यादा काम आरंभिक

समाजों में हुआ)। तीसरे, दस्तकारी और व्यापार की प्रचुरता के साथ उत्पादन के बढ़ते हुए साधनों ने भी नई जातियों को जन्म दिया। चौथे, असंख्य आदिम कबीलों को, हिंदू संघ में जातियों के रूप में समाविष्ट कर लिया गया। जाति का अनिवार्यत: मतलब होता था सजातीय विवाह, सजातीय विवाह के बिना कोई जाति हो ही नहीं सकती थी। इससे यह परिणाम निकलता है कि हर कोई हिंदू नहीं हो सकता जब तक वह किसी जाति में पैदा न हो, तब तक उसका किसी जाति से संबंध नहीं हो सकता। हिंदू धर्म में व्यक्ति के रूप में प्रवेश न पाने का कारण जाति है, जब तक किसी जाति से संबंध नहीं, तब तक वह हिंदू कैसे हो सकता है और जब तक आप किसी जाति में जन्म न लें, तब तक किसी जाति के रूप में आपकी स्वीकृति कैसे हो सकती है।[61]

यहाँ सरदेसाई स्पष्ट रूप से दिखलाते हैं कि हिंदू धर्म के भीतर ही जातियों की उत्पत्ति भी विभिन्न तरीकों पर आधारित है। फिर हिंदू धर्म को जिसे एकात्मक हिंदू धर्म के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा उस पर इतिहासकार रोमिला थापर इस्लाम के पूर्व के समय पर प्रकाश डालते हुए कहती हैं कि आज के राष्ट्र राज्य (नेशन स्टेट) के विपरीत उस समय भिन्न-भिन्न समुदायों का प्रचलन था जिनकी अपनी पृथक-पृथक पहचान होती थी। समुदाय की अवधारणा अवश्य थी। पर उसकी पहचान स्थान, भाषा, जाति, व्यवसाय, और सम्प्रदाय के रूप में होती थी। इसमें धार्मिक एकत्व की भावना न थी जिसे हिंदू नाम दिया जा सके। हिंदू शब्द का प्रथम उल्लेख भौगोलिक अर्थ में हुआ है। इसका अपना अलग-अलग महत्त्व है। यह कोई गैरवाजिब बात नहीं है क्योंकि इसका हिंदू की ऐतिहासिक कल्पना से घनिष्ठ संबंध है, जहाँ प्रारंभ में इसका प्रयोग किसी धर्म या संस्कृति के लिए नहीं हुआ है। इस उपमहाद्वीप के सिंधु नदी के इस पार के प्रदेशों के निवासियों का उल्लेख हिंदू के रूप में हुआ है। अल-हिन्द भौगोलिक इकाई थी, और इस देश के सभी निवासियों को हिंदू कहते थे। इस प्रकार देश में नवागंतुक लोगों की दृष्टि में दूसरे लोग हिंदू थे। धीरे-धीरे कालान्तर में इस शब्द का प्रयोग भारत के निवासियों के लिए ही नहीं होता था बल्कि उन लोगों के लिए भी होता था जो इस्लाम या ईसाई धर्म से पृथक प्रथाओं का पालन करते

61. एस.जी.सरदेसाई (1986).

थे। इस अर्थ में हिंदुओं में ब्राह्मण और नीची जातियाँ दोनों ही सम्मिलित मानी जाती थीं। नीची जातियों को हिंदुओं में शामिल करना ब्राह्मण धर्म के उपदेशों के विरुद्ध है। भिन्न-भिन्न संप्रदायों और जातियों सबको समाहित करने वाला बेशक ये एक नया और अंचभे वाला प्रयोग था क्योंकि ये आमतौर पर अपना पृथक् अस्तित्व मानते थे। कुतूहलजनक बात यह है कि भारत के लोगों ने नवागंतुक मुसलमानों को ऐसे रूप में नहीं देखा। प्रारंभिक अभिलेखों में मुस्लिम शब्द का उल्लेख नहीं मिलता। उनके लिए तुरुक शब्द का प्रयोग हुआ है, जो तुर्कों का उल्लेख करता है, वह भी एक नृजाति के लिए। भौगोलिक दृष्टि से उन्हें यवन भी कहा गया है। सांस्कृतिक दृष्टि से ये मलेच्छ थे। यवन शब्द योन से बना है। ई.पू. प्रथम सहस्त्राब्दि के प्रारम्भ में यूनानियों और पश्चिम एशिया से आने वाले अन्य जनों के लिए यवन शब्द का प्रयोग होता था। मलेच्छ का अपवित्र के अर्थ में प्रयोग वैदिक ग्रन्थों में भी मिलता है। वर्ण व्यवस्था से बाहर के व्यक्तियों या विदेशियों को भी मलेच्छ कहते थे। जिनकी भाषा संस्कृत न थी। बाद में इसका प्रयोग नीची जातियों और जनजातियों के लिए भी होने लगा। ऊंचे से ऊंचे दर्जे के विदेशियों को भी मलेच्छ मानते थे। मेवाड़ के पंद्रहवीं सदी के अंत में एक अभिलेख में मालवा के सुल्तान और उसकी सेना को शक कहा गया है। कई सदियों पहले सिंथियनों को शक कहते थे। इससे ज्ञात होता है कि इतिहास की पुरानी घटनाएँ भी स्मृति में रची बसी थीं। इन भिन्न-भिन्न शब्दों का इतिहास में भिन्न-भिन्न जातियों से तात्पर्य था। ये भिन्नता की अभिव्यक्ति करते थे न कि एकता की। भारत में आकर बसने वाले मुसलमानों के लिए यहाँ का समाज प्रारम्भ में एक पहेली ही था। यह पहला देश था जहाँ बड़ी संख्या में लोगों ने अपना धर्म छोड़कर इस्लाम ग्रहण नहीं किया या उन्हें पहली बार ऐसे समाज से वास्ता पड़ा जिसमें धर्मांतरण की कल्पना के लिए कोई स्थान न था। यहाँ जन्म से ही जाति और धर्म का निर्णय हो जाता है।[62] इस संदर्भ की ओर अधिक स्पष्ट करते हुए रोमिला थापर आगे बताती हैं कि भारत को एकात्मक हिंदू धर्म के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है, जबकि वास्तविकता यह है कि ये विभिन्न संप्रदायों के जमघट थे जिनमें हर एक का अलग-अलग अस्तित्व था।

62. रोमिला थापर (2014).

अपनी उपासना पद्धति थी। वे एक सामान्य सभ्यता के प्रतीकों का पालन करते थे, किन्तु विश्वासों की दृष्टि से इनमें निरीश्वरवाद से लेकर जीवात्मवाद (ऐनिमिज्म) तक थे। उनमें तरह तरह के धर्मिक संगठन थे, जो क्षेत्र, भाषा और जाति के आधार पर बने थे। धार्मिक अस्मिता की भावना भी संप्रदाय से अधिक जुड़ी थी न कि किसी प्रभावी हिंदू समाज से।[63]

इस प्रकार हम देखते हैं कि दलित साहित्य में अस्मिता निर्माण की वर्चस्ववादी धारा जहाँ अपनी अस्मिता और साहित्य को नवबौद्ध धर्म, दलितों के मूल निवासी होने के विचारों के साथ जोड़ते हुए साहित्य की अन्य सभी धाराओं को एकमात्र हिंदू धर्म या आर्यों और उसके साहित्य के साथ जोड़कर देखती-दिखाती है। वहीं दूसरी ओर ईसाइयों के एक तबके ने अब ख़ुद को दलित ईसाई के रूप में पेश करना शुरू कर दिया है तथा ऐसा ही मुसलमानों के एक दलित तबके ने भी किया है। इन दोनों ने अपने द्वारा लिखे साहित्य में भी दलित साहित्य की भाँति ही अपनी अस्मिता को दलित अस्मिता के रूप में देखने-दिखाने की कोशिश की है। लेकिन जहाँ नव-बौद्ध दलित एवं अपने को मूल निवासी मानने वाले दलित अपने को दलित साहित्य का सच्चा प्रतिनिधि मानते समझते हैं। वहीं वे उन्हीं आधारों को मानने वाले मुसलमान दलितों एवं ईसाई दलितों की दलित अस्मिता को मानने से इनकार नहीं करते तो खुले तौर पर उन्हें स्वीकार भी नहीं करते।

इस प्रकार उपरोक्त सभी ऐतिहासिक आधारों को नकारते हुए दलित साहित्य में वर्चस्ववादी धारा के द्वारा एक ओर दलित अस्मिताओं/पहचानों के सह अस्तित्व को नकारकर उसे मात्र एक ही दलित अस्मिता के रूप में देखा/समझा और दिखाया जा रहा है तो दूसरी ओर गैर दलितों की अस्मिताओं को भी एक मात्र एकल हिंदू अस्मिता या ब्राह्मणवादी अस्मिता के रूप में चित्रित किया जा रहा है। यह कहना गलत नहीं होगा कि मनुष्य को जो बात अलग बनाती है, वह उसकी सामाजिक अस्मिता है, वह अपने अन्य साथी सदस्यों के साथ साझी अंतरवैयक्तिक दुनिया में रहते हैं। वह दूसरों के व्यवहार को ध्यान में रखे बिना अपने अस्तित्व की कल्पना नहीं कर सकता है। वह जिस भाषा का इस्तेमाल

63. रोमिला थापर (2014) वही.

करता है, जिस प्रकार का भाव व्यक्त करता है, जिस प्रकार के संकेत देता है और जिस तरह अन्य लोगों के साथ बातचीत करता है तथा उसकी चेतना, सोच, संवेदना और कार्य उसके सामाजिक संबंधों के ताने-बाने में स्थित होता है।[64] इस अर्थ में यदि हम जी.एच. मीड की मार्मिक अंतर्दृष्टि पर गौर करें तो मनुष्य का 'अहम' सामाजिक अनुभव और गतिविधि की प्रक्रिया से उत्पन्न होता है। मीड के अनुसार यह कथन सचमुच रोचक है यदि मैं कोई खेल खेल रही हूँ तो मेरी गतिविधि अन्य खिलाड़ियों की गतिविधि के बारे में मेरी कल्पना पर आधारित होगी। इसी प्रकार जब मैं किसी समुदाय में रहती हूँ तो मुझे उस अभिवृत्ति को ध्यान में रखने की आवश्यकता होती है जिसे मीड ने 'सामान्यीकृत अन्य' कहा है। सामान्यीकृत अन्य के रूप में ही सामाजिक प्रक्रिया इसमें रहने वाले व्यक्तियों के व्यवहार को प्रभावित करती है। कहने का अभिप्राय यह नहीं है कि मनुष्य कठपुतली मात्र है जो बिना किसी नवपरिवर्तन और सृजनात्मकता के उसकी सामाजिक अस्मिता से मेल खाती है। मीड मैं और मुझे में अंतर करती हैं। हाँ, ''मुझे'' सामाजिक रूप से निर्मित है। यहाँ एक पारंपरिक व्यक्ति है जिसकी आदतें और प्रत्युत्तर वही है, जो सबकी होती है। फिर भी ''मैं'' एक मुक्ति और पहल की भावना प्रदान करता है। यह ऐसा कुछ है जो कभी भी परिकल्पनीय नहीं है इसमें नवीनता के तत्त्व हैं। यहाँ समाजशास्त्रीय रूप से जो महत्त्वपूर्ण है वह यह है कि इन अभिवृत्तियों के संगठित समुच्चय की उपस्थिति के बिना समाज में दैनिक जीवन जीना असंभव है जो मुझे (मी) का निर्माण करती है। मीड एक प्रकार से सामाजिक अस्मिताओं के निर्माण की अंतर्दृष्टि प्रस्तुत करते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं है कि जिस सामाजिक समूह, जाति, नस्ल, लिंग और राष्ट्रीयता में व्यक्ति रहता है, वे सभी इन अस्मिताओं का निर्माण करते हैं।

जैसा अभिजीत पाठक कहते हैं कि अस्मिताओं का क्षेत्र जटिल होता है। अस्मिताएं प्राय: स्वभाविक प्रतीत होती हैं। ऐसा कुछ जिसके साथ इंसान पैदा होता है लेकिन सच्चाई यह है क्या अस्मिताएं, सांस्कृतिक कार्यक्रमों और समाजीकरण के माध्यम से सामाजिक रूप से निर्मित होती हैं? उदाहरण के लिए जिसे प्राय:

64. अभिजीत पाठक (2013): 95.

जन्मप्रदत्त माना जाता है, ऐसा कुछ जो स्वयं शरीर रचना में निहित होता है जैसे किसी की जेंडर अस्मिता। सांस्कृतिक मानवविज्ञानियों और समाजशास्त्रियों के कारण अब हम जानते हैं कि जेंडर-लिंग सेक्स नहीं है और स्त्री या पुरुष के रूप में विकसित होने की प्रक्रिया अनिवार्यत: एक सांस्कृतिक निर्मिती है। हां व्यक्ति स्त्री या पुरुष के रूप में जन्म लेता है लेकिन इस जैविक तथ्य को पारिवारिक, समाजीकरण, स्कूल के पाठ्यक्रमों और धार्मिक मान्यताओं के जरिए उसे एक धारणा में बदल दिया जाता है और अंतत: वह स्त्री या पुरुष अस्मिता को अपना लेता है।[65] इस संदर्भ में अभिजीत पाठक एक सवाल उठाते हुए यह कहते हैं कि अस्मिताओं का किस प्रकार सामाजिक निर्माण होता है। दरअसल जो अस्मिताएं प्राय: प्रदत्त और आरोपित होती हैं उनका महत्त्व सावधानीपूर्वक विकसित सांस्कृतिक रिवायतों के माध्यम से ही उजागर होता है। उदाहरण के लिए मैं एक ब्राह्मण परिवार में पैदा हुआ। लेकिन मैं ब्राह्मण अस्मिता अपना पाता हूँ या नहीं इस बात पर निर्भर करेगा कि मेरा किस प्रकार समाजीकरण होता है और किस प्रकार गैर ब्राह्मणों से अलग रहने के लिए प्रशिक्षित किया जाता है। दूसरे शब्दों में यह महत्त्वपूर्ण है कि मैं व्यक्तिगत रूप से ख़ुद को उस आत्मसजग समुदाय का हिस्सा मानता हूँ या नहीं जो उस समूह में शामिल होने और बाहर जाने की कठोर शर्तें रखता है। इन व्यापक और छोटी अस्मिताओं के बीच जटिल अंत:क्रिया को समझना महत्त्वपूर्ण है। दरअसल राजनीतिक-सांस्कृतिक क्षेत्र में हम प्राय: इन तथाकथित व्यापक सार्वभौमिक अस्मिताओं का रहस्योद्घाटन देखते हैं। बल्कि हम जातीय, नस्लीय अस्मिताओं की बहुलता से संबन्धित विभेदों की दृढ़ अभिव्यक्ति देखते हैं और आंतरिक दरार के प्रति सजग हो जाते हैं। उदाहरण के लिए भारतीय अस्मिता को सुदृढ़ करने के राष्ट्रीय प्रोत्साहन को लें। मैं स्वतंत्रता संग्राम से एक विशेष उदाहरण देना चाहूँगा, उपनिवेशवाद के खिलाफ यह ऐतिहासिक संघर्ष हमारे सामूहिक जीवन में एक बड़ी घटना थी। इसने हमें एकजुट होकर काम करने का एक लक्ष्य दिया। एकता की यह भावना इंडियन नेशनल कांग्रेस के निर्माण, अखिल भारतीय जन आंदोलनों, व्यापक एकजुटता और गाँधी, नेहरू और टैगोर जैसे करिश्माई नेताओं के प्रभाव में दिखी

65. अभिजीत पाठक (2013): 98-100.

जो अपनी सीमित करने वाली अस्मिताओं के पार जा सकते थे और सार्वभौम अपील में अपनी वैधता प्राप्त कर सकते थे। लेकिन यदि हम इतिहास पर नज़र डालें तो पाएंगे कि इस व्यापक रूप से साझी भारतीयता को समस्यामूलक भी बना दिया गया। दलित जातियों और वर्गों ने इस पर प्रश्न उठाए और इसके आंतरिक मतभेद को उजागर कर राष्ट्रीयता को विखंडित किया। राष्ट्र और जाति के बीच इस जटिल अंत:क्रिया का एक उदाहरण डॉ.आंबेडकर के राजनीतिक विचार और गाँधी व इंडियन नेशनल कांग्रेस की उनकी आलोचना में देखा जा सकता है। राष्ट्रवाद की भावना जब अपने चरम पर थी उस दौर में डॉ. आंबेडकर को यह तर्क देने में कोई झिझक नहीं हुई कि प्राथमिक शत्रु साम्राज्यवाद नहीं जातिवाद की तानाशाही है। इस तरह से चारों ओर शत्रुओं से घिरा दलित वर्ग एक ही साथ सभी मोर्चों पर नहीं लड़ सकता है इसलिए मैंने अन्य किसी बात से पहले हिंदुओं की दो हजार साल पुरानी जातीय तानाशाही और दमन के खिलाफ लड़ने और दलित वर्गों के लिए सामाजिक समानता हासिल करने का निर्णय किया है।[66] इसलिए इसमें आश्चर्य नहीं है कि डॉ. आंबेडकर, गाँधी के साथ सहज महसूस नहीं करते थे। उनके अनुसार गाँधी भारत के तानाशाह थे जो हमें अंधकार युग में ले गए। उनके बीच का मतभेद दलितों के लिए अलग निर्वाचक वर्ग के मुद्दे पर गहरे रूप से उभर कर सामने आया। गाँधी इसके पक्ष में नहीं थे क्योंकि उन्हें डर था कि इससे राजनीतिक विभाजन हो जाएगा। डॉ. आंबेडकर इससे असहमत थे उनका मानना था कि एकता का बहाना बनाने की कोई जरूरत नहीं है। उन्होंने गाँधी और दलितों के हितों सहित संपूर्ण भारत का प्रतिनिधित्व करने के उनके अधिकार पर प्रश्न उठाया : महात्मा हमेशा यह दावा करते रहते हैं कि कांग्रेस दलित वर्गों के समर्थन में है और यह दलित वर्गों का मुझसे या मेरे साथियों से कहीं अधिक प्रतिनिधित्व करती है। इस पर मैं केवल यह कहना चाहूँगा कि यह उन कई झूठे दावों में से एक है जो गैर जिम्मेदार लोग करते रहते हैं यद्यपि इन झूठे दावों से जुड़े लोग प्राय: इन्हें अस्वीकार करते हैं: दलित वर्ग कांग्रेस में नहीं है।[67] इस तरह से हम सभी जानते हैं कि गाँधी राष्ट्रीय एकता पर बल देते थे। अंतत: पूना पैक्ट के रूप में किसी प्रकार से इसका हल निकला। लेकिन

66. देखें गेल ओम्वेट (1994): 212, अभिजीत पाठक (2013): 99-103 में उद्धृत.
67. देखें गेल ओम्वेट (1994) : 170-71, अभिजीत पाठक (2013): 103 में उद्धृत.

डॉ. आंबेडकर कभी भी गाँधी के नैतिक ब्लैकमेल पर अपना आक्रोश व्यक्त करने से चूकते नहीं थे। आत्मकथात्मक अनुभवों, सशक्त अलंकारों और आवेगमय भाषा शैली में समाजशास्त्र से परिपूर्ण अपनी पुस्तक में काँचा इलैया एक सशक्त संदेश देना चाहते हैं। हिंदू धर्म और ब्राह्मण धर्म बहुजनों का धर्म नहीं हो सकता है। उनकी पहचान हिंदू अस्मिता से बिल्कुल अलग है। वह अपने बचपन आंध्र प्रदेश के गुमनाम गाँव में कुरुप्पा जाति के एक बच्चे के बड़े होने की प्रक्रिया को याद करते हैं। वहाँ ऐसा कुछ भी नहीं था जो उन्हें ब्राह्मणों, बनियों और अन्य सवर्णों के साथ जोड़े। इस तरह से काँचा इलैया इन दोनों की संस्कृतियों की तुलना करते हुए गहरा प्रहार करते हैं। ब्राह्मणों, बनियों की दुनिया अलग है। वह दमन और शोषण करते हैं, उनका धर्म फासीवादी है, उनका पारिवारिक जीवन सत्तावादी और अनुत्पादक है। वे श्रम से घृणा करते हैं और बेकार विश्राम को पसंद करते हैं, उनकी संस्कृति शेष समाज पर थोपी जाती है। उनकी शिक्षा वर्चस्ववादी हो जाती है, यह दलितों-बहुजनों की संस्कृति को शायद ही कभी वैधता प्रदान करती है। इस बात को काँचा इलैया आगे बढ़ाते हुए अपने जीवन अनुभवों को साझा करते हुए लिखते हैं कि ज्यों-ज्यों हम बड़े हो रहे थे, उच्च कक्षाओं में आते जा रहे थे, पाठ्य पुस्तकों में हमें ऐसी कहानियाँ पढ़ाई जाती थीं जिन्हें हमने कभी अपने परिवारों में नहीं सुना था। राम और कृष्ण की कहानियाँ, पुराणों की कविताएं, दो महाकाव्य रामायण और महाभारत के नाम बार-बार दोहराए जाते थे। मुझे स्पष्ट रूप से याद है कि यह सभी नाम मेरे लिए कितने अजनबी थे। मेरे लिए कालिदास का नाम उतना ही अनजाना था जितना कि सेक्सपियर का नाम।[68]

इस तरह से काँचा इलैया के आक्रोश की कोई सीमा नहीं है। वह मार्क्सवादियों को भी नहीं बख्शते हैं, वह आरोप लगाते हैं कि किस तरह कम्युनिस्टों ने भी हिंदू जीवनशैली को नहीं छोड़ा। उनकी मित्रता, उनका वैवाहिक संबंध अपनी ही जाति के लोगों में सीमित रहा। काँचा इलैया के अनुसार इन ब्राह्मण कम्युनिस्टों ने कभी भी हिंदू देवताओं की आलोचना नहीं की। लेकिन उनका घोषणा पत्र इस प्रवृत्ति को रोकने और दलित बहुजनों के लिए वैकल्पिक अस्मिता की

68. देखें काँचा इलैया (1996): 13, अभिजीत पाठक (2013): 103-104 में उद्धृत.

वकालत करता है। हां इसके लिए उनकी अपनी संस्कृति में अथाह विश्वास अपेक्षित है, जो ब्राह्मणवाद की तुलना में अधिक उत्पादक और जीवनदायी है। इसलिए वह हिंदू आदर्शों की तुलना अपने आदर्शों से करते हैं और अपने श्रोताओं को प्रेरित करते हैं। इसी तरह ब्राह्मणवादी सत्तावाद के विपरीत उनकी संस्कृति खुली, लोकतांत्रिक, मौलिक और प्रकृति के अपेक्षाकृत अधिक करीब है। यह श्रम और उत्पादन क्षमता को महत्त्व देती है। यह मंत्र पूजा और तपस्या को अहमियत नहीं देती है। यह वैज्ञानिक है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं है कि यह ज्ञान और साहस को पुनर्परिभाषित करती है। हमारे वास्तविक जीवन में ज्ञानी पुरुष वह व्यक्ति है जिसे सामाजिक कार्यों का ज्ञान है। जो भेड़ पालन, कृषि, रस्सी बनाना और मनुष्य और जानवरों की बीमारियों का निदान करना जानता है। साहसी व्यक्ति वह है जो बाघ, शेर, सांप, जंगली सांडों से लड़ना जानता है। जो घने जंगलों में जा सकता है, नदियों को तैरकर पार कर सकता है, खोई हुई बकरियों और भेड़ों को खोज सकता है। इस प्रकार से काँचा इलैया दलित-बहुजन अस्मिता और प्रभावशाली हिंदू अस्मिता के साथ इसके गहरे मतभेदों को दृढ़ता के साथ रखते हैं। हिंदू धर्म का सरलीकरण तथा अपनी संस्कृति का रूमानीकरण करते हैं और इसे अनिवार्य बताते हैं। इससे एक बात तय है कि उनका आक्रोश वास्तविक है और यह हमारे समाज को और अधिक बाँट सकता है और दर्द से पीड़ित अस्मिता की राजनीति को और अधिक तीव्र कर सकता है, जब तक कि हमारे समाज में कुछ नए बदलाव न किए जाएं।[69]

समकालीन समाज विज्ञान में मतभेद की स्वीकृति की वैधता काफ़ी बढ़ गई है। नतीजे के तौर पर एक महान या समग्रतावादी अस्मिता के वर्चस्व पर संदेह किया जाता है और अलग-अलग पहचान वाली बहुल सामूहिकताओं के सह-अस्तित्व को बहुलवाद का गुण माना जाता है। इसमें आश्चर्य नहीं है कि महान भारतीय अस्मिता को प्रायः समस्या मूलक बना दिया जाता है। दरअसल एक स्थाई सशक्त भारतीय अस्मिता या भारतीय राष्ट्रीयता की समालोचना केवल दलित जातियों से ही नहीं बल्कि यह विविध सामूहिकताओं से भी आई है, जिनकी अलग-अलग सांस्कृतिक भाषाई पहचान है। यह आशंका व्यक्त की जाती

69. देखें काँचा इलैया (1996): 132, अभिजीत पाठक (2013): 106 में उद्धृत.

है कि भारत की एक राष्ट्रीयता का विचार ही बहुलवाद के खिलाफ होगा। हाल के दिनों में टी.के. उम्मेन काफ़ी निडरता के साथ इस सिद्धांत का प्रतिपादन करते रहे हैं।[70]

वह स्पष्ट तौर पर कहते हैं कि भारत एक राष्ट्र नहीं है और हो भी नहीं सकता है। बल्कि यह एक राज्यव्यवस्था के अंतर्गत रह रहे कई राष्ट्रों का विन्यास है। उम्मेन चेतावनी देते हैं कि हम इस सच्चाई को अक्सर भूल जाते हैं और भारत को एक राष्ट्र के रूप में पेश करने लगते हैं और इसके विनाशकारी परिणाम होते हैं। यह एक वर्गीकृत सामाजिक, राजनीतिक परिवेश का निर्माण करता है। जिसमें प्रभुत्वशाली समुदाय राष्ट्र के एजेंडे का इस्तेमाल अपने फायदे के लिए करते हैं और बाकी समाज की सांस्कृतिक, भाषाई आकांक्षाओं का दमन करते हैं और उन्हें संघ और राष्ट्र विरोधी करार देते हैं। राष्ट्र के रूप में भारत एक ऐसा विचार है जिसे टी.के. उम्मेन नापसंद करते हैं और अपने चिर-परिचित तर्कपूर्ण अंदाज में अपनी बात रखते हैं। उदाहरण के लिए प्राय: यह तर्क दिया जाता है कि भारत अपनी सभ्यतागत एकता के कारण एक राष्ट्र है। उम्मेन तर्क देते हैं कि इस प्रकार का सिद्धांत प्राय: यह संकेत देता है कि हिंदू संस्कृति ऐसा तत्त्व है जो आवश्यक एकता प्रदान करती है। लेकिन इसमें एक खतरा है यह मुसलमानों और अंग्रेजों के योगदान की अनदेखी करता है। कुछ ऐसे लोग हैं जो अपेक्षाकृत अधिक मुखर हैं और हिंदू धर्म को भारतीय राष्ट्र का आधार मानते हैं। वे इसे समरूप मानते हैं। वे इसके आंतरिक भेदभाव और परिणामी असंतोष को नहीं देख पाते। इसके अलावा राष्ट्र की ऐसी अवधारणा बनाने में एक धार्मिक सामूहिकता वर्चस्ववादी सामूहिकता के केंद्र में आ जाती है और अन्य धर्म हाशिये पर आ जाते हैं।[71] वह इस वर्चस्व का प्रकटीकरण विविध सामाजिक-राजनीतिक क्षेत्रों में देखते हैं। पहला वो तर्क देते हैं कि संवैधानिक विस्तारवाद भारतीय मूल के अल्पसंख्यक धर्मों की अस्मिता को अस्वीकार करता है। इसका एक उल्लेखनीय उदाहरण हिंदू कोड बिल है जो जैनियों, बौद्धों और सिखों को अपने में समाहित करता है और

70. देखें टी. के. उम्मेन (1997) एवं टी. के. उम्मेन (2004), अभिजीत पाठक (2013): 106-108 में उद्धृत.

71. देखें टी. के. उम्मेन (2004) वही, अभिजीत पाठक (2013): 107 में उद्धृत.

सभी को हिंदू मानता है। दूसरा इस्लाम और ईसाइयत को प्राय: विजय और उपनिवेशवाद का उत्पाद माना जाता है। तीसरा हिंदुओं, बौद्धों और सिखों में केवल वंचित वर्गों को ही संरक्षणात्मक भेदभाव का लाभ मिलता है। उनके अनुसार निश्चय ही यह इस्लाम और ईसाइयों के वंचित वर्गों के प्रति अन्याय है।

उम्मेन उन लोगों से भी खुश नहीं है जो अपेक्षाकृत अधिक परिष्कृत प्रतीत होते हैं और भारतीय राष्ट्रीयता के आधार के रूप में समेकित संस्कृति की बात करते हैं। जहाँ यह समेकित संस्कृति का सिद्धांत हिंदू धर्म और इस्लाम के मिश्रण पर जोर देता है वहीं यह आर्यपूर्व, गैर आर्यन लोगों, द्रविड़ और अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति की अनदेखी करता है। उम्मेन समेकन के दर्शन को चुनौती देते हैं क्योंकि समेकन का मतलब है समावेशन और मिश्रण, इसलिए यह बहुलतावाद के सिद्धांत के विरुद्ध है जबकि बहुलतावाद संस्कृतियों की भिन्नता के बावजूद उनके सह-अस्तित्व को सुगम बनाने के लिए विविधता का जश्न मनाता है।[72]

इस तरह से उम्मेन का संदेश स्पष्ट है कि साझी भारतीयता जैसी कोई व्यापक अस्मिता नहीं है। विशिष्ट राष्ट्रीयताओं (जैसे तमिल, बंगाली आदि) के साथ रहना हमारी नियति है और यही बहुलवाद है। व्यापक भारतीय अस्मिता को थोपने का कोई भी प्रयास इस बहुलता को असंतुलित कर देगा। भारत हमें सांस्कृतिक पहचान नहीं दे सकता है। यह केवल नागरिकता दे सकता है। जहाँ उम्मेन का बहुलवाद का तर्क प्रशंसनीय है वहीं उनके सिद्धांत में दो कमियाँ हैं। पहली वह भारत को महज राजनीतिक विधिक राज्य बना देता है यह इसे इसके भावनात्मक सांस्कृतिक एकता की भावना से वंचित कर देता है। वह भूल जाते हैं कि हमारी भाषाएं और आहार प्रणालियाँ अलग-अलग हैं लेकिन भारत हमारी सामूहिक चेतना है। दरअसल भारत निर्माण एक निरंतर प्रक्रिया है बुद्ध, शंकर और कबीर हमारी सामूहिक चेतना में हैं। सुब्बालक्ष्मी और लता मंगेशकर सभी क्षेत्रीय सीमाओं से परे हैं और मसाला डोसा, समोसा, क्रिकेट और बॉलीवुड का अखिल भारतीय चरित्र है। यह कहना गलत होगा कि मतदाता पहचान पत्र और राशन कार्ड के अलावा कुछ भी नहीं है जो हमें जोड़ता हो। दूसरी ओर वह यह मानने से इनकार करते हैं कि अपने क्षितिज और संसार का विस्तार करने की निरंतर चाहत होती

---

72. देखें टी. के. उम्मेन (2004): 37, अभिजीत पाठक (2013): 107-108 में उद्धृत.

है। मैं बंगाली हो सकता हूँ लेकिन एक तमिल या सिख या किसी यूरोपीय के साथ बातचीत करके अपने क्षितिज का विस्तार करने की मेरी तीव्र इच्छा भी हो सकती है। दूसरे शब्दों में जो कहते हैं उसके विपरीत मेरी पहचान हमेशा के लिए निर्धारित नहीं है, इसमें नए-नए आयामों के जरिए निरंतर विकास हो रहा है। यहाँ उनके विचारों से सहमत हुआ जा सकता है क्योंकि उनकी अवधारणा बहुलवाद के नाम पर व्यक्ति की अस्मिता को केवल सीमित करता है। महत्त्वपूर्ण यह है कि प्रमाणिक बहुलवाद केवल अपने सांस्कृतिक विभेद को बनाए रखने का अधिकार ही नहीं बल्कि विनम्रता की भावना और दूसरों से सीख लेने की क्षमता के बारे में भी है।[73]

अन्य किसी बात से पहले हमें एक और महत्त्वपूर्ण प्रश्न पूछने की आवश्यकता है कि ऐसा क्यों है कि अस्मिताएं ख़ुद को दृढ़ता के साथ प्रस्तुत करती हैं, तथाकथित श्रेष्ठ समाज के साथ प्रतिस्पर्धा करती हैं। मुझे लगता है कि इसका एक बड़ा कारण यह है कि अस्मिताएं समरूप विभेद के रूप में होने के बजाय प्राय: वर्गीकृत और पदानुक्रमिक होती हैं। यह द्वन्द्व या असमान सत्ता संबंध गहरी पीड़ा और आक्रोश पैदा करता है और संभवतया ज्यों ही लोकतांत्रिकरण की भावना वृहत्तर सामाजिक-राजनीतिक जीवन में प्रवेश करती है अब तक हाशिये पर बैठे समूह जिनकी निम्नतर पहचान होती है प्रतिरोध करने लगते हैं और वे उस पूरी विचारधारा का विरोध करते हैं जो इन पद सोपानों को वैध ठहराती है। समाज में समरूपता और समानता होती तो व्यक्ति संभवत: अपनी अस्मिता के प्रति इतना आसक्त नहीं होता बल्कि संवाद के अनुकूल एक सामाजिक परिवेश होता। लेकिन एक ऐसे सामाजिक परिवेश में जहाँ भेदभाव, ऊँच-नीच, असमानता और विषमता विशिष्ट लक्षण के रूप में मौजूद हों वहां दायरे को सीमित करने वाली अस्मिताएं समाप्त होने के बजाय काफ़ी सजग और सक्रिय हो जाती हैं। अस्मिताएं विशेषाधिकार, शोषण, वर्चस्व, अधिकार हनन के लिए मायने रखने लगती हैं।

भारतीय समाज और अस्मितावाद की राजनीति

समाज विज्ञान की एक अवधारणा के रूप में अस्मिता की राजनीति का प्रयोग पहली बार साठ के दशक में अमेरिकी नागरिक अधिकार आंदोलन की प्रमुख

73. अभिजीत पाठक (2013) वही : 108-109.

शक्ति स्टूडेंट नॉनवायलेंट कोआर्डिनेशन कमेटी (एसएनसीसी) के संदर्भ में एल.ए.काफ्मेंन ने किया था। लेकिन बीसवीं सदी की शुरुआत में यूरोप की जमीन पर महिला संगठनों द्वारा मताधिकार की माँग के लिए की गयी गोलबंदी को अस्मिता की राजनीति के पहले उदाहरण के रूप में देखा जाता है। सफ्रागेट नामक इस आंदोलन ने मिसाल पेश की कि किसी एक राजनीतिक ध्येय के लिए विभिन्न तबकों से आए हुए लोग एक साझा अस्मिता के तहत संगठित हो सकते हैं। इसके अलावा बीसवीं सदी के पहले हिस्से में ब्रिटिश, फ्रांसीसी और अन्य यूरोपीय साम्राज्यों के खिलाफ हुए उपनिवेशवाद विरोधी संघर्षों के दौरान भी अस्मिता की राजनीति का विकास हुआ। साठ के दशक में विकसित देशों की राजनीतिक उथल-पुथल के पीछे भी अस्मिता ही थी। नस्लीय भेदभाव के खिलाफ हुए काले लोगों के नागरिक अधिकार आंदोलन के अलावा नारीवादी विचारधारा के तहत महिला आंदोलन की विभिन्न खोई हुई पहचानों को ऐसी ही दावेदारी की श्रेणी में रखा जाता है। भाषाई और सांस्कृतिक आंदोलनों के दबाव में भारत जैसे नव-स्वतंत्र देशों की राजनीति और प्रशासनिक संरचना पर गहरा प्रभाव पड़ा है। हालाँकि, अस्मिता की राजनीति आमतौर पर उपेक्षा और उत्पीड़न के शिकार समूहों के लोकतांत्रिक उपकरणों की तरह काम करती है, पर जरूरी नहीं कि वह हमेशा प्रगतिशील और रेडिकल ही हो। इसका एक स्पष्ट उदाहरण नारीवादी आंदोलन की प्रतिक्रिया में चलने वाला पुरुषों का आंदोलन है। निसंदेह पुरुष अस्मिता से जुड़े मुद्दों के आधार पर संगठनों को अपनी आवाज़ बुलंद करने का अधिकार है, पर जब वे ख़ुद को (सीमांतीकृत) मार्जिनल बताने लगते हैं तो ऐसा लगता है कि जैसे हाशियाकृत समूहों की चुनौती की प्रतिक्रिया वे इस तरह का रास्ता अपना रहे हैं। अस्मिता की राजनीति का एक और नकारात्मक पक्ष उस समय सामने आता है, जब किसी समुदाय का प्रभु वर्ग अपने हितों की पूर्ति करने वाली माँगों को पूरे समुदाय की माँगों के रूप में रख कर लोगों की भावनाएँ भड़काता है।

इस प्रकार से जिसे अस्मितावादी राजनीति या पहचान की राजनीति (आइडेंटिटी पॉलिटिक्स) कहा जाता है, जिसके आधार पर अकादमिक और साहित्यिक जगत में लेखन और विमर्श प्रारम्भ हुआ उसकी शुरुआत बड़े पैमाने पर 1980 के दशक में देखी जा सकती है। इसके केंद्र में जैसा कि इसके नाम से ही साफ है, अस्मिता

या पहचान की अवधारणा है। समाजशास्त्रीय या सामाजिक नृतत्त्वशास्त्रीय (सोशल एन्थ्रोपोलॉजिकल) अर्थों में 'अस्मिता' आचरण-संबंधी एवं वैयक्तिक विशेषताओं का वह समुच्चय है जो किसी भी व्यक्ति को एक समूह के सदस्य के रूप में पहचान देता है। यह पहचान जाति, लिंग, धार्मिक सम्प्रदाय, नस्ल आदि वस्तुगत सामाजिक श्रेणियों द्वारा निर्धारित होती है और सापेक्षिक रूप से स्थिर, स्थैतिक और स्वाभाविक रूप से प्रदत्त मानी जाती है। अस्मितावादी राजनीति का प्रस्थान बिन्दु अस्मिता की यही पहचान का रूप परिभाषित है। लेकिन यह एक सामूहिक परिघटना के तौर पर किसी एक अस्मिता की बात नहीं करती है बल्कि कई सारी बिखरी हुई विखण्डित अस्मिताओं पर जोर देती है। अस्मिताओं का यह बिखरा हुआ विखंडित रूप न सिर्फ मनुष्य के व्यक्तित्व के धरातल पर होता है, बल्कि सम्पूर्ण समाज के धरातल पर भी किया जाता है। एक वर्ग समाज में किसी भी मनुष्य की बहुआयामी अस्मिताएं होती हैं। हर मनुष्य की कोई जाति, भाषा, क्षेत्र, राष्ट्रीयता की अस्मिताएं होती हैं। अस्मितावादी राजनीति इन सभी पहचानों को उभारती है और इनका सारभूतीकरण (एसेंशियलाइजेशन) करती है। एक पहचान (जिसे शुद्ध अर्थों में पहचान कहा भी नहीं जा सकता है) जिसका अस्मितावादी राजनीति जिक्र तक नहीं करती है, वह है वर्गीय पहचान। वर्गीय अस्मिता प्राकृतिक रूप, नस्लीय, क्षेत्रीय, या भाषाई रूप से प्रदत्त नहीं होती। वर्गीय अस्मिता समाज की बुनियादी गतिविधि यानी उत्पादक गतिविधि से निर्मित होती है, जिसमें लगे लोग आपस में अपनी इच्छा से स्वतन्त्र कुछ निश्चित सामाजिक संबंध स्थापित करते हैं। लेकिन अस्मितावादी राजनीति इस पहचान पर कभी बल नहीं देती। आदिम समुदायगत अस्मिता को अतिरेखांकित और वर्गीय अस्मिता को नज़रअन्दाज़ करने के पीछे का मकसद क्या है? इसे समझने के लिए सबसे पहले अस्मितावादी राजनीति के उदय की वैश्विक भौतिक पृष्ठभूमि को समझना जरूरी है।

1980 और 1990 के दशक में भूमंडलीकरण की प्रक्रिया की शुरुआत के बाद दुनिया के उन देशों में जहाँ नवउदारवादी आर्थिक नीतियाँ लागू की गयीं, वहाँ बड़े पैमाने पर लोग उजड़े, हाशिये पर गए, बेरोजगारी तेज रफ्तार से बढ़ी और जनता में असन्तोष काफ़ी तेजी से बढ़ा। ऐसे में, जनता के बीच भूमंडलीकरण की प्रक्रियाओं के प्रभावों पर पनप रहे भयंकर गुस्से पर ठण्डे पानी का छिड़काव

करने और तीखे होते वर्ग अंतरविरोधों को धूमिल करने के लिए अस्मितावादी राजनीति के ऐसे विचारधारात्मक औजार की जरूरत पैदा हुई, जो कि प्रत्यक्ष तौर पर काफ़ी रैडिकल बातें करती हो। अस्मितावादी राजनीति ''परिधिगत'' या हाशिये पर धकेल दी गयी अस्मिताओं या पहचानों की बात करके वर्गीय अस्मिता को दृष्टि-ओझल करती है।

भारतीय समाज में नई-नई बनती बिगड़ती अस्मिताओं के संदर्भ में भारतीय राजनीति के सामाजिक तथा राजनैतिक परिदृश्य में 1990 का दशक सामाजिक न्याय और सामाजिक परिवर्तन (सोशल जस्टिस एंड सोशल चेंज) का दशक माना जाएगा, क्योंकि इसी दशक में मण्डल आयोग की सिफारिशें लागू हुई और दलित-पिछड़ी जातियों को शासन प्रशासन में भागीदारी हासिल हुई। इसी दशक में दलित राष्ट्रपति का मुद्दा भारतीय राजनीति में गर्म हुआ और दलितों, पिछड़ों और अल्पसंख्यकों का राजनीतिक ध्रुवीकरण (पॉलिटिकल पोलराइजेशन) अस्तित्व में आया। उत्तर प्रदेश में दलित महिला को मुख्यमंत्री और केंद्र में पिछड़े वर्ग की सरकार बनाने वाला भी यही दशक है, और दलितों तथा महिलाओं के लिए पृथक आरक्षण की माँग भी इसी दशक में मुखर हुई। 1990 के दशक तक भारतीय राजनीति में अकेले कांग्रेस पार्टी का ही प्रभुत्व हुआ करता था। इसी दशक में स्वतंत्र दलित राजनीति और क्षेत्रीय राजनीतिक पार्टियों का निर्माण शुरू हुआ। कई वजहों से इसी दशक में दलित अध्ययन में तेजी आई। इसी दशक में मंडल कमीशन रिपोर्ट की सिफारिशें लागू हुईं, दक्षिण भारत में नए दलित आंदोलन का उभार हुआ, भारत में दलित नारीवाद का उदय होना, वैश्विक स्तर पर जाति, नस्ल और सामाजिक बहिष्करण पर बहस होना तथा सबसे महत्त्वपूर्ण भारतीय संसदीय राजनीति में बहुजन समाज पार्टी (बसपा) का उभार महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हैं। इन सब कारकों ने दलित बुद्धिजीवियों की एक नई पीढ़ी तैयार की। इसी दौर में मार्क्सवादी/वामपंथी संगठनों के नेतृत्व पर सवाल खड़ा किया गया। नेतृत्व में दलित प्रतिनिधित्व की लेकर सवाल पूछे गए। दक्षिण भारत में दलितों की सामूहिक हत्या और मार्क्सवादी/वामपंथी संगठनों की असफलता के कारण नए दलित आंदोलन का उदय हुआ। मार्क्सवादी/वामपंथी संगठन और संसदीय पार्टियाँ भारत में जाति आधारित हिंसा की चुनौती का सामना नहीं कर सके और इस चुनौती से उपजे सवलों को संबोधित भी नहीं कर पाए। तमिलनाडु में दलित

संगठनों और कार्यकर्त्ताओं ने द्रविड़ और पेरियार के आंदोलन की विरासतों पर भी सवाल खड़े किए। दलित पैंथर्स ऑफ़ इंडिया, दलित संघर्ष समिति, दलित महासभा और मसीहा आरक्षण पोरता समिति, तमिलजर पेरावै जैसे बहुत सारे दलित और पिछड़ी जतियों के संगठन और दलित फोरम नब्बे के दशक में ही बने।

मंडल कमीशन रिपोर्ट की सिफारिशों के लागू होने के बाद पिछड़ी जातियाँ समाजवादी धारा से जुड़ी पार्टियों और दलित जातियाँ बहुजन समाज पार्टी की तरफ़ आकर्षित होने लगीं। 1990 के दशक में मंडल आयोग की सिफारिशों के लागू होने के बाद पिछड़ी जातियों को आरक्षण मिला। ये आरक्षण उन समुदायों के लिए खेल बदल देने वाला साबित हुआ है जो इसके लाभ प्राप्त करने की क्षमता हासिल कर चुके थे या कर सकते हैं। जिन समूहों के पास थोड़ी बहुत जमीन रही है वे आर्थिक रूप से धीरे-धीरे उन्नति की ओर बढ़े हैं और उन्होंने सामाजिक सम्मान और राजनीतिक शक्ति प्राप्त की है।[74] ऐसे समूहों को प्रतिनिधित्व करने वाले राजनैतिक दलों ने अन्य दलों के साथ मिलकर सरकारें भी बनाई। चुनाव आधारित राजनीति में बहुजन समाज पार्टी ने बड़े पैमाने पर अपना जनाधार बढ़ाया। 2007 के उत्तर प्रदेश विधानसभा चुनाव में बहुजन समाज पार्टी ने दलितों, गरीब-पिछड़े समुदायों, मुसलमानों और ब्राह्मणों की एकता बनाकर बहुमत प्राप्त किया और पूर्ण बहुमत की सरकार बनायी। उत्तर प्रदेश में बहुजन समाज पार्टी की इस सफलता ने भारत के विभिन्न हिस्सों में सक्रिय दलित समूहों को प्रेरित किया और उनमें आत्मविश्वास पैदा किया।

सिर्फ संसदीय राजनीति ही नहीं बल्कि दलित आंदोलन के उभार ने नब्बे के दौर में चल रहे नारीवादी विमर्श को भी प्रभावित किया। दलित नारीवादियों ने मुख्यधारा की नारीवादियों को ब्राह्मणवादी बताया और उनको सामाजिक और राजनीतिक जिंदगी के महत्त्वपूर्ण अवयव के रूप में जाति को चिन्हित न कर पाने का दोषी ठहराया। दलित महिला संगठनों ने उच्च जाति की महिलाओं के इस अधिकार को चुनौती दी कि वो महिलाओं का प्रतिनिधित्व नहीं करती हैं। दलित महिला संगठनों ने उच्च जाति की महिलाओं के इस अधिकार को चुनौती

74. रमाशंकर सिंह (2018) : 344-362.

दी कि वो दलित और पिछड़ी जतियों की महिलाओं का प्रतिनिधित्व नहीं करती हैं बल्कि यह आरोप लगाया कि उनका नेतृत्व उच्च जाति की महिलाओं का समर्थक है, उनके नेतृत्व में उच्च जातियों की महिलाओं का प्रभुत्व है, उनके आंदोलनों और उनके द्वारा की जा रही माँगों में निम्न जाति की महिलाओं के सवाल न के बराबर हैं। इसलिए सैद्धांतिक रूप से वह हमारी आकांक्षाओं और समस्याओं का ठीक ढंग से प्रतिनिधित्त्व नहीं करती हैं। दलित महिला संगठनों ने तीन प्रकार की अधीनता पर बल दिया–पितृसत्ता, जातिगत अन्याय और लैंगिक हिंसा। आर्थिक उदारीकरण के बाद नई राजनीतिक अर्थव्यवस्था ने दलित लेखकों और कार्यकर्त्ताओं के लिए नया दायरा रचा। इंटरनेट के उदय, उपेक्षित मीडिया की बढ़ती उपलब्धता ने साहित्य रचना, प्रिंट मीडिया और सामाजिक गोलबंदी के माध्यम से दलितों की तरफ़ लोगों का ध्यान खींचा। नब्बे के दशक में ही दलित सामाजिक, राजनीतिक कार्यकर्त्ता, बुद्धिजीवी, लेखक के रूप में साथ ही अकादमिक संस्थाओं में भी आने लगे। इस दशक से पहले स्वामी अछूतानंद, भाग्य रेड्डी वर्मा, कुसुमा धर्मन्ना, चन्द्रिका प्रसाद जिज्ञासु, पेरियार ललई सिंह यादव, रामस्वरूप वर्मा, अयोतिथास जैसे दलित बुद्धिजीवियों के लेखन, जाति तथा छुआछूत की उनकी आलोचनात्मक दृष्टि बहुत व्यापक स्तर पर विमर्श में ही नहीं थी। दलित आंदोलन के उदय एवं सशक्त होने के बाद यह परिदृश्य बदल गया है। अब वे और उनकी आलोचना मुख्यधारा में आ गए हैं।[75] यह अध्ययन विभिन्न अंतर्विरोधी अंतर्धाराओं की पड़ताल करने का प्रयास है।

निष्कर्ष :

यह अध्याय बताता है कि दलित एक गतिशील शब्द है, जो एक खास सामाजिक–सांस्कृतिक पहचान को संबोधित करता है। साथ ही इसमें एक विशिष्ट आंदोलनकारी चेतना है। किन्तु इसके प्रयोग में अभी पूरी स्थिरता नहीं आयी है। कुछ विचारक इसे केवल अनुसूचित जाति तक ही सीमित रखना चाहते हैं, तो कुछ की राय में आदिवासी और अन्य अनेक पिछड़ी जातियों समेत सभी धर्मान्तरित पिछड़ा समुदाय भी दलित है। यह सर्वविदित है कि 'दलित' शब्द के लिए आलोचना एवं चुनौती दोनों ही हैं, विशेष रूप से उत्तर–आधुनिकता एवं

75. रामनारायण. एस. रावत एंड के. सत्यनारायण (2016).

उत्तर–संरचनात्मक विद्वानों द्वारा। इसीलिए दलित एक ऐसी श्रेणी है जिसे दलितों एवं गैर दलितों दोनों से ही हिंसात्मक अस्वीकृति का सामना करना पड़ता है।[76] दलित शब्द के कोशीय अर्थ और ध्वनियों में तीन शब्द छुपे हुए है, दलित, दमित, और शोषित। दलित एक सामाजिक अवधारणा है। दमित को राजनीतिक अवधारणा मान सकते हैं और शोषित का सीधा संबंध संपत्ति जैसी भौतिक चीजों से है, इसलिए शोषित एक आर्थिक अवधारणा है। चूँकि दलित एक सामाजिक अवधारणा है, दमित राजनीतिक अवधारणा है और शोषित आर्थिक अवधारणा है। शोषित कोई भी हो सकता है। गैर दलित भी शोषित हो सकता है। इसलिए दलित, दमित, शोषित के सूत्र को अंततः पकड़ना होगा। बात तो तभी बनेगी जब हम बहुसंख्यक जन की बात करेंगे, जो इस व्यवस्था में दुखी हैं और परिवर्तनकामी हैं। आज दलितों की स्व–दृढ़ता अनेक विरोधी–स्थितियों गाँधी बनाम डॉ.आंबेडकर, हरिजन बनाम दलित, वर्ण बनाम जाति, मनुवाद बनाम जातिविहीन समाज पर होने वाली बहस में स्वयं को प्रकट करती है।[77]

76. एस.एम. माइकल (2007) वही.
77. एस.एम. माइकल (2007) वही.

अध्याय दो :

अस्मितावादी इतिहास लेखन, डॉ. आंबेडकर और दलित प्रश्न : नए क्षितिज का संधान

परिचय

जाति की गढ़ंत को औपनिवेशिक एवं भारतीय अकादमिक जगत द्वारा विभिन्न कालखण्डों में किस तरह से देखा-समझा गया है, इस पर चर्चा करते समय हम यह जान सकते हैं कि जाति और सत्ता तंत्र में किस प्रकार का संबंध रहा है। भारत में ब्रिटिश उपनिवेश की स्थापना के समय औपनिवेशिक अधिकारियों और विद्वानों के द्वारा ज्ञान उत्पादन की अपनी राजनीति थी तो राष्ट्रीय आंदोलन के एक बड़े हिस्से में जाति के सवाल पर कन्नी काटने की प्रवृत्ति भी काम कर रही थी। डॉ. आंबेडकर ने जाति के सवाल को प्रतिनिधित्त्व, बहिष्करण और मानव मुक्ति की परियोजना से जोड़ दिया। 1947 के पहले और 1947 के बाद उन्होंने इस सवाल को एक व्यापक परिदृश्य में पेश किया। इसी परिदृश्य की चर्चा इस अध्याय में की गयी है।

जाति और सामाजिक मानवविज्ञान : औपनिवेशिक मानवविज्ञान विमर्श (कोलोनियल एथनोग्राफी)

तीन दशक से भी ज़्यादा पहले दक्षिण एशिया के जाने-माने मानव विज्ञानी बर्नार्ड कोहन ने भारतीय समाज के उन तीन विमर्शों (एक दूसरे से जुड़े) के बारे में लिखा था, जो भारत में ब्रिटिश शासन के पांव जमने के साथ ही अस्तित्व में आए थे। ये तीनों विमर्श थे- औपनिवेशिक धारणाओं से जुड़ा विमर्श (ओरिएंटलिस्ट), प्रशासनिक और मिशनरी।[1] जाहिर तौर पर तीनों विमर्शों का

1. बर्नार्ड कोहन (1968): 6.

मकसद ऐसे समाज को तार्किकता से जोड़ने का दावा करना था, जो ब्रिटिश समाज से काफ़ी अलग था। इसके साथ ही, एक स्तर पर विमर्शों का मकसद भारत पर ब्रिटिश शासन की पकड़ को और मजबूत करना था। जेम्स मिल और अन्य इतिहासकारों ने भारत को ऐसा समाज बताया, जिसका इतिहास बोध कमजोर है और जो पिछड़ी सामाजिक-धार्मिक परंपराओं से ग्रस्त है। साथ ही, यह समाज राज्य जैसी संस्था के निर्माण में भी सक्षम नहीं है। कोहन के मुताबिक, मिशनरी विमर्श में बताया जा रहा था कि राजनीतिक व्यवस्था में हिंदू परंपराओं के हावी होने से भारतीय समाज की स्थिति ख़राब हुई। चार्ल्स ग्रांट ने हाउस ऑफ़ कॉमंस के अपने संबोधन में भारतीय समाज की गड़बड़ियों के बारे में राय पेश की जो (जाति व्यवस्था, ब्राह्मणों का वर्चस्व, धार्मिक ग्रंथों के मुताबिक सामाजिक-वैधानिक व्यवस्था के संचालन के बारे में थी।)

धर्म परिवर्तन के मकसद को ध्यान में रखते हुए मिशनरियों ने अनुभव आधारित शोध कर हिंदू समाज के पतन के बारे में अपनी राय को सिलसिलेवार ढंग से लिपिबद्ध किया। इसमें सबसे मशहूर काम एलियम आर्ड का है, जिनकी रचना 'एकाउंट ऑफ़ द राइटिंग्स, रिलीजन एंड स्कैनर्स ऑफ़ द हिंदूज़' 1811 में प्रकाशित हुई। (यह 4 खंडों में है, 1851 और 1820 में कुछ बदलावों के साथ इसका फिर से प्रकाशन हुआ)। जाति प्रथा के बारे में आर्ड की राय कुछ इस तरह थी : इस व्यवस्था ने पूरे देश को पंगु बना दिया है। इस घृणास्पद व्यवस्था के दुष्प्रभाव के कारण ब्राह्मण अज्ञानता में डूबे हुए हैं, देश पर मुसलमानों का कब्जा होने से पहले क्षत्रियों की हालत बेहद ख़राब हो गई, बंगाल में कहीं भी वैश्य नज़र नहीं आएंगे। तकरीबन सभी शूद्र के स्तर पर पहुँच गए हैं और शूद्र अपने जानवरों के स्तर तक जा पहुँचे हैं।[2]

गौरतलब है कि 1857 में ब्रिटिश सेना में मौजूद भारतीय सिपाहियों ने उस कारतूस का इस्तेमाल करने से मना कर दिया था, जिसमें गाय और सुअर की चर्बी मौजूद होने का दावा किया गया था।[3] इस घटना ने भी मिशनरियों का

2. बर्नार्ड कोहन (1968), वही.
3. इस घटना के असंख्य श्रोत हैं इसके लिए दो सबसे अच्छे ज्ञात श्रोत के रूप में देखें वी.डी. सावरकर 'द इंडियन वार ऑफ़ इंडिपेंडेंस : नेशनल राइजिंग ऑफ़ 1857. लंदन : 1910, साथ में थॉमस मेटकाफ, द आफ्टरमठ ऑफ़ रिवोल्ट, प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यू जर्सी:1964.

ध्यान आकर्षित किया। इस आधार पर उनका कहना था कि जाति और उससे जुड़ी परंपराएं न सिर्फ सेना में रोजगार मुहैया कराने के लिहाज से बड़ी बाधा हैं, बल्कि धर्मांतरण की राह में भी यह सबसे बड़ा अवरोध हैं। कुछ लोगों ने ब्रिटिश सरकार से अनुरोध किया कि वह मिशनरियों को आक्रामक रूप से धर्मांतरण अभियान चलाने के लिए खुली छूट दें और बड़े पैमाने पर लोगों का धर्मांतरण कराया जाए। निकोलस डर्क्स ने इस बारे में ब्रिटेन की महारानी के चर्च मिशनरी सोसायटी मेमोरियल का भी हवाला दिया है : 'भारत सरकार ईसाई और दूसरे धर्मों को लेकर किसी तरह की सक्रियता नहीं दिखा रही है। यह एक तरह का ईश्वर का अपमान और ईसायत के विस्तार में बाधा है। जिन शैतानों ने मौजूदा विद्रोह में अपनी भूमिकाएं निभाई हैं, उनसे असरदार ढंग से निपटने के लिए ईसाई धर्म को कानून और सामाजिक व्यवस्था का आधार मानना जरूरी है।[4] हालाँकि, इस दौरान मिशनरी अभियान और ब्रिटिश साम्राज्यों के बीच की खाई और चौड़ी होती गई।

शुरुआती औपनिवेशिक इतिहासकारों और मिशनरियों ने जाति व्यवस्था को भारत के पिछड़ेपन का कारण माना, लेकिन ब्रिटिश हुकूमत की प्रशासनिक गतिविधियों के जरिये भारतीय आबादी के लिए जाति को पहचान का सुनिश्चित आधार बनाने में भी मदद मिली। जैसा कि अध्ययनों से भी पता चलता है, स्वतंत्र भारत में 'जाति' की अवधारणा (अकादमिक और राजनीतिक, दोनों संदर्भों में) का आधार इस सिलसिले में ब्रिटिश प्रशासन द्वारा किए गए कार्य हैं, जिन्हें उन्नीसवीं सदी के मध्य और 20वीं सदी की शुरुआत में अंजाम दिया गया।

बहरहाल, औपनिवेशिक इतिहासकारों के पास भारतीय भाषाओं की जानकारी नहीं थी, लिहाजा वे जमीनी स्तर पर जानकारी इकट्ठा करने के लिए बड़े पैमाने पर स्थानीय लोगों पर निर्भर थे। उदाहरण के लिए ईस्ट इंडिया कंपनी के अधिकारी और औपनिवेशिक धारणाओं से जुड़े सिद्धांत के पैरोकार एलेग्जेंडर डाओ ने बनारस के एक ब्राह्मण की मदद से 'द हिस्ट्री ऑफ़ हिंदुस्तान' (1771) किताब लिखी। चूँकि अंग्रेजों को सूचना मुहैया कराने वाले मुख्य तौर पर ब्राह्मण थे, इसलिए जाहिर तौर पर ब्रिटिशों ने 'ज्ञान के ब्राह्मणवादी समाजशास्त्र' के नज़रिये से प्राचीन भारत के बारे में लिखा।[5]

4. निकोलस बी. डर्क्स (2001) वही : 131.
5. निकोलस बी. डर्क्स (1989): 48.

लिहाजा, प्राचीन भारतीय इतिहास के बारे में जो लिखा गया, वह मुख्य तौर पर सिर्फ संस्कृत ग्रंथों से जुड़ी सभ्यताओं के बारे में था। हालाँकि, कुछ समय बाद, अंग्रेज भारत की स्थानीय भाषाएं (संस्कृत, फारसी और अरबी के साथ कई स्थानीय 'गंवार' देशज भाषाएं) सीखने लगे और जानकारी के लिए स्थानीय लोगों पर उनकी निर्भरता कम होने लगी, ताकि वे अपने हिसाब से भारत के बारे में जानकारी इकट्ठा कर सकें। सर एलियम जोन्स ने 1788 में लॉर्ड कार्नवालिस को सुझाव दिया कि ब्रिटिश सरकार को 'हिंदू और मुसलमान कानूनों' के लिए अपने स्तर पर सूची तैयार करनी चाहिए, ताकि स्थानीय वकील किसी भी स्थिति में अदालत को गुमराह नहीं कर सकें।[6] जोन्स ने धर्मशास्त्रों का भी अनुवाद किया। प्राचीन भारत में हिंदू नियमावाली तैयार करने वाले मनु के ग्रंथों पर भी उन्होंने काम किया और तकरीबन 50 साल बाद हिंदू धर्म से संबंधित माउंट स्टुअर्ट एलफिन्स्टन की किताब द हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया (1842) भी जोन्स द्वारा मुहैया कराई गई जानकारी पर ही आधारित थी। निकोलस डर्क्स द्वारा मैकेंजी की पांडुलिपियों का अध्ययन भी इस बात का उदाहरण है कि औपनिवेशिक काल में किस तरह से जटिल स्रोतों से भारतीय समाज के बारे में जानकारी इकट्ठा करने के बाद उसे सिलसिलेवार ढंग से पेश किया गया। मैकेंजी पहले सर्वेयर जनरल ऑफ़ इंडिया थे जिनके अध्ययन से दक्षिण भारत के बारे में भौगोलिक और अन्य जानकारियों से ब्रिटिश हुकूमत को टीपू सुल्तान पर सैन्य आक्रमण की योजना बनाने में काफ़ी मदद मिली। मैकेंजी ने अपने जीवन काल में शिला और ताम्र पत्र अभिलेखों, 1568 पांडुलिपियों, 2070 स्थानीय चित्रों, ग्रंथों समेत कई पुरानी चीजों का संग्रह किया।[7] अगर इन सभी चीजों को मिला दिया जाए, तो इन्हें दक्षिण भारत के शुरुआती आधुनिक काल के मानव विज्ञान संबंधी आंकड़ों का सबसे बड़ा स्रोत माना जा सकता है। डर्क्स ने अभिलेखों के इस संग्रह के इस्तेमाल के बारे में भी बताया है, जिनसे बाद के औपनिवेशिक प्रशासकों और इतिहासकारों ने काफ़ी मदद ली।

ब्रिटिश हुकूमत ने उन्नीसवीं सदी के अंत तक यह तय कर लिया था कि वह अपनी ज़रूरतों के हिसाब से देश में राजनीति और ज्ञान को लेकर विमर्श पेश करेगा।[8] दक्षिण एशियाई समाजों के अध्ययन में इस विमर्श का गहरा असर

6. डेविड लुडेन (1993) वही : 255.
7. निकोलस बी.डर्क्स (1989) वही : 46.
8. इसके लिए देखे जॉन गैस्कोनिग्ने (1999) : 54.

रहा और अब भी यह इस क्षेत्र में अध्ययन और शासन का आधार बना हुआ है। निकोलस बी. डर्क्स के मुताबिक, अपने अभिलेखों और सूचनाओं के लिए स्थानीय जानकारों पर मैकेंजी की निर्भरता के बावजूद एशियाटिक सोसायटी ऑफ़ मद्रास ने मैंकेजी की मौत के बाद उनके स्थानीय सहयोगी, केवेली वेंकट लचमिया को यह काम जारी रखने की अनुमति नहीं दी। इसकी वजह यह थी कि एशियाटिक सोसायटी के मुताबिक कोई भी भारतीय मूल का शख्स इस तरह के काम की अगुवाई करने के योग्य नहीं था। सोसायटी के मुताबिक, स्थानीय लोग इस तरह के शोध में ज़्यादा से ज़्यादा सहायक की भूमिका निभा सकते थे। डर्क्स के मुताबिक, हालाँकि विडंबना यह थी कि मैकेंजी ख़ुद इस मामले में बहुत बड़े जानकार नहीं थे और उनकी जगह लेने वाले शख्स इवरेंड टेलर की जानकारी तो और सीमित थी।[9] औपनिवेशिक शासन के तहत जाति को वर्गीकरण का आधार बनाने का काम ब्रिटिश सरकार की दो परियोजनाओं के जरिये हुआ–पूरे भारत में जनगणना कराने में और जमीन के लिए लगान वसूलने में। जमीन के लिए लगान वसूलने से जुड़ी परियोजना पर काम उन्नीसवीं सदी के शुरुआती वर्षों में शुरू हुआ और तकरीबन 1870 तक चला। 1870 के बाद से जाति के आधार पर जनगणना संबंधी गतिविधियों को काफ़ी अहमियत दी जाने लगी।[10]

भारत में ब्रिटिश शासन से पहले के दौर से जुड़े कई अध्ययनों से पता चला है कि 'जमीन' यहाँ की सभी राजनीतिक और आर्थिक गतिविधियों के केंद्र में थी। ब्रिटिश शासन से पहले भारत में लोगों पर नियंत्रण (राजनीतिक) का मामला सीधे तौर पर जमीन से होने वाले उत्पादन पर नियंत्रण (आर्थिक) से जुड़ा था। जब ब्रिटिश यहाँ आए तो उन्हें लगा कि जमीन से लगान वसूलकर वे शासन चलाने के अपने खर्च को वहन कर सकते हैं और यह उनकी आय का अहम जरिया हो सकता है। हालाँकि, जमीन का निजी मालिकाना हक नहीं होने के कारण उन्हें लगान इकट्ठा करने की प्रक्रिया जटिल लगी। ऐसे में उन्होंने जमीन मालिकों की पहचान करने और उनसे लगान वसूलने की अपना नियम

9. निकोलस बी.डर्क्स (1989) वही : 48.
10. कैरोल ए.ब्रेकेनरिज एंड पीटर वैन डेर वीर (1993) द्वारा सम्पादित 'नंबर इन द कोलोनियल इमेजिनेशन' अप्पादुरई के निबंध को: 327.

तैयार किया। इसके परिणामस्वरूप स्थानीय स्तर पर तत्कालीन जटिल सामाजिक पदानुक्रम की नींव को धक्का लगा। कुल मिलाकर कहा जाए, तो औपनिवेशिक प्रशासनिक तंत्र द्वारा भारत पर अपनी पकड़ मजबूत करने के साथ-साथ ब्रिटिश शासन से पहले की व्यवस्था को धीरे-धीरे निष्प्रभावी कर दिया गया। औपनिवेशिक तंत्र ने उन सभी राजनीतिक ढांचों को ख़राब बताना शुरू किया, जो ब्रिटिश हितों के खिलाफ थे। औपनिवेशिक शासन को ऐसा माहौल पेश करना था जो यह दिखाए कि भारत को एक आधुनिक शासन प्रणाली की सख्त जरूरत है।

उपनिवेशवादी नृवंशविज्ञान और जनजातियाँ

औपनिवेशिक युग में जाति व्यवस्था पर विचार करते हुए आमतौर पर यह मान लिया गया कि समय-समय पर विभिन्न जनजातियाँ, जातियों में तब्दील होती गयीं और जाति व्यवस्था बनती चली गयी। परन्तु औपनिवेशिक प्रशासन को यह भी पता चला कि कई आदिम कबीले अभी भी मौजूद थे और उनका अपना अस्तित्व कायम था। माना जाता था कि समाज से अलग-थलग पड़े ये कबीले वन उत्पाद पर आश्रित थे और बदल-बदल कर खेती किया करते थे। उनके बारे में यह भी धारणा थी कि वे सरल और पिछड़े लोग थे और बात-बात पर हिंसा पर उतारू हो जाते थे। कबीलों के जीवन को नजदीक से देखकर पता चलता है कि उनकी परिस्थितियाँ अलग-अलग थीं और कइयों ने एक जगह बसकर खेती भी शुरू कर दी थी। आरंभिक औपनिवेशिक मानवशास्त्र में कबीलों के उद्‌भव और इतिहास पर प्रकाश डाला गया। छोटानागपुर के आयुक्त कर्नल ई.टी. डाल्टन ने उस वन्य क्षेत्र को नजदीक से देखा था जिसे आज के झारखंड के संथाल परगना के नाम से जाना जाता है। उन्होंने पहली बार कबीलों का इतिहास और मौजूदा स्थितियों पर काम किया। उनकी पुस्तक 'डेस्क्रिप्टिव एथोनोलॉजी ऑफ़ बंगाल (कलकत्ता, 1872)[11] इस ढंग का पहला दस्तावेज़ है। डॉल्टन ने जनजातियों के खुशनुमा जीवन पर टिप्पणी की है। कर्नल डॉल्टन के बाद गैर पेशेवर बंगाली मानवशास्त्री की उसी क्षेत्र के कबीलों में रुचि थी जहाँ डॉल्टन आयुक्त रह चुका था। उनका नाम शरतचन्द्र राय था। उन्होंने विस्तार से छानबीन की और मानवशास्त्र को एक अनुशासन के रूप में आगे बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। उन्होंने छोटानागपुर के कबीलों पर कई लेख लिखे।

11. ई.टी. डाल्टन (1872).

गौरतलब है कि उस समय छोटानागपुर, बिहार और उड़ीसा के अंतर्गत आता था। कर्नल डॉल्टन के समय पूरा क्षेत्र, आज का झारखण्ड राज्य, बड़े बंगाल प्रेसीडेंसी का हिस्सा था। अलग-अलग समयों में अलग-अलग प्रशासनों के अंतर्गत रहने वाले इस क्षेत्र का परिवेश और माहौल बिलकुल अलग था। यह एक जंगली पठार था और जाति व्यवस्था-समाज व्यवस्था का मुख्य हिस्सा नहीं बन सकी थी। कुछ वन्य जनजातियों के अपने राजा थे, कुछ का नेतृत्व स्थानीय सरदार किया करते थे। संथाल परगना में संथालों और छोटानागपुर मंडल में मुंडाओं की आबादी सर्वाधिक थी। कृषि इतिहास से संबंधित 'द एनल्स ऑफ़ रूरल बंगाल' (1868)[12] में डब्ल्यू डब्ल्यू हंटर ने (1855) संथाल विद्रोह का जिक्र किया है। शरतचंद्र राय ने मुंडाओं को केंद्र में रखकर अपनी पुस्तक 'द मुंडाज एंड देयर कन्ट्री (कलकत्ता, 1912) में उनका मानवशास्त्रीय अध्ययन किया। उन्होंने इस क्षेत्र में अपना अनुसंधान जारी रखा और दो कृतियाँ द ओरांस ऑफ़ छोटानागपुर देयर हिस्ट्री, इकोनॉमिक लाइफ एंड सोशल ऑरगनाइजेशन (रांची, 1915) तथा द बिरहोर्स : अ लिटलनोन जंगल ट्राइब ऑफ़ छोटानागपुर (रांची, 1925) प्रकाशित की।[13]

इस समय तक यह स्पष्ट हो गया था कि चिरपरिचित जाति व्यवस्था पर आधारित समाज की तुलना में कबीलाई समाज का यौन संबंधों का ढाँचा बिलकुल अलग था। वेरियर एल्विन ने कबीलों के जीवन पर खूब लिखा है और उनसे अपनी सहानुभूति भी प्रकट की है। एल्विन ने घोटुल नामक एक संस्था का जिक्र किया है जिसमें बिना किसी प्रतिबंध के युवा युवतियों का मिलन सम्पन्न होता था। उनके अनुसार पूरे भारत के कबीलाई समाज में तलाक बेहद आसान था और आमतौर पर पत्नी और पति को समान अधिकार प्राप्त था। द बैगा (1939), द मुरिया एंड देयर घोटूल (मुम्बई, 1947) और द बोंडो हाईलैंडर (लंदन, 1950)[14] उनकी प्रमुख कृतियाँ हैं। उनकी कृतियों की विशिष्टता यह है कि उन्होंने

12. डब्ल्यू डब्ल्यू हंटर (1868).
13. शरतचन्द्र राय, द मुंडाज एंड देयर कंट्री (1912), द उराँव ऑफ़ छोटा नागपुर (1915),द बिरहोर्स (1925), उराँव रिलीजन एंड कस्टम्स (1927), द हिल भुइयाँज ऑफ़ उड़ीसा (1935), द खारीयाज़ वॉल्यूम-1. (1937) एंड द खारीयाज़ वॉल्यूम-2. (1937).
14. वेरियर एल्विन, द बैगा (1939), द मुरिया ऐंड देयर घोटूल (1947) एवं द बोंडो हाईलैंडर (1950).

कबीलों की मन:स्थिति और परिस्थितियों को गीतों के माध्यम से भी चित्रित किया है। औपनिवेशिक मानवशास्त्रियों ने भी कबीलों का इतिहास लिखा, परंतु एक गैर साक्षर समाज से वास्तविक ऐतिहासिक सामग्री मिलना मुश्किल था। ए.आर. रैडक्लिफ ब्राउन ने अंडमान आइसलैंडर्स (1922)[15] में किसी भी प्रकार के अनुमानित इतिहास लिखने को खारिज करते हुए यह कहा कि कबीलाई समाज का अध्ययन उसके वर्तमान स्वरूप के अनुसार ही किया जाना चाहिए और मानवशास्त्री को इसे ही आधार के रूप में अपनाना चाहिए।

इतिहास लेखन में निम्नजाति और जनजातीय प्रतिरोध : व्यापक संदर्भ

निम्नजाति और जनजातीय प्रतिरोध के अध्ययन के माध्यम से भी इतिहासकारों ने जाति संबंधी लेखन को समझने का प्रयास किया है। इसलिए निम्न जातियों और कबीलों के अध्ययन की शुरुआत करते ही इतिहासकारों ने औपनिवेशिक काल के दौरान उनके दमन और विरोध के प्रश्न पर बल देना शुरू किया। दोनों ही समुदाय हाशिये पर थे और दोनों के खिलाफ भेदभाव बरता गया था। परन्तु समय-समय पर उनके बीच वैचारिक नेतृत्व पैदा हुआ और उन्होंने शासकों के विरोध में आंदोलन किए जिनसे जुड़े दस्तावेज़ सुरक्षित हैं। कहीं-कहीं निम्नजातियों के अपने वक्तव्य और दृष्टिकोण भी उपलब्ध हो जाते हैं। इस संदर्भ में रोजालिंड ओ'हलन ने कास्ट, कॉनफ्लिक्ट एंड आइडियोलॉजी: महात्मा ज्योतिराव फुले एंड लो कास्ट प्रोटेस्ट इन नाइन्टीथ सेंचुरी वेस्टर्न इंडिया (1985)[16] और शेखर बंद्योपाध्याय ने कास्ट, प्रोटेस्ट एंड आइडेन्टिटी इन कोलोनियल इंडिया: द नामशूद्राज़ ऑफ़ बंगाल-1872-1947, (1997)[17] में इस प्रकार की सामग्री का उपयोग करते हुए समूह विशेष के दृष्टिकोण से बयान किया है। निम्नजातियों और कबीलों में लैंगिक लोकाचार उच्चजाति की नैतिकताओं से भिन्न होते हैं। ओ हैनलान और बंद्योपाध्याय लैंगिक भेदभाव से जुड़े कारक को नहीं भूले हैं। उन्होंने यह दिखाया है कि किस प्रकार महाराष्ट्र में गैर ब्राह्मण आंदोलन और बंगाल में नामशूद्र आंदोलन ने उन्नीसवीं शताब्दी के अंत और बीसवीं शताब्दी के आरंभ में सामाजिक

15. ए.आर. रैडक्लिफ ब्राउन (1922), द अंडमान आइसलैंडर्स.
16. रोजालिंड ओ'हलन कास्ट (1985).
17. शेखर बंद्योपाध्याय (1997).

सुधार और राजनीतिक राष्ट्रवाद जैसे बृहद् पक्षों पर अपना पक्ष दृढ़ता से सामने रखा और अपनी बात मनवाई थी।

भारतीय उपमहाद्वीप में खासतौर पर महाराष्ट्र और तमिल क्षेत्र में होने वाले गैर ब्राह्मण आंदोलन समाज के सबसे निचले तबके के आंदोलन नहीं थे। ऐतिहासिक तथ्यों को देखने से गैर ब्राह्मण आंदोलन और दलित आंदोलन का फ़र्क़ बिलकुल स्पष्ट हो जाता है। अमेरिकी इतिहासकार यूजिन एफ. इशिक का मानना था कि औपनिवेशिक भारतीय राजनीति में जाति ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। उन्होंने अपनी पुस्तक 'पोलिटिक्स एंड सोशल कॉनफ्लिक्ट इन साउथ इंडिया : द नॉन ब्राह्मण मूवमेंट ऐंड तमिल सेप्रेटिज्म–1916–1929, (1969)[18] में गैर ब्राह्मण जातियों जैसे अछूतों को द्रविड़ों से अलग रखा। उन्होंने दिखाया कि तमिल प्रदेश में हुआ गैर ब्राह्मण आंदोलन कांग्रेस के ब्राह्मण वर्चस्व वाले राष्ट्रवादी आंदोलन के खिलाफ मध्यवर्ती जातियों का प्रतिरोध आंदोलन था। क्योंकि मध्यवर्ती गैर ब्राह्मण जातियों की ओर से नीची जातियों के प्रति ज्यादा भेदभाव की दृष्टि अपनाई जाती थी। वे अछूत जाति के थे उनका दमन और उत्पीड़न ज़्यादा होता था। समाज के इसी तबके से औपनिवेशिक भारत के अंतिम दौर में डॉ. आंबेडकर के नेतृत्व में दलित आंदोलन का उदय हुआ। महाराष्ट्र क्षेत्र में गैर–ब्राह्मण आंदोलन भी हुए और दलित आंदोलन भी। गेल ओम्वेट ने अपनी दो अलग–अलग कृतियों में इन पर अलग–अलग विचार किया है। ये कृतियाँ है, 'कल्चरल रिवोल्ट इन कोलोनियल सोसाइटी : नान ब्राह्मण मूवमेंट इन वेस्टर्न इंडिया–1873–1930, (1976)[19] और 'दलित ऐंड डेमोक्रेटिक रिवॉल्यूशन : डॉ. आंबेडकर ऐंड दलित मूवमेंट इन कोलोनियल इंडिया' (1994)[20]। एलिनॉर जेलिएट ने अपनी पुस्तक 'फ्राम अनटचेबुल टू दलित : एस्सेज ऑन द डॉ. आंबेडकर मूवमेंट' (1992)[21] में दलित आंदोलन पर विचार किया है।

खासतौर पर बंगाल के अंदरूनी भागों में रहने वाले कबीलों के आंदोलन अक्सर ठप हो जाया करते थे। कबीले समाज की मुख्यधारा में शामिल नहीं हो सके थे और वे औपनिवेशिक राज्य की शक्ति को पूरी तरह से आंक नहीं पाए

18. यूजिन एफ. इशिक (1969).
19. गेल ओम्वेट (1976).
20. गेल ओम्वेट (1994).
21. एलिनॉर जेलिएट (1992).

थे। अक्सर उनके विद्रोह खूनी हो जाते थे। हमने देखा है कि डब्ल्यू डब्ल्यू हन्टर ने अपनी पुस्तक एनल्स ऑफ़ रुरल बंगाल में संथाल विद्रोह का वर्णन तो किया है परंतु इसका परिणाम क्या हुआ इस पर चुप्पी साध ली है। इसके बाद जनजातीय प्रतिरोध आंदोलनों पर बहुत ज़्यादा ध्यान नहीं दिया गया। अधिक संगठित राष्ट्रवादी राजनीति और निम्नजाति के विरोध पर ध्यान केंद्रित किया गया। हाल के वर्षों में जनोन्मुखी इतिहास लेखन के तहत जनजातीय विद्रोहों पर विशेष ध्यान दिया गया। इस प्रकार के अध्ययनों में के.एस.सिंह के डास्ट स्टॉर्म एंड हैंगिग मिस्ट : द स्टोरी ऑफ़ बिरसा मुंडा एंड हिज मूवमेंट-1872-1901, (1966)[22] और जे.सी. झा, ट्राइबल रिवोल्ट ऑफ़ छोटानागपुर-1831-32 (1987)[23] उल्लेखनीय कृतियाँ हैं। इन दोनों ही कृतियों में छोटानागपुर पठार के कोल विद्रोहों का विवेचन किया गया है। भारत के इतिहासकारों ने उत्तर पूर्वी पहाड़ी राज्यों के कबीलों पर बहुत कम ध्यान दिया है। कई वर्ष पहले मानवशास्त्री क्रिस्टोफ वॉन फ्यूरर-हैमड्रार्फ ने 'द नेकेड नागाज : हेड हन्टर्स ऑफ़ आसाम इन पीस ऐंड वार (1946)[24] नामक पुस्तक लिखी थी। अभी हाल में ही उत्तरपूर्व में उत्तरी पूर्वी पहाड़ियों के इतिहास पर काम शुरू हुआ है और आधुनिक अनुसंधान की मौजूदा प्रवृत्तियों के समान लैंगिक भेदभाव जैसे सामाजिक कारकों को अनुसंधान का आधार बनाया गया है। फ्रेडरिक एस. डाउन्स की पुस्तक द क्रिश्चन इम्पैक्ट ऑन द स्टेटस ऑफ़ विमेन इन नार्थ ईस्ट इंडिया (शिलांग, 1996)[25] इस दृष्टि से उल्लेखनीय कार्य है।

राष्ट्रवादी आख्यान : जाति प्रश्न का विमर्श

बीसवीं सदी की शुरुआत में युरोप की आधी से ज़्यादा आबादी युद्ध की विभीषिका झेल रही थी। उस वक्त भारत के एक महापुरुष ने राष्ट्रवाद की 'बेतुकी धारणा' की आलोचना की थी। यह आवाज़ रवींद्रनाथ ठाकुर की थी। उनका मानना था कि यह यूरोपीय आधुनिक सभ्यता को अमानवीय बना रहा है। साथ ही, उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के उस रवैये की भी आलोचना की थी,

22. के.एस.सिंह (1966).
23. जे.सी. झा (1987).
24. क्रिस्टोफ़ वॉन फ़्यूरर-हैमडॉर्फ (1946).
25. फ्रेडरिक एस. डाउन्स (1996).

जिसके तहत यूरोपीय आधुनिकता के राजनीतिक औजारों का अनुमोदन किया जा रहा था और इस आंदोलन की पूरी ऊर्जा स्वतंत्र 'राष्ट्र राज्य' का लक्ष्य हासिल करने में खर्च की जा रही थी। उनका कहना था कि 'सामाजिक दासता' की बुनियाद पर आजादी जैसे राजनीतिक चमत्कार के लक्ष्य प्राप्त नहीं किए जा सकते।[26] टैगोर का आशय मुख्य तौर पर जाति प्रथा से था, लेकिन वह उन तमाम असमानताओं की भी बात कर रहे थे, जिसका दंश भारत सदियों से झेल रहा था और जाहिर तौर पर राजनीतिक आजादी मिलते ही वह चमत्कारिक ढंग से गायब नहीं होने वाली थीं। टैगोर को लगता था कि राजनीतिक आंदोलन, मानव की मुक्ति के लिए पर्याप्त संवेदनशील नहीं है। इस सिलसिले में उनका मशहूर उद्धरण याद किया जा सकता है, 'जिन्हें राजनीतिक आजादी मिल गई, जरूरी नहीं है कि वे लोग मुक्त भी हो गए होंगे।[27] भारतीय राष्ट्रवादियों की स्वतंत्र राष्ट्र-राज्य की इच्छा (भारत में सामाजिक क्रांति के बगैर) को लेकर टैगोर की आलोचना कई मामलों में मार्क्स की व्याख्या से मेल खाती है। मार्क्स का भी मानना था कि राजनीतिक आजादी की अपनी सीमाएं हैं। मार्क्स ने कहा था, 'राजनीतिक मुक्ति की सीमाएं इस तथ्य से जुड़ी हैं कि किसी देश या गणराज्य को तो मुक्ति मिल सकती है, लेकिन यहाँ के लोग मुक्त नहीं होंगे।[28] अत: राजनीतिक आजादी ही मानव की मुक्ति से जुड़े सभी सवालों का जवाब नहीं है। एक बात यह भी सामने आई है कि राज्य संवैधानिक तौर पर जातीय अंसतुलनों को दूर करने की जितनी कोशिश करता है, नागरिक समाज (सिविल सोसायटी) में जाति की खाई उतनी ही बढ़ती जाती है। दरअसल, भारत की राजनीतिक आजादी के लक्ष्य को लेकर काम कर रहे राष्ट्रवादी इस विरोधाभास को नहीं समझ पाए या समझकर भी अनजान बने रहे। कई समाज विज्ञानियों ने उन चीजों को समझने की कोशिश की है, जिसके तहत आजादी के बाद जवाहरलाल नेहरू के दौर में राज्य आधारित अधिकारों को पेश करने की गुंजाइश बनी। मिसाल के तौर पर सतीश देशपांडे का कहना है कि उस दौर में राष्ट्र की अवधारणा को ध्यान में रखते हुए समाजवाद, धर्मनिरपेक्षता और विकास पर जोर के कारण

26. रबींद्रनाथ टैगोर (1994): 74.
27. रबींद्रनाथ टैगोर (1994) वही : 94.
28. कार्ल मार्क्स ऑन द ज्यूश क्वेश्चन (1972) : 30.

उपरोक्त विमर्शों पर ध्यान दिया जा सका।[29]

चूंकि, नेहरूवादी राष्ट्रवाद आधुनिकता की परियोजना को लेकर प्रतिबद्ध था और उसने राष्ट्र-राज्य की कानूनी-राजनीतिक शक्तियों को वैधता दी, लिहाजा जाति से सबंधित सवालों पर इसका किस तरह से प्रभाव हो सकता है? राजनीतिक स्वतंत्रता हासिल होने के साथ राष्ट्रीय क्षितिज पर लोगों के सामने आधुनिक और उदारवादी लोकतांत्रिक सिद्धांतों को किस तरह से पेश किया गया? राष्ट्र की अवधारणा को औपनिवेशक शासन और जाति, वर्ग, समुदाय व लिंग संबंधी असमानताओं से मुक्त समाज के तौर पर पेश किया गया था।[30] दूसरे शब्दों में कहा जाए तो एक आदर्शवादी समाज की कल्पना में सबाल्टर्न पहचान गुम हो गई। लिहाजा, आधुनिक होने के लिए जाति की पहचान को छोड़ना जरूरी था। जातियों की पहचान सरकार के आंकड़ों में सिमटने लगी। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो राष्ट्रवाद की अवधारणा में जाति आधारित सिद्धांतों और गतिविधियों को राष्ट्र-राज्य और उसके नागरिकों के लिए असंगत और नुकसानदेह माना गया है। राष्ट्रवाद के तहत जातीय असमानताओं को नज़रअंदाज़ करने (अधिकारों और नागरिकों के बारे में लफ्फाजी के जरिये) की कोशिश के तहत भ्रम की स्थिति पैदा होती है। उदारवादी लोकतंत्र में राजनीतिक मुक्ति की बात कर हमेशा सामाजिक दायरे में लोगों की 'वास्तविक' मुक्ति को छोड़ दिया जाता है। टैगोर ने भी राष्ट्रवादियों के उस नज़रिये से असहमति जताई है, जिसके मुताबिक भारत को राजनीतिक आजादी मिलते ही उसकी सभी समस्याएं ख़त्म हो जाएंगी। मार्क्स ने अपने लेख 'ऑन द ज्यूइश क्वेश्चन'[31] में भी इस बात की तरफ़ इशारा किया है।

पार्थ चटर्जी के मुताबिक, राष्ट्रवादी विचारों में इस विभाजन से निपटने के लिए स्वतंत्र, उपनिवेश विरोधी राष्ट्रवादी विमर्श को समुदाय के दायरे में शामिल कर दिया गया। चटर्जी ने इस 'विभाजन' के बारे में विस्तार से बताया है। हालाँकि, यहाँ चटर्जी के तर्क की पड़ताल करने का प्रयास नहीं किया जा रहा है। इसके बजाय 1960 के दशक में लिखे गए एक लेख के संदर्भों पर गौर किया गया

29. सतीश देशपांडे (1998) : 11.
30. तेजस्विनी निरंजना (1993) : 1.
31. कार्ल मार्क्स ऑन द ज्यूश क्वेश्चन (1972) वही.

है, जिसमें इस 'विभाजन' को अंसतुष्ट और वर्चस्ववादी राष्ट्रवाद के नज़रिये से देखने की कोशिश की गई है।[32] हम इसे ऐसी पाठ्य सामग्री के तौर पर देखते हैं, जहाँ 'आधिकारिक राष्ट्रवाद' के लक्षण के बारे में पता चलता है। यह पाठ्य सामग्री मशहूर मानव विज्ञानी जी. एस. घुर्ये की एक किताब का आखिरी अध्याय है। उनकी किताब 'कास्ट एंड रेस्ट इन इंडिया'[33] का पहला संस्करण 1932 में लंदन से प्रकाशित हुआ था और तब से इसके चार संस्करण छप चुके हैं। अंतिम संस्करण में उन्होंने आजादी के बाद जाति संबंधी विश्लेषण पेश किए हैं। उनके एक लेख का शीर्षक है– 'ए कास्टलेस सोसायटी ऑर ए प्लूरल सोसायटी'[34] जिसमें कांग्रेस सरकारों की संबंधित नीतियों की पड़ताल की गई है। घुर्ये के लेख में इस बात पर दुख जताया गया है कि 'जाति के भेदभाव से मुक्त समाज' बनाने का राष्ट्रवादी आदर्श ख़त्म हो रहा है। केंद्र और राज्य सरकारें हर दशक में आरक्षण नीति को आगे बढ़ा देती हैं और यह भारत के बहुलतावादी समाज के लिए खतरनाक है।[35] नेहरू ने 1961 में जब अनुसूचित जाति और जनजाति के प्रतिनिधियों से एक विशेष आयोजन में मुलाकात की, तो घुर्ये नेहरू के इस रवैये से संतुष्ट नहीं थे।[36] उनका मानना था कि आरक्षण को लेकर नेहरू का रवैया सख्त होना चाहिए था। उनके मुताबिक ये नेता आरक्षण के जरिये राष्ट्रीय केक का बड़ा हिस्सा हासिल करने के लिए इकट्ठा हुए थे। घुर्ये की इस नाराजगी को 1990 में मंडल कमीशन की रिपोर्ट लागू किए जाने के बाद सवर्ण जातियों में पैदा हुए आक्रोश से जोड़कर देखा जा सकता है। घुर्ये के पूरे लेख में जाति के सवाल पर राष्ट्रवादी रवैया अंतिम और संपूर्ण है। इसके अलावा, जाति से संबंधित तमाम मांगें राष्ट्र की सेहत के लिए नुकसानदेह हैं। लिहाजा, घुर्ये न सिर्फ जाति आधारित राजनीति के बढ़ते दायरे को लेकर खेद प्रकट करते हैं, बल्कि आजादी के बाद बने जाति आधारित संघों, ट्रस्टों आदि के भी खिलाफ हैं। उनके जैसे 'आधुनिक' राष्ट्रवादी के लिए इस तरह की चीजें खतरनाक और अवैध हैं

32. पार्थ चटर्जी (1993): 216.
33. जी.एस. घुर्ये (1969).
34. जी.एस. घुर्ये (1969) वही : 425.
35. जी.एस. घुर्ये (1969) वही : 437.
36. जी.एस. घुर्ये (1969) वही : 9.

जिनसे राज्य के 'तार्किक' आधारभूत ढाँचे को नुकसान पहुँचता है।[37]

घुर्ये जैसे राष्ट्रवादी लोकतांत्रिक व्यवस्था के प्रतिरोधी रवैये को खतरनाक मानते हैं। घुर्ये का राष्ट्रवाद–हिंदू, ब्राह्मणवादी, उत्तर–भारतीय/आर्य जैसी धारणाओं से प्रभावित है। उनकी राय में सभी गैर–ब्राह्मणवादी आंदोलन अनुचित हैं, खास तौर पर तमिलनाडु के इस तरह के आंदोलन। उन्होंने तमिलनाडु के तत्कालीन मुख्यमंत्री अन्नादुरई की उस पहल पर ऐतराज जताया था, जिसमें उन्होंने सत्यमेव जयते के तमिल में अनुवाद के लिए पहल की थी। उनका कहना था कि इसके अनुवाद से भारत के राष्ट्रवाद का अपमान होगा। उनके मुताबिक, कोई निचली जाति का तमिल कैसे उपनिषद के पवित्र वाक्य को तुच्छ बना सकता है। अन्नादुरई और उनकी तमिल पहचान भारत के 'गौरवशाली' अतीत की इस खास यात्रा से किस तरह अलग हो सकती है।[38]

औपनिवेशिक इतिहासकारों को 20वीं सदी के शुरुआती वर्षों में पहली बड़ी चुनौती का सामना करना पड़ा, जब भारत के राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने भारत के अतीत की नए सिरे से व्याख्या करने का बीड़ा उठाया। जहाँ तक राष्ट्रवादी इतिहास लेखन का सवाल था, तो इसमें औपनिवेशिक धारणाओं पर आधारित भारत की कुछ व्याख्याओं को स्वीकार किया गया, लेकिन संदर्भ आदि से जुड़ी चीजों को बदल दिया। इन इतिहासकारों के लिए भारत जीर्ण, धार्मिक और जातीय पूर्वग्रहों वाला समाज नहीं था। प्राचीन भारत को एक परिवर्तनशील दौर के तौर पर बताया गया, जहाँ शानदार सभ्यता और संस्कृति फली–फूली और बड़े राजवंशों का उत्थान और पतन हुआ। रोमिला थापर के मुताबिक, 'इन लेखकों ने ईसा पूर्व 1000 से 1000 ईस्वी तक प्राचीन भारत को अपेक्षाकृत स्थिर समाज बताया, जहाँ बड़ी–बड़ी उपलब्धियाँ हासिल की गईं और इस स्थिरता का आधार प्राचीन आर्य सभ्यता थी।[39] कई इतिहासकारों और राजनीतिक विज्ञानियों ने अवधारणा संबंधी ढाँचे को बदलने में राष्ट्रवादी इतिहासकारों के योगदान पर चर्चा की है, जिससे भारत के बारे में कुछ 'तथ्यों' की गलत व्याख्याओं को दुरुस्त किया जा सका। उदाहरण के तौर पर रणजीत गुहा, सुदीप्त कविराज और पार्थ चटर्जी

37. जी.एस. घुर्ये (1969) वही : 431.
38. जी.एस. घुर्ये (1969): 431.
39. रोमिला थापर (1968) : 327.

ने यह दिखाने के लिए उन्नीसवीं सदी के बांग्ला राष्ट्रवादी बंकिम चंद्र चटर्जी की लेखनी का विश्लेषण किया है कि राष्ट्रवादी चेतना का उभार, स्वतंत्र सांस्कृतिक अधिकार को हासिल करने से जुड़ा था और इसमें गुलामी, सत्ता और प्रतिनिधित्व जैसे सवालों से निपटने की भी बात थी।[40]

बंकिम चंद्र के लिए अपनी कहानी ख़ुद से बताने का अधिकार और क्षमता हासिल करना राष्ट्रीय चेतना विकसित करने की दिशा में पहला कदम था। राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने पहले उपनिवेशवादी/औपनिवेशिक धारणाओं पर आधारित मॉडल को पलटना शुरू किया, ताकि भारतीय इतिहास को बेतुकी जातीय संरचनाओं के बजाय सत्ता और ख़ुद से संबंधित होने के नज़रिये से देखा जा सके। ऐसा औपनिवेशिक इतिहासकारों को यह साबित करने के लिए किया गया कि भारत ख़ुद से राजनीतिक शासन चलाने में सक्षम रहा है और हीगल की अवधारणा के उलट यहाँ का समाज गुप्त और रहस्यमय नहीं रहा है। साथ ही, भारतीय समाज में जाति के अस्तित्व को भी नकारा नहीं जा सकता था।

भारत को शांतिप्रिय हिंदू समुदाय के देश के तौर पर बताया जाने लगा और चार वर्णों में जातियों के बँटवारे को वर्णाश्रम धर्म के तौर पर देखा गया। हालाँकि, ऊँच-नीच या पदानुक्रम की अवधारणा को गलत बताया गया और भेदभावपूर्ण सामाजिक परंपराओं की आलोचना की गई। गाँधी इस राष्ट्रवादी सोच के सबसे प्रसिद्ध पैरोकार थे। उनसे पहले ऐसे लोगों में स्वामी दयानंद सरस्वती और स्वामी विवेकानंद जैसे समाज सुधारक इस पहल का हिस्सा बने। हम टैगोर और नेहरू के राष्ट्रवाद के बारे में भी बात कर चुके हैं। टैगोर ने भारत की सहिष्णुता और मिली-जुली संस्कृति के बारे में लिखा और प्राचीन भारत में जाति प्रथा को अलग-अलग नस्लों के लोगों के बीच सौहार्द का नमूना बताया।[41] जवाहरलाल नेहरू ने अपनी किताब 'डिस्कवरी ऑफ़ इंडिया' के छठे अध्याय में भी लिखा है कि औपनिवेशिक कानून ही शायद पुराने सामाजिक संगठनों (जिसमें जाति व्यवस्था भी शामिल है) के ख़त्म होने की वजह हैं। किताब में वह अछूतों पर कथित ऊंची जाति के लोगों द्वारा किए जाने वाले अत्याचारों को जघन्य मानते हैं, लेकिन वह इस बात को लेकर आश्वस्त नहीं हैं कि जाति आधारित समाज

40. रणजीत गुहा (1988), पार्थ चटर्जी (1986) एवं सुदीप्त कविराज (1995).
41. रबींद्रनाथ टैगोर (1994): 94.

का ख़त्म होना भारत के लिए अच्छा होगा या नहीं।[42] नेहरू 'कोई अन्य सामाजिक ढाँचा' सुझाने के बजाय मुगलों से पहले के दौर के गैर-प्रतिस्पर्धी सामाजिक स्वरूप की बात करते हैं, जिसमें हर समूह की जरूरतों का खयाल रखा जाता था और आम तौर पर सामाजिक सौहार्द भी देखने को मिलता था। अछूतों के साथ बुरा बर्ताव होता था, लेकिन अपने मामले निपटाने के लिए उनकी अपनी पंचायतें व अन्य संस्थायें थीं और इन पंचायतों का स्वरूप लोकतांत्रिक था।[43] साथ ही, चूँकि अधिकांश आबादी कृषि पर निर्भर थी और निजी संपत्ति का कोई सिस्टम नहीं था, लिहाजा उत्पादन में राज्य का हर समूह हिस्सेदार था।[44] संक्षेप में कहा जाए तो यहाँ हिंदू समाज की एक झलक है, जो सामाजिक सौहार्द, सुरक्षा और एकजुटता के बारे में बताता है।[45] बहरहाल, राजनीतिक स्वतंत्रता की संभावनाएँ बढ़ने लगीं, तो नेहरू इस बात से आश्वस्त थे कि भारत में पूरी तरह से लोकतांत्रिक व्यवस्था शुरू हो जाने के बाद जातीय भेदभाव और असमानता की समस्याओं को दूर कर लिया जाएगा।[46]

जाति और छुआछूत के सवाल को हल करने का मामला महात्मा गाँधी और उनके वैचारिक विरोधी बाबा साहेब डॉ. आंबेडकर पर छोड़ दिया गया। जाति के सवाल पर डॉ. आंबेडकर और गाँधी के बीच मतभेदों के बारे में काफ़ी कुछ कहा जा चुका है और यहाँ उसे दोहराया जाना जरूरी नहीं है। यहाँ 'सोल्स एगनी'[47] पर गौर करना चाहिए, जिसे पार्थ चटर्जी भारतीय राष्ट्रवादी विचार का 'आंतरिक' और आध्यात्मिक पहलू मानते हैं।[48] इसमें गाँधी की इस राय को बताया गया है कि जाति के बारे में राष्ट्र ख़ुद तय करेगा और औपनिवेशिक शासन को इस मामले से दूर रहना चाहिए। 'सोल्स एगनी' पूना पैक्ट को अंतिम रूप

42. जवाहर लाल नेहरू (1956): 243.
43. जवाहर लाल नेहरू (1956) : 251.
44. जवाहर लाल नेहरू (1956) : 249.
45. जवाहर लाल नेहरू (1956) : 252.
46. जवाहर लाल नेहरू (1956): 289.
47. गाँधी : (1932)माय सोल्स एगोनी : बीइंग गाँधीज़ स्टेट्समेंट्स इस्स्युएड फ्राम यरवदा प्रिज़न ऑन द रिमूवल ऑफ़ अंटच्बलिटी एमंग हिंदूज, बॉम्बे प्रोविन्सिल बोर्ड, सर्वेण्ट्स ऑफ़ अनटचेबल्स सोसाइटी, 1932. नवजीवन कार्यालय, प्रिंसेज स्ट्रीट बॉम्बे।
48. पार्थ चटर्जी (1993) वही.

दिए जाने के बाद छुआछूत पर गाँधी द्वारा यरवदा जेल से जारी किए गए बयानों का संकलन है।[49] इसमें गाँधी ने स्पष्ट किया है कि छुआछूत को ख़त्म करना औपनिवेशिक शासन नहीं बल्कि पूरी तरह से हिंदू समाज की जिम्मेदारी है।[50] हरिजन पत्रिका के एक अंक में उन्होंने कहा था, 'मैंने मालाबार और ओडिशा में उनसे मुलाकात की है और मैं समझता हूँ कि वे आरक्षित सीटों के जरिये नहीं बल्कि हिंदू धर्म में सुधार के माध्यम से आगे बढ़ेंगे। इसी वजह से मेरा मानना है कि पृथक निर्वाचन मंडल का मामला सुधार की उन तमाम संभावनाओं को ख़त्म कर देता, जो मेरे दिल में है।' गाँधी अछूतों को हिंदू धर्म के दायरे में सम्मानपूर्वक शामिल करने को लेकर काफ़ी सक्रिय थे, लिहाजा उनके पुनर्वास से जुड़े अभियानों में सहभोज, अंतरजातीय विवाह और मंदिरों में प्रवेश पर ध्यान केंद्रित किया गया था।[51]

हालाँकि, गाँधी के इस भावनात्मक कल्याणकारी अभियान से डॉ. आंबेडकर सहमत नहीं थे और उन्होंने इसे सवर्ण हिंदुओं पर गैर-जरूरी निर्भरता करार देते हुए कहा था कि इससे दलितों की माली हालत पर कोई असर नहीं होगा। गाँधी अपने लेख में डॉ. आंबेडकर की उस टिप्पणी का भी जवाब देते हैं, जिसमें उन्होंने कहा था कि मंदिरों में प्रवेश का मुद्दा ऐसा नहीं है, जिस पर गाँधी आमरण अनशन करें। गाँधी का इस पर कहना था, 'डॉ. आंबेडकर मंदिरों में प्रवेश के बारे में जो कह रहे हैं, मैं उससे सहमत नहीं हूँ। मेरी राय में हरिजन आबादी समेत हिंदू जनता के दिमाग में इससे बड़ी प्रभावी चीज क्या होगी कि सवर्ण हिंदुओं की तरह ही हरिजनों के लिए भी सभी सार्वजनिक मंदिरों के दरवाजे खोल दिए जाएं। मैं डॉ. आंबेडकर की अपेक्षाकृत उदासीनता को समझ सकता हूँ, लेकिन मैं वंचित समूहों के कुछ सभ्य-सुशिक्षित लोगों के बारे में नहीं सोच रहा हूँ। मैं बड़ी संख्या में मौजूद गरीबों-वंचितों के बारे में सोच रहा हूँ। आखिरकार, हिंदू मंदिरों की आम लोगों के जीवन में अहम भूमिका है और मैं तब तक संतुष्ट नहीं हो सकता है, जब तक हिंदू समुदाय के सभी अछूतों के लिए मंदिरों के लिए दरवाजे नहीं खोल दिए जाएं। मैंने हमेशा ख़ुद को वंचितों और अशिक्षितों से जोड़ने का प्रयास

49. के. स्वामीनाथन एंड सी. एन. पटेल (1988):114.
50. गाँधी (1932) वही : 17.
51. गाँधी (1932) वही : 14-15.

किया है।[52] गाँधी ने सौहार्दपूर्ण सामाजिक व्यवस्था के लिए अहिंसा और छुआछूत को ख़त्म करना प्राथमिक शर्त बताया, जबकि सावरकर, गोलवलकर और अन्य उग्र हिंदू राष्ट्रवादी आक्रामक हिंदू राष्ट्र के निर्माण के लिए ज़्यादा इच्छुक थे– ऐसा राष्ट्र जहाँ हिंदुओं के अलावा अन्य अल्पसंख्यक समुदाय के लिए किसी तरह की विशेष सुविधाएं नहीं होंगी। पिछले एक दशक या इससे ज़्यादा अवधि के दौरान हिंदू राष्ट्र को लेकर सावरकर की अवधारणा को लेकर बहस तेज हुई है।

मार्क्सवादी आख्यान में जाति प्रश्न का विमर्श

पिछले भाग में हमने जाति को लेकर राष्ट्रवादी विचारों की रूपरेखा की पड़ताल की। हमने खासतौर पर यह देखा कि भारतीय राष्ट्र की अभिभावी अवधारणा में जाति व्यवस्था की क्या भूमिका रही है। इसी क्रम में हम इसके अगले भाग में एक और सैद्धांतिक पहलू पर विचार करेंगे, जिसके आधार पर जाति व्यवस्था का विश्लेषण किया जा सकता है। हम मार्क्सवाद और भारतीय राष्ट्रवाद की धर्मनिरपेक्ष–लोकतांत्रिक परंपरा में इसकी विशिष्ट व्याख्या पर बात करेंगे। यह भाग मार्क्सवाद और दक्षिण एशिया में जाति के विश्लेषण से जुड़े दो सैद्धांतिक पहलुओं पर आधारित है। पहला, मूल मार्क्सवादी विचार में वर्ग आधारित विश्लेषण की प्रमुखता है, जिसके कारण भारत में राष्ट्रवाद के उत्कर्ष के दौरान मार्क्सवादी इतिहासकारों और कम्युनिस्ट नेताओं ने जाति को पर्याप्त अहमियत नहीं दी। दूसरा, भारत के लिए धर्मनिरपेक्ष आधुनिकता के एजेंडे के लिए वामपंथी कोशिशों से जुड़ा है, जिसके कारण जाति व्यवस्था को सैद्धांतिक तौर पर पिछड़ा और दकियानूसी बताया गया। इन दोनों सैद्धांतिक पहलुओं के कारण जाति के मामले में वामपंथी विचारधारा पर क्या असर हुआ, इस भाग में इस पर विस्तार से बात की जाएगी।

जाति के विरुद्ध आंदोलन, राष्ट्रवाद और वामपंथ के संदर्भ में औपनिवेशिक दौर में तीसरी दुनिया के ज़्यादातर देशों में मार्क्सवाद का वर्ग संघर्ष, राष्ट्र की आजादी के संघर्ष की शक्ल में ही रहा। भारत में 1920 के दशक में एम.एन.रॉय ने बुर्जुआ राष्ट्रवाद पर असंतोष जताया था। वह भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में इसकी

52. गाँधी (1932) वही : 14–15.

झलक देख रहे थे। संजय सेठ की किताब 'मार्क्सिस्ट थिअरी एंड नेशनलिस्ट पॉलिटिक्स' (1995) के मुताबिक, एम.एन.रॉय का मानना था कि भारतीय बुर्जुआ सफल राष्ट्रीय आंदोलन का नेतृत्व नहीं कर सकते और इस तरह का आंदोलन मजदूरों और किसानों के संघर्ष की जीत से ही मुमकिन होगा।[53] इसी विचार के तहत एम.एन.रॉय ने राष्ट्रीय आंदोलन को मार्क्सवाद के तौर पर 'सैद्धांतिक' आधार देने का प्रयास शुरू किया। उन्हें लगता था कि उनके इस अभियान से राष्ट्रीय आंदोलन 'व्यक्तिपरकता', 'भावनात्मक आंदोलन' और 'भावनात्मक आदर्शवाद' से मुक्त हो सकेगा।[54] भारत में कम्युनिस्ट आंदोलन शुरू करने में राय की भूमिका 1920 के दशक से आगे नहीं बढ़ सकी। हालाँकि, वह कई राष्ट्रवादी नौजवानों को सर्वहारा क्रांति के लिए उत्साहित करने में सफल रहे।[55] कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ़ इंडिया (सीपीआई) से लंबे समय तक जुड़े रहे सरोज मुखर्जी ने अपनी आत्मकथा में लिखा है, 'हम देश की आजादी चाहते थे। हम ऐसी नई व्यवस्था चाहते थे, जहाँ ब्रिटिश हुकूमत के जाने के बाद लोग खुशी के साथ जीवन गुजारें। हम मजदूरों, किसानों, गाँवों के लोगों और औद्योगिक मजदूरों का दुख दूर करना चाहते थे। हमारे दिमाग में यही सब बातें चलती रहती थीं।[56] भारत के राष्ट्रीय आंदोलन में कम्युनिस्ट आंदोलन कभी केंद्र में नहीं रहा, लेकिन हम सब जवाहरलाल नेहरू की समाजवादी सोच के बारे में जानते हैं। मार्क्सवाद से उनके जुड़ाव के बारे में काफ़ी लिखित जानकारी मौजूद है।[57] मार्क्सवाद के आर्थिक सिद्धांतों ने नेहरू को भारत के आधुनिकीकरण के लिए एक तर्कसंगत और वैज्ञानिक आधार मुहैया कराया, जिसमें सामाजिक और आर्थिक समानता के सवाल प्रमुख तौर पर शामिल नहीं थे। बहरहाल, यह ऐसा राष्ट्रवाद था, जो मार्क्सवादी नज़रिये से पर्याप्त 'क्रांतिकारी' नहीं था। सेठ के मुताबिक, नेहरू ने राष्ट्रीय आजादी के लिए संघर्ष में सर्वहारा वर्ग को कभी 'जोरदार भूमिका' नहीं दी।[58]

---

53. संजय सेठ (1995): 87.
54. संजय सेठ (1995) वही: 89.
55. आदित्य निगम (1999) : 39.
56. आदित्य निगम (1999) वही : 39.
57. पार्थ चटर्जी (1986) एवं संजय सेठ (1995).
58. संजय सेठ (1995) वही : 216.

उत्पीड़ित वर्गों के हितों का प्रतिनिधित्व मजदूरों-किसानों की पार्टी नहीं बल्कि आजादी के दौर की प्रमुख राष्ट्रवादी पार्टी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस कर रही थी, जबकि कांग्रेस पार्टी के आलोचक इसे ब्राह्मणों, पूँजीपतियों और भूपतियों की पार्टी बताते थे। कांग्रेस के शासन में संपत्ति के सार्वजनिक मालिकाना हक का मतलब सरकार का मालिकाना हक था। दरअसल, नेहरू राज्य प्रायोजित पूँजीवाद के पैरोकार थे। साथ ही, जाति या धर्म के आधार पर गोलबंदी को पिछड़ापन, विचलन और यहाँ तक कि ब्रिटिशों का समर्थन करना माना जाता था। उदारवादी इतिहासकारों ने जाति से जुड़े आंदोलनों को 'राजनीति की एक वैकल्पिक धारा' तैयार करने का प्रयास करार दिया।[59] भारतीय उप-महाद्वीप में 20वीं सदी की शुरुआत में शुरू हुए जाति विरोधी और दलित आंदोलन के बारे में इतिहासकारों और मानव विज्ञानियों ने काफ़ी कुछ लिखा है। पश्चिम भारत में फुले और डॉ. आंबेडकर, दक्षिण भारत में पेरियार और स्वामी नारायणा गुरु, जबकि उत्तर भारत में स्वामी अछूतानंद हरिहर और मंगू राम जैसे समाज सुधारकों ने जाति आधारित शोषण के खिलाफ आवाज़ उठाई। हम जानते हैं कि जाति-विरोधी आंदोलन से जुड़े इन नेताओं ने सामाजिक-सांस्कृतिक बदलाव के अपने एजेंडे को कथित निचली जाति के मजदूरों, किसानों और भूमिहीन मजदूरों के बुनियादी आर्थिक सवालों से जोड़ा। उदाहरण के तौर पर डॉ. आंबेडकर ने 1936 में स्वतंत्र मजदूर दल (इंडिपेंडेंट लेबर पार्टी-आईएलपी) की स्थापना की थी।[60] इस पार्टी ने ख़ुद को मजदूरों और किसानों के मोर्चे के तौर पर पेश किया था। पार्टी ने जाति आधारित शोषण के खिलाफ कई उल्लेखनीय कार्य भी किए। पार्टी के लक्ष्यों में किसानों को महाजनों के चंगुल से बचाना, जमीन के लगान का विरोध करना और कृषि उत्पादों के लिए को-ऑपरेटिव और विपणन समितियाँ बनाना आदि शामिल थे।[61]

डॉ. आंबेडकर की पार्टी इंडिपेंडेंट लेबर पार्टी कांग्रेस से अलग विपक्षी खेमे में थी। डॉ. आंबेडकर का कहना था कि कांग्रेस और उसके सहयोगी वाम दल

59. बिपन चंद्र (1989):28.
60. इंडिपेंडेंट लेबर पार्टी : इट्स फाउंडेशन एंड इट्स एम्स, रिप्रिंटेड फ्राम द टाइम्स ऑफ़ इंडिया, 15 अगस्त 1936, आईएलपी पब्लिकेशंस न. 1 ऑफ़ 1937.
61. गेल ओम्वेट (1994): 193.

जाति और अन्य सामाजिक असमानताओं को लेकर संवेदनशील नहीं हैं, जिनका सामना रोजाना मजदूरों और किसानों को करना पड़ता है। उन्होंने नेहरू के समाजवादी तौर-तरीकों पर हमला करते हुए जनता पाक्षिक में लिखा, 'पंडित जी का दावा है कि भारतीय लोगों को अगर गरीबी, बेरोजगारी, दास प्रथा और अन्य कुरीतियों से मुक्त होना है, तो इसके लिए समाजवाद के अलावा कोई दूसरा विकल्प नहीं है। आप समाजवाद के किसी भी सिद्धांत की बात कर लें, कोई भी देश आर्थिक असमानता को ख़त्म किए बिना वास्तविक तौर पर स्वतंत्र नहीं हो सकता- हालाँकि, कांग्रेस के हिसाब से यह संभव है, जिसके अध्यक्ष पंडित नेहरू हैं। भारतीय सर्वहारा वर्ग पूरी तरह से सामाजिक और धार्मिक असमानता का शिकार है और इससे मुक्ति पाए बिना यह वर्ग कभी संगठित नहीं हो सकेगा।[62] वामपंथी रुझान वाली भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की अन्य सहयोगी इकाइयाँ वर्ग संघर्ष में जाति और धर्म के सवालों को शामिल करने को इच्छुक नहीं थीं। हालाँकि, 1930 के दशक के मध्य और आखिरी दौर में सर्वहारा वर्ग को लेकर डॉ. आंबेडकर और आईएलपी की प्रतिबद्धता ने उन्हें मजबूर कर दिया। इन पार्टियों ने (7 नवंबर 1938) को आईएलपी के साथ मिलकर बंबई में संयुक्त हड़ताल का आह्वान किया। औद्योगिक विवाद बिल के खिलाफ इस हड़ताल का आह्वान किया गया था। बंबई की कांग्रेस प्रांतीय सरकार ने (2 सितंबर 1938) बंबई विधानसभा में यह बिल पेश किया था। मजदूरों के आक्रामक विरोध प्रदर्शनों के कारण कांग्रेस को चिंता होने लगी थी और मजदूरों के आंदोलनों को रोकने के मकसद से कांग्रेस ने यह बिल पेश किया था। डॉ. आंबेडकर ने इस बिल का विरोध करने का फैसला किया और बंबई में 7 नवंबर को हड़ताल का आह्वान किया। इस दौरान उन्होंने पहली और आखिरी बार कम्युनिस्ट पार्टी के दिग्गज नेता एस.ए.डांगे के साथ मंच साझा किया। हालाँकि, वामपंथी पार्टियों के साथ उनका यह रिश्ता लंबे समय तक नहीं चल पाया। इसकी मुख्य वजह इन वामपंथी पर्टियों द्वारा जाति और छुआछूत के मुद्दे को अहमियत नहीं देना था।[63]

दरअसल, कम्युनिस्ट पार्टी में भी शोषणकारी जाति व्यवस्था का प्रभाव नज़र आने के कारण अछूत मजदूर राष्ट्रीय स्तर पर साम्राज्यवाद विरोधी और मजदूर

62. जनता 18 मई, 1937.
63. गेल ओम्वेट (1994) वही : 198-201.

आंदोलनों में हिस्सा नहीं लेते थे। हालाँकि, सीपीआई के काडर इस बात को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे। आदित्य निगम के मुताबिक, भारतीय कम्युनिस्ट आंदोलन अपने शिखर काल के दौरान अपने वैचारिक-सैद्धांतिक पोषण और संगठन आधारित व्यवस्था के लिए सोवियत संघ को आधार मानता था।[64] निगम का मानना है कि भारतीय कम्युनिस्ट आंदोलन के इतिहास में दो मौके ऐसे थे, जो इसकी सोवियत संघ शैली वाले कम्युनिज्म को अपनाने और भारतीय परिस्थितियों के हिसाब से मार्क्सवाद को अपनाने में नाकाम रहने की तरफ़ इशारा करते हैं। पहली बार ऐसा तब देखने को मिला, जब एम. एन. रॉय ने भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का पहला मैनिफेस्टो तैयार किया। रॉय ने इसे मिखाइल बोरोदिन की मदद से मास्को में तैयार किया था और लेनिन और स्टालिन ने इसे मंजूरी दी थी। यह दस्तावेज़ न सिर्फ भौगोलिक लिहाज से बल्कि अन्य मायनों में भी भारत से काफ़ी दूर था। मैनिफेस्टो में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को कुछ हजार गैर-जिम्मेदार छात्रों और मध्य वर्ग के कुछ बुद्धिजीवियों की भीड़ (शोर मचाने वाली) बताया गया था। साथ ही, यह भी दावा किया गया था कि इस तरह की पार्टी औपनिवेशिक ताकत के खिलाफ संघर्ष के लिए जनता को संगठित करने में सक्षम नहीं है। यह खिलाफत आंदोलन का भी दौर था और रॉय का कहना था कि इससे सर्वहारा जनता को कुछ हासिल नहीं हुआ। यह बताता है कि जनता की भावनाओं को समझने में वह बेहद कमजोर थे। उनका कहना था कि भारत के लोग औपनिवेशिक शासन और इस शासन के पहले के दौर से चली रही जाति और धर्म की बेड़ियों में जकड़े हुए हैं और कांग्रेस उन्हें इस बंधन से मुक्त करने में सक्षम नहीं है। इसका समाधान सिर्फ भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के पास है, जो किसानों और मजदूरों को ज्ञान के अंधकार, अंधविश्वास और गुलामी से मुक्ति दिलाएगी और ऐसे भारत का निर्माण करेगी, जहाँ सभी लोग बराबर होंगे।[65]

निगम की तरफ़ से पेश दूसरे उदाहरण में हम पाते हैं कि भारत के कुछ मार्क्सवादी नेता कम्युनिस्ट आंदोलन की परंपरागत बातों से चिपके नज़र आते

64. आदित्य निगम (1999) वही : 41.
65. आदित्य निगम (1999) वही: 41.

हैं, चाहे वह भारतीय परिस्थितियों के प्रतिकूल क्यों न हों। इसी सिलसिले में लेबर स्वराज पार्टी का नाम बदलने को लेकर मुजफ्फर अहमद ने एक दिलचस्प जानकारी पेश की है। 1926 के कृष्णानगर सत्र में लेबर स्वराज पार्टी का नाम बदलने का फैसला किया गया। इसका नाम बदलकर 'बंगाल किसान और मजदूर पार्टी' रखने पर सहमति बनी। अहमद के मुताबक, इस सत्र में मौजूद कुछ प्रतिनिधि नाम के शुरू में ही मजदूर शब्द को रखना चाहते थे, क्योंकि यह पार्टी मुख्य तौर पर वर्ग संघर्ष को लेकर प्रतिबद्ध थी। हालाँकि, सत्र में किसान बहुमत की संख्या में थे, इसलिए अहमद और अन्य लोगों ने इसको लेकर असहमति जाहिर नहीं की। हालाँकि, वे लोग दो साल बाद हुए पार्टी के सत्र में नाम बदलवाने में सफल रहे। निगम के मुताबिक, 'कम्युनिस्ट इंटरनेशनल' की नाराजगी और अनुशासनात्मक कार्रवाई के डर से अहमद ने इस तरह की कार्रवाई की। अहमद को पता था कि कम्युनिस्ट पार्टी के दिग्गज नेता एम.एन. रॉय को 'कम्युनिस्ट इंटरनेशनल' से निकालने की मुख्य वजह उनका 'कम्युनिस्ट इंटरनेशनल' के 'एक पार्टी, एक वर्ग' के सिद्धांत के खिलाफ जाना था। उनका कहना था कि भारत को न सिर्फ 'दो वर्ग वाली' बल्कि 'कई वर्गों वाली' पार्टी की जरूरत है।[66]

यहाँ ये दोनों उदाहरण यह बताने के लिए पेश किए गए हैं कि भारतीय राजनीतिक परिदृश्य में कम्युनिस्ट आंदोलन की मौजूदगी तो थी, लेकिन वह वर्ग संघर्ष को दलित आंदोलन के नजरिये से देखने के लिए तैयार नहीं था। अछूतों का कम्युनिस्ट पार्टी में स्वागत था, लेकिन पहले सर्वहारा वर्ग के सदस्य के तौर पर।

मार्क्सवादी इतिहास लेखन में जाति प्रश्न

एक राष्ट्र के तौर पर भारत के उभरने की कहानी के बारे में बताने में मार्क्सवाद और उसकी राजनीतिक और बौद्धिक विरासत का लगातार असर देखने को मिला है। उदाहरण के तौर पर इरफान हबीब जैसे मार्क्सवादी इतिहासकार राष्ट्रीय आंदोलन को समाज के निचले स्तर पर जोरदार गोलबंदी के तौर पर देखते हैं। हबीब का कहना है, 'मुझे लगता है कि इस बात को लेकर आम समझ है कि राष्ट्रीय आंदोलन देश के सभी वर्गों के लोगों का राष्ट्रीय आंदोलन था–किसानों, बुर्जुआ

66. आदित्य निगम (1999) वही : 42.

(बड़े जमींदारों और राजाओं को छोड़कर) और सर्वहारा वर्ग।[67] हालाँकि, वह इस बात को लेकर अफसोस जताते हैं कि भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के बारे में उदारवादियों के अधिकांश लेखन में वामपंथियों की भूमिका की सही तरीके से चित्रित नहीं किया गया है। उनका कहना है, 'संगठित किसान आंदोलनों और ट्रेड यूनियनों को मुख्य तौर पर कम्युनिस्टों और उनके सहयोगियों ने खड़ा किया।[68] हबीब, कौशाम्बी और शर्मा जैसे मार्क्सवादी इतिहासकारों ने भारत के अतीत से जुड़ी अधिकतर प्रमुख राष्ट्रवादी व्याख्याओं को चुनौती दी।

धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवादियों की तरह मार्क्सवादियों ने भी 'जाति' को सामाजिक और ऐतिहासिक विश्लेषण की श्रेणी बताया और राष्ट्रवादियों की तरह इससे जुड़ी औपनिवेशिक धारणाओं को भी खारिज कर दिया। साथ ही, भारत में मार्क्सवादी इतिहासकारों ने भारत को इतिहास का अविभाज्य, स्वतंत्र और गौरवशाली हिस्सा बताने वाले राष्ट्रवादी इतिहासकारों की भी आलोचना की। मार्क्सवादी इतिहासकारों के मुताबिक, राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने भारतीय इतिहास की विविधता, भौतिक संघर्षों और इसके विकास क्रम को नज़रअंदाज़ किया। कोसाम्बी ने 1954 में कहा था, 'विदेशी बुर्जुआ पूर्वाग्रहों के बदले भारतीय बुर्जुआ पूर्वाग्रहों को पेश करने का क्या मतलब है।[69] कोसाम्बी से लेकर हबीब तक के मार्क्सवादी इतिहास लेखन में एक आम बात यह है कि ये सभी इस बात से सहमत हैं कि आधुनिकीकरण और निर्णायक वर्ग संघर्ष से आखिरकार जाति व्यवस्था ख़त्म हो जाएगी। हबीब के शब्दों में कहें, तो 'जाति इतिहास की बात हो जाएगी, जिसकी वह हकदार है।' बहरहाल, मार्क्स के मुताबिक, जाति भारत की प्रगति में मुख्य बाधा है। कोसाम्बी ख़ुद बार-बार कहते हैं कि जाति को इतिहास की उपेक्षा माना जाता है और व्यावहारिकता में इसकी उपेक्षा की जाती है।[70]

दलितों के राजनीतिक और सामाजिक इतिहास की जानकारी पर महत्त्वपूर्ण काम करने वाली मार्क्सवादी विद्वान गेल ओम्वेट का मानना है कि भारत में सभी क्रांतिकारी गतिविधियों में जाति का मुद्दा सबसे अहम है। वह इससे जुड़े अहम

67. इरफान हबीब (1995) वही: 10.
68. इरफान हबीब (1995) वही: 10.
69. ए.जे.सैयद (1985): 67.
70. डी.डी.कोसाम्बी (1956, 1975): 166-7.

मामलों में परंपरागत मार्क्सवादियों से अलग राय रखती हैं। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो जाति ऐसी समस्या है, जिसका हल ढूंढ़ा जाना भारत के आधुनिक समाज के निर्माण के लिए बेहद जरूरी है।[71]

गेल ओम्वेट के अनुसार जाति की संरचना

ओम्वेट परंपरागत मार्क्सवादी इतिहासकारों की उस राय से पूरी तरह असहमत हैं, जिसमें जाति के सुपरस्ट्रक्चर सिद्धांत को पेश किया गया है। उन्होंने गॉडलियर के संरचना संबधी तर्क को आगे बढ़ाते हुए कहा कि हर सम्बंध-सामाजिक, रिश्तेदारी, राजनीतिक आदि का अपना महत्त्व है और कोई भी एक-दूसरे से कम या ज़्यादा महत्त्वपूर्ण नहीं है।[72] उनके मुताबिक, भारत जैसे कृषि प्रधान देश में जाति और आर्थिक मुद्दे हमेशा एक-दूसरे से गहरे स्तर पर जुड़े रहे हैं। लिहाजा, जाति के सवाल को 'सामाजिक' या अपने शुद्ध 'ढाँचे' तक सीमित करने से भारतीय इतिहास और समाज के बारे में कोई भी पारंपरिक मार्क्सवादी नजरिया न सिर्फ गलत, बल्कि सैद्धांतिक रूप से भी सवालों के घेरे में होगा। उनके मुताबिक, पारंपरिक मार्क्सवादियों का विश्लेषण अपने आप इस बात की तस्दीक कर देता है कि यह अपर्याप्त है।[73] दलित आंदोलन पर अपनी किताब 'दलित्स एंड द डेमोक्रेटिक रिवोल्यूशन' (1994) में ओम्वेट ने कहा कि जाति को लेकर ज़्यादातर मार्क्सवादियों का विश्लेषण आर्थिक शोषण से जुड़ी सीमित समझ पर आधारित है। उनके मुताबिक, मार्क्सवादी विश्लेषकों ने उत्पादन के पूँजीवादी तरीके के मुताबिक वर्ग को बुनियादी तौर पर आधार बनाते हुए यह बात कही है। इस तरह की अवधारणा में वर्ग को उत्पादन के साधनों के मालिकाना हक के लिहाज से पारिभाषित किया गया है, जबकि वर्ग संघर्ष को उत्पादन के साधन से वंचित श्रमिकों और उनके मेहनत पर आराम से जीवन जीने वाले वर्ग के बीच टकराव के तौर पर बताया गया है। दरअसल, इस तरह के विश्लेषण में सिर्फ फैक्ट्री उत्पादन से जुड़े पूँजीवादी पहलुओं पर गौर किया गया है और जाति आधारित और अन्य तरह के आर्थिक शोषण के बारे में कोई सैद्धांतिक व्याख्या

71. गेल ओम्वेट (1982): 10.
72. मौरिस गोडेलियर (1972): 92.
73. गेल ओम्वेट (1982) वही : 10.

पेश नहीं की गई है। यह जरूरी नहीं है कि इस तरह के शोषण में उत्पादन के साधन और मालिकाना हक वाली अवधारणा प्रासंगिक हो। ओम्वेट के मुताबिक, 'कुछ मालिक ही शोषण के शिकार हो सकते हैं (जैसे छोटे किसान) कुछ ऐसे लोग भी शोषण कर सकते हैं, जो मालिक नहीं है, जैसे (समाजवादी ढाँचे में सार्वजनिक संपत्ति की देखरेख करने वाले, सामंती समाजों में ऊंची जातियाँ और जमींदार) और सर्वहारा पति अपने पत्नी के मुफ़्त श्रम का फायदा उठाकर उनका शोषण कर सकते हैं। इसके अलावा, कई पर्यावरणविदों का तर्क होगा कि प्रकृति का भी 'इस तरह' से शोषण माना जा सकता है कि प्रकृति के संसाधनों को इकट्ठा करना एक तरह से पूँजी के संग्रह को बढ़ाता है और इसका उस क्षेत्र की पारिस्थितिकी पर बुरा असर हो सकता है।[74] ओम्वेट उस सिद्धांत से भी सहमत नहीं हैं, जिसमें वर्गीय विश्लेषण में आर्थिक शोषण के हर दूसरे स्वरूप को शामिल करने का प्रयास किया जाता है।

निम्नवर्गीय इतिहास लेखन और दलित अध्ययन का अंत:संबंध

एंटोनियो ग्राम्सी ने प्रिजन नोटबुक में सबाल्टर्न पद की स्वयं संदर्भित व्याख्या प्रस्तुत की है। उन्होंने सबाल्टर्न पद का प्रयोग समाज के गौण, मातहत, उत्पीड़ित और शोषित लोगों के लिए किया है, भारत में दलित लोगों को इसमें जोड़ा जाता है। इसके विस्तार में देखें तो गिडवानी के मुताबिक अगर आसान शब्दों में कहें तो सबाल्टर्नवाद सबाल्टर्न होने की अवस्था है। गिडवानी इस शब्द की व्याख्या इस तरह करते हैं, सबाल्टर्नवाद का मतलब वैसे लोगों और समूहों से है, जो किसी देश, पूँजीवादी उत्पादन संबंधों या पितृसत्ता संबंधों, नस्ल, जाति आदि में निचले पायदान पर मौजूद होते हैं।[75] इस मामले में उनके द्वारा इस शब्द का उपयोग अनुभवजन्य समूह तक सीमित है और यह शुरुआती सबाल्टर्न इतिहासकारों के लिए था। समूह के भीतर बाकियों के लिए सबाल्टर्न शब्द ग्राम्सी के जरिये आया, जिसने भारतीय समाज में वर्ग, जाति, लिंग, नस्ल, भाषा और संस्कृति के लिहाज से प्रभुत्व (वर्चस्व) और मातहती के संबंधों को बयाँ किया।[76]

74. गेल ओम्वेट (1994) वही : 55.
75. विनय गिडवानी (2009): 66.
76. ज्ञान प्रकाश (1994): 1475-90.

दरअसल, सबाल्टर्न शब्द एक तरफ़ पहचान को लेकर समूहों के बीच तनाव को पारिभाषित करता है, वहीं दूसरी ओर इस बात की महत्त्वपूर्ण समझ भी पेश करता है कि सामाजिक संबंधों के एक निश्चित ढाँचे में किस तरह से सत्ता, मातहती–अधीनीकरण और अन्य इकाइयों का खाका तैयार होता है। रणजीत गुहा ने सबाल्टर्न को अपेक्षाकृत ढीले तरीके से पारिभाषित किया, उनके अनुसार आबादी का वह हिस्सा, श्रमिक वर्ग, किसान और अधीनस्थ वर्ग– जो उच्च या संभ्रात वर्ग का हिस्सा नहीं है।[77] इससे आगे सबाल्टर्नवाद (सबाल्टर्नीटी) को आधिपत्य के साथ जोड़ा गया, दक्षिण एशियाई समाज में सबाल्टर्न का उपयोग आधिपत्य के सामान्य लक्षणों से जुड़े नाम के रूप में किया जाता है– चाहे इसे वर्ग, जाति, उम्र, लिंग और दफ्तर या किसी अन्य तरीके से अभिव्यक्त किया जाए।[78] इसे उच्च वर्ग के साथ द्विभाजी रिश्ते में रखा गया, क्योंकि द्विपक्षीय संबंधों में अधीनस्थ/सहायक एक आवश्यक शब्द है, जबकि दूसरा पहलू वर्चस्व का है।[79]

इस तरह से सबाल्टर्न अध्ययन समूह के रूप में बीसवीं सदी के आठवें दशक में दक्षिण एशियाई इतिहास और समाज का अध्ययन करने वाले इतिहासकारों का एक समूह अकादमिक परिदृश्य पर उपस्थित हुआ, जिसने सबाल्टर्न अध्ययन ग्रंथमाला के अंतर्गत समूहबद्ध होकर इतिहास की एक समांतर वैकल्पिक धारा को विकसित करने का दावा किया। 1982 से 1999 तक दस खण्डों में ऑक्सफ़ोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस से प्रकाशित सबाल्टर्न अध्ययन शृंखला में औपनिवेशिक भारत के इतिहास को जहाँ विनिर्मित करने का प्रयास किया गया वहीं भारत में राष्ट्र के भीतर एक बड़े समूह के रूप में मुख्यधारा से विवर्जित सबाल्टर्न अस्मिता ने जातीयता की अवधारणा को भी प्रश्नबद्ध किया। सबाल्टर्न अध्ययन में लोकवृत्त के माध्यम से इतिहास के अनजाने, अनदेखे सत्य को जानने, समझने का प्रयास किया गया। माना गया कि लोकगाथा, लोकगीत और लोकस्मृतियाँ भी पारंपरिक इतिहास लेखन के समानांतर विवर्जित धारा को विकसित करने एवं निम्नजन के कर्म और चेतना तक पहुँचने का एक माध्यम हो सकती हैं।

---

77. रणजीत गुहा (1982a &1982b).
78. रणजीत गुहा (1982a) वही.
79. रणजीत गुहा (1982b) वही.

काफ़ी लंबे समय तक इतिहास वही माना जाता था जो शक्तिशाली, प्रसिद्ध और धनवान लोग सोचते और करते थे। यह ऊपर से इतिहास जैसी बात थी। साधारण लोग जो सोचते थे और करने की कोशिश करते थे उसे महत्त्वहीन समझा जाता था और इतिहास का हिस्सा नहीं माना जाता था। नीचे से इतिहास, सामाजिक इतिहास में इतिहासवृत्त की अवधारणा है जो राजनैतिक और अन्य नेताओं नहीं बल्कि साधारण लोगों के परिप्रेक्ष्य पर ध्यान केंद्रित करती है। नीचे से इतिहास के लिए निचले पायदान पर खड़े लोगों को इतिहास में शामिल करने और उसे मानवीय बनाने का प्रयास किया गया है। नीचे से इतिहास शब्दों को फ्रांसीसी इतिहासकार जॉर्ज लेफेब्रे ने गढ़ा। उसने फ्रांसीसी क्रांति के दौरान किसानों की भूमिका को उजागर किया। अध्ययन के एक क्षेत्र के रूप में सामाजिक इतिहास के उदय और विशेष रूप से नीचे से इतिहास या साधारण लोगों के इतिहास का श्रेय काफ़ी मात्रा में जार्ज रड, ई.पी. थॉमसन, ई. जे. हाब्सबाम और ब्रिटेन के अन्य विद्वानों को जाता है।

1980 के दशक के प्रारंभ में जब नीचे से इतिहास का लेखन, भारत में इतिहास लेखन पर अपना प्रभाव डाल रहा था उसी समय इतिहासकारों का एक समूह जिसका मानना था कि राष्ट्रवादी परिप्रेक्ष्य को अंगीकार करने से भारत के इतिहास का दायरा संकुचित हो रहा है, ने सबाल्टर्न अध्ययन समूह शुरू किया। सबाल्टर्न शब्द एंटोनियो ग्राम्सी द्वारा अपनी प्रिजन नोटबुक में सर्वहारा के गुणगान से लिया गया है। सबाल्टर्न अध्ययन समूह ने इसे सर्व समावेशी शब्द के रूप में लिया और इसमें उन सबको शामिल किया जिन्हें वे दलित मानते थे : सर्वहारा, किसान, स्त्री, जनजाति, दलित लोग। यह कहा गया कि भारतीय राष्ट्रवाद के इतिहास लेखन पर काफ़ी समय तक इलीटवाद का प्रभुत्व रहा। सबाल्टर्न स्टडीज़ ने मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य पर आधारित अध्ययनों सहित उस सारे पूर्ववर्ती लेखन को इलीट इतिहास लेखन माना जो जन राजनीतिक चेतना और गतिशीलता को एक इलीट उपलब्धि मानता है। इस विचारधारा का मानना है कि इस तरह का संकीर्ण इतिहास लेखन भारतीय राष्ट्रवाद को प्रतिबिंबित नहीं कर सकता। क्योंकि यह इलीट से अलग लोगों द्वारा राष्ट्रवाद के निर्माण और विकास में किए गए योगदान की उपेक्षा कर देता है। बताया गया है कि अनैतिहासिक इतिहास लेखन में लोगों की राजनीति को साफ तौर पर छोड़ दिया गया है। सबाल्टर्न स्टडीज़

के अनुसार पूरे उपनिवेश काल के दौरान इलीट राजनीति के क्षेत्र के समांतर राजनीति का एक और क्षेत्र था : मुख्य कर्ता स्वदेशी समाज के प्रभावशाली समूह या औपनिवेशिक प्राधिकारी नहीं बल्कि सबाल्टर्न वर्ग और समूह थे जिनमें शहरों और गाँवों की मेहनतकश आबादी अर्थात जनसाधारण थे। यह स्वायत्त क्षेत्र था क्योंकि इसका ना तो मूल इलीट राजनीति में था और ना वह अपने अस्तित्व के लिए उस पर आश्रित था। शोषण और श्रम के अनुभव ने इस राजनीति को बहुत से मुहावरे, मानदंड और मूल्य दिए जो उसे इलीट राजनीति से भिन्न वर्ग बनाते हैं। इसकी एक निरंतर बनी रही विशेषता इलीट प्रभुत्व का प्रतिरोध है।

सबाल्टर्न स्टडीज़ में कहा गया है कि सबाल्टर्न ने समय-समय पर बुर्जुआ द्वारा शुरू किए गए राजनीतिक आंदोलनों में हिस्सा लिया लेकिन बुर्जुआ ने राष्ट्र के बारे में बात नहीं की। इलीट और सबाल्टर्न राजनीति के दो तत्वों के आपस में मिलने से विस्फोटक स्थितियाँ पैदा हो गईं जिससे स्पष्ट होता है कि अपने उद्देश्यों के लिए संघर्ष के वास्ते इलीट द्वारा लामबंद किए गए जनसमूह ने स्वयं को उनके नियंत्रण से मुक्त किया और उच्च वर्गों द्वारा शुरू किए गए अभियानों पर जन या लोक राजनीति की छाप छोड़ी। बुर्जुआ नेतृत्व अनुनय या दबाव के द्वारा अपने आधिपत्य को कायम नहीं कर सका, क्योंकि किसानों और मजदूर वर्गों ने इसका लगातार विरोध किया। जनलामबंदी (मोबिलाइजेशन) और कार्रवाई की उनकी भिन्न शैली थी। जिसे राष्ट्रवादी आंदोलन अपना नहीं सका। सबाल्टर्न स्टडीज़ का इस बात पर बल था कि अंतत: भारतीय राष्ट्र शासन में परिणित होने वाला राष्ट्रीय आंदोलन इलीट का खोखला राष्ट्रवाद था। वास्तविक राष्ट्रवाद जनसमूह का था। सबाल्टर्न समूह शासन अभिलेखागारों और सार्वजनिक संस्थाओं जो उनके विचार से प्राथमिक रूप में शासक वर्गों की सुरक्षा और नियंत्रण संबंधी जरूरतों के कारण खड़े किए गए थे, से सामग्री पर आधारित इतिहास लेखन की सीमाओं पर बल देते रहे हैं। अब वे जन अभिलेखागारों में उपलब्ध वैकल्पिक स्रोत सामग्री का अध्ययन कर रहे हैं जो सब समाजों में मौजूद है। इतिहासकारों के पास कहानीकारों और गायकों के वृत्तांत और मौखिक जनस्मृतियाँ मौजूद हैं। धार्मिक जीवन, कर्मकांड, विश्वासों और प्रार्थनाओं का पूरा भंडार है। यह सबसे पुराना और सर्वाधिक उपेक्षित अभिलेखागार है। लेकिन इतिहासकारों का कहना है कि इनकी भी जाँच की जानी चाहिए इन्हें पारदर्शी सत्य का ऐसा प्रत्यक्ष

वाहक नहीं माना जा सकता जिसके सबाल्टर्न समूह को प्रमाणित स्वर और इतिहास के लिए सीधा स्रोत मिल जाएगा। वे श्रोतों को सत्य के भंडार के रूप में नहीं देखते। बल्कि विशेष दृष्टिकोण के प्रभुत्व को स्थापित करने में लगे विरोधी इतिहासों के स्थलों के रूप में देखते हैं।

प्रारंभिक अध्ययनों में सबाल्टर्न समूह के इतिहासकारों ने किसानों और आदिवासियों के संघर्षों पर ध्यान केंद्रित किया। कोलकाता के जूट मिल मजदूरों पर दीपेश चक्रवर्ती की ''रीथिंकिंग वर्किंग क्लास हिस्ट्री'' के अपवाद को छोड़कर शहरी आंदोलनों पर कुछ खास नहीं लिखा गया। उनके दृष्टिकोण की विशेषता का यह तर्क था कि सबाल्टर्न संघर्ष बकौल उनके इलिट राष्ट्रवाद की उपज ना होकर स्वतंत्र संघर्ष थे और उनसे कहीं अधिक रेडिकल थे। कुछ उदाहरण दिए गए हैं। सबाल्टर्न स्टडीज़ के पहले अंक में ज्ञान पांडे 1921–22 में अवध में किसानों के संघर्ष के अपने ब्यौरे में इस बात को उजागर करते हैं कि कांग्रेस ने इसे शुरू नहीं किया। उल्टे उसे क्षति पहुंचाने का प्रयास किया, क्योंकि किसान भारतीय जमीदारों को निशाना बना रहे थे और कांग्रेस उन्हें अंग्रेजों के खिलाफ अपने अखिल भारतीय गठजोड़ में शामिल करना चाहती थी। 1921–22 में गोरखपुर के किसानों के बीच गाँधी की छवि के शाहिद अमीन द्वारा अन्वेषण से पता चलता है कि जनसमूह के लिए महात्मा वास्तव में क्या थे और किस प्रकार पहले से ही मौजूद विश्वास पैटर्न के आधार पर महात्मा की कृषक छवि तैयार की गई। गाँधी की चमत्कार पूर्ण कार्य शक्तियों से जुड़ी अफवाहों के अध्ययन से पता चलता है कि राष्ट्रवादी नेताओं के संदेशों को किस प्रकार स्वीकार कर लिया जाता था। 1920 और 1950 के दौरान कलकत्ता जूट कर्मचारियों के बीच मजदूर संघवाद के बारे में दीपेश चक्रवर्ती का लेख विरोधाभासों को दर्शाता है। अप्रभावी यूनियन के साथ-साथ मजदूरों में मिलिटेंसी। इस विरोधाभास का कारण श्रेणीबद्ध संस्कृति और रेडिकल विचारधारा में तालमेल ना होना बताया गया है। हाल के वर्षों में सबाल्टर्न स्टडीज़ के इतिहास लेखन के तत्त्वों में काफ़ी परिवर्तन आया है। उसका ध्यान वर्ग से हटकर समुदाय, भौतिक विश्लेषण से संस्कृति, मन और पहचान को महत्त्व प्रदान करने पर आया है। इसका विस्तार भी किया गया है और अब वह पूरी तरह से केवल सबाल्टर्न विरोधों के रूपों और घटनाओं तक ही सीमित नहीं है बल्कि उसमें अब औपनिवेशिक बुद्धिजीवी

वर्ग की राजनीति को भी शामिल किया गया है। महत्त्वपूर्ण ये है कि इसमें परिवर्तन का औचित्य बताते हुए दीपेश चक्रवर्ती का तर्क है कि इलीट और प्रभावशाली समूहों का भी सबाल्टर्न अतीत हो सकता है। सबाल्टर्न स्टडीज़ का अनुकरण करते हुए तर्क दिया गया है कि उनकी अधीनस्थता का संघटन उनके दिमाग के उपनिवेशीकरण के जरिए हुआ जिसने उनकी आत्मपरकता का निर्माण किया।

उपनिवेशोत्तर परियोजना के बड़े तत्त्व के रूप में सबाल्टर्न स्टडीज़ का सरोकार भारतीय इलीटवाद की विफलताओं को समझना है। इन मातहत औपनिवेशिक इलीटों के राष्ट्रवाद को समझने में सबसे बड़ा योगदान पार्थ चटर्जी ने किया है। उन्होंने अपनी पुस्तक ''नेशनलिस्ट थॉट एंड दी कॉलोनियल वर्ल्ड ए डेरिवेटिव डिसकोर्स'' ने प्रारंभ में इस बात पर बल दिया था कि राष्ट्रवाद अनिवार्य रूप से अलग लेकिन अमौलिक तत्त्व था। इन देशों में युरोपीय शासन क्यों आया, इस शासन को अवैध क्यों माना गया, शासन का अधिक वैध रूप क्या हो सकता है, चटर्जी के अनुसार गैर पश्चिमी राष्ट्रवाद ने इन सवालों का उत्तर विचारों के जिस ढाँचे के भीतर देने का प्रयास किया उसे पूरी तरह से आधुनिक पश्चिमी राजनीतिक विचारधारा और सामाजिक इतिहास से लिया गया है।[80] इस सिद्धांत को उनकी बाद की पुस्तक ''दि नेशन एंड इट्स फ्रेगमेंट्स'' में विकसित किया गया है जहाँ चटर्जी राष्ट्रवादी कल्पना के 'शक्तिशाली सांस्कृतिक उत्पादों' पर नज़र डालते हैं जो युरोप और अमेरिका के साथ एकरूपता नहीं बल्कि भिन्नता पर आधारित है। उनका तर्क है कि राष्ट्रवाद को शासन के केवल राजनीतिक क्षेत्र में देख कर विद्वानों ने गलती की है। इस क्रम में उन्होंने दर्शाया है कि किस तरह से भारत में उपनिवेश विरोधी राष्ट्रवादियों का समूह भी एक साम्राज्यिक ताकत है। क्योंकि इन्होने राजनीतिक युद्ध शुरू होने से पहले ही औपनिवेशिक समाज के भीतर अपनी प्रभुसत्ता की घोषणा कर दी थी। इन राष्ट्रवादियों ने अपने शब्दों में संस्कृत के आध्यात्मिक क्षेत्र का अपना दावा पेश किया और नई राष्ट्रवादी आधुनिकता का निर्माण करना चाहा। चटर्जी ने दर्शाया है कि किस प्रकार विभिन्न प्रयासों को राष्ट्रीय संस्कृति के सदृश रूपों में खपाने की इस प्रक्रिया, जिसका अंत में उपनिवेशोत्तर शासन ने पर्यवेक्षण किया, धर्म, जाति, वर्ग और लिंग की

80. पार्थ चटर्जी (1986) वही.

शक्ल में अधीनस्थ समूहों की पहचानों और आकांक्षाओं को अपनाया भी गया और उनका दमन भी किया गया। 1947 के बाद प्रगति और आधुनिकता के नाम पर राष्ट्रवादियों ने भारतीय समाज पर दमनकारी केंद्रीकृत शासन थोप दिया।[81]

सबाल्टर्न स्टडीज़ की कई तरह से आलोचना भी की गई है। इनमें से एक के अनुसार यह स्पष्ट करने का कोई प्रयास नहीं किया गया है कि यह अध्ययन किस मायने में नीचे से इतिहास के अन्य रूपों में भिन्न है। मौजूदा अद्वितीय सबाल्टर्न आंदोलन से पहले रेडिकल समाजवादी या मार्क्सवादी और नारीवादी इतिहास की समृद्ध परंपरा रही है जिसके योगदान की पूरी तरह से अनदेखी कर दी गई है। सबाल्टर्न श्रेणी को तात्त्विक रूप देने और कमोबेश निरपेक्ष स्थिर और संदर्भहीन अर्थ और विशेषताएं आरोपित करके स्वायत्त बनाने की भी आलोचना की गई है। ग्राम्सी की विचारधारा में राजनीति के अलग क्षेत्र पर बल्कि निर्दिष्ट सामाजिक संरचना में व्याख्या परस्पर अनुकूलन और अंतर्निहितता सामान्य मूलों पर बल दिया है। गैर-सबाल्टर्न मध्यस्थता या असंगठित क्षेत्र और संगठित क्षेत्र के बीच जैविक संबंधों को पूरी तरह से नकारकर सबाल्टर्न परिणामों की स्वायत्तता का बढ़ा चढ़ाकर बखान किया गया है। एक अन्य आलोचना यह भी है कि यह अध्ययन प्रगतिशील सामाजिक इतिहास से पहले की प्रतिबद्धता से हट गए हैं। वे या तो सबाल्टर्न का तत्त्वीकरण कर रहे हैं या उपनिवेशोत्तर बहस विधि से प्रतिबद्ध होकर सबाल्टर्न मार्ग को पूरी तरह से छोड़ रहे हैं। नीचे से प्रतिरोध के स्थान पर समूह उत्तरोत्तर ब्रिटिश औपनिवेशिक बहस की ओर मुड़ गया है। प्रबोधननोत्तर औपनिवेशिक शक्ति के दुर्दमनीय स्वरूप के बारे में सबाल्टर्न अध्ययन के विचारों को यंत्रवत औपनिवेशिक बुद्धिजीवी वर्ग पर लागू कर दिया गया। उन्हें शक्तिहीन और केवल अमौलिक बहस में सक्षम बताया गया। इस परिवर्तन से इन अध्ययनों ने राजनीतिक संस्थागत या बौद्धिक इतिहास के अपेक्षाकृत परंपरागत इलीटवादी कामों के अध्ययन का रूप ले लिया। इस प्रकार रेडिकल सामाजिक इतिहास का विध्वंस हो गया है और उसका स्थान सांस्कृतिक अध्ययनों ने ले लिया है।

सबाल्टर्न इतिहासकारों ने यह धारणा प्रस्तुत की कि औपनिवेशिक दासता से ग्रस्त या उबर चुके राष्ट्र में राष्ट्रवादी इतिहास का लिखा जाना जातीय गौरव

81. पार्थ चटर्जी (1993) वही.

का प्रतीक बन जाता है। राष्ट्रवादी इतिहासकारों द्वारा उपनिवेश विरोधी चेतना के निर्माण हेतु समृद्ध विरासत को पुनर्जीवित करने का ही प्रयास किया जाता है। इस विचारधारा ने जातीयता और राष्ट्र की मूलभूत अवधारणा पर प्रश्नचिह्न लगा दिया। इन्होंने समस्त राष्ट्रवादी इतिहास लेखन को अभिजनवादी कहकर अपर्याप्त घोषित कर दिया, साथ ही स्वातंत्रोत्तर भारत के इतिहासकारों के समक्ष चुनौती रखी कि वे औपनिवेशिक भारत और स्वतंत्रता संघर्ष के इतिहास को सबाल्टर्न इतिहास के रूप में अर्थात् उस साधारण जनता के दृष्टिकोण से प्रस्तुत करें, जिनकी राष्ट्रीय चेतना और प्रतिरोध का नेतृत्व हमेशा अभिजात प्रभावशाली राष्ट्रीय नेताओं द्वारा किया गया। प्रसिद्ध सबाल्टर्न अध्येता रंजीत गुहा, पार्थ चटर्जी आदि ने भारत में राष्ट्र की अवधारणा को भ्रामक विचार माना। उनकी यह धारणा बेनेडिक्ट एंडरसन की कल्पित समुदाय की अवधारणा से प्रभावित है। बेनेडिक्ट एंडरसन ने 1893 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'इमेजिण्ड कम्युनिटीज' में राष्ट्रवाद या जातीयता को प्रश्नांकित करते हुए उसे कल्पित समुदाय के तौर पर व्यवहृत किया। ऐण्डरसन नृजातीय भावना (एन्थ्रोपोलोजिकल स्प्रिट) के साथ राष्ट्र को कल्पित राजनीतिक समुदाय (सीमित और स्वायत्त दोनों तरह से स्वभावत: कल्पित) परिभाषित करने का प्रस्ताव रखते हैं। एंडरसन इसके कारणों की व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि यह कल्पित इसलिए भी है कि छोटी से छोटी जाति के सदस्य भी अपने सभी साथी सदस्यों को कभी जान, सुन या उनसे मिल नहीं पाएँगे। फिर भी प्रत्येक के मन में उनके आपसी जुड़ाव का बोध रहता है।[82] पार्थ चटर्जी ने माना है कि भारत का एक अखण्ड इतिहास लिखने की जगह उसके खण्डों, टुकड़ों का इतिहास लिखा जाना चाहिए। सबाल्टर्न स्टडीज़ नाम से पुस्तकों की एक शृंखला जो बीसवीं शताब्दी के अंतिम दो दशकों में प्रकाशित हुई है ने आधुनिक भारत पर इतिहास लेखन में लगभग एक पूरी तरह नई धारा का आरंभ किया है। सबाल्टर्न स्टडीज़ विविध और एक दूसरे से असम्बद्ध विषयों पर लेखों के संकलन हैं। उन सबका एकमात्र विषय निम्न वर्गों का समावेशन है। सबाल्टर्न स्टडीज़ पहचान पर आधारित एक वैकल्पिक विमर्श को विकसित करने पर बल देता है और यही मुख्य बात सबाल्टर्न स्टडीज़ के विमर्श में है।

सबाल्टर्न स्टडीज़ के अंतर्गत सबाल्टर्न इतिहास लेखन के माध्यम से ऐतिहासिक

82. बेनेडिक्ट एंडरसन (2015).

शोध या पड़ताल को भारतीय समाज के मूल आधारों तक लाने का प्रयास कर रहे हैं, जिनको इतिहास एवं समाज विज्ञानों में अभी तक जगह नहीं मिल पायी थी। सबाल्टर्न इतिहास लेखन ने न केवल पारंपरिक इतिहास लेखन बल्कि मार्क्सवादी, राष्ट्रवादी एवं औपनिवेशिक इतिहास लेखन के दृष्टिकोण के लिए भी चुनौती पैदा कर दी है। सबाल्टर्न इतिहास लेखन उन अनगिनत लिपिबद्ध विवरणों को अँधेरे और सीलन भरे कमरों में रखी धूल भरी अलमारियों से बाहर निकालकर दुनिया के सामने ला रहा है जो आस्था और संघर्ष की अनेक कथाओं के साक्षी रहे हैं। इसने ऐतिहसिक शोध के समक्ष उन प्रश्नों को पुनः खड़ा कर दिया है जिनके बारे में लम्बे समय से विश्वास किया जाता रहा है कि उनके समाधान ढूढ़ लिए गए हैं इसने अभिजात वर्गीय एतिहासिक बोध कार्य के लिए अब तक अत्यंत निम्न निकृष्ट मनुष्यों एवं समूहों को पुर्नस्थापित किया है। सबाल्टर्न इतिहास लेखन के माध्यम से संघर्ष के इन अंगो की इन गिरहों को परस्पर संयोजित किया जा सकता है, और मुख्यधारा के इतिहास लेखन में पिरोया जा सकता है, जिससे वह समृद्ध और परिपुष्ट हो सके।[83] इस इतिहास लेखन धारा की शुरुआत मार्क्सवादी बुद्धिजीवी रणजीत गुहा द्वारा की गयी थी। रणजीत गुहा एक समय भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी से जुड़े थे। वे चीन की सांस्कृतिक क्रांति के क्रांतिकारी विचार से बहुत प्रभावित थे। 1960 के बाद उन्होंने अपने को भारत के माओवादियों से जोड़ लिया जो स्वतंत्र भारत को एक अर्द्ध-सामंती और अर्द्ध-औपनिवेशिक राज्य मानते थे। सबाल्टर्न धारा की परियोजना इस प्रस्ताव को सत्य ठहराने के प्रयास से व्युत्पन्न और प्रेरित थी कि 'औपनिवेशिक सत्ता की संरचना को वर्चस्व रहित प्रभुत्व मानने की अंधदृष्टि की कीमत हमें एक ऐसी समग्र अंतर्दृष्टि की चाहत के रुप में चुकानी पड़ रही है जो औपनिवेशिक सत्ता की जगह लेने वाली शक्ति को भी वर्चस्व रहित प्रभुत्व मानती हो।[84]

हालाँकि, उसके बाद से अब तक सबाल्टर्न स्टडीज़ में बहुत बदलाव आया है। सबाल्टर्न समूह द्वारा रणजीत गुहा को मुख्य बौद्धिक सूत्राधार माना गया है और उन्होंने ही आरंभिक छह खंडों का संपादन किया है। वे 'औपनिवेशिक भारत में कृषक असंतोष के बुनियादी पहलू' पुस्तक के लेखक हैं जिसे भारतीय

83. ई.श्रीधरन (2012) : 448-452.
84. रणजीत गुहा (1995) वही : 307.

क्रांतिकारी इतिहास लेखन की पीढ़ी का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण काम माना जाता है। सबाल्टर्न स्टडीज़ की शुरुआत भारत के संदर्भ में 'निम्नजनों के इतिहास' की अवधारणा को अपनाने के प्रयासों से शुरु हुई। इस शोध परियोजना में 'सबाल्टर्न' अधीनस्थ शब्द इतावली मार्क्सवादी विद्वान ग्राम्सी के चिंतन से लिया गया है। इस शब्द का प्रयोग समाज के ऐसे निशक्त समूहों को संकेतित करने के लिए किया गया है जहाँ वर्ग विभेदीकरण, शहरीकरण और औद्योगिकरण की प्रक्रियाएं बहुत धीमे घटित हो रही हैं। सबाल्टर्न लेखकों के लिए इतिहास लेखन में 'संस्कृति' और 'खंड' (फ्रेगमेंट) पदों के अर्थ स्रोत भी ग्राम्सी हैं।

सबाल्टर्न स्टडीज़ या निम्नवर्गीय इतिहास लेखन की आलोचना

निम्नवर्गीय प्रसंग की व्यापक तौर पर आलोचना हुई। इस परियोजना के आरंभ से ही मार्क्सवादी, राष्ट्रवादी और कैम्ब्रिज स्कूल के इतिहासकारों के अलावा किसी भी स्कूल से असंबद्ध इतिहासकारों ने इसकी आलोचना की है। इसके सभी दृष्टिकोण, चाहे स्वायत्त निम्नवर्गीय क्षेत्र की बात हो या विमर्श विश्लेषण की, निरीक्षण और आलोचना के दायरे में आ गए। सोशल साइंटिस्ट में कई आलोचनाएँ प्रकाशित हुईं। एक आलोचना में जावेद आलम ने निम्नवर्गीय प्रसंग के इस दावे की आलोचना की कि निम्नवर्ग स्वायत्त होता है। आलम के अनुसार निम्नवर्गीय राजनीति की स्वायत्तता विद्रोही कार्यवाही की निरंतरता को आधार बनाकर की गई और इस प्रतिरोध की एक लगातार चलने वाली प्रवृत्ति कृषकों के नज़रिये से विद्रोह की प्रवृति पर आधारित है। इस स्वायत्त कार्य का परिणाम चाहे सकारात्मक हो या नकारामक इसमें सबाल्टर्न इतिहासकारों की कोई रुचि नहीं है। ''उग्रवाद की ऐतिहासिक दिशा का महत्त्व दोयम दर्जे का है। यहाँ महत्त्वपूर्ण इसकी स्वत: स्फूर्तता और आन्तरिक रूप से इसके अन्दर पैदा होने वाली ऊर्जा और गति है। इस प्रकार के सैद्धांतिक ढांचे के अंतर्गत तर्क के परिणाम को अगर हम आगे बढ़कर देखें तो इसका मतलब यह हुआ कि इससे कुछ फ़र्क़ नहीं पड़ता कि इसका रूख साम्प्रदायिक हिंसा की ओर है या फिर सामंत विरोधी क्रिया की ओर।''[85]

अपने एक समीक्षात्मक लेख में संगीता सिंह और अन्य विद्वानों ने किसान

85. जावेद आलम (1983) : 43-54.

विद्रोह की स्वत: स्फूर्तता को गलत ढंग से पेश करने के लिए रणजीत गुहा की आलोचना की थी। इस आलोचना में यह कहा गया कि गुहा स्वत: स्फूर्तता को परिवर्तित कार्यवाही का पर्याय मान बैठे। चूँकि स्वत: स्फूर्तता परंपरागत चेतना पर आधारित कार्यवाई होती है। इसलिए उनके अनुसार गुहा का पूरा जोर स्वत: स्फूर्तता को एक राजनीतिक प्रविधि के रूप में पुर्नस्थापित करने पर था। इसके अलावा, विद्रोहियों की चेतना में धर्म की प्रमुखता पर बल देकर गुहा ने अंग्रेजों के आधिकारिक दृष्टिकोण का ही समर्थन किया था जो विद्रोह की अतर्कसंगतता पर बल देते थे और उपनिवेशवाद को ग्रामीण तथा कबीलाई समुदायों के सामाजिक और आर्थिक दांचे में विघटनकारी भूमिका से मुक्त करते हैं।[86] रंजीत दास गुप्ता के अनुसार निम्नवर्गीय क्षेत्र की कोई निश्चित परिभाषा नहीं है। इसके अलावा सबाल्टर्न इतिहासकार टकराव और प्रतिरोध के क्षणों पर ध्यान केंद्रित करते हैं, और अपने लेखन में निम्नवर्गों की ओर सहयोग और चुप्पी की मानसिकता को काफ़ी हद तक नज़रअंदाज़ करते हैं। संभ्रांत और निम्नवर्ग के बीच के सख्त विभाजन में अन्य पदानुक्रम विभाजन को नज़रअंदाज़ किए जाने की भी आलोचना की गई है।[87] डेविड लडेन ने एक सम्पादित पुस्तक की प्रस्तावना (2001) में लिखा है कि 'यहाँ तक कि निम्नवर्गीय प्रसंग के प्रशंसक पाठकों को भी दो चीजें खलती हैं। पहली और महत्त्वपूर्ण कमी यह खलती है कि इसमें 'संभ्रांत' और 'निम्नवर्ग' की दीवार को सैद्धांतिक विभाजन का आधार बनाया गया है और इसी से निम्नवर्गीयता उभरकर आई है। ऐसा लगता है कि इनके बीच एक पक्की छत डालकर ऊपरी और निचली मंजिल वाली दो मंजिली इमारत बना ली गई हो। इस सख्त द्वैधता के परिणामस्वरूप निम्नवर्गीयता इस सामाजिक ऐतिहासिक यथार्थ से कट गई कि इसमें दो या दो से अधिक मंजिलें हो सकती हैं। दूसरे, चूँकि निम्नवर्गीय राजनीति का संबंध सिद्धांतत: निचली मंजिल से था, यह पूरी राजनीतिक संरचना को चुनौती नहीं दे सकता था। इसने जनान्दोलनों के राजनैतिक इतिहास से निम्नवर्गीय समूहों को संगठित, रूपांतरकारी राजनीति से पृथक कर दिया।[88]

86. संगीता सिंह एवं अन्य (1984) सबाल्टर्न स्टडीज़-2 : 3-41.
87. रंजीत दास गुप्ता (1985-1986) : 383 -390.
88. डेविड लुडेन (2002).

रोजलिंड औहैनलन ने अपने लेख में सबाल्टर्न स्टडीज़ (निम्नवर्गीय प्रसंग) के आरंभिक खंडों की व्यापक आलोचना की है। उनका कहना है कि 'सबाल्टर्न इतिहासकारों का दावा है कि इतिहास-लेखन में उन्होंने नया मार्ग प्रशस्त किया है परन्तु जिस रूप में निम्न वर्गों का आविर्भाव हुआ और उनके योगदान सामने आए हैं उससे वे उदारवादी मानववाद के प्रतिरूप नज़र आते हैं।' सबाल्टर्न इतिहासकारों, खासतौर पर रणजीत गुहा, दीपेश चक्रवर्ती, स्टीफेन हेन्निघम और सुमित सरकार के लेखन में सामूहिक परंपराओं और मातहत समूहों की संस्कृति को 'समयातीत आदिमपन' के रूप में देखने का दृष्टिकोण होता है। उनके अनुसार इस परियोजना के मूल में अनिवार्य तौर पर एक पूर्वाग्रह और आत्मनिर्धारण का तत्त्व पाया जाता है। इसमें अनुभव की अपरिवर्तनीयता, अजेयता, और स्वायत्तता पर जरूरत से ज़्यादा बल दिया गया है। इसके आधार पर एक आदर्श गढ़ लिया गया है, खासतौर पर गुहा की अभिधारण में, जिसमें किसान आंदोलन की परंपराओं को स्वायत्त रूप में देखने का प्रयास किया गया। उन्होंने ऐसा कई बार किया और शुद्ध 'हीगेलवाद की ओर बढ़ते प्रतीत होते हैं'।[89]

क्रिस्टोफर बेली ने 'रैलिंग अराउंड द सबाल्टर्न' में इस परियोजना की मौलिकता के दावे पर ही सवाल खड़ा कर दिया है। उनके अनुसार सबाल्टर्न इतिहासकारों ने 'नए सांख्यिकी सामग्री' और देशी दस्तावेजों का उपयोग नहीं किया जिनके आधार पर वे नया इतिहास लिखने का दावा कर सकते थे। ऐसा लगता है कि उनका योगदान है कि उन्होंने सरकारी दस्तावेजों को फिर से पढ़ा और आन्तरिक आलोचना को प्रशस्त किया। कुछ समय ही पहले की और समकालीन जनोन्मुखी इतिहास लेखन और निम्नवर्गीय प्रसंग के बीच केवल शब्दों और लोकलुभावन मुहावरों का अंतर है। बेली के अनुसार सबाल्टर्न दृष्टि की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि यह भी 'सभ्रांतवाद' की तरह विस्तृत फलक वाले इतिहास की अवहेलना करता है।[90]

इस परियोजना से जुड़े इतिहासकार सुमित सरकार ने उत्तर-उपनिवेशवाद की ओर इसके बढ़ते कदम की आलोचना की है। अपने दो लेखों, 'द डिकलाइन

89. रोज़ालिंड ओ'हलन (1988) : 189-224.
90. क्रिस्टोफर बेली (1988) :110-120.
91. सुमित सरकार (1997): 82-108.
92. सुमित सरकार (1994) : 205-224.

ऑफ़ द सबाल्टर्न इन सबाल्टर्न स्टडीज़'[91] और 'ओरिएन्टलिज्म रिविजिटेड'[92] में उन्होंने लिखा है कि इस परिवर्तन के पीछे कई कारण रहे हैं, पर बौद्धिक रूप से यह दोनों हाथ में लड्डू रखने का प्रयास है। जिसमें दूसरे की मूलवाद, प्रयोजनमूलकता और अन्य कमजोरियों के लिए आलोचना की जाती है। जबकि स्वयं उन्हीं गलतियों को दोहराया जाता है। इसके अलावा इस प्रकार के कार्यों से भारतीय इतिहास को कोई खास लाभ नहीं हुआ। वस्तुत: इसमें मौलिकता का ढोल खूब पीटा गया। परन्तु उपनिवेशवादी विमर्श की आलोचना पुराने राष्ट्रवादी दृष्टिकोण से तनिक भी अलग नहीं था। पुराने कथनों को नई शब्दावली में दुहराया गया और वह भी उतनी कुशलता से नहीं। बाद की सबाल्टर्न परियोजना एक प्रकार की तीसरी दुनिया के राष्ट्रवाद के रूप में सामने आई और बाद में उत्तर आधुनिकता और विखंडीकरण की ओर बढ़ी। वस्तुत: बाद का निम्नवर्गीय प्रसंग आशीष नन्दी द्वारा समर्थित नव-परंपरावादी और आधुनिकता विरोधी विचारधारा के काफ़ी करीब पहुँच गया। सुमित सरकार के अनुसार इससे पहले भी इसमें 'सबाल्टर्न' और 'स्वायत्तता' जैसे तत्वों को डालने की मूलवादी प्रवृत्ति दिखाई देती है और इन्हें एक रूढ़ अर्थ और गुण में सीमित कर दिया गया। सुमित सरकार कहते हैं कि सबाल्टर्न इतिहासकारों द्वारा लिखा गया इतिहास समस्याओं से परिपूर्ण है और ऐसा उनके सीमित विश्लेषणात्मक ढाँचे के कारण हुआ, क्योंकि निम्नवर्गीय प्रसंग निम्नवर्गीय स्वायत्तता की साधारण अभिधारणा से पश्चिमी उपनिवेशवादी सांस्कृतिक वर्चस्व की उतनी ही सामान्यीकृत अवधारणा की ओर बढ़ गया।

अपनी आलोचनाओं के बाद सबाल्टर्न इतिहासकारों ने कुछ अंतराल के बाद इन सभी आलोचनाओं का जवाब दिया। दीपेश चक्रवर्ती ने इन आलोचनाओं का उत्तर दिया जो सबाल्टर्न स्टडीज़ खंड-IV में संकलित है। परन्तु इसके पहले, इसी खंड की प्रस्तावना में रणजीत गुहा ने आलोचकों को करारा जवाब दिया और उन्हें 'स्थापित विचारों के वाहक' और 'पुराने जमाने के जंग लगे शिक्षाविद कहा जो अपने उदारवादी और वामपंथी घेरे के भीतर सरकारी सत्य के रखवाले प्रतीत होते हैं।' उन्होंने उन विद्वानों की आलोचना को दृढ़ता से खारिज किया जो पके पकाए विचारों और प्रविधियों को अपनाते हुए लकीर के फकीर बने

93. रणजीत गुहा (1985) वही.

रहे। उन्होंने इसे पागलपन भी करार दिया।[93] दीपेश चक्रवर्ती ने ज़्यादा विस्तार से और तर्कयुक्त जवाब दिया। उन्होंने कुछ समीक्षकों की नीयत पर भी सवाल उठाये। उदाहरण के लिए उन्होंने गुहा के खिलाफ 'हेगेलवाद' और 'प्रत्यक्षवाद' के लगाए गए दोनों ही आरोपों को परस्पर अंतर्विरोधी बताया। यह इसलिए क्योंकि 'आदर्शवाद', 'प्रत्यक्षवाद' आदि को इस लेख में सरल, वर्णनात्मक अर्थों में व्यक्त नहीं किया गया बल्कि इनके द्वारा निन्दात्मक रुख अपनाया गया। औपनिवेशिक संदर्भों और सबाल्टर्न की राजनीति और चेतना पर पड़ने वाले बाहरी प्रभावों को नज़रअंदाज़ करने के आरोप का खंडन करते हुए उन्होंने कहा कि यह तथाकथित 'असफलता' हमारा सचेतन प्रयास है जिसके तहत हम निम्न वर्ग की चेतना के आन्तरिक तर्क को वस्तुगत और भौतिक परिस्थितियों के तर्क में समाहित नहीं करना चाहते थे। उन्होंने कहा कि 'निम्नवर्गीय प्रसंग परियोजना का सबसे प्रमुख उद्देश्य उस चेतना को समझना है जिसके तहत निम्नवर्ग, संभ्रान्त वर्ग से बिलकुल और स्वतंत्र अपनी राजनीति करता है।' इसका कारण यह है जैसा कि सबाल्टर्न इतिहासकारों ने बताया है कि 'राष्ट्रवादी संघर्षों के दौरान जब जनता उसमें शामिल होती थी तो इन आंदोलनों के बारे में उनका अपना नजरिया होता था और वे उस ढंग से काम करते थे।'[94] ज्ञान पांडेय ने अपने लेख 'इन डिफेन्स ऑफ़ द फ्रेगमेंट' में भारत में साम्प्रदायिक दंगों पर किए हुए अधिकांश लेखन के विरोध में तर्क दिया है। उनका कहना है कि भारतीय समाज विभिन्न धार्मिक और जातीय समुदायों में बंटा हुआ है और इसके अलावा कबीलाई समूह हैं, औद्योगिक मजदूर हैं और महिला कार्यकर्त्ता समूह हैं। यह कहा जा सकता है कि ये सभी 'अल्पसंख्यक संस्कृतियों और व्यवहारों को अभिव्यक्त करते हैं। ऐसी उम्मीद की जाती है कि ये राष्ट्रीय संस्कृति की मुख्य धारा में शामिल हो जाएं, ऐसा इसलिए कि उन्नीसवीं शताब्दी से राज्य और राष्ट्र मानव समाज के संगठन सिद्धान्त बन गए।[95] 'द स्माल वायसेज ऑफ़ हिस्ट्री' में रणजीत गुहा ने आधुनिक इतिहास-लेखन को राज्यवादी माना है, उनका मानना है कि ''आमतौर पर इतिहास की समझ राज्यवाद से निर्देशित होती है जो इसी उद्देश्य से अतीत का मूल्यांकन करती है। यह ऐसी परंपरा है जिसका आरंभ इतालवी पुनर्जागरण के दौरान हुए आधुनिक ऐतिहासिक सोच के शुरुआती दौर में हुआ।''[96]

94. दीपेश चक्रवर्ती (1985): 364-376.
95. ज्ञान पांडेय (1997): 1-33.
96. रणजीत गुहा (2010).

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि निम्नवर्गीय प्रसंग और जनोन्मुखी इतिहास लेखन, जिसके प्रणेता हाब्सबाम और थाम्पसन थे, में मुख्यत: तीन अंतर हैं (1) पूँजी के सार्वभौम इतिहासों से सत्ता के इतिहास की सापेक्षित पृथकता, (2) राष्ट्र-रूप की आलोचना, और (3) सत्ता और ज्ञान के बीच के संबंध की खोजबीन। इसी अंतर से उत्तर उपनिवेशवादी इतिहासों के बौद्धिक उद्देश्यों और सिद्धान्त की शुरुआत मानी जा सकती है। इस प्रकार आलोचकों का जवाब देते हुए निम्नवर्गीय इतिहास लेखन परियोजना से जुड़े आलोचकों ने अपने विचारों का समर्थन करते हुए इसे उत्तर-मार्क्सवादी, उत्तर-उपनिवेशवादी और उत्तर-संरचनावादी इतिहास लेखन का हिस्सा भी माना है। इस तरह से निम्नवर्गीय इतिहास लेखन के विद्वानों और आलोचकों दोनों ने ही इस तरह के लेखन में आने वाली कई प्रकार की बाधाओं का जिक्र किया है। सबसे महत्त्वपूर्ण समस्या इसके स्वरूप और श्रोत की उपलब्धता से संबन्धित है। अतीत के अधिकांश दस्तावेजों में शासकीय और दबदबे वाले समूहों के जीवन और कार्यों का उल्लेख मिलता है। जिन दस्तावेजों में साधारण जन का उल्लेख मिलता भी है, उसे भी प्रभुत्वशाली वर्ग या उनसे जुड़े वर्गों ने तैयार किया है। यह अधिकांश प्रशासनिक उद्देश्यों के लिए तैयार किया गया था। मातहत समूहों या आमजन का जिक्र उस युग में ज़्यादा मिलता है जिस युग में उन्होंने शासन के खिलाफ बगावत या विद्रोह किया था। जहाँ भी ये दस्तावेज़ प्रभुत्वशाली वर्ग द्वारा तैयार किए गए थे निम्नवर्गों के प्रति यह सब पूर्वागृह से ग्रस्त भी थे इन्हें गलत तथ्यों के साथ पेश किया गया था। जैसे कि उस समय के पुलिस दस्तावेजों में जन बगावतों और विद्रोहों को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत किया है। इन दस्तावेजों में आमजन की साधारण जिंदगी का कोई भी जिक्र दर्ज नहीं किया गया है। निम्नवर्गीय इतिहासकारों ने यह दावा किया है कि वह जनता का इतिहास लिख रहे हैं। जबकि जनता या जन शब्द का अलग-अलग अर्थ भी होता है। जनता की परिभाषा सांस्कृतिक अंतर्विरोध पर आधारित है और इस जन का निर्माण राजनीतिक शासन से भी तय होता है। निम्नवर्गीय इतिहास कि आलोचना इस बात के लिए भी की गई है कि इसमें जन का सामान्यीकरण और आदर्शीकरण करने की कोशिश की गई है।

जाति प्रश्न और उत्तर-उपनिवेशवाद

भारत से जुड़ी उपनिवेशवादी, राष्ट्रवादी और मार्क्सवादी व्याख्याओं को समझने और विश्लेषण करने पर यह बात स्पष्ट तौर पर समझ में आती है कि इन तमाम विमर्शों में आधुनिकता से जुड़ी बात एक अहम पहलू है। औपनिवेशिक धारणाओं से जुड़ी व्याख्याओं के मुताबिक जाति और धर्म की पुरातनपंथी सोच में फंसा भारतीय समाज आधुनिक युरोप के बिल्कुल उलट था। एक सभ्यता और नए उभरते हुए राष्ट्र के तौर पर भारत के गौरव को वापस लाने के मकसद से राष्ट्रवादियों के लिए पहला काम औपनिवेशिक धारणाओं के तहत पेश किए गए अपमानजनक और निंदापूर्ण पहलुओं के खिलाफ तर्कपूर्ण ढंग से अपनी बात रखना था। हालाँकि, राष्ट्रवादी इतिहासकारों को प्राचीन भारत की राजनीतिक गतिशीलता को पेश करने में काफ़ी मुश्किलें आईं और आखिरी विश्लेषण में राष्ट्रीयता का सवाल और उसका 'समाधान' पेश किया गया। इन तमाम गतिविधियों के बीच भारत आखिरकार दुनिया भर में आधुनिकता के लिए पहल करने वाले देशों में शामिल हो सका। इस कवायद में मार्क्सवादी हस्तक्षेप की अहम भूमिका रही। दरअसल, इसके जरिये राष्ट्रवादी विचारों के कई गैर-जरूरी पहलुओं को खारिज किया गया। हालाँकि, मार्क्सवादी इतिहासकार, देश के लिए मार्क्सवादी नज़रिये से विमर्श तैयार करने में असफल रहे। वे युरोपीय समाज के विकास के बारे में मार्क्स द्वारा चार स्तरों पर की गई व्याख्या से मदद नहीं ले पाए। उदाहरण के तौर पर कोसाम्बी ने जाति व्यवस्था को इतिहास का खंडन (निगेशन ऑफ़ हिस्ट्री) बताया। उनके विश्लेषण में ख़ुद मार्क्स की ऐतिहासिक मान्यताओं पर सवाल उठाने के लिए गुंजाइश नहीं है, ताकि यह बताया जा सके कि इन मान्यताओं के क्या मायने हैं। यही वजह है कि अक्सर ऐसा सुनने को मिलता है कि गैर-युरोपीय देशों, खास तौर पर तीसरी दुनिया से जुड़े देशों के मार्क्सवादी इतिहासकार इन समाजों के पूँजीवाद के इतिहास का सिर्फ अधूरा विश्लेषण ही कर सकते हैं।

इसके अलावा, उत्तर-उपनिवेशवादी अध्ययन से जुड़ी रणनीति बुनियादी विमर्शों के आधार पर दिलचस्प नतीजे पेश कर सकती है। दीपेश चक्रवर्ती द्वारा 'संस्कृति' के सवाल को केंद्र में रखकर सर्वहारा वर्ग के इतिहास की पड़ताल को उदाहरण के तौर पर पेश किया जा सकता है। मार्क्सवादी नज़रिये से तीसरी

दुनिया के देशों का अध्ययन करने के मामले में अक्सर इस सवाल पर गौर नहीं किया जाता है। चक्रवर्ती के मुताबिक, मार्क्स ने पूँजी–श्रम के संबंधों की अपनी व्याख्या को संस्कृति के खास विश्लेषण पर आधारित रखा, ऐसी संस्कृति जिसमें पूरी तरह से परिपक्व बुर्जुआ समाज था और समानता और वैयक्तिकता की धारणाएं सर्वहारा वर्ग की चेतना का अटूट हिस्सा थीं। औद्योगिक क्रांति के दौर के इंग्लैंड के समाज ने उस वक्त मार्क्स को इस तरह की संस्कृति का एक उदाहरण उपलब्ध कराया। जब मार्क्स के सिद्धांतों के आधार पर उन देशों के सर्वहारा वर्ग की चेतना का विश्लेषण किया जाता है, जहाँ बुर्जुआ धारणाएं अभिभावी नहीं हैं, तो क्या होता है? जाहिर तौर पर ऐसे देशों के उदाहरण में भारत भी शामिल है? चक्रवर्ती की थीसिस का शुरुआती बिंदु यही है। उनका कहना है कि भारत के मार्क्सवादी इतिहासकार सर्वहारा–वर्ग की चेतना के विश्लेषण में हमेशा आर्थिक नजरिया अपनाते हैं और 'असमानताओं' व संघर्षों के लिए देश की आर्थिक समस्याओं को जिम्मेदार ठहराते हैं– मसलन सही ढंग से विकास नहीं होना, धन का असमान बँटवारा, नव–उपनिवेशवादी वर्चस्व।[97] इस तरह के विश्लेषण में हमेशा मजदूरों की चेतना को पूँजी के तर्क के हिसाब से देखा जाता है। चक्रवर्ती कहते हैं, 'जाहिर तौर पर जूट कामगारों के लिए खून का रिश्ता, धर्म, भाषा या नस्ल का मामला आर्थिक या भौतिक पहलुओं के मुकाबले ज़्यादा अहम था।' उदारवादी राष्ट्रवादियों या मार्क्सवादी नज़रिये के तहत सर्वहारा–वर्ग की संस्कृति को परंपरागत और सीमित तरीके से देखने की कोशिश की गई है। इसमें पूँजी का गैर–जरूरी तरीके से इस्तेमाल किए जाने के खतरे हैं। चक्रवर्ती ने अपने कार्य 'रीथिंकिंग वर्ल्ड क्लास हिस्ट्री' में यही निष्कर्ष निकाला है। उत्तर–उपनिवेशवादी परियोजना का एक और उदाहरण सबाल्टर्न अध्ययन है। एक दशक से भी ज़्यादा पहले रॉबर्ट यंग ने अपनी किताब 'वाइट माइथोलॉजीज: राइटिंग हिस्ट्री एंड द वेस्ट' में लिखा था कि उत्तर–औपनिवेशिक सिद्धांत में 'इतिहास लेखन के लिए नए तर्क तैयार करने' पर जोर रहा।[98] पाश्चात्य दार्शनिक दायरे में इतिहास में गड़बड़ियाँ हुई हैं, जिसे फ्रेंच दार्शनिक इमैनुएल लेविनस ने इतिहास का साम्राज्यवाद कहा है। हीगल के समय से इतिहास पश्चिमीकरण

97. जाति पर उनके कथन के लिए ए.जे. सैय्यद (1985): 128.
98. रॉबर्ट यंग (1990).

की दिशा में बढ़ा है, इसने कई मानदंडों का उल्लंघन किया है और साथ ही वैकल्पिक तरीकों, अनुभवों और पहचानों को हटाया है। हालाँकि, दूसरे विश्व युद्ध के समय से फ्रैंकफर्ट स्कूल से लेकर फूको तक तमाम युरोपीय दार्शनिकों ने अपने-अपने तरीके से हीगल की व्याख्याओं की आलोचना की है। इतिहास में तथ्यों और सच्चाई के बजाय व्याख्याओं और बयानों पर ज़्यादा जोर दिए जाने को लेकर हुई आलोचनाओं के कारण इतिहास के उत्तर-औपनिवेशिक निरूपण के लिए इतिहासकारों को प्रेरणा मिली और उसके लिए जमीन भी तैयार हुई।[99]

इतिहास की ऐसी रूपरेखा तैयार करने में तार्किकता और उसके वैचारिक धारणाओं पर जरूरत से ज़्यादा जोर दिए जाने का भी खतरा था। इस अवधारणा को तीसरी दुनिया के उन देशों से उधार लिया गया था, जिन्हें नई-नई स्वतंत्रता मिली थी। इन देशों में 'राष्ट्र', 'राज्य', 'नागरिकता', 'विकास' आदि अवधारणाओं को लेकर काफ़ी गतिविधियाँ हुईं, जिसके परिणामस्वरूप देसी अभिजात वर्ग के वर्चस्व को आवरण मिल गया। साथ ही, भावनात्मक और भौतिक तौर पर सबाल्टर्न या गैर-अभिजात समूहों से इस वर्ग की दूरी और बढ़ गई।[100] इन बातों को ध्यान में रखकर किए गए इतिहास लेखन को दक्षिण एशिया में बड़े पैमाने पर सबाल्टर्न अध्ययन के तौर पर जाना जाता है। दीपेश चक्रवर्ती के मुताबिक, 'सबाल्टर्न इतिहास को एक खास ऐतिहासिक स्मृति के दायरे में तैयार किया जाता है। सबाल्टर्न सीधे तौर पर खेतों में काम करने वाला किसान या आदिवासी नहीं होता है जिसकी कल्पना मुख्य धारा का इतिहास लिखने में की जा सकती है। सबाल्टर्न का मामला प्रतिनिधित्व की समस्याओं से जुड़ा होता है।'[101] संक्षेप में कहा जाए तो सबाल्टर्न स्टडीज़ (एसएस) एक ही साथ इतिहास की परतें भी खंगालता है और मौजूदा समय की चीजों की भी पड़ताल करता है। इस परियोजना के बहु-आयामी स्वरूप के बारे में काफ़ी कुछ लिखा जा चुका है। स्वतंत्र भारत के कामकाजी व्यवस्था की खामियाँ सामने आने और दक्षिण एशिया में राष्ट्रवादी और मार्क्सवादी इतिहास लेखन की परंपराओं से मोहभंग होने के

99. ज्ञान प्रकाश (1994) : 1475.
100. रणजीत गुहा (1982): 1.
101. दीपेश चक्रवर्ती (1993) वही : 427.

बाद इसकी शुरुआत हुई थी। सबाल्टर्न स्टडीज़ का पहला खंड 1982 में आया था और उस वक्त इसके सम्पादक रणजीत गुहा थे। देश में इंदिरा गाँधी द्वारा लगाए गए आपातकाल के हटने के महज 7 साल बाद यह अंक आया था। गौरतलब है कि इंदिरा गाँधी निर्वाचित जनप्रतिनिधि की आड़ में तानाशाह बनने की कोशिश कर रही थीं। 'आपातकाल' ने हमें एक ऐसी राजनीतिक विचाराधारा का विद्रूप चेहरा दिखाया, जो बड़े पैमाने पर पूँजीवादी आधुनिकता और राज्यवाद से जुड़ी थी। राज्य की सत्ता का विरोध करने वाली विभिन्न वैचारिक आवाजों को बंद कर झूठे लोकलुभावन वादों के जरिये अपने दमन को छुपाने की इस कवायद ने भारतीय लोकतांत्रिक संस्थानों की कमजोर बुनियादों को उजागर किया। इसमें एक स्पष्ट संदेश था– राष्ट्र–राज्य जनता के हितों का प्रतिनिधित्व नहीं कर रहा था। इसके कल्याणकारी लक्ष्यों (एजेंडे) की हवा निकल चुकी थी और सत्ता और सरकारी एजेंसियों पर पैसे और राजनीतिक संरक्षण हावी होने का दबदबा था।

भारतीय लोकतंत्र के इस संकटपूर्ण दौर में मौलिक इतिहासकारों के लिए राष्ट्रवादी नज़रिये से भारतीय इतिहास लिखने का सिलसिला जारी रखना मुश्किल लग रहा था। हालाँकि, मार्क्सवादी इतिहास लेखन आधुनिकीकरण के लक्ष्य को लेकर पूरी तरह से प्रतिबद्ध था। साथ ही, इसने राष्ट्रवादी इतिहासकारों के एक समान नज़रिये को भी अलग–अलग टुकड़ों में बाँट दिया। इसने भारतीय राष्ट्र–राज्य के 'प्रगतिशील' नज़रिये पर काम किया और 'तर्कसंगत' और 'विकासवादी' नज़रिये पर काफ़ी जोर दिया। सबाल्टर्न समूह को (चाहे वे निचली जाति के रहे हों या आदिवासी) को 'पिछड़ेपन' और आर्थिक संकट के दौर से निकाला गया और उन्हें आधुनिकीकरण का फायदा उठाने के लिए तैयार किया गया।

इस प्रक्रिया में जाति, धर्म और पहचान की अन्य पुरानी और गुमनाम संस्थाएं स्वाभाविक रूप से ख़त्म हो गईं या हिंसा के जरिये जानबूझकर उन्हें हटाया गया। रोजालिंड ओ'हलन के मुताबिक इस तरह के उद्देश्यवाद ने सबाल्टर्न आंदोलनों को उनकी खास तरह की चेतना और व्यवहार से मुक्त कर दिया।[102] राजनीतिक, अकादमिक घटनाक्रम के इसी दौर में सबाल्टर्न स्टडीज़ परियोजना (एसएस प्रोजेक्ट) की शुरुआत हुई। जिन इतिहासकारों ने इसका प्रारूप तैयार करने में

102. रोजालिंड ओ'हलन (1998) : 93.

योगदान दिया, वे सभी मार्क्सवादी परंपरा के तहत काम कर चुके थे और अब वे मार्क्सवाद को पूरी तरह से खारिज करने की स्थिति में नहीं थे। प्रोजेक्ट से जुड़ी हाल की कई आलोचनाओं में इस तरह का दावा किया गया है। ये इतिहासकार उत्तर-संरचनावाद द्वारा मार्क्सवाद को पूरी तरह से खारिज किए जाने के सिद्धांत को स्वीकार नहीं करते हैं। इसके बजाय इन इतिहासकारों के काम में विश्लेषण के मार्क्सवादी तरीकों और उत्तर-संरचनावाद से जुड़े तरीकों के बीच सार्थक बहस देखने को मिलती है। मार्क्स को लेकर इस प्रोजेक्ट के शुरुआती विश्लेषणों को सबाल्टर्न स्टडीज़-4 में देखा जा सकता है, जहाँ दीपेश चक्रवर्ती इस प्रोजेक्ट के भारतीय आलोचकों को मार्क्सवाद के वैकल्पिक विश्लेषण पर बातचीत के लिए आमंत्रित करते हैं, 'हमें इस बात को समझना चाहिए कि मार्क्स के विचारों में भी द्वंद्व है, जिनमें डार्विन और हीगल के विरोधाभासी पहलू शामिल हैं। जाहिर तौर पर इससे अक्सर अलग-अलग व्याख्याओं के लिए गुंजाइश बनती नज़र आती है।'[103] उनके मुताबिक, यह जरूरी नहीं है कि 'उत्पादन का तरीका' वाला सिद्धांत हमेशा आधार और सुपरस्ट्रक्चर के बीच पूर्ण विभाजन की तरफ़ इशारा करे, क्योंकि मार्क्स ने अपनी दोनों रचनाओं 'द जर्मन आइडियोलॉजी' और 'कैपिटल-III' में अलग-अलग तरीकों से इस सिद्धांत का इस्तेमाल किया है। चक्रवर्ती की आपत्ति भारतीय औपनिवेशिक इतिहास लेखन के राष्ट्रवादी और परंपरागत मार्क्सवादी तरीकों को लेकर है। उनके मुताबिक, ऐसी स्थिति में मार्क्सवाद का बारीक विश्लेषण नहीं हो पाता है, जिसके परिणामस्वरूप आर्थिक पहलू जरूरत से ज़्यादा महत्त्वपूर्ण हो जाता है।[104] इस तरह के इतिहास लेखन में उपनिवेशवाद को वर्चस्ववाद की ऐसी व्यवस्था बताने का प्रयास किया जाता है, जिसका मुख्य मकसद एक देश द्वारा दूसरे देश का आर्थिक शोषण करना है।[105] 'आम लोगों की चेतना' से जुड़ी स्वतंत्रता के बारे में अलग व्याख्या के लिए किसी तरह का प्रयास नहीं किया जाता। एसएस के फोकस में यही पहलू है। सबाल्टर्न स्टडीज़ अभिजात्य-सबाल्टर्न संवाद के इतिहास को नज़रअंदाज़ नहीं करता और न ही यह सबाल्टर्न की चेतनाओं और भावनाओं को इतिहास

103. दीपेश चक्रवर्ती (1985) वही : 369.
104. दीपेश चक्रवर्ती (1985) वही : 370.
105. दीपेश चक्रवर्ती (1993) वही : 427.

के दायरे से बाहर रखता है। हालाँकि, यह जानबूझकर 'चेतना' को सहायक पहलू मानने से इनकार कर देता है।[106] यह 'वर्ग' या 'पूँजी' का पूरी तरह से प्रत्याहार नहीं है, जैसा कि अक्सर आरोप लगाया जाता है। दरअसल, यह परंपरागत मार्क्सवादी नज़रिये की कमियों के बारे में बताने का प्रयास है, खास तौर पर वैसी परिस्थिति में जब पूँजी के आधार पर उन इतिहासों की व्याख्या की जाती है, जिनका पूँजीवाद के वैश्विक इतिहास से किसी तरह का लेना-देना नहीं है। सबाल्टर्न अध्ययन इसी तरह के वैकल्पिक इतिहास की जरूरतों को पूरा करने का प्रयास करता है।

दलित अस्मितावादी इतिहास लेखन : डॉ. आंबेडकर और दलित प्रश्न

डॉ. आंबेडकर के जाति संबंधी विचारों को भारतीय विश्वविद्यालयों के समाजशास्त्र व मानवशास्त्र के पाठ्यक्रमों में नज़रअंदाज़ किया जाता रहा है। भारतीय विश्वविद्यालयों मे समाजशास्त्र, इतिहास, मानवशास्त्र व राजनीतिशास्त्र के विद्यार्थी लुई डयूमांट, एच.एच. रिज़ले, जे.एच. हट्टन, जी.एस.घुर्ये, डी.डी. कोसाम्बी, निर्मल कुमार बोस, रामकृष्ण मुखर्जी, एम.एन. श्रीनिवास, सुरजीत सिन्हा, आंद्रे बेते, रजनी कोठारी, मेल्किम मेरिएट, रोनाल्ड इंडेन, बर्नाड कोहेन, निकोलस डर्क्स व रोमिला थापर के बारे में तो बहुत कुछ पढ़ते हैं परंतु डॉ. आंबेडकर के बारे में उन्हें कुछ भी नहीं बताया जाता। वास्तव में, 1916 में डॉ. आंबेडकर ने भारत की जाति प्रथा को एक अलग परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयास किया था। उन्होंने कोलंबिया विश्वविद्यालय में मानवशास्त्र पर एलेक्जेंडर गोल्डनवाईजर द्वारा आयोजित एक शोध संगोष्ठी में अपना शोधपत्र पढ़ा। डॉ. आंबेडकर तब केवल 25 साल के थे और मानवशास्त्र के शोधार्थी थे। उनके शोध प्रबंध का विषय था, 'भारत में जातियाँ : उनका तंत्र, उत्पत्ति और विकास।'[107] इस शोध प्रबंध में भारत में जाति व्यवस्था की प्रकृति का निर्लिप्त और शुद्ध

106. दीपेश चक्रवर्ती (1985) वही : 369.

107. डॉ.बी.आर. आंबेडकर द्वारा (1916) में 'कास्ट्स इन इंडिया : देयर मेकेनिज्म जेनेसिस एंड डेवलपमेंट' विषय पर डा.एलेक्जेंडर गोल्डनवाईजर द्वारा कोलंबिया विश्वविद्यालय में आयोजित शोध संगोष्ठी में 9 मई 1916 को प्रस्तुत शोध प्रबंध। इस प्रबंध का मूल पाठ 'इंडियन ऐंटीक्योरी', खंड 41 (मई 1917) में सर्वप्रथम प्रकाशित हुआ।

अकादमिक विश्लेषण था जिसमें जाति पर समकालीन उपलब्ध मानवशास्त्रीय और समाजशास्त्रीय साहित्य का तार्किक और समालोचनात्मक अध्ययन था। शोध प्रबंध के प्रथम खंड में डॉ. आंबेडकर ने चार प्रसिद्ध अध्येताओं के विचारों की चर्चा की। इनमें शामिल थे एमील सेनार्ट, जान नेस्फील्ड, एस. वी. केतकर व एच.एच. रिज़ले। इस खंड में उन्होंने इन विद्वानों की जाति व्यवस्था के मूल लक्षणों की समझ में कमियों का बिना किसी पूर्वाग्रह के वर्णन किया। परंतु इन विद्वानों की आलोचना करते समय भी उन्होंने इनके योगदान के सकारात्मक पक्षों को नज़रअंदाज़ नहीं किया, इन परिभाषाओं की समीक्षा, हमारे उद्देश्यों के लिए महत्त्वपूर्ण है। यह ध्यान देने की बात है कि इन तीनों लेखकों की परिभाषाएं या तो अतिसंकीर्ण हैं या अतिविस्तृत। इनमें से एक भी अपने आप में संपूर्ण या सही नहीं है और इन सब में से जाति व्यवस्था के तंत्र का मूल तत्त्व गायब है। उनकी त्रुटि यह है कि वे जाति को एक एकाकी इकाई के रूप में परिभाषित कर रहे हैं ना कि संपूर्ण जाति व्यवस्था के अंदर के एक ऐसे समूह के रूप में, जिसके इस व्यवस्था से स्पष्ट परस्पर संबंध हैं। इसके बाद भी, समग्र रूप से ये तीनों परिभाषाएं एक दूसरे की पूरक हैं क्योंकि इनमें से एक में जिस तथ्य को नज़रअंदाज़ किया गया है, उस पर दूसरी में जोर दिया गया है। डॉ. आंबेडकर इस विचार को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे कि जाति व्यवस्था 'श्रम विभाजन' है, जो विभिन्न पेशेवर समूहों के बीच प्रतिस्पर्धा को न्यूनतम बनाता है। उनके लिए जाति व्यवस्था श्रम विभाजन न होकर, श्रमिक वर्गों का विभाजन है। डॉ. आंबेडकर का कहना था कि अपने परिवार से बाहर, परंतु अपनी जाति के अंदर, विवाह करने की प्रथा, मानव समाज का मूल और सार्वभौमिक लक्षण है। भारत में आदिवासियों में बर्हिविवाह की प्रथा, मानव सभ्यता के विकास के विभिन्न चरणों से गुजरते हुए भी अस्तित्व में बनी रही है। जबकि आधुनिक दुनिया में वह स्वीकार्य नहीं है। उन्होंने लिखा : समय के साथ, बर्हिविवाह ने अपनी प्रभावोत्पादकता खो दी है और केवल निकटतम रक्त संबधियों के अतिरिक्त, विवाह के मामले में कोई सामाजिक रोक नहीं बची। परंतु जहाँ तक भारत के लोगों का सवाल है, वहाँ अब भी बर्हिविवाह पर जोर है। भारत अब भी कबीलाई व्यवस्था में विश्वास करता है, जबकि कबीले अब रहे ही नहीं। यह इससे स्पष्ट है कि विवाह संबंधी नियम, बर्हिविवाह के सिद्धांत के आसपास केंद्रित हैं। न

केवल सपिंडों के बीच विवाह प्रतिबंधित है बल्कि सगोत्र विवाह भी पाप माना जाता है।[108] यही वह अकादमिक विद्वता की तार्किक नींव है, जिसके आधार पर डॉ. आंबेडकर जाति व्यवस्था की व्याख्या करते हुए अपने तर्क रखते हैं। उनका कहना है कि चूँकि भारत में बर्हिविवाह नियम था, अपवाद नहीं, इसलिए भारत में अंतर्विवाह एक विदेशी विचार रहा होगा। फिर, भारत में जाति व्यवस्था– अंतर्विवाह जिसकी एक आवश्यक शर्त है, कैसे अस्तित्व में आई ? डॉ. आंबेडकर की इस विसंगति की व्याख्या, उनके शोध प्रबंध का सबसे दिलचस्प हिस्सा है।

डॉ. आंबेडकर यह बताते हैं कि किस तरह प्राचीन भारत में सामाजिक समूह, उन विशेषाधिकारों, जो उन्हें प्राचीन वर्ग व्यवस्था से मिलते थे, को बचाए रखने के लिए वर्गों से बंद अंतर्विवाही समूहों में परिवर्तित हो गए। डॉ. आंबेडकर के अनुसार, चूँकि ब्राह्मण और क्षत्रिय सर्वाधिक विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग थे इसलिए सबसे पहले इन्हीं ने अपने विशेषाधिकारों की सुरक्षा के लिए अंतर्विवाही बनना शुरू किया। बाद में अन्य समूहों ने भी उच्च वर्गों की नकल की और यह व्यवस्था पूरे देश में फैल गई। इस तरह, डॉ. आंबेडकर के अनुसार, भारत में जातियाँ वर्गों से उत्पन्न हुईं और जातियाँ दरअसल बंद वर्ग हैं, अंतर्विवाह जिनका प्रमुख लक्षण है : सबसे पहले हमें यह स्मरण रखना होगा कि अन्य समाजों की तरह, हिंदू समाज भी वर्गों में बंटा था जिनमें से सबसे पुराने थे : (1) ब्राह्मण या पुरोहित वर्ग (2) क्षत्रिय या सैनिक वर्ग (3) वैश्य या व्यापारी वर्ग और (4) शूद्र या शिल्पकार और सेवक वर्ग। इस बात पर ध्यान दिया जाना चाहिए कि यह मूलत: एक वर्ग व्यवस्था थी, जिसमें कोई भी व्यक्ति उचित योग्यता पाने के बाद अपने वर्ग को परिवर्तित कर सकता था। इस तरह, वर्गों के सदस्य बदलते रहते थे। फिर, हिंदुओं के इतिहास के किसी काल में, पुरोहित वर्ग ने स्वयं को अन्य समूहों से विलग कर लिया और अन्य वर्गों के लिए अपने दरवाजे बंद कर स्वयं को जाति में बदल लिया। अन्य वर्गों को भी, सामाजिक श्रम विभाजन के सिद्धांत के प्रभाव में विखंडन होता गया। कुछ बड़े वर्ग बने तो कुछ बहुत

---

108. डॉ.बी.आर. आंबेडकर द्वारा (1916) में 'कास्ट्स इन इंडिया : देयर मेकेनिज्म जेनेसिस एंड डेवलपमेंट' विषय पर डा.एलेक्जेंडर गोल्डनवाईजर द्वारा कोलंबिया विश्वविद्यालय में आयोजित शोध संगोष्ठी में 9 मई 1916 को प्रस्तुत शोध प्रबंध। इस प्रबंध का मूल पाठ 'इंडियन ऐंटीक्योरी', खंड 41 (मई 1917) में सर्वप्रथम प्रकाशित हुआ।

छोटे, इस सिलसिले में जिस प्रश्न का उत्तर हमें खोजना है वह यह है कि ये उपखंड या वर्ग–चाहे वे औद्योगिक रहे हों, धार्मिक या अन्य–बंद और अंतर्विवाही कैसे बन गए। मेरा उत्तर है कि ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि ब्राह्मणों ने ऐसा किया। अंतर्विवाह या 'बंद दरवाजा' प्रथा हिंदू समाज में फैशन बन गई। चूँकि इसका उदय ब्राह्मण जाति में हुआ था इसलिए सभी गैर–ब्राह्मण उपखंडों या वर्गों ने इसे अपना लिया और वे भी अंतर्विवाही जातियाँ बन गए। 'नकल की इसी छूत की बीमारी' के कारण ये सभी उपखंड बँटते गए और जातियों में बदलते गए।[109]

इस तरह, कबीलाई बहिर्विवाह की मानवशास्त्रीय खोज से शुरू करते हुए डॉ. आंबेडकर ने यह बताया कि किस प्रकार जातिगत अंतर्विवाह उस पर थोप दिया गया। सन् 1917 में जाति को वर्ग व्यवस्था का स्वरूप बताना अनूठा था। परंतु इस सबका भारत में जातियों पर विश्व के प्रसिद्ध अध्येताओं के लेखन में कहीं जिक्र नहीं है। उदाहरण के लिए जी.एस. घुर्ये को लें। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक कास्ट एंड क्लास इन इंडिया[110] (1957) में घुर्ये ने डॉ. आंबेडकर का नाम केवल एक स्थान पर (पृष्ठ 226–227) पर लिखा (''डॉ. बी. आर. अम्बेडकर, द लीडर ऑफ़ द शेड्यूल्ड कास्टस हू वाज एडमोंट अगेंस्ट एक्सेप्टिंग चेंज इन द स्पेशल रिप्रजेंटेशन ऑफ़ दीज कास्ट्स इन 1932 फॉर व्हिच महात्मा गाँधी हैड टू अंडरटेक ए फ़ास्ट अन्टू डेथ, नॉट ओनली एक्कुईज्ड इन दियर स्पेशल रिप्रजेंटेशन ऑनली फॉर टेन इयर्स बट आल्सो बिकेम द स्पोंसर ऑफ़ द कांस्टीट्युशन इन 1949'') और वहाँ भी उन्हें केवल 'अनुसूचित जातियों का नेता' बताया।[111] यह इसके बावजूद कि लेखक ने अपनी पुस्तक में अंतर्विवाह को भारत के जाति–आधारित समाज का प्रमुख लक्षण बताया है। निर्मल कुमार बोस के लेखन में भी डॉ. आंबेडकर को मानवशास्त्र में योगदान के लिए कोई स्थान नहीं दिया गया है।

---

109. डॉ.बी.आर.आंबेडकर द्वारा (1916) में 'कास्ट्स इन इंडिया : देयर मेकेनिज्म जेनेसिस एंड डेवलपमेंट' विषय पर डॉ.एलेक्जेंडर गोल्डनवाईजर द्वारा कोलंबिया विश्वविद्यालय में आयोजित शोध संगोष्ठी में 9 मई 1916 को प्रस्तुत शोध प्रबंध। इस प्रबंध का मूल पाठ 'इंडियन ऐंटीक्योरी', खंड 41 (मई 1917) में सर्वप्रथम प्रकाशित हुआ।
110. जी.एस. घुर्ये (1957): 226–227.
111. जी.एस. घुर्ये (1957) वही.

डॉ.आंबेडकर द्वारा भारतीय इतिहास लेखन को लेकर की गई आलोचना के संदर्भ में अनिरुद्ध देशपांडे अपने एक लेख डॉ. आंबेडकर : द अनसेंटिमेंटल हिस्टोरियन' में कुछ सवाल उठाते हुए लिखते हैं कि मैं यह मान कर चल रहा हूँ कि अब तक भारतीय इतिहासविदों ने राजनीति को इतिहास के दृष्टिकोण से देखने-समझने के डॉ. आंबेडकर के प्रयास को, उनकी असाधारण मेधा की विरासत के भाग के रूप में स्वीकार नहीं किया है।[112] अनिरुद्ध देशपांडे आगे इस बात को और बढ़ाते हैं। 1950 से लेकर 1970 के दशक तक, डॉ. आंबेडकर पर विशेष ध्यान इसलिए नहीं दिया गया क्योंकि इतिहास लेखन पर मार्क्सवाद और राष्ट्रवाद हावी थे। राष्ट्रवादियों के लिए राष्ट्र सबसे महत्त्वपूर्ण था और मार्क्सवादियों के लिए वर्ग। दोनों ही के पास भारतीय इतिहास में जाति की भूमिका और अंत्यज्य जातियों की विशिष्ट समस्याओं की ओर ध्यान देने की फुर्सत ही नहीं थी। 1980 के दशक तक, भारतीय समाजविज्ञानियों का एक प्रभावशाली तबका, जिसमें कई इतिहासविद शामिल थे, भाषाई, सांस्कृतिक और स्त्रीवादी मुद्दों में उलझ गया। इन परिस्थितियों में डॉ. आंबेडकर को इतिहासविद के रूप में गंभीरता से लेने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता था।[113]

डॉ. आंबेडकर की विचार दृष्टि : राष्ट्रवादी और मार्क्सवादी इतिहास लेखन में जाति प्रश्न

एक इतिहासविद् के रूप में डॉ. आंबेडकर को समझने के लिए उत्तर-औपनिवेशिक भारत के बौद्धिक वातावरण को समझना आवश्यक है। इस दौर में कई राष्ट्रवादी उभरे जो या तो औपनिवेशिक सत्ता के विरोधी थे या एक-दूसरे के। चूँकि ये विचारधाराएँ, अपने चरित्र और लक्ष्य के चलते, समाज को उसकी समग्रता में देखतीं थीं, इसलिए वे जाति के भारतीय समाज पर विघटनकारी प्रभाव और उससे जनित दमन को सामान्यत: नज़रंदाज़ करतीं रहीं। इसके अलावा, 1940 के दशक में, भारतीय इतिहासविद्, इतिहास को खोजने-परखने के तरीकों

112. अनिरुद्ध देशपांडे (2016) के आलेख अम्बेडकर: द अनसेंटिमेंटल हिस्टोरियन, https://www.forwardpress.in/2016/04/dr-ambedkar-the-unsentimental-historian_hindi/ ON APRIL 14, 2016. पर उपलब्ध।

113. अनिरुद्ध देशपांडे (2016) वही.

पर बहस-मुबाहिसें नहीं किया करते थे। उनकी कल्पनाशक्ति पर सरकारी अभिलेखागार और इतिहास लेखन की औपनिवेशिक कार्यप्रणाली हावी थे। औपनिवेशवादी और राष्ट्रवादी इतिहासविदों के लक्ष्य तो अलग-अलग थे परन्तु उनके काम करने का तरीका एक-सा था। अधिकांश भारतीय इतिहासविद् अपने अंग्रेज़ प्रोफेसरों द्वारा उन्हें सिखाए गए इतिहास-लेखन के सिद्धांतों से संतुष्ट थे और ये अंग्रेज़ प्रोफ़ेसर, इस दृष्टिकोण से प्रभावित थे। विभिन्न भारतीय राष्ट्रवादी इतिहाविद्, उन्हीं सिद्धांतों के आधार पर इतिहास लेखन करते थे, जिन सिद्धांतों का प्रतिपादन पश्चिमी इतिहासविदों ने किया था। इसके अपवाद थे डी.डी. कौसांबी जैसे मार्क्सवादी इतिहासविद, जिन्होंने बीसवीं सदी के प्रारंभिक दशकों में भारतीय इतिहास का मार्क्सवादी नज़रिए से अध्ययन और फील्ड वर्क का कार्य किया। भारतीय मार्क्सवादियों ने निस्संदेह इतिहास को एक नए नज़रिए से देखने में हमारी मदद की परन्तु उनका जोर श्रमिकों को एक वर्ग के रूप में देखने पर था और उन्होंने जाति-आधारित अध्ययन की ओर ध्यान नहीं दिया।

1940 के दशक में भारतीय इतिहास-लेखन का जाति, जनजाति व लिंग से जुड़े मुद्दों से कोई लेनादेना नहीं था। इन पर समाजशास्त्री विचार करते थे, जो इन्हें राजनीति से विलग कर देखते थे। संस्कृतिकरण के मॉडल का उदय भारतीय समाजशास्त्र से हुआ और इसमें भारतीयों की रोजाना की ज़िन्दगी में जातिगत रिश्तों की परस्पर विरोधाभासी प्रकृति को कम करके आँका गया। इस पृष्ठभूमि में डॉ. आंबेडकर की इतिहास की अवधारणा व उसके लेखन के संबंध में उनके अभिनव विचार, चकित कर देने वाले हैं। एक ऐसे दौर में, जब सर जदुनाथ सरकार जैसे भारतीय इतिहासविद अपने लेखन में ऐतिहासिक किरदारों और घटनाओं के आख्यान से आगे नहीं बढ़ते थे, डॉ. आंबेडकर ने इतिहास लेखन के उन पहलुओं पर विचार किया, जो आज हमारे दिमागों को झंझोड़ रहे हैं। 1940 में ही उन्होंने इतिहास की परिकल्पना, कथावाचन, विज्ञान और कला के एक ऐसे सम्मिश्रण के रूप में की, जिसमें इतिहासविद की उर्वर व रचनात्मक कल्पनाशीलता एक नया रंग भर देती है। यह वह दौर था जब भारतीय विश्वविद्यालयों में इतिहास लेखन को एक अलग विषय के रूप में नहीं पढ़ाया जाता था। उस दौर में इतिहास, सरकारी अभिलेखागारों में बंद वह ज्ञान था, जिसे ढूँढ़ निकालकर लोगों के सामने पेशेवराना तरीके से प्रस्तुत किया जाना भर था। उनका यह सुझाव कि इतिहासविदों को हमेशा यह ध्यान में रखना चाहिए कि अपने पाठकों में

वैज्ञानिक चेतना का विकास करना उनका कार्य है, आज भी वैध है।

डॉ. आंबेडकर को समझने के लिए हमें उनकी बहुआयामी व असाधारण मेधा की ओर लौटना होगा। अब तक उन्हें मुख्यत: भारतीय जाति व्यवस्था और संविधानवाद की राजनीति के विशेषज्ञ के रूप में और भारतीय अछूतों और नीची जातियों के बुद्धिजीवी के रूप में ही स्वीकार किया जाता रहा है। इसमें कोई संदेह नहीं कि ये सारे पहलू उनके व्यापक विचारों का हिस्सा हैं परंतु उन्हें एक राजनीतिक और सामाजिक दार्शनिक के रूप में पढ़ा जाना बाकी है। भारतीय आधुनिकता व डॉ. आंबेडकर की सोच के उलझनपूर्ण पारस्परिक संबंधों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञानोदय के वैश्विक और वैज्ञानिक मूल्यों से उनका जुड़ाव जो अंतर्द्वंद्वों, तर्कों व विवेक पर आधारित था, डॉ. आंबेडकर को एक अद्वितीय 'मिथक-विरोधी इतिहासविद' बनाता है और यहाँ यह याद रखा जाना चाहिए कि यह 1947 के बाद, चुनिंदा भारतीय विश्वविद्यालयों में इतिहास के समालोचनात्मक अध्ययन की शुरूआत से बहुत पहले की बात है।[114]

इतिहासविद व निबंधकार के रूप में डॉ. आंबेडकर के लेखन की तुलना, वाल्टेयर, गेटे व गोर्की से की जा सकती है। वे इन तीनों से प्रभावित थे और उनका लेखन, हिंदू धर्म का इतना कटु आलोचक था कि जिन लोगों पर उन्होंने, उनके समय में दुर्लभ तार्किकता के साथ, तीक्ष्ण हमले किए थे, उन लोगों की आने वाली पीढ़ियाँ डॉ. आंबेडकर पर किसी भी तरह कब्ज़ा नहीं कर सकती। उनके लिए इतिहास एक ऐसा शिल्प था जिसका इस्तेमाल जातिगत विभेदों पर आधारित एक अन्यायपूर्ण व्यवस्था को समाप्त करने के लिए किया जाना था। चूँकि उनकी राजनीति, भारतीय इतिहास की उनकी भावुकता-मुक्त समझ पर आधारित थी, और उनकी यह समझ ही उनकी राजनीति का आधार थी, इसलिए इतिहास संबंधी उनके विचारों और पद्धतियों का पुनरावलोकन आवश्यक है, विशेषत: इसलिए क्योंकि वैश्वीकरण के इस युग में आम लोगों की इतिहास की समझ, गोभक्ति, जातिगत-अभिमान और दलित-विरोधी वैदिक पुनर्भूत राष्ट्रवाद [115]

---

114. डोरोथी एम.फ्यूजैरा (2015).

115. पुनर्भूत राष्ट्रवाद से अर्थ है एक प्राचीन मिथकीय रूमानी राष्ट्र की खोज। यद्यपि कुछ अर्थों में सभी राष्ट्रवाद पुनर्भूत होते हैं तथापि रॉजर ग्रिफ्फिन के अनुसार, फासीवादी और नाज़ी राष्ट्रों में यह प्रवृत्ति अधिक दिखलाई देती है।

के इर्द-गिर्द घूम रही है। 'एनिहीलेशन ऑफ़ कास्ट' और उनके अन्य अत्यंत तार्किक निबंध, डॉ. आंबेडकर को प्रतिक्रांति की उस भारतीय परंपरा का वाहक बनाते हैं, जो सर्वव्यापी तो है परन्तु जिसका अध्ययन-अध्यापन नहीं किया जाता।

इतिहासविद के रूप में डॉ. आंबेडकर के दृष्टिकोण को समझने के लिए, हजारों पृष्ठों में फैले उनके संपूर्ण वांग्मय का अध्ययन किया जाए या फिर उनकी एक पुस्तक है द अनटचेबल्स: हू वेर दे आर व्हाय दी बिकम अनटचेबल्स जिसकी भूमिका डॉ. आंबेडकर की इतिहास पद्धति पर एक संक्षिप्त टिप्पणी है। उस पद्धति पर, जिसके सहारे डॉ. आंबेडकर ने जाति के पौराणिक अभिज्ञान, जो कि हिंदू धर्म का आधार है, को विखंडित किया।[116] द अनटचेबल्स: हू वेर दे आर व्हाय दी बिकम अनटचेबल्स में शामिल लेखों और उसकी भूमिका में इतिहास-पद्धति का विवरण हमें डॉ. आंबेडकर के इतिहास संबंधी विचारों की कम से कम तीन महत्त्वपूर्ण विशेषताओं से परिचित करवाता है। पहली, हमें आर.जी. कोलिंगवुड के इतिहास संबंधी विचारों की याद आती है। बाबासाहेब की इतिहास की पड़ताल, सत्ता से सीधे जुड़े तत्कालीन राजनीतिक प्रश्नों से शुरू होती है। इतिहास को राजनीतिक दृष्टिकोण से समझने का उनका प्रयास, उन्हें मार्क्स, अंतोनियो ग्राम्सी व पॉल थोम्सन जैसे अध्येताओं की श्रेणी में रख देता है, जिनके लिए इतिहास का अध्ययन अर्थात कारणों, परिणामों और विमर्श की पड़ताल शासक वर्गों द्वारा सत्ता के उपयोग और उसे वैधता प्रदान करने के सत्ताधारियों के प्रयासों से सीधा जुड़ा हुआ था। इतिहास के प्रति यह दृष्टिकोण, सामाजिक विरोधाभासों से उत्पन्न तनावों और इन विरोधाभासों के समाधान पर केंद्रित था। मूल राजनीतिक प्रश्न और उनसे संबद्ध विषयों पर लोगों की राय, डॉ. आंबेडकर के अध्ययन के विषय थे और इन प्रश्नों का उत्तर जानने के लिए उन्होंने कठिन प्रयास किए।

दूसरी ओर इस मामले में डॉ. आंबेडकर अपने समकालीन और इतिहास लेखन की एनल्स पद्धति के प्रतिपादक मार्क ब्लाख़ के नजदीक हैं वे इतिहास की विवेचना के लिए परिणाम से कारण की ओर बढ़ते हैं। उनका इतिहास लेखन अंत:विषयक था। उसका लक्ष्य भारतीय समाज के वर्तमान और उसके संभावित भविष्य के संबंध में आम धारणाओं को सही या गलत साबित करना था। उनके

116. बी.आर. आंबेडकर (1948).

शोध का लक्ष्य यह दिखाना था कि किस तरह वर्तमान, भूत का उत्पाद है। उनके लिए इतिहास केवल गुजरे हुए कल का अध्ययन या मनोरंजन का साधन नहीं था। राष्ट्र अथवा समुदाय की पौराणिक कथाओं के लिए उनके लेखन में कोई स्थान नहीं था। वे भारतीय समाज को संरचनात्मक दृष्टि से देखते थे, जिसमें जाति 'लोंग ड्युरी' (एक दीर्घकालिक ऐतिहासिक परिघटना) थी।[117] जाति, भारतीय समाज के आधार और उसकी अधिरचना दोनों है और उत्पादन व सत्ता दोनों संबंधों में उसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। उनके लेखों से यह पता चलता है कि उन्हें भूतकाल और वर्तमानकाल के पारस्परिक प्रभावों की कितनी गहरी समझ थी। यही एक अच्छे इतिहासविद की निशानी होती है। वह अपने युग की राजनीति के प्रति हमेशा सजग और सचेत रहता है। तीसरी, उनके लेख उनकी उर्वर कल्पनाशक्ति और भाषा पर उनके अद्‌भुत अधिकार को प्रतिबिंबित करते हैं। ये दोनों गुण किसी भी समाजविज्ञानी के लिए आवश्यक हैं। यहाँ यह महत्त्वपूर्ण है कि न्यूयार्क के कोलंबिया विश्वविद्यालय में पीएचडी की अपनी पढ़ाई के दौरान, डॉ. आंबेडकर ने इतिहास और समाजशास्त्र का अनुषांगिक विषय के तौर पर अध्ययन किया था। उनकी पैनी लेखनी से यह साबित होता है कि उन्होंने एक वकील के प्रतिपरीक्षण कौशल का इस्तेमाल, इतिहास और परंपरा के स्त्रोतों को परखने और त्रुटिहीन निष्कर्षों तक पहुँचने के लिए किया, जिनसे असहमत होना कठिन है। इनमें से कुछ निष्कर्ष आज हमें पुराने अथवा अतिश्योक्तिपूर्ण जान पड़ सकते हैं परंतु इससे इन निष्कर्षों पर पहुँचने के लिए जिस व्याख्यात्मक पद्धति का उपयोग किया गया, उसका महत्त्व कम नहीं हो जाता।

चूँकि डॉ. आंबेडकर का भारतीय समाज के इतिहास का अध्ययन, जाति और इस कारण हिंदू धर्म, के उनके नकार से जुड़ा हुआ था, इसलिए भूमिका की शुरूआत में ही वे सीधे मुद्दे पर आ जाते हैं और उस राजनीतिक प्रश्न को

117. 'लोंग ड्युरी' (एक दीर्घकालिक ऐतिहासिक परिघटना) की परिकल्पना का प्रतिपादन फ्रांसीसी अनाल इतिहासविदों ने किया था। इससे आशय भूगोल जैसे उन कारकों से है जो मानव इतिहास पर दीर्घकालिक प्रभाव डालते हैं, यद्यपि कुछ अध्येता इन कारकों में संस्कृति को भी सम्मलित करते हैं। फ्रांसीसी इतिहासकार फरदेंड ब्रूँदेल के अनुसार, लोंग ड्युरी में भूगोल, जनसांख्यिकी और अर्थव्यवस्था शामिल हैं परन्तु अध्येता यह भी कहते हैं कि मानसिकता अर्थात सांस्कृतिक दृष्टिकोण, जिनमें भारत के मामले में जाति भी शामिल है, भी इतिहास पर दीर्घकालिक प्रभाव डालती है।

उठाते हैं, जिसने उन्हें इतिहास में शोध करने के लिए प्रेरित किया। भूमिका से यह पता चलता है कि डॉ. आंबेडकर हिंदू धर्म के लिए वही थे जो मार्क्स पूँजीवाद के लिए। मार्क्स के लिए पूँजीवाद की कोई भी अर्थपूर्ण व्याख्या, पूँजीवाद से जनित उत्पादन संबंधों की व्याख्या के बिना संभव नहीं थी। इसी तरह, डॉ. आंबेडकर यह मानते थे कि जाति ही उन सत्ता संबंधों के मूल में है, जो सनातन हिंदू धर्म की जीवन शक्ति है। भूमिका में वे कहते हैं, ''हिंदू सभ्यता मानवता का दमन करने और उसे दास बनाने की एक धूर्ततापूर्ण युक्ति है। यह, दरअसल, एक कलंक है।'' हिंदुओं ने कभी अपनी सभ्यता, अर्थात वर्ण-जाति व्यवस्था के उदय का तार्किकतापूर्ण अध्ययन नहीं किया। इसलिए पहला प्रश्न यह है कि हिंदुओं ने अपनी तथाकथित सभ्यता का वैज्ञानिक अनुसंधान क्यों नहीं किया? ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि हिंदुओं ने कभी भी जाति व्यवस्था और अछूत प्रथा को शर्मनाक या अनुचित नहीं माना। डॉ. आंबेडकर लिखते हैं, 'हिंदुओं ने कभी उन पर पश्चाताप करने या उनके उदय व विकास की पड़ताल करने की कोशिश नहीं की।' उन्होंने लिखा कि हर हिंदू को यह सिखाया जाता है कि उसकी सभ्यता न केवल सबसे प्राचीन है बल्कि कई अर्थों में अनूठी है। कोई हिंदू इन दावों को दोहराते नहीं थकता, हिंदू सभ्यता की पवित्रता, श्रेष्ठता और विवेकशीलता के संबंध में ये झूठे विश्वास, हिंदू अध्येताओं के अजीब सामाजिक मनोविज्ञान के कारण है। डॉ. आंबेडकर का यह कथन, हमें अलबेरूनी ने हिंदुओं के संबंध में अपनी पुस्तक इंडिया में जो कहा है, उसकी याद दिलाता है। यह सामाजिक मनोविज्ञान, सदियों से भारत में ज्ञान पर ब्राह्मणों के बौद्धिक वर्चस्व का नतीजा था। इस बौद्धिक वर्चस्व ने उन्हें भारतीय समाज की धार्मिक पुस्तकों और कर्मकांडों पर एकाधिकार दिया। इस बौद्धिक एकाधिकार को ब्रिटिश औपनिवेशिकों ने और मजबूती दी।

ज्ञान व बौद्धिक विमर्श में डॉ. आंबेडकर

एलिनॉर जेलिएट की किताब 'आंबेडकर्स वर्ल्ड : द मेकिंग ऑफ़ बाबासाहेब एंड द दलित मूवमेंट'[118] डॉ. आंबेडकर के जीवन के सामाजिक-राजनीतिक पक्षों का एक विस्तृत और गंभीर अध्ययन प्रस्तुत करती है। जेलिएट ने 1960 के दशक

118.एलिनॉर जेलिएट (2013).

में डॉ. आंबेडकर पर जो शोध पत्र लिखा, उसका विषय था आंबेडकर्स वर्ल्ड : द मेकिंग ऑफ़ बाबासाहेब एंड द दलित मूवमेंट। उनका यह शोध हमें एक इतिहासकार की दृष्टि से डॉ. आंबेडकर के जीवन और दलित आंदोलन के बारे में विस्तार से बताता है। डॉ. आंबेडकर की मृत्यु के बाद दलित आंदोलन पर लिखा गया यह पहला अकादमिक शोध था।[119] जेलिएट ने अंबेडकर्स कन्वर्सन[120] में डॉ. आंबेडकर द्वारा धर्म परिवर्तन की घटना के संदर्भ में लिखा है। इसके बाद डॉ. आंबेडकर की जीवनी और उनके आंदोलनों से संबन्धित विभिन्न पहलुओं पर क्रिस्टोफ़ जेफर्लोट ने आंबेडकर एंड अनटचेबिलिटी एनालिसिस एंड फाइटिंग कास्ट[121] डॉ. आंबेडकर पर एक महत्त्वपूर्ण जीवनी है। डॉ. आंबेडकर की जीवनी पर महत्त्वपूर्ण काम गेल ओम्वेट ने डॉ. आंबेडकर: टूवार्ड्स एन इनलाइटेंड इंडिया[122] में किया है। इस तरह से विदेशी अध्येताओं में डॉ. आंबेडकर की जीवनी पर इन कामों को प्रामाणिक माना जाता है।

डॉ. आंबेडकर पर मुख्य रूप से भगवान दास ने 'दस स्पोक डॉ. आंबेडकर : ए स्टेक इन द नेशन'[123] वेलेरियन रोड्रिग्स ने 'इसेंशियल राइटिंग्स ऑफ़ बी.आर. डॉ. आंबेडकर'[124], मेकिंग ए ट्रेडिशन क्रिटिकल : डॉ. आंबेडकर रीडिंग ऑफ़ बुद्धिज्म[125] रीडिंग टेक्स्ट एंड ट्रेडीशन्स : द डॉ. आंबेडकर –गाँधी डिबेट[126] डॉ. आंबेडकर एज ए पॉलिटिकल फिलोसफर[127] के माध्यम से डॉ. आंबेडकर पर अकादमिक लेखन किया है। समाजशास्त्री नंदूराम ने डॉ. आंबेडकर दलित्स एंड बुद्धिज़्म : कलेक्शन ऑफ़ डॉ. आंबेडकर मेमोरियल एन्यूवल लेक्चर्स[128]

---

119. यशवंत ज़ागाडे ON SEPTEMBER 14, 2018,https://www.forwardpress.in/2018/09/eleanor-zelliot-and-ambedkar/ पर उपलब्ध.
120. एलिनॉर जेलिएट (2005).
121. क्रिस्टोफ़ जेफर्लोट (2004).
122. गेल ओम्वेट (2008).
123. भगवान दास (2011).
124. वेलेरियन रोड्रिग्स (2002).
125. वेलेरियन रोड्रिग्स (1993).
126. वेलेरियन रोड्रिग्स (2011).
127. वेलेरियन रोड्रिग्स (2017).
128. नंदूराम (2008).

बियाण्ड डॉ. आंबेडकर : एसेज ऑन दलित्स इन इंडिया[129] सुखदेव थोराट ने डॉ. आंबेडकर के आर्थिक पक्ष को लेकर बी.आर.डॉ. आंबेडकर : पर्सपेक्टिव ऑन सोशल एक्सक्लूजन एंड इंक्लिसिव पॉलिसीज[130] डॉ. आंबेडकर इन रिट्रोस्पेक्ट एसेज ऑन इकोनॉमिक्स, पॉलिटिक्स एंड सोसाइटी[131] अंबेडकर्स रोल इन इकनॉमिक प्लानिंग एंड वाटर पॉलिसी[132] एस.के. चलम ने रिलेवेन्स ऑफ़ अंबेडकरीज्म इन इंडिया[133] नरेंद्र जाधव ने डॉ. आंबेडकर : एन इकनोमिस्ट[134] डॉ. आंबेडकर : वेकिंग इंडियाज़ सोशल कंसाइन्स[135] डॉ. आंबेडकर राइट्स कंप्लीट राइटिंग्स ऑफ़ डॉ. आंबेडकर पॉलिटिकल राइटिंग्स[136] डॉ. आंबेडकर राइट्स कंप्लीट राइटिंग्स ऑफ़ डॉ. आंबेडकर स्कालरली राइटिंग्स[137] डॉ. आंबेडकर स्पीक्स : 301 सेमीनल स्पीचेज़ : इंट्रोडकसन आटोबायोग्राफी स्पीचेज़[138] डॉ. आंबेडकर स्पीक्स : 301 सेमीनल स्पीचेज़ : सोशल इकोनॉमिक रिलीजन लॉ एंड कान्स्टीट्यूशन[139] डॉ. आंबेडकर स्पीक्स : 301 सेमीनल स्पीचेज़ : पॉलिटिकल स्पीचेज़[140] डॉ. आंबेडकर इकोनॉमिक थाट्स एंड फ़िलॉसफी[141] भारत रत्ना डॉ. बाबासाहेब डॉ. आंबेडकर एन इंटेलेक्चुवल कोलोसस, ग्रेट नेशनल लीडर एंड यूनिवर्सल चैंपियन ऑफ़ ह्यूमन राइट्स[142] नरेंद्र जाधव ने हिंदी में डॉ. आंबेडकर:

---

129. नंदूराम (2009).
130. सुखदेव थोराट, नरेंद्र कुमार (2009).
131. सुखदेव थोराट (2007).
132. सुखदेव थोराट (2019).
133. एस.के. चलम (2018).
134. नरेंद्र जाधव (2015).
135. नरेंद्र जाधव (2014).
136. नरेंद्र जाधव (2014).
137. नरेंद्र जाधव (2014).
138. नरेंद्र जाधव डॉ. आंबेडकर स्पीक्स : 301 सेमीनल स्पीचेज़ : इंट्रोडकसन आटोबायोग्राफी स्पीचेज़, वॉल्यूम-1, कोणार्क पब्लिशर्स, नई दिल्ली.
139. नरेंद्र जाधव डॉ.आंबेडकर स्पीक्स : 301 सेमीनल स्पीचेज़ : सोशल एकोनोमिक रिलीजन लॉ एंड कान्स्टीट्यूशन,वॉल्यूम-2, कोणार्क पब्लिशर्स, नई दिल्ली.
140. नरेंद्र जाधव आंबेडकर स्पीक्स : 301 सेमीनल स्पीचेज़ : पॉलिटिकल स्पीचेज़, वॉल्यूम-3,कोणार्क पब्लिशर्स, नई दिल्ली.
141. नरेंद्र जाधव (1992).
142. नरेंद्र जाधव (2016).

आत्मकथा एवं जनसंवाद[143] डॉ. आंबेडकर: सामाजिक विचार एवं दर्शन[144] डॉ. आंबेडकर: आर्थिक विचार एवं दर्शन[145] डॉ. आंबेडकर: राजनीति, धर्म एवं संविधान विचार[146] के माध्यम से डॉ. आंबेडकर पर वृहद लेखन कार्य किया है। डॉ. आंबेडकर पर विद्वता की इस कड़ी में भालचन्द्र मुंगेकर ने द एसेंशियल डॉ. आंबेडकर[147] के नाम से किताब सम्पादित की है। क्रिस्टोफ़ जेफ्रेलोट और नरेंद्र कुमार ने डॉ. आंबेडकर एंड डेमोक्रेसी : एन एंथोलोजी[148] सुधापाई और अविनाश कुमार ने रिविजिटिंग 1956 बी.आर.आंबेडकर एंड स्टेट्स रिओर्गेनाइजेशन[149] अरुंधति राय ने अपनी एक बड़ी टीका के साथ डॉ. आंबेडकर और गाँधी की बहस को लेकर एनहिलेशन ऑफ़ कास्ट: एनोटेटेड क्रिटिकल एडिशन[150] के साथ ही इसका एक और एडिशन द डॉक्टर एंड द संत द डॉ. आंबेडकर –गाँधी डिबेट : कास्ट, रेस, एंड एनहिलेशन ऑफ़ कास्ट[151] आकाश सिंह राठौर ने अंबेडकर्स प्रियंबल ए सीक्रेट हिस्ट्री ऑफ़ द कान्स्टीट्यूशन ऑफ़ इंडिया[152] आकाश सिंह राठौर और अजय वर्मा ने बी.आर. डॉ.आंबेडकर: द बुद्धा एंड द धम्मा[153] के माध्यम से डॉ. आंबेडकर के जीवनवृत्त और कार्यवृत्त पर अकादमिक लेखन किया गया है।

डॉ. आंबेडकर पर महत्त्वपूर्ण अधिकारिक विद्वता के लिए प्रसिद्ध आनंद तेलतुम्बडे ने द रेडिकल इन डॉ. आंबेडकर : क्रिटिकल रिफ्लेक्शन[154] और डॉ. आंबेडकर के साम्यवादी विचारों को लेकर अपने नोट्स और डॉ. आंबेडकर की टिप्पणी के साथ डॉ. आंबेडकर इंडिया एंड कम्यूनिज़्म[155] राव साहब कसबे का

143. नरेंद्र जाधव (2015).
144. नरेंद्र जाधव (2015).
145. नरेंद्र जाधव (2015).
146. नरेंद्र जाधव (2015).
147. भालचन्द्र मुंगेकर (2016).
148. क्रिस्टोफ़ जेफ्रेलोट, नरेंद्र कुमार (2018).
149. सुधा पाई, अविनाश कुमार (2019).
150. अरुंधति रॉय, बी.आर. अम्बेडकर (2014).
151. अरुंधति रॉय (2019).
152. आकाश सिंह राठौर (2020).
153. आकाश सिंह राठौर, अजय वर्मा (2011).
154. सूरज येंगड़े, आनंद तेलतुम्बडे (2018).
155. बी.आर.आंबेडकर, आनंद तेलतुम्बडे (2017).

डॉ. आंबेडकर और मार्क्स[156] इसी विचार के साथ जुड़ा हुआ महत्त्वपूर्ण अकादमिक लेखन है। इसके साथ ही डॉ. आंबेडकर पर लोकप्रिय स्तर पर भी काफ़ी लेखन हुआ है। इनमें मुख्य रूप से डब्ल्यू. एन.कुबेर ने डॉ. भीमराव आंबेडकर[157] के नाम से जीवनी लिखी है। वहीं डॉ. आंबेडकर के सचिव नानकचंद रत्तू ने डॉ. आंबेडकर के जीवन के अंतिम कुछ वर्ष[158] लास्ट फ्यू इयर्स ऑफ़ डॉ.आंबेडकर[159] बाबासाहेब डॉ. आंबेडकर संस्मरण और संस्मृतियाँ[160] धनंजय कीर की डॉ. बाबासाहेब डॉ. आंबेडकर: लाइफ़ एंड मिशन[161] हिंदी में बाबा साहब डॉ. आंबेडकर जीवन-चरित्र[162] वसंत मून डॉ. बाबासाहब आंबेडकर[163] समता के समर्थक[164] आंबेडकर आदि किताबों के कई संस्करण निकल चुके है और यह अँग्रेजी, मराठी, और हिंदी में काफ़ी लोकप्रिय भी हैं। इसके साथ ही दलित बुद्धिजीवियों, सामाजिक-राजनीतिक कार्यकर्ताओं ने भी अपने-अपने स्तर पर डॉ. आंबेडकर को लिखने-पढ़ने, समझने की कोशिश की है। इस संदर्भ में साहित्य, सांस्कृतिक आंदोलन और राजनीतिक आंदोलन सब एक-दूसरे से मिलकर एक सी पहचान वाले कार्यकर्ता, बुद्धिजीवी समूह बन जाते हैं। इसका क्षेत्र बहुत व्यापक है। इस तरह का लेखन स्थानीय स्तर पर अलग-अलग भाषाओं में है। इस पर आगे के अध्यायों में विश्लेषण किया गया है।

इसके अतिरिक्त डॉ. आंबेडकर द्वारा संविधान सभा में पेश की गयी दलीलों और उनके पूर्वाभाषों को भी आज बृहद परिदृश्य में देखा जा रहा है। रमाशंकर सिंह ध्यान दिलाते हैं कि अपने सार्वजनिक जीवन के आरंभ से डॉ. आंबेडकर का मानना था कि राजनीतिक ताकत ही अस्पृश्य जनों को बेहतर भविष्य का वादा कर सकती है। इसमें वे सफल होते दीख भी पड़े लेकिन इसी बीच उन्होंने

156. रावसाहब कसबे (2009).
157. डब्लयू.एन. कुबेर (1981).
158. नानकचंद रत्तू (1997).
159. नानकचंद रत्तू (1997).
160. नानकचंद रत्तू (2012).
161. धनंजय कीर (2012).
162. धनंजय कीर (2012).
163. वसंत मून (2004).
164. वसंत मून (2004).

देश के सभी निवासियों के लिए और खासतौर पर अस्पृश्य जनों के लिए यह महसूस भी किया कि केवल राजनीति ही सब कुछ नहीं बदल सकती है। उन्होंने संविधान सभा में कहा भी था कि केवल राजनैतिक लोकतंत्र से ही हमें संतुष्ट नहीं हो जाना चाहिए। अपने राजनैतिक लोकतंत्र को हमें सामाजिक लोकतंत्र का रूप भी देना चाहिए। सामाजिक लोकतंत्र से उनका आशय जीवन के उस मार्ग से था जो स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व को जीवन के सिद्धांत के रूप में मानता हो। संविधान सभा की बहसों में शुरू से लेकर अंत तक कई सदस्यों ने आर्थिक असमानता की बात की थी। वे आर्थिक लोकतंत्र की भी बात कर रहे थे लेकिन डॉ. आंबेडकर ने इसे बेधड़क, वेधक और स्पष्ट स्वर में कहा : ''आर्थिक स्तर पर हमारा समाज ऐसा समाज है जिसमे कुछ लोगों के पास अतुल संपत्ति है और कुछ ऐसे हैं जो निरी निर्धनता में जीवन बिता रहे हैं। 26 जनवरी 1950 को हम विरोधाभासों से भरे जीवन में प्रवेश कर रहे हैं। राजनैतिक जीवन में हम समता का व्यवहार करेंगे और सामाजिक तथा आर्थिक जीवन में असमानता का। राजनीति में हम एक व्यक्ति के लिए एक मत और एक मत का एक ही मूल्य के सिद्धांत को मानेंगे। अपने सामाजिक और आर्थिक जीवन में, अपनी सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था के कारण एक व्यक्ति का एक ही मूल्य के सिद्धांत का हम खंडन करते रहेंगे।... हमें इस विरोधाभास को जितनी जल्दी हो सके, मिटा देना चाहिए अन्यथा जो असमानता से पीड़ित हैं वे लोग इस राजनैतिक लोकतंत्र की उस रचना का विध्वंस कर देंगे जिसका निर्माण इस सभा ने इतने परिश्रम के साथ किया है।''[165] वास्तव में डॉ. आंबेडकर की बौद्धिक विरासत पर विचार किए बिना एक समावेशी भारत की रचना बहुत मुश्किल भरा काम है। यह बढ़िया बात है कि लोग भारतीय समाज की डॉ. आंबेडकर द्वारा पेश की गयी ज्ञानमीमांसा पर ध्यान दे रहे हैं।

निष्कर्ष

डॉ. आंबेडकर की बौद्धिक दुनिया उन मूल स्रोतों के धैर्यपूर्ण, श्रमसाध्य व समालोचनात्मक अध्ययन पर आधारित थी जिन्हें उन्होंने जाति व्यवस्था और विशेषकर अछूत प्रथा की असलियत से लोगों को वाकिफ़ कराने के लिए चुना

165. रमाशंकर सिंह (2020).

था। उनके लेखन से यह साबित होता है कि शासक वर्गों/जातियों के विमर्श का विखंडन, इतिहासविद् का मूल लक्ष्य है। अपनी स्थापनाओं को अंतिम न बताकर और इतिहास की विवेचना पद्धति में विशुद्ध कयासों और जो बात सैद्धांतिक दृष्टि से संभव हो सकती है, उनके बीच अंतर को रेखांकित कर डॉ. आंबेडकर ने भारत के सामाजिक इतिहास के प्रति एक खुला दृष्टिकोण अपनाया। डॉ. आंबेडकर की इतिहास पद्धति यदि आज भी प्रासंगिक और आर्कषक बनी है तो वह इसलिए क्योंकि उन्होंने कल्पना और फंतासी, कयास व संभावना और विश्वास करने योग्य वृत्तांत व बाल की खाल निकालने के बीच के महत्त्वपूर्ण राजनीतिक अंतर पर प्रकाश डाला। बतौर आधुनिकतावादी, वे चाहते थे कि तार्किक ज्ञान और एक नया समतावादी समाज बने न कि एक और मिथक, वर्चस्वशालियों के कुतर्कों का स्थान ले। अत: डॉ. आंबेडकर के लिए भारतीय समाज की विचारधारा का विखंडन, अपने आप में लक्ष्य नहीं था। डॉ. आंबेडकर के लिए किसी ग्रन्थ का समालोचनात्मक अध्ययन, 1945 के बाद साध्य नहीं बल्कि राजनीतिक लक्ष्यों को पाने का साधन था। वे अपने अनुयायियों से कहते थे कि वे पढ़ें, जो पढ़ें उसे गुनें, तौलें और अतीत की तार्किक समालोचना के आधार पर जीवन जीने के एक नए तरीके का विकास करें।

अध्याय : तीन

दलित अस्मितावादी इतिहास लेखन : समाज विज्ञान में दलित प्रस्थिति का शोध एवं उसकी समाजशास्त्रीय अनुगूँजें

इस अध्याय में अब मैं उस अकादमिक लेखन, विद्वत्ता और विमर्श की ओर आप का ध्यान दिलाना चाहता हूँ जो इन दलित प्रश्नों के इर्द-गिर्द उपजी और आगे बढ़ी हैं। दलित अध्ययनों ने जो दिशा पकड़ी है, वह कोई एकरेखीय नहीं रही है। पहले तो इसमें इतिहास लेखन के अंदर काम हुए हैं और फिर समाजशास्त्र के अंदर काम हुए हैं। इस अध्याय को दो भागों में विभाजित किया गया है। प्रथम भाग में हम दलित अस्मितावादी इतिहास लेखन के अंतर्गत दलितों के ऊपर इतिहास लेखन की कुछ पुस्तकों एवं अध्ययनों का विवरण और उनकी समीक्षा को प्रस्तुत करेंगे। जैसा कि सर्वविदित है कि दलित आंदोलन के संदर्भ में डॉ. आंबेडकर का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योगदान है। इसलिए यह अपेक्षित है कि उनके जीवन, कार्य, राजनीतिक गतिविधियों और विचारों पर लेखन केंद्रित हो। अत: यहाँ हम इतिहास एवं समाज विज्ञानों में दलित अध्ययनों की निर्मिती में डॉ. आंबेडकर संबंधी कुछ महत्त्वपूर्ण लेखन की भी चर्चा करेंगे। अध्याय के दूसरे भाग में दलित आंदोलन पर उपलब्ध अकादमिक विद्वत्ता की समीक्षा को प्रस्तुत किया गया है।

भाग-क

समाज विज्ञान में दलित अध्ययन : दलित अध्ययनों की निर्मिति

भारत के सामाजिक इतिहास के अध्ययन एवं लेखन की औपचारिक शुरुआत एक औपनिवेशिक विमर्श के रूप में हुई, जब यूरोपीय शक्तियों ने भारत को गुलाम बनाना प्रारम्भ ही किया था। 1770-1800 के दौर को उस काल के

निर्माणकारी दौर के रूप में देखा जाना चाहिए जब ब्रिटिशों ने अपनी शासन व्यवस्था मजबूत करने के लिए भारतीय भाषाओं का प्रयोग एक महत्त्वपूर्ण यंत्र के रूप में किया। संस्कृत, फारसी और अरबी के साथ कई भाषाओं को अधिक से अधिक ब्रिटिश कर्मचारी सीख रहे थे। इस सबके द्वारा ब्रिटिश उन उपकरणों को तैयार करने में लगे थे जिनके द्वारा वे राजस्व एकत्र कर सकें और भारत पर शासन चला सकें।[1] इसे ही बर्नार्ड कोह्न 'द कमांड ऑफ़ लैंग्वेज एंड द लैंग्वेज ऑफ़ कमांड' कह रहे थे। इस प्रकार भारत पर यूरोप का आधिपत्य भौगोलिक रूप में प्रारम्भ हुआ लेकिन शीघ्र ही यह एक औपनिवेशिक प्रयास में परिणत हो गया। वारेन हेस्टिंग्ज (1773–85 ई.) और उसके सहयोगी प्रशासक–सह इतिहासकारों, विशेषकर चार्ल्स विल्किंस और एन.बी.हालहेड के लेखन में यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है।[2] 1857 के विद्रोह के पश्चात लिखे गए ग्रन्थों जैसे जान विल्सन की इण्डियन कास्ट (1877), ई.डब्लू. हापकिंस की फोर म्युचुअल रिलेशंस ऑव कास्ट्स इन मनु (1881) तथा इमाइल सेनार्ट (1896) की कास्ट इन इंडिया में आरंभिक भारतीय समाज को विश्लेषित करने के प्रयत्न किए गए। इन प्रयासों की सीमा यह थी कि इन्होंने आरंभिक भारतीय समाज को उन्नीसवीं शताब्दी के भारत की सामाजिक वास्तविकताओं के परिप्रेक्ष्य में एक अनुभववादी दृष्टिकोण से विश्लेषित किया। इसी प्रकार शासितों के बारे में नृजातीय सूचनाएँ एकत्र करने के प्रयास 1901 की जनगणना में एच.एच.रिजले एवं ई.ए.गेट के द्वारा किए गए।[3] जी.डब्ल्यू.ब्रिग्स एवं वी.एस. शास्त्री ऐसे ही विद्वानों में थे। 1920 में जी.डब्ल्यू.ब्रिग्स ने 'द चमार्स' नामक ग्रन्थ लिखा जिसमें उन्होंने संयुक्त प्रांत या वर्तमान उत्तर प्रदेश के चमार समुदाय का अध्ययन नृजातीय एवं मानवशास्त्रीय आधार पर प्रस्तुत किया।[4] इसमें उन्होंने 1911 तक के जनगणना के आंकड़ों, मानववैज्ञानिक अध्ययनों, चमार समुदाय के बीच प्रचलित कहावतों–विश्वासों, जादू एवं जीवात्मवाद या एनीमिज्म को स्रोत के रूप में प्रयुक्त किया है। ब्रिग्स ने एक समुदाय विशेष के जीवन और उसकी परिस्थतियों, विश्वास एवं धर्म, अधिवास भूगोल, विवाह एवं नातेदारी, आंतरिक एवं बाह्य सामाजिक गतिशीलता

1. रणजीत गुहा (2011).
2. रमाशंकर सिंह (2017).
3. रमाशंकर सिंह (2017).
4. जी.डब्ल्यू.ब्रिग्स (1990).

के बारे में विस्तार से विवेचन किया है। प्रशासक इतिहासकारों की अन्तिम परंपरा में जे.एच.हट्टन आते हैं। उन्होंने कास्ट इन इंडिया : इट्स नेचर, फंक्शन, एंड ओरिजिंस में जाति प्रथा के उद्भव और विकास में योगदान देने वाले कारकों की एक सूची प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इसमें शामिल है- पारिस्थितिकीय अलगाव, कतिपय शिल्पों के बारे में जादुई विश्वास, नस्लों का टकराव एवं रंगभेद तथा किसी निश्चित सोपान पर स्थित समूह द्वारा नियोजित ढंग से शोषण।[5]

बीसवीं शताब्दी की शुरुआत में भारत के कुछ महत्त्वपूर्ण नेताओं ने दलित प्रश्नों पर विचार करना आरंभ कर दिया था, अप्रैल 1903 के धारवाड़ सामाजिक सम्मेलन में गोपाल कृष्ण गोखले कह रहे थे कि दलितों की स्थिति अत्यंत असंतोषजनक है तथा कोई भी निष्पक्ष इंसान यह मानेगा कि एक वर्ग के इंसान जिनका शरीर, दिमाग और दिल उन्हीं के समान है उन्हें किसी भी आधार पर एक कमतर जीवन की ओर धकेल देना, जहाँ उनका मानसिक तथा नैतिक शोषण हो और उनके समक्ष मुश्किलें खड़ी हों, न्याय की भावना के विपरीत है। उन्होंने इसे व्यापक तौर पर मनुष्यता का प्रश्न कहा था। ध्यान दीजिए अभी दलित प्रश्न जैसी शब्दावली का आना बाकी था। उन्होंने कहा कि यह मनुष्यता का प्रश्न है कि हम दलितों के साथ कैसा बर्ताव करते हैं? ध्यान दीजिए कि गोखले कह क्या रहे हैं- हम दलितों के साथ कैसा बर्ताव कर रहे हैं? यहाँ वे हम का प्रयोग उन लोगों के लिए कर रहे थे जो पढ़े-लिखे थे, सार्वजनिक और राजनीतिक जीवन में सक्रिय थे। उन्होंने इसी दौर में एक बहुत मार्के की बात कही थी कि दलित व्यक्तियों के साथ भेदभाव की स्थिति आर्थिक न होकर सामाजिक है। आगे चलकर डॉ. आंबेडकर इस सामाजिक स्थिति को राजनीति के माध्यम से बदलना चाहते हैं। 1901 में लाला लाजपत राय इसे इंसानियत, न्याय और आत्महित के सवाल से जोड़ते हैं और कहते हैं कि सबसे ज्यादा जरूरी कदम दलितों के लिए यही होगा कि उन्हें शिक्षा मिले, जिससे वे धीरे-धीरे ही सही पर सामाजिक सीढ़ी पर ऊपर चढ़ पाएं और अपनी आर्थिक समस्याओं को हल भी करें।[6] मद्रास में जुलाई 1911 में हो रही डिप्रेस्ड क्लास कॉन्फ्रेंस में जी.ए. नटेसन इसे राष्ट्र निर्माण और सामाजिक समानता से जोड़ते हुए इसमें ब्रिटिश सरकार को

5. जे.एच.हट्टन (1980).
6. सब्यसाची भट्टाचार्य, यगति चित्नाराव (2017) वही.

भी शामिल कर लेते हैं। वे कहते हैं कि ब्रिटिश शासन और अंग्रेज़ी शिक्षा ने हमें नए लक्ष्य, नई आशाएं दी हैं और अब यह उन सभी भारतीयों को समझ में आ गया है कि भारत तभी आगे बढ़ सकता है जब पिछड़े हुए वर्ग को हम आगे ले जाएँ। यह दु:ख की बात है कि सरकार का रवैया इसे लेकर बड़ा ही असंतोषजनक रहा है। जबकि अनुसूचित जातियों को संबोधित करते हुए 1913 में आर जी भंडारकर कह रहे थे कि इस वर्ग में शिक्षा और धर्मज्ञान का अभाव है। संतों ने कभी भी निचली जाति के लोगों से घृणा करने की बात नहीं की। महान व्यक्तियों ने दलितों के उत्थान के लिए अनेक कदम उठाएं हैं परंतु लोग जाति के बंधनों में ख़ुद को अभी तक बांधे हुए हैं। हमें यह सुनिश्चित करना होगा कि उनमें ज्ञान के लिए उत्सुकता और लगाव जगे। हमें यह भी देखना होगा की व्यवस्था ऐसी हो कि एक महार या कोई भी दलित अगर उनका मन हो तो मिस्त्री, बढ़ई या दर्जी बन सकें।[7]

1930 का दशक आते-आते भारत के स्वतन्त्रता संघर्ष का सामाजिक आधार पर्याप्त विकसित हो चुका था। इसमें विभिन्न समूहों की आवाजें शामिल हो रही थीं।[8] इसे डॉ.आंबेडकर ने बल प्रदान किया। 1917 में प्रकाशित अपने लेख 'कास्ट इन इंडिया' में वे समाजशास्त्रीय और ऐतिहासिक दृष्टि से जातियों के उद्भव पर विचार करते हैं। उनका मानना था कि हालाँकि वैदिक काल के भारतीय समाज में अन्य समकालीन समाजों की तरह वर्ग-विभाजन था, लेकिन जातियाँ नहीं थीं। जाति की परिभाषा देते हुए वे लिखते हैं यह सजातीय विवाह के आधार पर बनती है, अर्थात जब सजातीय विवाह को बर्हिजातीय विवाह से उत्कृष्ट मान लिया जाता है तो जाति का जन्म होता है। अत: जब ब्राह्मणों ने अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए सजातीय विवाह को अपना लिया और अन्य जातियों ने भी उनका अनुसरण करते हुए इस परंपरा को स्वीकार कर लिया, तब से जाति भारतीय समाज की एक मूल इकाई बन गई। इस तरह धीरे-धीरे ज़्यादातर लोग जाति के घेरे में आते गए और जो लोग इस घेरे से बाहर रहे उन्हें एक तरह से समाज से निर्वासित अर्थात आउटकास्ट या बहिष्कृत कर दिया गया। इस तर्क में यह अंतर्निहित है कि इन्हीं बहिष्कृत लोगों से दलित या अछूत जातियों का निर्माण

7. सब्यसाची भट्टाचार्य, यगति चिन्नाराव (2017) वही.
8. शेखर बंद्योपध्याय (2010): 334-404.

हुआ।[9] अपने एक अन्य लेख 'अनटचेबल्स : हू वेयर दे एंड ह्वाई दे बिकेम अनटचेबल्स' 1917 में डॉ. आंबेडकर अस्पृश्यता और अस्पृश्य जातियों के निर्माण के बारे में विस्तार से विचार करते हैं। 1948 में प्रकाशित यह लेख गहनता से पुरातन साक्ष्यों के विश्लेषण के आधार पर दलितों के इतिहास के विषय में डॉ. आंबेडकर की मान्यताएँ प्रस्तुत करता है। उनके अनुसार समाज के कुछ लोगों को दो प्रक्रियाओं के तहत अछूत बनाया गया। पहली प्रक्रिया काफ़ी हद तक सार्वभौमिक है। सभ्यता के प्रारंभ में प्रत्येक समाज में कुछ लोग ऐसे होते हैं जो पराजित कबीलों के थे और उनके कबीलों के टूटने के बाद वे समाज में समाहित न हो सके। डॉ. आंबेडकर इन लोगों को 'ब्रोकेन मैन' अर्थात टूटे हुए लोग या दलित कहते हैं। ये लोग बस्तियों के बाहर रहते थे और अन्य कबीलों के आक्रमणों से बस्ती के लोगों की रक्षा करते थे। अत: एक प्रकार से ये लोग निरंतर बहिष्कृत ही थे, हालाँकि अछूत नहीं थे। दूसरी महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया जिसने इन्हें अछूत बना दिया उसका वर्णन डॉ. आंबेडकर इस तरह से करते हैं। ये 'टूटे हुए लोग' बौद्ध धर्म के अनुयायी थे। जब ब्राह्मणवाद भारत में पुनर्जीवित हुआ तो ब्राह्मण लोग बौद्ध लोगों से बहुत घृणा करते थे। इसके अतिरिक्त बौद्ध धर्म के अहिंसावाद से अपने को उत्कृष्ट सिद्ध करने के लिए ब्राह्मणों ने न सिर्फ मांसाहार पूर्ण रूप से बंद कर दिया बल्कि स्वयं शाकाहारी बन गए, गाय को धर्म की मूल प्रस्थापना में सम्मिलित करके गोमांस को सबके लिए प्रतिबंधित कर दिया। चूँकि 'टूटे हुए लोग' गोमांस खाते थे और लगातार खाते रहे, अत: ब्राह्मणों ने उन्हें अछूत घोषित करके समाज से पूर्णरूपेण बहिष्कृत कर दिया। अत: वे लोग जो पहले से ही बस्तियों से बाहर रहते थे, जो बौद्ध धर्म के अनुयायी बने रहे और जिन्होंने गोमांस का परित्याग करने से इनकार कर दिया वे अछूत और बहिष्कृत बन गए।[10] यद्यपि डॉ. आंबेडकर के लेखों को दलितों के इतिहास पर विस्तृत विचार करने वाली सर्वप्रथम प्रस्तुति माना जा सकता है। रामशरण शर्मा का शोध प्रबंध शूद्राज इन एंशिएंट इंडिया (1956) आरंभिक भारत के सामाजिक इतिहास लेखन के साथ-साथ शूद्रों के इतिहास पर पहली सम्पूर्ण पुस्तक कही जा सकती है। ऋग्वेद के युग से लेकर 1200 ईस्वी सन् तक के

9. भीमराव आंबेडकर (1918).
10. भीमराव आंबेडकर (1917).

कालखण्ड में शूद्रों के इतिहास पर यह प्रथम गम्भीर काम था जिसमें संस्कृत एवं पालि-प्राकृत साहित्य के स्रोतों को गहन रूप में प्रयुक्त किया गया था। जाति या वर्ण व्यवस्था की गहन पड़ताल और प्राचीन भारत में सामाजिक संबंधों की प्रकृति को समझने की दृष्टि से यह ग्रन्थ केंद्रीय महत्त्व रखता है।[11] इस पुस्तक ने आने वाले दशकों में दलित अध्ययन और उससे जुड़े विषयों पर एक आधार पुस्तक का काम किया है।[12] इतिहासकार डी.डी. कोसंबी ने एन इंट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑफ़ इण्डियन हिस्ट्री (1956) तथा द कल्चर एंड सिविलाइजेशन ऑफ़ एनशिएंट इंडिया इन हिस्टोरिकल आउटलाइन (1965) में प्राचीन भारतीय इतिहास का एक ऐसा दृष्टिकोण प्रस्तुत किया जिनके द्वारा भारतीय समाज की बनावट की प्रकृति को समझने के आधारभूत प्रश्नों के उत्तर खोजने का प्रयास किया गया।

विवेकानंद झा ने अपने लेखों में खास तौर पर प्राचीन भारत में अछूतों के इतिहास पर ध्यान केंद्रित किया है। अपने लेख 'स्टेजेज इन दि हिस्टरी ऑफ़ अनटचेबल्स' (1975) और 'चांडाल एंड द ओरिजिंग ऑफ़ अनटचेबिलिटी' (2004) में वे ऋग्वैदिक काल से लेकर सन् 1200 ईसवी तक दलितों के इतिहास का सर्वेक्षण करते हैं। वे 'अछूतों के इतिहास' को चार चरणों में विभाजित करते हैं। इनके अनुसार, ऋग्वैदिक काल में कोई अछूत नहीं था, न ही कोई समाज से बहिष्कृत था। हालाँकि उत्तरवैदिक काल में चांडाल को अत्यंत घृणा के साथ देखा जाता था, परंतु वे अछूत नहीं थे। वैदिक काल की समाप्ति के बाद दूसरे चरण की शुरूआत हुई जो 600 ईसापूर्व से 200 ई. तक माना जा सकता है। इस दौरान प्रदूषण और कुछ हद तक अस्पृश्यता की भावनाएँ उभरने लगीं। चांडाल न सिर्फ प्रदूषित बल्कि अछूत भी समझे जाने लगे। उन्हें सामाजिक और धार्मिक स्तर पर अशुभ और अमंगलकारी माना जाने लगा। तीसरे चरण (सन् 200 से 600 ई. तक) में अस्पृश्यता से संबंधित प्रतिबंध अधिक सशक्त होते गए और नए समूह अछूतों की श्रेणी में शामिल किए जाते रहे जिससे उनकी संख्या में काफ़ी वृद्धि हो गई। अछूत माने जाने वाले विभिन्न जातियों के लिए भिन्न-भिन्न स्तर पर अपवित्रता के नियम लागू किए गए। चौथे चरण में, सन्

11. ई. श्रीधरन (2011) :432
12. रमाशंकर सिंह (2017).

600 से 1200 ई. तक में अनगिनत नए समूहों को अछूत करार देकर उनको अपवित्र घोषित किया गया। इस तरह से दलित जातियों की संख्या में अपरिमित वृद्धि हुई और उनके खिलाफ प्रतिबंध और कड़े होते गए।[13]

दक्षिण भारत में जाति व्यवस्था और अस्पृश्यता के विकास पर के. आर. हनुमंत का लेख 'इवोल्यूशन ऑफ़ अनटचेबिलिटी इन तमिलनाडु' (2004) महत्त्वपूर्ण है। उनका मानना है कि अस्पश्यता वस्तुत: वर्ण व्यवस्था का ही उपोत्पाद (बाई-प्रोडक्ट) है। उत्तर-वैदिक काल में अछूतों को चांडाल कहा जाता था ओर उनके दो प्रकार थे: कर्म चांडाल और जन्म चांडाल। हनुमंतन के अनुसार, अहिंसा के सिद्धांत ने अछूत जातियों की संख्या में बहुत बढ़ोत्तरी कर दी। इसके कारण जो जातियाँ (जैसे परइयार, चमार इत्यादि) पहले समाज में सम्मानित और प्रतिष्ठित थीं, अब धीरे-धीरे अछूतों की श्रेणी में शामिल होती गईं। तमिलनाडु में संगम काल में छुआछूत की भावना नहीं थी। लेकिन उत्तर संगम काल में इस मनोवृत्ति की शुरूआत और अस्पृश्यता का जोर बढ़ा। पल्लव काल में (सन् 575-900 ई.) जाति व्यवस्था और अस्पृश्यता की भावना समाज में और व्यापक और गहरी होती गई। पल्लव काल में ही तमिल समाज में गोमांस खाने वालों के प्रति वितृष्णा की भावना व्याप्त हो गई। लेखक के अनुसार, दक्षिण भारत में संगम युग में अस्पृश्यता नहीं मौजूद थी, उत्तर-संगम काल में बौद्ध और जैन धर्मों के अहिंसा-सिद्धांत के कारण इसका अविर्भाव हुआ और पल्लव युग में इस भावना का विस्तार हुआ। चोल काल में अलग अछूत गाँवों का जिक्र पाया जाता है, और विजयनगर शासनकाल में अछूत जातियों की संख्या काफ़ी बढ़ जाती है। सुवीरा जायसवाल ने अपनी पुस्तक कास्ट आरिजिन, फंक्शन एंड डाइमेंशन ऑफ़ चेंज (2005) में जाति व्यवस्था के उद्‌भव और विकास पर गंभीरता से विचार किया है। उनके अनुसार जातियों का उद्‌भव एक सामाजिक प्रक्रिया के तहत हुआ और यह वर्ण व्यवस्था के मानक पर आधारित था। जातियों का निर्माण और विशेष रूप से सजातीय विवाह की प्रथा निरंतर सुदृढ़ होते पितृसत्ता के कारण विकसित हुई। इसके अलावा श्रमिकों की लगातार बढ़ती हुयी जरूरत ने शूद्रों और अछूतों का निर्माण किया। इस तरह से, लेखिका के अनुसार, जाति व्यवस्था दरअसल वर्ण व्यवस्था पर आधारित है और प्राचीन भारत में वर्ग-समाज को

13. विवेकानंद झा (1975) एवं विवेकानंद झा (2004).

नियंत्रित करने का काम करती थी। शासक वर्गों के हितों को सुरक्षित करने में इसकी बड़ी भूमिका थी। अत: जाति-व्यवस्था और अस्पृश्यता के मूल में निरन्तर सुदृढ़ होती पितृसत्तात्मकता, शारीरिक श्रम के प्रति अरूचि और तिरस्कार की भावना और श्रमिकों के नियंत्रित करने की आवश्यकता थी।[14]

इसके अलावा रिचर्ड फिक (2007), देवराज चानना, उमा चक्रवर्ती और कुमकुम राय (1997)[15] ने इस विषय पर काम किया है। इन सभी विद्धानों के लेखन के निष्कर्ष में दो बातें कही जा सकती हैं। पहली तो यह कि दलित जातियों का निर्माण एक ऐतिहासिक प्रक्रिया थी जो विभिन्न चरणों में चलती रही और इस सामाजिक वर्ग का आकार बढ़ता रहा। दूसरी बात यह कि बौद्ध और जैन धर्मों में हालाँकि एक समतामूलक भावना थी और विशेष रूप से बौद्ध धर्म में दलितों को भी स्थान मिला, लेकिन वे भी अस्पृश्यता की भावना से पूरी तरह मुक्त नहीं थे। इसके अलावा कई क्षेत्रों में तो इन धर्मों द्वारा अहिंसा पर जोर दिये जाने के कारण कई जातियों या कबीलाई समूह, जिनका जीवन पशु-पक्षियों के शिकार पर आधारित था या जो किसी रूप से चमड़े के काम से जुड़े हुए थे, सामाजिक सोपान में नीचे की ओर धकेल दिए गए। अर्थात अहिंसा का सिद्धांत जिसे जैन धर्म और बौद्ध धर्म ने ब्राह्मणवादी बलि की परंपरा के विरोध में शुरू किया, और जिसे बाद में ब्राह्मणवाद ने भी अपना लिया, कई जातियों और समूहों की सामाजिक स्थिति के लिए अत्यंत नकारात्मक साबित हुआ। यह अहिंसावाद पर टिप्पणी नहीं है और न ही इसके औचित्य पर फ़र्क़ पड़ता है, यह सिर्फ इस बात की ओर संकेत है कि कैसे समाज में कल्याणकारी सिद्धांतों के कारण भी अनपेक्षित परिवर्तन हो जाते हैं।

देबजानी गांगुली अपनी पुस्तक 'कास्ट, कॉलोनियलिज़्म एंड काउंटर-मॉडर्निटी: नोट्स ऑन ए पोस्ट-कॉलोनियल हर्मेन्युटिक्स ऑफ़ कास्ट'[16] में उस परिघटना को समझने का प्रयास करती हैं, जिसके अंतर्गत करीब 150 वर्षों का औपनिवेशिक शासन और वैश्विक पूँजीवादी आधुनिकता भी जाति के अस्तित्व को ख़त्म कर पाने में विफल रही है। इस परिघटना को उसकी समग्रता में समझते हुए वे जाति की व्याख्या और उसे विश्लेषित करने के लिए यूरोपीय विचार-

14. सुवीरा जायसवाल (2005).
15. रिचर्ड फिक (2007), उमा चक्रवर्ती (1987) एवं कुमकुम रॉय (1999).
16. देबजानी गांगुली (2005).

प्रणाली से नि:सृत श्रेणियों के इस्तेमाल पर सवाल भी खड़े करती हैं। यहाँ वे बर्नार्ड कोह्न के उस विचार की मदद लेती हैं, जिसके अनुसार ज्ञान की एक विधा के रूप में इतिहास और मानव-विज्ञान दोनों ही पश्चिमी यूरोप के उन ऐतिहासिक अनुभवों से गहरे सम्बद्ध हैं, जो पंद्रहवीं सदी से लेकर वर्तमान तक फैली हुई है। आशीष नंदी, एडवर्ड सईद और दीपेश चक्रवर्ती सरीखे विचारकों के उत्तर-औपनिवेशिक चिंतन से प्राप्त होने वाली अंतर्दृष्टियों का प्रयोग वे रोज़मर्रा के जीवन में जाति की मौजूदगी, उसके प्रभाव, आधुनिकता के अंतर्द्वंद्वों को गहराई से समझने के लिए करती हैं। इस क्रम में वे जाति के समाजशास्त्रीय और ऐतिहासिक विश्लेषणों की भी गहन पड़ताल करती हैं। होमी भाभा के हवाले से वे उपनिवेशों में आधुनिकता की सीमाओं को रेखांकित करती हैं। आधुनिकता की ये सीमाएं तब और स्पष्ट हो जाती हैं, जब हम पाते हैं कि उपनिवेशों में रहने वाले लोगों को स्वतन्त्रता, नागरिक स्वायत्तता और विकल्प चुनने के मूलभूत अधिकारों से भी वंचित रखा गया था। उल्लेखनीय है कि ये सभी मूल्य आधुनिकता के विचार से अविभाज्य रूप से जुड़े हुए थे। रोनाल्ड इंडेन और मैल्किम मैरियट द्वारा भारत में जाति-व्यवस्था में लिखे गए एक लेख के हवाले से देबजानी गांगुली उन विविध स्वरूपों को समझने की कोशिश करती हैं, जिनमें आधुनिक अकादमिक ज्ञान संसार के अंतर्गत जाति को प्रस्तुत किया गया। उनके अनुसार राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया में भी जाति कमजोर होने के बजाय बीसवीं सदी में जाति-आधारित संगठनों के उभार के साथ और शक्तिशाली होती चली गई। चुनावी राजनीति और दैनंदिन व्यवहार में भी जाति की उपस्थिति प्रभावशाली ढंग से सामने आई है। लॉयड रूडोल्फ और सुसैन रूडोल्फ ने अपनी पुस्तक 'द मॉडर्निटी ऑफ़ ट्रेडीशन पॉलिटिकल डेवलपमेंट इन इंडिया'[17] में दिखाया भी है कि किस तरह जाति में आधुनिकता की अवस्थाओं के अनुरूप ख़ुद को ढाल लेने की संभावनाएँ अंतर्निहित हैं। देबजानी गांगुली के अनुसार, जहाँ एक ओर जातिगत हिंसा उत्पीड़न के जरिए (सोशल स्पेस) सामाजिक क्षेत्र में हिंसक वातावरण बनाती है, वहीं दूसरी ओर सांस्कृतिक व्यवहारों में भी जाति विविध रूपों में अभिव्यक्त होती है। देबजानी गांगुली मिथकीय ग्रन्थों,भावात्मक इतिहासों और साहित्य के जरिए जाति के प्रस्तुतीकरण को विश्लेषित करती हैं। आधुनिकता के बरक्स वे जिस

17. लॉयड रूडोल्फ, सुसैन रूडोल्फ (1984).

'प्रति-आधुनिकता' की बात करती हैं, उससे उनका तात्पर्य है कि यह न तो परंपरा और अतीत से बिलकुल अलग और असंपृक्त (कोई सरोकार न रखने वाला, उदासीन) है, और न ही इसमें वर्तमान को महिमामण्डित करने की प्रवृत्ति शामिल है। डॉ. आंबेडकर द्वारा शूद्रों की उत्पत्ति और उनकी ऐतिहासिक विकास-यात्रा पर लिखी गई कृतियों मसलन, 'अनटचेबल्स : हू वर दे एंड व्हाय दे बिकेम अनटचेबल्स' और साथ ही, 'द बुद्ध एंड हिज धम्म' का विश्लेषण करते हुए देबजानी गांगुली इस निष्कर्ष पर पहुँचती हैं कि इन विचारोत्तेजक कृतियों के जरिए डॉ. आंबेडकर ने दलितों को वह भाषा दी, जिससे वे अपने सपनों और एक बेहतर जीवन की आकांक्षा को बुन सकें। इस क्रम में वे मराठी में रचे गए दलित साहित्य और 'दलित पैंथर्स', विशेषकर नामदेव ढसाल, अर्जुन डांगले और राजा ढाले के योगदान को भी रेखांकित करती हैं। दलितों के जीवन-संसार और उनकी विश्वदृष्टि को समझने के क्रम में वे जीवन और मृत्यु पर जाति के प्रभावों की भी व्याख्या करती हैं और जाति व जेंडर के नाम पर किए जाने वाले उत्पीड़न का खुलासा करती हैं। इसके लिए वे सबाल्टर्न इतिहासकार रणजीत गुहा के चर्चित लेख 'चंद्राज़ डेथ' और अरुंधति रॉय के उपन्यास 'द गॉड ऑफ़ स्माल थिंग्स' को चुनती हैं। इस तरह वे राष्ट्र-निर्माण और समाज-विज्ञान के विमर्शों का हिस्सा बन चुकी जाति के प्रतिरोध का आख्यान भी तैयार करती हैं।

एस.एम. माइकल द्वारा सम्पादित पुस्तक दलित्स इन मॉडर्न इंडिया (1999) कई महत्त्वपूर्ण लेखों का संग्रह है जो दलितों के इतिहास, उनकी सामाजिक-आर्थिक स्थिति और सांस्कृतिक धरोहर पर प्रकाश डालते हैं। उनका निष्कर्ष है कि लोकतांत्रिक संस्थाओं के विकास और संख्या की राजनीति के कारण स्वतंत्र भारत में दलितों का महत्त्व बहुत बढ़ा है। इस पुस्तक में सम्मिलित लेख फुले, डॉ. आंबेडकर, दलित महिलाओं की स्थिति, दलितों पर सरकारी आर्थिक नीति जैसे विषयों पर चर्चा करते हैं जो इन विषयों में रूचि रखने वाले पाठकों के लिए प्रासंगिक है। जॉन सी.बी. वैबस्टर ने 'दलित' शब्द की उत्पत्ति की विस्तृत विवेचना की है। दलित कौन है की समस्या पर एक ऐतिहासिक खोज के बाद वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि केवल जाति, वर्ग अथवा धर्म नहीं, यह निर्धारित करती है कि दलित कौन है। इस तरह से एस.एम. माइकल दलित पहचान के संदर्भ में इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि आज दलितों की स्व-दृढ़ता अनेक विरोधी-स्थितियों गाँधी बनाम डॉ. आंबेडकर, हरिजन बनाम दलित, वर्ण बनाम

जाति, मनुवाद बनाम जातिविहीन समाज, पर होने वाली बहस में स्वयं को प्रकट करती है।[18] हिंदू समाज की दलित दृष्टि, उच्च जाति की दृष्टि जैसी ही नहीं है। दूसरे भाग का संबंध भी इसी बात से है। महेश गावस्कर द्वारा लिखित अध्याय ज्योतिराव फुले के योगदानों का अध्ययन प्रस्तुत करता है।[19] जिन्होंने आधुनिक दलित आंदोलन की आधारशिला रखी और जिनको भारतीय सामाजिक क्रांति के जनक के रूप में भी जाना जाता है।[20] इसके पश्चात् एस.एम.माइकल द्वारा रचित अध्याय है जिससें प्रख्यात सामाजिक दार्शनिकों के मुख्य विचारों की रूपरेखा प्रस्तुत की गई है: जैसे ज्योतिराव फुले, ई.वी. रामास्वामी पेरियार एवं बाबा साहब डॉ. आंबेडकर जिनका आज के दलित आंदोलन पर बहुत गहरा प्रभाव है। इसके बाद के अध्याय में टिमूथी फिट्जगेराल्ड ने भारतीय समाज पर डॉ. आंबेडकर के विचारों के सामाजिक परिणामों को और आगे विकसित किया है। गोपाल गुरू ने मुख्यधारा के समाजशास्त्र में दलित आंदोलन के प्रश्न को उठाया है। उनके मतानुसार विद्वानों की वैचारिक स्थिति दलित समाजशास्त्र के प्रति उनके अभिगम का निर्माण करेगी। यदि कुछ विद्वान यह मानते हैं कि दलित आंदोलन, वर्तमान समाज व्यवस्था में आंशिक परिवर्तन प्राप्त करने तक ही सीमित है, तो दलित समाजशास्त्र की उनकी दृष्टि उन विद्वानों से भिन्न होगी, जो भारतीय समाज के पूर्ण रूपान्तरण में विश्वास रखते हैं।[21] दलित समाजशास्त्र में मुक्ति आंदोलनों का एक तुलनात्मक अध्ययन अत्यधिक मूल्यवान होगा। इसे के.पी. सिंह द्वारा किया गया है, जिन्होंने दो भिन्न सांस्कृतिक ढांचों में दो शोषित समुदायों की तुलना की है– भारत एवं यू.एस.ए.। दलितों तथा अफ्रीकी–अमरीकियों द्वारा प्रारम्भ किए गए सामाजिक आंदोलन विरोध के स्वभाव पर आधारित हैं और यह विरोध उनके सामाजिक–आर्थिक, धार्मिक–सांस्कृतिक एवं कानूनी, दमन एवं शोषण के विरुद्ध दिशा निर्देशित है। लेखक यह मानता है कि एक 'दलित चेतना' एवं एक 'श्याम चेतना' ने दलितों को सम्मान प्रदान किया है एवं अफ्रीकी अमरीकियों को उनके अपने समुदायों में अधिक सम्मानित बना दिया है।[22]

18. एस.एम.माइकल (1999).
19. महेश गावस्कर (1999).
20. धनंजय कीर (1964).
21. महेश गावस्कर (1999).
22. के.पी.सिंह (1999).

स्टीफन फुक्स ने दलित समाजशास्त्र ''द चिल्ड्रन ऑफ़ हरि'', ''एट दि बौटम ऑफ़ इन्डियन सोसायटी' एवं दलितों पर अनेक लेख उन पर उनकी निरन्तर रूचि के पर्याप्त प्रमाण हैं। ''दि चिन्ड्रन ऑफ़ हरि'' मध्य प्रदेश में नीमर बलहीं पर एक प्रबंध, जो 1950 में प्रकाशित हुआ था, भारत में एक दलित जाति का पहला विस्तृत वैज्ञानिक अध्ययन है।[23] बारबरा जोशी की पुस्तक, डेमोक्रेसी इन सर्च ऑफ़ इक्वलिटी (1982), में आजादी के बाद के भारत में दलितों की आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था पर विचार किया गया है। लेखिका के अनुसार, दलितों की स्थिति में जो थोड़ा-बहुत सुधार हुआ है वह उद्योगीकरण और शहरीकरण के कारण नहीं बल्कि सरकार द्वारा दलितों को राजनीतिक प्रतिनिधित्व, नौकरियों में आरक्षण और उनके पक्ष में लागू अन्य कई योजनाओं के कारण है। उनका जोर खास तौर से लोकसभा, विधानसभा, पंचायत इत्यादि से संबंधित राजनीतिक आरक्षण पर है जिन्हें वे दलितों की स्थिति सुधारने के लिए आवश्यक मानती हैं।[24]

ऑलिवर मेंडेलसॉन और मारिका विक्जियानी ने अपनी पुस्तक दि अनटचेबल्स (2002), में दलित वर्ग को विभिन्न कोणों से देखने का प्रयास किया है जिसमें ऐतिहासिक, समाजशास्त्रीय, राजनीतिक और नृशास्त्रीय दृष्टिकोण शामिल हैं। दलित जातियों के लिए प्रयुक्त कई पदों जैसे दलित, हरिजन, आदि-हिंदू, आदि-द्रविड़, अनुसूचित जाति, अछूत इत्यादि पर विचार करने के बाद वे 'अछूत' या 'अस्पृश्य' शब्द को ही चुनते हैं क्योंकि यह उनके अनुसार सर्वाधिक प्रासंगिक है। दलितों के इतिहास, उनके आंदोलनों और भारत सरकार द्वारा उनके हित में लागू किए गए कानूनों और उन कानूनों की आंशिक सफलता का एक सामान्य विवरण इस किताब में दिया गया है। इसके अलावा वे दलितों से जुड़े वर्ग के पहलू पर भी विचार करते हैं। अत: दलित लोग खेतिहर मजदूर, औद्योगिक मजदूर, गरीब और सर्वहारा की तरह भी सामने आते हैं। इस तरह से इस पुस्तक में जाति और वर्ग या लेखक के शब्दों में, अछूत लोग समाज और अर्थव्यवस्था के सबसे निचले खाने में मौजूद हैं और उनकी यह दशा गाँवों, खेतों, फैक्टरियों और शहरों की झोपड़पट्टियों में देखी जा सकती है। इसके अलावा इस पुस्तक

23. स्टीफन फुक्स (1999).
24. बारबरा जोशी (1982).

में दलितों पर शोषण और दमन के विभिन्न प्रकार के पारंपरिक और आधुनिक स्वरूपों का भी चित्रण किया गया है जिसमें सबसे चुभने वाली बातें हैं दलितों पर प्रत्यक्ष हिंसा और दलित स्त्रियों का यौन-शोषण।[25] डॉ. आंबेडकर की राजनीतिक विचारधारा का 1920 के दशक से 1956 तक के समय का विश्लेषणात्मक विवरण प्रस्तुत करती हुई एम.एस. गोरे की पुस्तक दि सोशल कांटेक्स्ट ऑफ़ ऐन आडियोलॉजी (1993), इस क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण योगदान है। लेखक के अनुसार, डॉ. आंबेडकर की विचारधारा के मूल में यह बात थी कि अस्पृश्यता का खात्मा कैसे किया जाए। हालाँकि वे दलितों के लिए शिक्षा, उचित रोजगार, और रहने की समुचित व्यवस्था और बेहतर स्वास्थ्य-सुविधाओं पर भी बल देते रहे, लेकिन इन सबके पीछे उनकी मंशा अस्पृश्यता को निर्मूल करने की थी। इसके अलावा मंदिरों में प्रवेश और जल-स्रोतों के सामूहिक उपयोग के पीछे भी उनका विचार छुआछूत को समाप्त करके सामाजिक समता स्थापित करने का था। डॉ. आंबेडकर दलितों के लिए राजनीति पर अधिक जोर देते थे और मानते थे कि राजनीतिक अधिकारों की प्राप्ति के बाद ही सामाजिक और सांस्कृतिक सुधार ठीक से हो सकते हैं।[26] डॉ. आंबेडकर पर एक अन्य महत्त्वपूर्ण पुस्तक क्रिस्टोफ़ जैफरलोट द्वारा लिखित डॉ. आंबेडकर एंड अनटचेबिलिटी (2005) है जो उनके जीवन, राजनीति और विचारधारा का संक्षिप्त लेकिन विचारोत्तेजक विवरण और विश्लेषण प्रस्तुत करती है। इसमें डॉ. आंबेडकर की भारतीय संविधान के निर्माण में भूमिका अधिक ध्यान देने योग्य है। लेखक के अनुसार डॉ. आंबेडकर ने इस प्रक्रिया में एक संतुलन बनाए रखा और संविधान को एक उदारवादी लोकतांत्रिक ढाँचे में ही रखा। इसके लिए उन्होंने गाँधी द्वारा गाँव को संविधान के मूल में लाने की माँग का जमकर विरोध किया और यह सुनिश्चित किया कि एक केंद्रीकृत संघ की व्यवस्था हो। लेखक के अनुसार, अपनी राजनीतिक विचारधारा में डॉ. आंबेडकर आधुनिकतावादी थे और नेहरू से उनके विचार काफ़ी मिलते थे।[27]

दलित आन्दोलन, दलित ज्ञान मीमांसा के कई महत्त्वपूर्ण सवालों और बहसों को सम्मिलित करती हुई अभय कुमार दुबे (2007) द्वारा सम्पादित आधुनिकता

25. ऑलिवर मेंडेलसॉन एंड मारिका विक्जियानी (1998).
26. एम.एस. गोरे (1993).
27. क्रिस्टोफ़ जैफरलोट (2005).

के आइने में दलित[28] पुस्तक दलित ज्ञान मीमांसा, बनता बिगड़ता हुआ दलित लोकवृत्त, दलित अंतर्विरोध, दलित, बाजार और मुक्ति के सवालों को समाहित करती है। इस किताब में सम्मिलित आलेखों और बहसों की बुनियादी मान्यता यह है कि धर्म और परंपरा के ही नहीं, आधुनिकता के दायरे में भी दलित समस्या का पूरा समाधान सम्भव नहीं हो पाया है। इस पुस्तक में यह समझने की कोशिश की गई है कि साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष से लेकर एक आधुनिक राष्ट्र-निर्माण की विराट परियोजना चलाने के दौरान दलित समस्या पूरी तरह क्यों नहीं दूर हुई। दलित आंदोलन के स्त्रोतों की खोज से शुरू हुई यह बौद्धिक यात्रा इतिहास, संस्कृति, अस्मिता, चेतना, साहित्य, अवमानना के राजनीतिक सिद्धांत और ज्ञानमीमांसा के क्षेत्रों से गुजरने के बाद व्यावहारिक राजनीति में होने वाली दलीय होड़ की जाँच पड़ताल करती है। ताकि भारतीय गणतंत्र के संविधान प्रदत्त सार्विक मताधिकार की समाज परिवर्तनकारी क्षमताओं की असली थाह ली जा सके। यह दलित मीमांसा उन ताजा बहसों पर गहरी नज़र डालती है जो अभी तक किसी नतीजे पर नहीं पहुंची है लेकिन जिनकी परिणतियों में दलित प्रश्न को आमूल-चूल बदल डालने की क्षमता है। इसके साथ ही इस पुस्तक के विभिन्न लेख समकालीन दलित आंदोलन और आजकल दलित प्रश्न जिस उत्तेजक बहस से गुजर रहा है वह भूमंडलीकरण के साथ उसके संबंधों पर केंद्रित है। हालाँकि इस बहस को कई साल पहले दलित आंदोलन की मशहूर व्याख्याता गेल ओम्वेट ने छेड़ा था। गेल ओम्वेट का दावा था कि नई आर्थिक नीतियों से दलितों को लाभ होगा क्योंकि निजीकरण और बाजारीकरण की प्रक्रिया उस पब्लिक सेक्टर को तोड़ रही है जो अपने स्वभाव में ब्राह्मणवादी है। गेल ओम्वेट की यह प्रस्थापना जल्दी ही विवादास्पद हो गयी लेकिन वे अपने विचारों पर दृढ़ बनी रहीं और धीरे-धीरे उनकी छवि धनी किसानों के आंदोलन के साथ उनके सांगठनिक संबंधों के आधार पर ही पहचानी जाने लगी। गेल के विचारों के विपरीत डी.आर. नागराज, कांचा इल्लैया और गोपाल गुरु जैसे दलित आंदोलन के व्याख्याता इस नतीजे पर पहुँच चुके हैं कि भूमंडलीकरण हाशिये पर पड़े तबकों की मृत्यु-घोषणा के अलावा कुछ नहीं है।[29]

लेकिन इस नतीजे से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि दलित और उनके

28. अभय कुमार दुबे (2007).
29. अभय कुमार दुबे (2007) वही.

हितरक्षक भूमंडलीकरण संबंधी दुविधाओं से उबर चुके हैं। उनका ऊहापोह दो व्यावहारिक रूपों में सामने आया है। पहला, क्या दलित-प्रश्न का भूमंडलीकरण किया जाना चाहिए और दूसरा, क्या दलितों को भूमंडलीकरण के विरोध में चल रहे आंदोलन में भाग लेना चाहिए? पहली दुविधा के साथ जाति को अंतर्राष्ट्रीय मंचों पर नस्ल की श्रेणी में पेश करने का विवाद जुड़ा है और दूसरी के साथ साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष या स्वदेशी के नाम पर चलाई जा रही भूमंडलीकरण विरोधी मुहिम में एक बार फिर दलित-प्रश्न के पृष्ठभूमि में चले जाने के खतरे की समस्या है। दलित देख चुके हैं कि जो आंदोलन ख़ुद उनके नेतृत्व में नहीं चलता उससे उन्हें कोई प्रत्यक्ष लाभ नहीं पहुँचता और इस मुहिम पर उनका नेतृत्व स्थापित होने की संभावनाएँ दूर-दूर तक नहीं है। डरबन सम्मेलन के संदर्भ में दलित मीमांसा इस बहस में तीन शीर्ष समाज-विज्ञानियों के तर्कों को पेश करती है। शिव विश्वनाथन अपने विचारोत्तेजक आलेख दलित-स्पर्श से डरता समाजशास्त्र में किताबी समाजशास्त्र की सीमाओं को उद्घाटित करते हुए उन बुद्धिजीवियों की आलोचना करते हैं जो लंबी नींद से जाग कर बदली हुई दुनिया को देख कर बौखला जाते हैं। कभी मंडल सिफारिशों ने यही भूमिका निभायी थी और आज जातिगत उत्पीड़न को नस्ली भेदभाव के रूप में देखे जाने के आग्रह ने यही काम कर दिखाया है। शिव का तर्क यह है कि दलित-प्रश्न मंडलवादी राजनीति के परिप्रेक्ष्य से आगे विकसित किया जाना चाहिए। इसी तरह इसे केवल मानवाधिकारों के दायरे में देखे जाने की प्रवृत्ति से भी परे जाने की जरूरत है। वे डरबन के बहाने और दलित-प्रश्न के भूमंडलीकरण की कोशिशों से पैदा हुए माहौल में एक नये दलित-विमर्श के आविष्कार की अपील करते हैं जिसके आधार में मुक्ति का नया सिद्धांत होना चाहिए। अपनी टिप्पणी के काव्यात्मक उपसंहार से पहले शिव कुछ शंकाएं भी उठाते हैं कि दलित मुद्दे का अंतर्राष्ट्रीयकरण करने वाले अपनी मुहिम का औचित्य राष्ट्रभक्ति के दायरे में कैसे सिद्ध करेंगे? वे पूछते हैं कि क्या भविष्य का दलित आंदोलन अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं द्वारा दी जाने वाली दान-दक्षिणा के आधार पर अपनी दिशा तय करेगा? उनकी मान्यता है कि मुक्तिकामी आंदोलन को किसी कीमत पर अपनी स्वायत्तता नहीं खोनी चाहिए। बहस में दूसरा योगदान धीरूभाई सेठ का है जो नस्ल के आईने में जाति का अक्स देखने के खिलाफ हैं। वे दलित मुद्दे के भूमंडलीकरण के तो समर्थक दिखते हैं लेकिन उन्हें उसके तरीके पर आपत्ति है। उनका कहना है कि जाति

को नस्ल की श्रेणी में रखने के बजाय जाति की श्रेणी में ही अंतर्राष्ट्रीय मंच पर क्यों न पेश किया जाए। उनकी चिंता यह है कि जाति को नस्ल मानते ही उसका विमर्श बदल जाएगा और उसके डेढ़ सौ साल से चले आ रहे मौजूदा दलित-विमर्श पर नुकसानदेह असर भी पड़ सकता है। धीरूभाई सेठ की आपत्तियाँ व्यावहारिक ही नहीं, सैद्धांतिक धरातल पर भी हैं। उनके अनुसार जाति के विमर्श के तहत दलितपन आगे चलकर विभिन्न प्रक्रियाओं के माध्यम से व्यापक भारतीय समाज में समाहित हो सकता है। इस तरह नागरिक समाज बनाने की तरफ़ जाने की संभावनाएँ प्रबल हो सकती हैं। लेकिन नस्लगत विमर्श में दलितों और नीची जातियों के अलग नस्ल बने रहने की समस्या कायम रहेगी। ऊँची जातियाँ भी अंतर्राष्ट्रीय मान्यता के लोभ में नस्ल की तरह व्यवहार करना शुरू कर सकती हैं जिससे जातिगत भेदभाव के खिलाफ संघर्ष के समाज-परिवर्तनकारी आयाम सांसत में फँस सकते हैं। बहस में तीसरी दलील रजनी कोठारी की है जो मानते हैं कि छुआछूत विश्व-मानवता और खास कर भारतीय सभ्यता का अंतिम कलंक है। इसे मिटाने के लिए भूमंडलीकरण की प्रक्रिया में जाने का स्वागत किया जाना चाहिए। यह इसलिए भी जरूरी है कि नव-उदारतावादी पूँजीवाद ने भूमंडलीकरण के जरिये लोकतंत्र के जिस नये रूप की रचना की है उसके तहत दलितों जैसे हाशिये पर पड़े तबकों के आर्थिक-प्रणाली से बाहर फेंक दिये जाने का खतरा पैदा हो गया है। पुस्तक के अंतिम खंड की अंतिम बहस में आदित्य निगम ने भूमंडलीकरण के खिलाफ होने वाले संघर्षों में दलित भागीदारी के साथ जुड़ी दुविधाओं का प्रश्न उठाया है। भूमंडलीकरण की प्रक्रिया को बांग्ला की तर्ज पर 'विश्वायन' का नाम देते हुए आदित्य ने राष्ट्रवादी विचार से परे में एक बार फिर नागरिक समाज की आलोचना करते हुए वामपंथ के गिरेबान में झाँक कर देखने की कोशिश की है। उनकी दलील है कि दलित विश्वायन के कारण राष्ट्र-राज्य के कमजार होने से खास आहत नहीं हैं, हालाँकि यही राज्य उनकी सामाजिक रूप से बहिष्कृत हैसियत के बरक्स रात का एक मुकाम पेश करता रहा है। दलितों की इस समझ के विपरीत परंपरागत मार्क्सवादी समझ यह है कि विश्वायन से निकले नये किस्म के उपनिवेशवाद के खिलाफ संघर्ष का केंद्र राष्ट्र-राज्य ही बनेगा। आंध्र प्रदेश के तेरह दलित संगठनों के जिस ज्ञापन का आदित्य ने हवाला दिया है उसकी तर्क पद्धति कतई दूसरे किस्म की है। इस ज्ञापन की चिंता भूमंडलीकरण की नहीं बल्कि होते हुए भूमंडलीकरण में दलितों के हिस्से की

है। दलितों को डर है कि कहीं भूमंडलीकरण के खिलाफ एकता के नाम पर एक बार फिर उनसे अपना संघर्ष मुल्तवी करने की अपील न कर दी जाए।[30]

वास्तव में दलित समस्या का यह अध्ययन उत्तर-गाँधी और उत्तर-आंबेडकर कालावधि में स्थित है। व्यक्तित्व और कृतित्व के रूप में डॉ. आंबेडकर इसके सकारात्मक संदर्भ बिंदु हैं। उनके महत्त्व और प्रासंगिकता की प्रतिष्ठा गाँधी के व्यक्तित्व और कृतित्व के सापेक्ष होती है। उन्नीसवीं सदी में ज्योतिबा फुले की बहुजन व्यूह-रचना, तटस्थता की थीसिस और आर्य-अनार्य संघर्ष का मिथकीय परिप्रेक्ष्य इस कालावधि का आंतरिक इतिहास है। भारतीय उदारतावाद का लड़खड़ाता विकास, आधुनिकतावाद की विकासवादी निष्पत्ति और औपनिवेशिक हस्तक्षेप के कारण बदली परिस्थिति इसके बाह्य कारक हैं।[31] लोकतंत्र को पूँजीवादी दायरों से निकाल कर आमूलवादी रुझानों से आवेशित करने में दिलचस्पी रखने वाले तत्त्वों ने भी पूरी तरह से आधुनिक श्रम संबंधों की स्थापना में योगदान नहीं दिया है। वे दलित-समाज की परिवर्तनकारी मजबूरियों को समझने में आमतौर पर नाकाम रहे हैं। दलितों को ग्रामीण सर्वहारा के रूप में देखने की स्वागतयोग्य प्रवृत्ति उनके एक छोटे से हिस्से में ही है और वह हिस्सा भी जाति के भारतीय यथार्थ को सिद्धांतबद्ध करने के कार्यभार से बचने की कोशिश करता रहता है। दलितों ने अपनी ओर से बार-बार इन रेडिकल तत्त्वों की तरफ़ हाथ बढ़ाने की कोशिश की है लेकिन हर बार उनका हाथ बीच में ही छोड़ दिया गया है।[32]

दलितों को ज्ञान के क्षेत्र में भी तरह-तरह की सांस्कृतिक दीवारों का सामना करना पड़ रहा है। इनमें कोई दीवार भाषा की है तो कोई कला की है। राजनीतिक समता हासिल करने की तरफ़ बढ़ते हुए दलित समाज का बुद्धिजीवी ज्ञानमीमांसा की कक्षा में ख़ुद को सबसे पीछे की बेंच पर बैठा पाता है। उसकी चेतना ख़ुद को अनुभवनिष्ठता और प्रतिक्रियामूलक सौंदर्यशास्त्र की गली में बंद पाती है। उसके बिरादरों की अवमानना का सवाल कुछ तथाकथित बड़ी लड़ाइयों के नक्कारखाने में तूती की तरह दब जाता है। वह सतत दुविधा में रहने के लिए

30. अभय कुमार दुबे (2007) वही : 43-45.
31. अभय कुमार दुबे (2007) वही : 46.
32. अभय कुमार दुबे (2007) वही : 46-47.

अतिभशप्त है क्योंकि एक तरफ़ उसे यूरोपीय ज्ञानोदय से मुक्ति और समता के औजार मिलते हैं और दूसरी ओर उसी ज्ञानोदय के आधार पर रचित विमर्शों में उसकी आवाज़ अल्पसंख्यकों की तरह खो जाती है। उससे उम्मीद की जाती है कि वह अपने सवालों को अनिश्चित भविष्य के लिए मुल्तवी कर देगा। यह आग्रह उससे वह ब्राह्मणवादी आधुनिकता करती है जिसने पुराने ऊँच-नीच को पूरी तरह छोड़े बिना उसी के आधार पर नये तरह के सामाजिक स्तरीकरण को जन्म देकर हालात को और जटिल बना दिया है।[33]

लोकतंत्र में दलीय होड़ के जरिये उपलब्ध हो सकने वाली राजनीतिक समता के रास्ते में दलितों का आंतरिक विभेदीकरण एक बड़ी बाधा के रूप में उभरता है। डॉ. आंबेडकर से लेकर कांशीराम तक सभी दलित नेता इस समस्या से जूझते नज़र आते हैं। आर्थिक विकास दलित समाज में वर्गों की रचना करता है जो जातिगत विभेदों का स्थान नहीं लेते बल्कि जातिगत विभेदों के साथ मिलकर विभेदीकरण को और भी जटिल कर देते हैं। नतीजे के तौर पर राजनीतिक समुदाय नहीं बन पाता और दलित उन पार्टियों को भी वोट देते नज़र आते हैं जो दरअसल उनके हितों की नुमाइंदगी नहीं करतीं। गठजोड़ के जरिये दलितों के राजनीतिक प्रतिनिधियों को यदा-कदा थोड़े समय के लिए सत्ता भी मिल जाती है लेकिन वे उसका इस्तेमाल सिर्फ अस्मिता-निर्माण के औजार के रूप में करते हैं और उस आर्थिक बुनियाद की रचना नहीं कर पाते जिसके बिना अस्मिता व्यापक समाज की मान्यता से वंचित रहती है। लोकतांत्रिक प्रक्रिया में दलितों की उत्साहपूर्ण भागीदारी से एक संभावना पैदा हुई थी कि शायद वे परिवर्तन करने की अपनी क्षमता का इस्तेमाल इस व्यवस्था के लिए करेंगे। शुरू में लगा भी था कि उनकी राजनीति सबसे अलग है और धीरे-धीरे उसकी अग्रगति एक अनुकरणीय उदाहरण की रचना करेगी जिससे सत्ता के खेल के नियम बदलेंगे। पिछले दस साल का तजुर्बा बताता है कि इस आशा को पूरा करने के लिए हमें किसी और दलित नेतृत्व की प्रतीक्षा करनी होगी।[34]

मौजूदा दलित नेतृत्व की कमजोरियों पर नज़र दौड़ाते समय हमें यह नहीं भूलना होगा कि इस नेतृत्व ने दलितों को वह दिया है जो डॉ. आंबेडकर अपने

33. अभय कुमार दुबे (2007) वही : 47.
34. अभय कुमार दुबे (2007) वही : 47-48.

समय की सीमाओं में कैद रहने के कारण नहीं दे पाए थे। राजनीति में पूर्ण सक्रियता के बाद भी डॉ. आंबेडकर का जोर सामाजिक आंदोलन पर था और राजसत्ता को ''मास्टर की'' करार देने के बावजूद उनके राजनीतिक प्रयोग दलितों को सत्ता की मंजिल का रास्ता दिखाने में असमर्थ रहे। उत्तर-आंबेडकर पीढ़ी ने, मुख्यत: कांशीराम ने इस छूटे हुए कार्यभार को काफ़ी कुशलता से अंजाम दिया लेकिन दैनंदिनी राजनीति के दायरे में दलित दावे को पेश करने की निर्मम प्रक्रिया ने इस नेतृत्व को आंदोलन के दीर्घकालीन परिप्रेक्ष्य से दूर कर दिया। शायद इसी कारण पुराने आंबेडकरवादी कांशीराम और बहुजन समाज पार्टी के उभार को दलितों के लिए बहुत आश्वस्तकारी नहीं मानते। उन्हें लगता है कि बसपा की राजनीति ने आंबेडकरवाद का परिप्रेक्ष्य तकरीबन छोड़ दिया है। लेकिन दलित राजनीति द्वारा जोड़-तोड़ पर अत्यधिक निर्भरता की उनकी आलोचना चुनावी राजनीति के परिवर्तनकारी महत्त्व को कम करके आंकने की प्रवृत्ति से ग्रस्त है। वे यह भी समझने के लिए तैयार नहीं हैं कि आंबेडकरवादी खांचे को तोड़े बिना कांशीराम वगैरह ये उपलब्धि हासिल नहीं कर सकते थे। बहरहाल, तात्कालिक दलित राजनीति की सफलताओं को आंदोलन के दीर्घकालीन उद्देश्यों से आवेशित करने की जिम्मेदारी अब नये दलित नेतृत्व के सामने खड़ी है। ऐसा होने पर ही आरक्षण और राजसत्ता के दायरों के बाहर व्यापक नागरिक समाज में दलितों की मंजिल से जुड़े यक्ष प्रश्नों का समुचित उत्तर मिल पाएगा। वह दलित नेतृत्व कहाँ से आएगा ? क्या वह गैरसरकारी संगठनों से जन्मेगा ? पर्यावरण, लोक-विद्याओं और मानवाधिकारों की रक्षा का बीड़ा उठाने वाले नये सामाजिक आंदोलनों के सांगठनिक रूप की तरह स्वयंसेवी संगठन दलित-प्रश्न के संदर्भ में अपनी सीमाएं पहले ही साफ कर चुके हैं लेकिन पिछले दिनों खासतौर से दलितों के मानवाधिकारों से जुड़े एक संगठन ने अपनी पहलकदमी से एक नई संभावना जगायी है। यह संगठन दलित-प्रश्न का भूमंडलीकरण करके उसे नस्ली भेदभाव की तरह अंतर्राष्ट्रीय मंच पर पेश करना चाहता है। इस प्रयास से एक नया आलोड़न पैदा हुआ है। इस मुद्दे में दिलचस्पी रखने वाले सभी पक्ष बहस में कूद पड़े हैं। दलित ज्ञानमीमांसा ने भी यह बहस उठायी है। इस प्रयास की महत्वकांक्षाएँ साफ हैं। दलित मानवाधिकार संगठन एक नये दलित नेतृत्व का विकास करना चाहता है। एक ऐसे नेतृत्व का जिसके पास करीब डेढ़ सौ साल से विकसित हो रहे दलित-मुक्ति के विमर्श को बदलने का फार्मूला भी मौजूद

है। दलित-प्रश्न में हुए इस हस्तक्षेप में अगड़ी भूमिका निभाने वाली ये शक्तियाँ ईसाई गैरसरकारी संगठनों से निकली हैं। भारतीय ईसाइयों के पास धर्म-परिवर्तन, समाज-सुधार और शिक्षा के जरिये दलित-प्रश्न में हस्तक्षेप की समृद्ध परंपराएँ हैं। यद्यपि अपनी मुहिम के पक्ष में उन्होंने नाना प्रकार के ढेर सारे गैरईसाई दलित कार्यकर्त्ता जुटा लिए हैं पर दलितों के राजनीतिक प्रतिनिधि इस पर खामोश हैं। यह तथ्य दो बातों का परिचय देता है कि इस मुहिम का बुनियादी तर्क कितना आकर्षक है और इस मुहिम में मौजूदा दलित राजनीति को उलट-पुलट कर देने की कितनी संभावनाएँ और अंदेशे हैं।[35]

आखिर में दलित ज्ञान मीमांसा कुछ स्वांत: सुखाय अपेक्षाओं की तरफ़ इशारा करती नज़र आती है: पहली अपेक्षा इस देश के खेतिहर यथार्थ के मुताबिक है। इसके तहत अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय पूँजी द्वारा ग्रामीण भारत को नष्ट किए जा सकने के संदर्भ में दलितों से गाँधीवादी परिप्रेक्ष्य को संशोधित करके ग्रामीण भारत की पुनर्रचना में भागीदारी करने की माँग की जा सकती है। दूसरी तरफ़ दलित आंदोलन से अपेक्षा है कि परिवर्तन के नये हरावल की रचना के लिए वह छोटे-छोटे रेडिकल प्रयासों को अपने आगोश में समेट ले और वामपंथी आंदोलन के साथ एक सहजीवी रिश्ता कायम करें। तीसरी अपेक्षा एक नये दलित-विमर्श के विकास की है जो सत्ता की अवधारणा को भिन्न तरह से समझे और जिसमें लोकतंत्र की चालू समझ को बदलने की क्षमता हो। यह नया विमर्श नागरिकता के ऐसे विचार को प्रतिपादित कर सकता है जिसके तहत वह नागरिक अधिकारों के पुलिंदे की तरह न होकर नाना प्रकार के कौशलों और दक्षताओं के रूप में अपना नित नवीकरण कर सके। चौथी अपेक्षा यह है कि दलित-बहुजन 'हमें सत्ता संभालनी है' जैसे शब्दाडंबर से परहेज करें, 'एकला चलो रे' के नारे की व्यर्थता को समझें और अपने परिवेश की सीमाओं का रचनात्मक अतिक्रमण करें। पारिवेशिक प्रवृत्तियों को सार्वभौमिक का स्पर्श दिये बिना दलितों का दायरा खुल नहीं सकता और न ही स्थापित सार्वभौमिक का दलित-हित में परिष्कार हो सकता है। पाँचवीं अपेक्षा यह है कि अवसरों की समानता ही काफ़ी नहीं है इसलिए दलितों के लिए समाज में अवमाननाकारी परिस्थितियों के उन्मूलन के लिए समता के सिद्धांत को अन्य सभी सिद्धांतों के ऊपर तरजीह दी जाए।

35. अभय कुमार दुबे (2007) वही : 47-48.

भौतिक स्थितियों की संरचना आमूल-चूल बदल दी जाए ताकि उत्पादन-प्रक्रिया से होड़ और सभी तरह की ऊँच-नीच हटा कर सभी की सहभागिता की गारंटी की जा सके। अंतिम अपेक्षा दलित आंदोलन के राष्ट्रीय चरित्र और समग्र समाज के साथ उसके संबंध से जुड़ी है। डॉ. आंबेडकर का चिंतन तो राष्ट्रीय था लेकिन उनके राजनीतिक प्रयोग अधिकांशत: महाराष्ट्र तक ही सीमित थे। इसी तरह बामसेफ और डीएस-फोर का आंदोलनकारी चरित्र राष्ट्रीय था लेकिन उसके गर्भ से निकली बसपा मुख्यत: उत्तर प्रदेश-आधारित पार्टी बन कर रह गयी है। 1993 की मशहूर चुनावी जीत के बाद कांशीराम ने सारे देश में घूम-घूम कर बसपा के पौधे को रोपने की कोशिश की थी लेकिन उसका कोई सकारात्मक नतीजा नहीं निकला। अब तो कोई इस तरह की कोशिश भी नहीं कर रहा है। अंदेशा यह है कि कहीं दलित-परियोजना अपनी सफलताओं की सीमाओं का शिकार तो नहीं हो गयी है? विचार की दृष्टि से ही नहीं संगठन के लिहाज से भी दलितों का राष्ट्रीय संगठन बनना अभी बाकी है। तभी उन्हें वास्तविक 'मास्टर की' मिल पाएगी और तभी वे उस सुप्त पड़े सामाजिक परिप्रेक्ष्य का जीर्णोद्धार कर पाएँगे जो डॉ. आंबेडकर ने शुरू किया था। डॉ. आंबेडकर की रचनाओं का अनुशीलन किसी को भी इस निष्कर्ष तक पहुँचा सकता है कि बाबासाहेब अंतत: दलित होने की पहचान आधुनिक नागरिक समाज में विलीन होते हुए देखना चाहते थे। फिलहाल दलित पहचान को सुदृढ़ करने का दौर चल रहा है। ऐसा शायद इसलिए है कि कमरे से निकलने के लिए कुछ कदम कमरे में ही रखने पड़ते हैं। इन स्वांत:सुखाय अपेक्षाओं से स्पष्ट है कि इनकी फौरन उम्मीद करना एक यूटोपिया हासिल करने जैसा होगा। लेकिन हमें पता है कि मनुष्य-निर्मित यातनाओं को चुनौती देने में यूटोपिया की परिकल्पना मानवता की हमेशा मदद करती रही है।[36] आखिरकार तथागत की बौद्ध-प्रणाली की उत्कृष्टता अपने शिक्षक की समीक्षा में ही तो निहित होती है। दलित आंदोलन अपने वजूद के लिए बाबासाहेब का कई तरह से ऋणी है लेकिन उन्हीं के पित्व की वजह से वह संकट का सामना भी कर रहा है। उनके दार्शनिक और राजनीतिक जीवन का आलोचनात्मक आंकलन दलित आंदोलन पर रोशनी डालने के साथ-साथ उसे ही संदर्भ में समझने में सहायक भी होगा। सबसे बड़ी विडंबना यह है कि बाबासाहेब के राजनीतिक

36. अभय कुमार दुबे (2007) वही : 49-50.

जीवन की प्रकृति समझने के लिए उसे गाँधीजी के राजनीतिक जीवन के साथ रखकर देखना पड़ेगा। दोनों के बीच प्रकट असंगति बाबासाहेब की विलक्षण समस्याओं को उभार सकती है।[37]

सुखदेव थोराट द्वारा दलितों की सामाजिक-आर्थिक स्थिति को लेकर किया गया एक महत्त्वपूर्ण विस्तृत अध्ययन जो एक किताब के रूप में प्रकाशित हुआ 'दलित इन इंडिया : सर्च फॉर ए कॉमन डेस्टिनी' (2009) जो विस्तृत आँकड़ों पर आधारित है, वह भारत में अनुसूचित जातियों की स्थितियों पर निगाह डालते हुए उसी किस्म के निष्कर्ष निकालती है। वह बताती है कि आजादी के बाद की आधी सदी में हुए सकारात्मक बदलावों के बावजूद, अनुसूचित जातियों और भारतीय समाज के अन्य तबकों के बीच विषमता आज भी बनी हुई है और अनुसूचित जातियाँ विकास संबंधी कई सारे सूचकाँकों में पिछड़ती दिखती हैं। सुखदेव थोराट इस बात को रेखांकित करते हैं कि इसके पहले कि अनुसूचित तबके अधिक सम्मान, गारिमामय जीवन और दीर्घकालीन जीवन हासिल कर सके, अभी काफ़ी दूरी तय की जानी है। उनका सुझाव है कि सशक्तिकरण और समान अवसर की मौजूदा नीति को मजबूत करके और विस्तारित करके, अनुसूचित तबकों एवं गैर अनुसूचित तबकों के बीच के अंतराल को कम किया जा सकता है।[38]

उत्तर हिंदू भारत : कितना सच, कितनी कल्पना[39] इस संदर्भ में राष्ट्र और श्रम के सम्मान के विषय पर काँचा इलैया ने तकरीबन आत्मकथात्मक शैली में बताया था कि आखिर क्यों उनके और उनके साथी दलित बहुजनों (शूद्र) के मन में हिंदूवाद के प्रति सिर्फ आक्रोश और संवेदनहीनता मौजूद है। एक ऐसा धर्म जिसने उनके जीवन, संस्कृति, भगवानों का अवमूल्यन किया और साथ ही उच्च जातियों की द्विज संस्कृति से बाहर कर दिया। करीब 15 साल बाद इलैया ने इस पक्ष में पुस्तक लिख कर दलील दी है कि आखिर हिंदूवाद ख़त्म हो जाने के काबिल है और जातियों का खात्मा क्यों हिंदू धर्म के खात्मे के लिए रास्ता बनाएगा। वह दावा करते हैं कि भारत अपने उत्तर हिंदू भविष्य की ओर अग्रसर

37. डी.आर. नागराज (2007) : 47-48.
38. सुखदेव थोराट (2009).
39. काँचा इलैया (2009).

है, एक ऐसा भविष्य जिसे लाने की कोशिश में वह ख़ुद है और उसे काफ़ी उम्मीद से देखते हैं।

जाहिर है कि वक्त के साथ इलैया की संवेदनाओं में बिल्कुल भी बदलाव नहीं आया है। दलित बहुजन और आदिवासी समुदायों पर किए गए अन्यायों के खिलाफ वही ज्वलंत आक्रोश उनकी दोनों पुस्तकों में दिखता है। दुर्भाग्यवश यह भी कहा जा सकता है कि दुनिया को अच्छे बुरे दो खांचों में देखने की उनकी सोच भी वक्त के साथ नहीं बदली है, जिसका तथ्यों से कोई खास सरोकार नहीं होता। वही रूग्ण सोच, कि हम अच्छे हैं और ब्राह्मण बुरे, जिसने व्हाई आई एम नॉट अ हिंदू को एक आत्मतुष्ट चीख पुकार में तब्दील कर दिया था, उसी ने पोस्ट हिंदू इंडिया को एक ऐसे दिवास्वप्न में बदल डाला है जो इतिहास से और यहाँ तक कि समकालीन यथार्थ से भी मुक्त होकर विचरण करता है। इलैया का विचार है कि हिंदूवाद अब अपनी संख्या और प्रभाव के मामले में नीचे की ओर गतिमान है और धीमी लेकिन तयशुदा मौत की ओर बढ़ रहा है, तथ्यों से पुष्ट नहीं होता। हालिया जनगणना के आंकड़े दिखाते हैं कि भारत की कुल आबादी में मुस्लिमों और ईसाईयों का हिस्सा 1991 में 15 फीसदी से कम था और 2001 में 16 फीसदी से कम था यानी यह मामूली बढ़ोतरी मुस्लिमों के आपेक्षिक आर्थिक बदहाली का परिणाम है, हालाँकि हिंदूवाद से कोई महत्त्वपूर्ण प्रस्थान की ओर इशारा नहीं करती। विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सीएसडीएस) द्वारा 2004 और 2009 चुनावों के बाद कराए गए राष्ट्रीय चुनाव अध्ययन में यह बात सामने आई कि हिंदू देवी देवताओं की पूजा करने वाले दलितों और आदिवासियों का अनुपात घट नहीं रहा, बल्कि बढ़ रहा है। ज़्यादा सूक्ष्म जातीय अध्ययन दिखाते हैं कि दलितों और अन्य पिछड़ी जातियों में जिस तरह उच्च तबके की ओर जाने की गति बढ़ती है, वे प्रतिष्ठा हासिल करने के लिए और मध्यवर्गीय जातियों का हिस्सा बनने के लिए हिंदू आचारों को अपना लेती हैं जो निश्चित तौर पर समकालीन भारत में जातिवादी प्रवृत्तियों पर एक निराशाजनक टिप्पणी है। ऐतिहासिक रूप से वंचित जातियों में द्विज जातियों की स्वीकृति प्राप्त करने की अब भी मजबूत इस प्रवृत्ति पर इलैया बड़ी आसानी से छूट ले लेते हैं, जो अकसर इन जातियों हिंदू दक्षिणपंथ की घोषित प्रतिगामी मुस्लिम विरोधी और ईसाई विरोधी राजनीति का समर्थक बना देते हैं। जैसा कि इलैया कहते हैं यदि हिंदूवाद का प्रभाव वास्तव में दलित बहुजन समुदायों में कम हो रहा है, तो इस तथ्य के

पीछे क्या तर्क होगा कि वाल्मीकि जाति के दलितों ने अपने नायकों को हिंदुओं द्वारा क्यों अपना लेने दिया। इस प्रक्रिया को बद्री नारायण ने उत्तर प्रदेश और बिहार के दलितों के अपने बेहतरीन अध्ययन 'फैसिनेटिंग हिंदुत्व'[40] में विस्तार से समझाया है। पाठ में जहाँ-तहाँ आने वाले वाक्य हालाँकि दिखाते हैं कि इलैया इस प्रक्रिया से वाकिफ़ हैं लेकिन हिंदू धर्म को मृत्यु प्रमाण पत्र देने के अपने उत्साह पर इस समझदारी को वह हावी नहीं होने देते। आनुभविक साक्ष्यों पर ध्यान न देने की यह प्रवृत्ति इलैया के समूचे लेखन को प्रभावित करती है।

विज्ञान के इस लचर प्रयोग के साथ दिक्कत यह है कि यह सैद्धांतिक विवरण की जमीन पर यह खड़े और परीक्षण पर खरे उतरे प्रयोगात्मक ज्ञान यानी जिसे हम आधुनिक विज्ञान समझते हैं उसका स्थान उस चीज को दे देता है जिसे हम ज़्यादा से ज़्यादा अपने पूर्वजों का आनुभविक विज्ञान कह सकते हैं। यह सच है कि चमड़ा काटने, फसलें उगाने और बीमार व्यक्ति की तीमारदारी करने की गतिविधियाँ किसी व्यक्ति का ध्यान उक्त परिघटना के भौतिक पक्ष की ओर ज़्यादा मोड़ती हैं। लेकिन भौतिकवाद और इंद्रियबोध अपने आप में किसी भी गतिविधि को वैज्ञानिक नहीं बना देते। आखिरकार, प्राचीन आयुर्वेदाचार्यों के आनुभविक विज्ञान में भी जादुई विचार का एक तत्त्व होता था, जो आध्यात्मिक उपचार की ब्राह्मणवादी अवधारणा से जन्मा था जिसमें मंत्रोच्चार, तिलिस्म उपवास, बलि आदि कर्मकांड शामिल होते थे। इलैया जो कुछ सोचते हैं, उसके उलट कोई भी वैज्ञानिक मदिगा हो या खाद वैज्ञानिक माला किसी भी परिघटना को विशुद्ध अनुभवों के आधार पर नहीं देखता और व्यापक समाज में प्रचलित विश्व दृष्टिकोण व सांस्कृतिक प्रस्थापनाओं से उसकी दृष्टि अछूती नहीं रहती। कामगार जातियाँ किसी भी बिंदु पर ब्रह्माण्ड के दैवीय स्त्रोत के विषय में प्रच्छन्न प्रस्थापनाओं या फिर वैदिक हिंदूत्व की आत्मा संबंधी धारणाओं से मुक्त नहीं थीं। भले ही उन्हें संस्कृत में उपलब्ध अभिजात्य ज्ञान को प्राप्त करने की छूट नहीं थी, लेकिन यह ज्ञान निश्चित तौर पर जन भाषा में पढ़ाये जाने वाले पुराणों और तंत्र के माध्यम से निचली जातियों तक रिस कर चला जाता था। इस संदर्भ में उत्पादक दलित बहुजनों के तथाकथित वैज्ञानिक ज्ञान और परजीवी ब्राह्मणों के अंधविश्वासों के बीच एक कठोर विभाजक रेखा को खींचना सर्वथा सरलीकरण है। हम भले

40. बद्री नारायण (2009).

ही हिंदू धर्म की पैदाईशों पर इलैया के आक्रोश से सहानुभूति रख सकते हैं, लेकिन हिंदू धर्म की दिशा के बारे में उनके विश्लेषण को स्वीकार नही किया जा सकता।

इस तरह से दलित अध्ययनों की निर्मिति में इन पुस्तकों ने एक ऐसा आधार बनाने का काम किया जिससे ऐतिहासिक कालों में दलितों के साथ हुए अन्यायों, बहिष्करणों और आरोपित निर्योग्यताओं को सूत्रबद्ध करने में सहायता मिली। इन कामों ने लोकप्रिय स्तर पर हुए दलित लेखन की परंपरा को प्रभावित किया। इसके साथ ही इन दलित अध्ययनों के कारण भारतीय वैचारिक परंपरा में संस्कृत और पाली-प्राकृत पाठों की दलित विवचेना का रास्ता भी खुल गया। दलित अस्मितावादी इतिहास लेखन में आजादी के आंदोलन के दौरान सक्रिय नेताओं ने भी योगदान दिया है, यह बात नहीं भूलनी चाहिए। अभी हाल ही में, 2017 में, इतिहासकार सब्यसाची भट्टाचार्य और समाजविज्ञानी यगति चिन्ना राव ने एक किताब सम्पादित की है-द पास्ट ऑफ़ आउटकास्ट : रीडिंग्स इन दलित हिस्ट्री। यह पुस्तक राष्ट्रवादी नेताओं के लेखों उनकी दलितों के प्रति सहानुभूति की विवेचना करती है दूसरी तरफ़ उन सीमाओं को इंगित करती है जिसकी वजह से प्रारम्भिक राष्ट्रवादी नेताओं की सामाजिक राजनीतिक कल्पना में अछूतों का उल्लेख नहीं मिलता है।[41] इसमें सम्मिलित लेखों में भगवान दास द्वारा लिखा गया लेख विभिन्न पिछड़े समुदायों के संगठनो में एक नेता होने के नाते एक सूचनात्मक दस्तावेज़ है। दूसरी तरफ़ स्टीफेन हेंनिंघम ने जो कि एक पेशेवर इतिहासकार हैं, सबका ध्यान हरिजनों और आदिवासियों के विरोध प्रदर्शनों पर डाला है। राजशेखर बसु मूलत: छुआछूत की राजनीति पर प्रकाश डालते हैं। गोपाल गुरु अपने लेख में बड़े ही स्पष्टता से लिखते हैं कि क्यों डॉ. आंबेडकर ने कांग्रेस से अलग हो कर दलित आंदोलन को आगे बढ़ाया और क्यों उनके योगदान को भुलाया नहीं जा सकता।[42]

दलित समुदायों के जीवन में यह दिमाग और आत्मा की मुक्ति किस प्रकार संभव हुई है, या उसमें क्या बाधाएं आयी हैं, इसे जानने के लिए, यदि पिछली शताब्दी और इस शताब्दी की भारत की राजनीति को आप ध्यान से देखें तो पाएँगे कि डॉ. आंबेडकर के इस कथन की कितनी अनुगूँजें और वैभिन्य हैं। जैसा कि क्लाड लेवी-स्ट्रास ने कहा था कि दमित इतिहास के अध्ययन के लिए

41. सब्यसाची भट्टाचार्य, यगति चिन्नाराव (2017).
42. सब्यसाची भट्टाचार्य, यगति चिन्नाराव (2017) वही.

मिथक महत्त्वपूर्ण हैं। वे वर्तमान के आयामों के ऊपर एक ग्रिड की तरह फैले होते हैं। इस ग्रिड को हटाकर उसके नीचे की सामाजिक-राजनीतिक परतों या लेयर्स को देखने का काम इतिहासकार करता है। हम मूर्तियों के बारे में भी ऐसा कह सकते हैं।[43] एक अनुशासन या डिसिप्लिन के रूप में समाजशास्त्र भी यही करता है, विषेशकर जब बात समकालीन समय से जुड़ी हो। वास्तव में भारत की लोकतांत्रिक व्यवस्था ने कमजोर तबकों को ताकत दी है और उन्हें इस लायक बनाया है कि वे अपने आपको राजनीतिक रूप से प्रस्तुत कर सकें। जैसा क्रिस्टोफ़ जाफ़रलॉट कहते भी हैं कि दलित समूहों ने मताधिकार के द्वारा एक मौन क्रांति की है। यह क्रांति कोई इकहरी नहीं है। उसमें कई-कई परतें हैं।[44] मेरा यह अध्ययन उन्हीं परतों को अलग-अलग कर उनकी पड़ताल करना चाहता है।

देश के विभिन्न भागों में उपनिवेश और उत्तर-उपनिवेश अवधि में हुए अनुसूचित जातियों के विभिन्न आंदोलनों का कोई सम्पूर्ण अध्ययन या विवरणिका भी उपलब्ध नहीं है, जो इन आंदोलनों की सूचना दे सके। भारत में हुए दलित मुक्ति या अस्पृश्यता विरोधी आंदोलनों के संदर्भ में दो आलेख एक गेल ओम्वेट और भारत पाटनकर (1979) और दूसरा घनश्याम शाह एक अलग दृष्टि प्रस्तुत करते हैं। पहला आलेख उपनिवेशी काल का चित्रण करता है, जबकि दूसरे आलेख में उपनिवेशी और उत्तरउपनिवेशी दोनों कालों का विवरण दिया गया है।[45] अनुसूचित जातियों का विवेचन करने वाली अनेक पुस्तकों में, किसी विशिष्ट क्षेत्र या देश की एक ऐतिहासिक घटनाओं के रूप में हरिजन, अनुसूचित जातियों, दलितों के आंदोलनों पर एक अध्याय अवश्य दिया गया है। चूँकि ये अध्ययन मूल रूप में आंदोलनों से संबंधित नहीं हैं और जो तथ्य इनमें दिये गए हैं, वे अपूर्ण हैं, यद्यपि वे उपयोगी हैं। उनमें से कुछ उल्लेख किए जाने योग्य हैं। बेरबा, अहमद और भट्ट (1972) द्वारा काले लोगों और हरिजनों का किया गया अध्ययन अमेरिका का और भारत के उन समुदायों के आंदोलनों का एक तुलनात्मक चित्र प्रस्तुत करता है।[46] जहाँ तक हरिजन आंदोलनों का प्रश्न है, यह अध्ययन मुख्यत:

43. क्लाड लेवी-स्ट्रास (1973): 3-4.
44. क्रिस्टोफ़ जाफ़रलॉट (2003).
45. भारत पाटनकर, गेल ओम्वेट (1979) : 409-423.
46. सिडनी वेरबा, बसिरिहुद्दीन अहमद, अनिल भट्ट (1972).

डॉ. आंबेडकर के महाराष्ट्र के आंदोलन तक सीमित है। घनश्याम शाह (1975) ने अपने अध्ययन अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों की राजनीति में महाराष्ट्र और गुजरात के हरिजन आंदोलनों की तुलना पर एक अध्याय यह बताने के लिए लिखा है कि महाराष्ट्र की अपेक्षा गुजरात में दलित आंदोलन क्यों नहीं उग्र हो पाया। महाराष्ट्र के दलितों ने दलित पैंथर आंदोलन की 1970 के दशक के प्रारंभिक भाग में शुरूआत की। प्रारंभ में यह महाराष्ट्र के नगरीय क्षेत्रों तक सीमित रहा और फिर यह गुजरात, कर्नाटक, आंध्र-प्रदेश, उत्तर-प्रदेश और अन्य राज्यों में फैल गया। इसके साथ ही घनश्याम शाह ने दलित पैंथर आंदोलन का भी विश्लेषण किया है। इस संदर्भ में घनश्याम कहते हैं कि पैंथर आंदोलन प्रभु संस्कृति की निन्दा करता है और उसे त्यागता है और शोषित वर्गों हेतु एक वैकल्पिक सामाजिक-सांस्कृतिक पहचान बनाने का प्रयास करता रहा है। यह संगठन अनुसूचित जातियों के प्रति किए गए अन्यायों के विरुद्ध प्रदर्शनों को संगठित करता है। फिर भी, उसके अधिकांश कार्यकलाप मौलिक साहित्य जैसे- कविताएं, कहानियाँ, नाटकों के प्रकाशन द्वारा अपने विचारों के प्रचार करने तक सीमित रहा है।[47]

इस प्रकार से उपनिवेशी और उत्तर-उपनिवेशी काल में हुए अधिकांश दलित आंदोलनों का मुख्य मुद्दा अस्पृश्यता की समस्या रहा है जिसके चारों ओर ये आंदोलन घूमते और सीमित रहे हैं। ये प्रधानत: अस्पृश्यता विरोधी रहे हैं। अन्य मुद्दे लगभग वे ही हैं जो खेतिहर मजदूरों से संबंधित रहे हैं। राजनीतिक पदों, सरकारी नौकरियों और कल्याण योजनाओं में आरक्षण को यथावत बनाये रखने या बढ़ाने के लिए आंदोलन किए जाते रहे हैं। चूँकि राष्ट्रीय स्तर पर दलित आंदोलनों का विश्लेषण करने के बहुत कम प्रयत्न किए गए हैं, अत: उन आंदोलनों का वर्गीकरण विकसित करने के कोई गंभीर प्रयास नहीं हुए हैं। फिर भी घनश्याम शाह (1980) ने इन्हें दो वर्गों में विभाजित किया है-(1) सुधारवादी और (2) वैकल्पिक आंदोलन। सुधारवादी आंदोलन अस्पृश्यता की समस्या का समाधान करने के लिए जाति व्यवस्था में सुधार लाने के प्रयास हेतु किए गए। वैकल्पिक आंदोलन किसी अन्य धर्म में धर्म-परिवर्तन या शिक्षा, आर्थिक प्रस्थिति और राजनीतिक शक्ति हासिल करने के द्वारा एक वैकल्पिक सामाजिक-सांस्कृतिक

47. घनश्याम शाह (1975).

संरचना की रचना के प्रयास से संबंधित रहे हैं। दोनों प्रकार के आंदोलन अपने उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए राजनीतिक साधनों का प्रयोग करते हैं।

सुधारवादी आंदोलनों का पुन: तीन प्रकारों में विभाजित किया गया है- (1) भक्ति आंदोलन, (2) नव-वैदान्तिक आंदोलन, और (3) संस्कृतिकरण संबंधी आंदोलन। वैकल्पिक आंदोलन को दो रूपों में विभाजित किया गया है- (1) धर्म-परिवर्तन संबंधी आंदोलन और (2) धार्मिक या पंथ निरपेक्ष आंदोलन। दूसरे प्रकार के आंदोलनों के आर्थिक मुद्दों को लेकर किए गए आंदोलनों को सम्मिलित किया जाता है। दलित पहचान और विचारधारा के संदर्भ में, शाह ने दलित आंदोलनों को निम्न वर्गों में विभाजित किया है-(1) सांस्कृतिक एकता संबंधी आंदोलन; (2) प्रतिस्पर्धी विचारधारा और गैर-हिंदू पहचान; (3) बौद्धवादी दलित; और (4) प्रति विचारधारा और दलित पहचान। पहले तीन प्रकार के आंदोलन धार्मिक विचारधाराओं पर आधारित हैं, जबकि अन्तिम वर्ग पर आधारित है।[48] पाटनकर और ओम्वेट दलित आंदोलनों को फिर से समूहों में विभाजित करते हैं, (1) जाति आधारित, और वर्ग आधारित आंदोलन।[49]

आर्य समाज ने अनुसूचित जातियों के उत्थान के लिए कई शैक्षणिक और कल्याणकारी योजनाओं की शुरुआत की।[50] इस संदर्भ में सतीश कुमार शर्मा की पुस्तक सामाजिक आंदोलन और सामाजिक परिवर्तन (1985) अकेला एक ऐसा सर्वांगीण अध्ययन है जिसमें आर्य समाज और अस्पृश्यों के बीच के संबंधों की खोजबीन की गई। यह अध्ययन केवल पंजाब तक सीमित है। शर्मा कहते हैं कि आर्य समाज अस्पृश्यों के राजनीतिक आंदोलनों के खिलाफ था। इस संस्था ने, अस्पृश्यों द्वारा अपनी एकजुटता और एकता के प्रदर्शन करने के जो भी प्रयास किए गए, उनका विरोध किया।[51] इस तरह से नव-वैदान्तिक आंदोलनों और गैर ब्राह्मण आंदोलनों ने देश के कुछ भागों में जाति-विरोधी या हिंदू धर्म विरोधी दलित आंदोलनों को जन्म देने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है। महाराष्ट्र और तमिलनाडु में 'सत्य-शोधक' समाज और 'आत्म-सम्मान' आंदोलन बंगाल में

48. घनश्याम शाह (1980).
49. भारत पाटनकर गेल ओम्वेट (1979) वही : 409-423.
50. घनश्याम शाह (1975) वही.
51. सतीश शर्मा (1985).

'आदि-धर्म' और 'आदि-आंध्रा' आंदोलन और उत्तर प्रदेश में 'आदि-हिंदू' आंदोलन कुछ महत्त्वपूर्ण अस्पृश्यता-विरोधी आंदोलन हैं जो उन्नीसवीं सदी के अंतिम चौथाई वर्षों में और बीसवी सदी के प्रारंभिक वर्षों में शुरू किए गए थे।

पंजाब के 'आदि-धर्म' आंदोलनों के अतिरिक्त अधिकांश आंदोलनों पर उत्प्रेरक अध्ययन उपलब्ध नहीं हैं। अन्य पिछड़ी जातियों जो अनुसूचित जातियों से आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न हैं, ने ब्राह्मणों के खिलाफ सत्ता के अपने संघर्ष में अनुसूचित जातियों से अपनी दूरी बना ली।[52] 'आदि-आंध्रा', 'आदि-हिंदू' और 'नामशूद्र' आंदोलनों के बारे में बिखरी हुई सामग्री है। मार्क जुरर्गेंसमेयर की पुस्तक रीलिजन एज सोशल विजन (1982) में बीसवीं शताब्दी के पंजाब में अस्पृश्यता विरोधी 'आदि-धर्म' आंदोलन का वर्णन किया गया है। यह आंदोलन 1920 के दशक में शुरू हुआ। इस आंदोलन की मुख्य दलील यह थी कि अस्पृश्य लोग एक क्वाम है जो मुसलमान, हिंदू और सिख समुदायों और उनके क्वाम की भाँति भारत में अनादिकाल से रह रहे हैं, अर्थात हिंदुओं के आने से पहले यहाँ रह रहे हैं। इस आंदोलन ने 1930 के दशक में अपनी पहचान बना ली। इसने इस तथ्य को स्थापित किया जिसे पहले अस्वीकृत कर दिया गया था कि अस्पृश्य जातियाँ अपने स्वयं के लाभों के लिए लामबन्दी और ऐसे तरीकों से संगठन करने के लिए सक्षम हैं जो उन दशाओं के अंतर्गत प्रतिस्पर्धा करने के लिए उन्हें स्वीकृति देती है। ये दशाएं मोटे रूप में सामाजिक, राजनीतिक क्षेत्र का नियंत्रण करती हैं।[53] नन्दिनी गोप्तू ने बीसवीं सदी के प्रारंभ में किए गए उत्तर प्रदेश के अपने अध्ययन में इस प्रदेश के नगरीय क्षेत्रों में 'आदि-हिंदू आंदोलन' के उदय का संक्षेप में वर्णन किया है।[54] आदि-हिंदू आंदोलन का नेत्तत्व यह विश्वास करता था कि आदि-धर्म की भाँति ही हिंदू धर्म का वर्तमान स्वरूप आर्य हमलावरों द्वारा उन पर थोपा गया है। हालाँकि, ऐसे कोई साक्ष्य उपलब्ध नहीं हैं जो विभिन्न 'आदि' आंदोलनों के बीच अपने प्रारंभिक स्तरों पर किसी प्रकार के संबंधों को प्रदर्शित करते हों। वे अपने विश्लेषण में कहती

52. त्रिलोक नाथ (1987).
53. मार्क जुरर्गेंसमेयर (1982).
54. नंदिनी गोप्तू (2001).
55. नंदिनी गोप्तू (2001) वही.

हैं इसकी बहुत संभावना है कि एक साथ उद्‌भव हुए कई 'आदि' आंदोलनों को अस्पृश्यों के पृथक प्रजातांत्रिक उद्‌भव के सिद्धान्त में ढूंढा जाता हो। इस सिद्धांत को उद्‌भव ब्रिटिश नृजातिक वर्गीकरणों और इस धारणा से हुआ है कि जाति व्यवस्था की उत्पत्ति द्रविड़ और आर्य प्रजातियों के बीच संघर्षों से हुई है। इन आमूल परिवर्तनवादी सिद्धान्तों को व्यापक प्रचार, विशेषत: विभिन्न जनगणनाओं से मिला। ईसाई मिशनरी, जो भारत में मूल प्रजातियों की अवधारणा को प्रसारित कर रहे थे, के साथ नगरीय अस्पृश्य लोगों का सम्पर्क और आर्य अल्पसंख्यकों में जाति व्यवस्था के उद्‌भव का सिद्धान्त इन विचारों के अन्य महत्त्वपूर्ण स्रोत थे।[55]

इस आंदोलन ने जाति व्यवस्था के समक्ष कोई प्रत्यक्ष खतरा उत्पन्न नहीं किया। सार रूप में यह आंदोलन अस्पृश्यों को आर्य हिंदू न बताकर उन्हें हलकी भूमिकाएं और कार्य देने के खिलाफ एक विरोध प्रकट करने के रूप में देखा गया। यह जाति व्यवस्था पर पूरी ताकत से, किया गया एक प्रत्यक्ष प्रहार नहीं था।[56] सतनामी पंथ (सतनामी पंथी) के अनुसरणकर्तागण उत्तरी भारत के कई भागों में पाए जाते हैं। छत्तीसगढ़ के सतनामी समुदाय के सौरभ दुबे का नृजातीक इतिहास दलित लोगों में समानता प्राप्त करने की उनकी तलाश के लिए किए गए धार्मिक-सामाजिक सुधार आंदोलन के कार्यक्रम को समझने के लिए एक आकर्षक एवं महत्त्वपूर्ण योगदान है।[57] छत्तीसगढ़ में इस पंथ के प्रवर्तक गुरू घासीदास ने हिंदू देवी और देवताओं की मूर्तियों को कचरे में फेंक दिया और भेदमूलक जाति आधारित सामाजिक व्यवस्था को पूर्णत: अस्वीकार कर दिया। पिछले सौ वर्षों में इस पंथ के संगठनात्मक ढाँचे और विचारधारा में काफ़ी परिवर्तन आ गया है। इस लम्बी अवधि में यह हिंदू सामाजिक व्यवस्था और राजनीतिक व्यवस्था की मुख्यधारा का एक हिस्सा बन गया। गुरू घासीदास ने जिन मुख्य ब्राह्मणवादी प्रतीकों को नकारा था, वे बीसवीं शताब्दी के सतनामी पंथ के हिस्सा बन गए हैं।

अस्पृश्यों का एक हिस्सा जो अपने परंपरागत व्यवसाय को छोड़ कर या उसे ही बनाये रखते हुए अपनी आर्थिक दशाओं में सुधार ला सकता था, उसने

56. नंदिनी गोप्तू (1993).
57. नंदिनी गोप्तू (2001) वही.

जाति पदानुक्रम में अपनी प्रस्थिति को ऊंचा करने के लिए आंदोलनों की शुरूआत की। इन लोगों ने सांस्कृतिक मानदंडों और कर्मकाण्डों को अंगीकार कर लिया और जाति पदानुक्रम में ऊंची सामाजिक प्रस्थिति का दावा उपयुक्त नये मिथकों के आविष्कार के द्वारा किया। किन्तु, सभी अस्पृश्य जातियाँ नागरिक निर्योग्यताओं, जो पारम्परिक रूप में उन पर थोपी गई थीं, को हटाने में सफल नहीं हो सकीं। व्यावहारिक रूप में, अपने निवास स्थानों पर अभी भी इनके साथ अस्पृश्यों की तरह ही व्यवहार किया जाता है।[58] किन्तु तमिलनाडु के शनरों और नाडरों ने अस्पृश्यता की सीमा रेखा को लांघ दिया है। केरल के इरावा (इझावा) लोगों ने अस्पृश्यता की इस सीमा रेखा को चाहे पूरी तरह से समाप्त न किया हो, फिर भी उन्होंने इस रेखा को धूमिल कर दिया है। नाडर लोगों ने उन्नीसवीं सदी के अंतिम वर्षों में नागरिक निर्योग्यताओं, जिससे वे ग्रस्त थे, के खिलाफ आंदोलन किए। इन लोगों ने 1930 के दशक के प्रारंभिक वर्षों में जस्टिस पार्टी और बाद में कांग्रेस पार्टी का समर्थन कर राजनीतिक व्यवस्था में प्रवेश किया। ये लोग कर्मकांडीय पदानुक्रम के निचले स्तर से 'प्रस्थिति और शक्ति' के स्तर तक पहुँचे।[59] इसी प्रकार इरावा लोगों ने सन् 1903 में अपनी जाति का एक संगठन एस.एन.डी.पी. योगम के नाम से बनाया। इस संगठन के अनुसार, इरावाओं की निम्न सामाजिक प्रस्थिति का कारण उनकी निम्न सामाजिक और धार्मिक प्रथाएं हैं। वे लोग ऊंची जातियाँ बन कर दूसरे लोगों के समकक्ष समानता प्राप्त कर सकते हैं। दिलीप मेनन लिखते हैं, इस विचार की अभिव्यक्ति पूजा के क्षेत्र में इझावा मंदिरों की स्थापना, जिनमें ब्राह्मणवादी देवों की ईश्वर के रूप में उपासना के द्वारा हुई। एक समतावादी समाज में प्रवेश के लिए साझा पूजा को आधार बनाया गया। द्वितीयत: एस.एन.डी.पी. योगम ने इझावा समुदाय में आत्म-सम्मान की रचना हेतु आर्थिक ताकत को मजबूत करने और स्व-सहायता की नैतिकता का प्रभावशाली ढंग से प्रचार किया।[60] इस संगठन ने इझावा लोगों के मानदंडों और प्रथाओं का संस्कृतिकरण करने के लिए कुछ कार्यकलापों की शुरूआत

58. गुरबीर ब्रर (1985), श्यामलाल (1981), अवधेश कुमार (1985) एवं प्रकाश परमार, सतीश शर्मा (1985).
59. राबर्ट हार्डग्रेव (1969).
60. दिलीप एम. मेनन (1993).

की। इन लोगों ने 1920 के दशक में मंदिर प्रवेश के लिए सत्याग्रह किए। उन्होंने आर्थिक अवसरों और राजनीतिक पदों के लिए सरकार से समझौता किया।[61] महाराष्ट्र में डॉ. आंबेडकर द्वारा 1920 के दशक में अस्पृश्यता विरोधी एक बड़े आंदोलन की शुरूआत की गई। यह आंदोलन कई भिन्न रूपों में आज भी चालू है। हालाँकि, आंदोलन की जड़ें मुख्यत: महाराष्ट्र से जुड़ी हुई हैं, तथापि यह देश के विभिन्न भागों में फैल गया और इसने एक अखिल भारतीय चरित्र ग्रहण कर लिया है।

महाराष्ट्र के दलितों ने दलित पैंथर आंदोलन की 1970 के दशक के प्रारंभिक भाग में शुरुआत की। प्रारंभ में यह महाराष्ट्र के नगरीय क्षेत्रों तक सीमित रहा और अब यह गुजरात, कर्नाटक, आंध्र प्रदेश, उत्तर प्रदेश और अन्य राज्यों में फैल गया।[62] किन्तु अभी हमारे पास दलित पैंथर आंदोलन पर बहुत कम अध्ययन हैं। किन्तु, शर्मीला रेगे (1998) शिकायत करती हैं कि इस आंदोलन ने दलित महिलाओं के उत्पीड़न के मुद्दे की उपेक्षा की है।[63] पैंथर आंदोलन प्रभु संस्कृति की निन्दा करता है और उसे त्यागता है और शोषित वर्गों हेतु एक वैकल्पिक सामाजिक-सांस्कृतिक पहचान बनाने का प्रयास करता है। यह संगठन अनुसूचित जातियों के प्रति किए गए अन्यायों के विरुद्ध प्रदर्शनों को संगठित करता है। फिर भी, उनके अधिकांश कार्यकलाप मौलिक साहित्य जैसे कविताएं, कहानियाँ, नाटकों के प्रकाशन द्वारा अपने विचारों के प्रचार करने तक सीमित हैं। इस साहित्य का हिंदू बौद्धिक परंपरा, हिंदू धर्म और हिंदू नैतिकता के खिलाफ विरोध के एक साधन के रूप में प्रयोग किया जाता है। किन्तु इस साहित्य को 1970 के दशक में भी स्वयं दलित जनों द्वारा भी व्यापक रूप में नहीं पढ़ा गया।[64] किन्तु यह साहित्य 1990 के दशक में अधिक लोकप्रिय हो गया। दलित साहित्य संबंधी

---

61. डी.जेर्फी आर. अरनोल्ड, मेनॉर जे.(1976) ए.अयप्पन (1994) एवं के.पी. कन्नन (1988).
62. जयश्री गोखले, (1979), प्रहलाद गंगाराम जोगदंड (1991) एवं यागाती चिन्ना राव (2003).
63. शर्मिला रेगे (1998).
64. उत्तम भोइटे, अनुराधा भोइटे (1977).

कई संकलन और किताबें अब उपलब्ध हैं।[65] गोपाल गुरु ने डॉ. आंबेडकर और महाराष्ट्र में सांस्कृतिक आंदोलन की आलोचनात्मक समीक्षा की है, वे कहते हैं सांस्कृतिक और साहित्यिक आंदोलनकारियों ने डॉ. आंबेडकर से बौद्धिक प्रेरणा ली है, जब उन्होंने कबीर और भक्ति की समाज सुधारवादी परंपराओं, विशेषत: 'वरकारी' परंपरा से अपने स्वरूपों को ग्रहण किया, 1970 के पहले दलित सांस्कृतिक पहल में सुपरिचित (सामान्य) से सार्वभौमिक की ओर बढ़ने की आशा और क्षमता थी।[66] स्थापित प्रमुख राजनीतिक दलों ने अपने हितों की पूर्ति हेतु सांस्कृतिक रूप में आंदोलित दलित आंदोलन का अपहरण कर लिया। आंध्र, तमिलनाडु, कर्नाटक, केरल, बिहार, महाराष्ट्र और उत्तर प्रदेश के कई स्थानों पर हरिजन खेतिहर मजदूरों ने 1960 के दशक के अंतिम वर्षों के भूमि हड़प आंदोलनों में भाग लिया। उन्होंने अधिक मजदूरी की माँग को लेकर भी आंदोलन किए। वास्तव में, हरिजन खेतिहर मजदूरों और बटाईदारों ने ब्रिटिश काल में भी इसी प्रकार के आंदोलन किए थे।[67] फिर भी, ग्रामीण सामुदायिक विकास समिति (आर.सी.डी.ए.) तमिलनाडु, हरिजन मजदूर संघ, तमिलनाडु में खेतिहर श्रमिक आंदोलन, आंध्र में ग्रामीण हरिजन खेतिहर विकास समिति (आर.एच.ए.डी.ए.) और पश्चिम बंगाल में ग्रामीण गरीबों की समिति (ए.आर.पी.) जैसे कई स्वैच्छिक संगठनों द्वारा 1970 और 1980 के दशकों में खेतिहर मजदूरों को संगठित करने और उनकी लामबन्दी करने के प्रयासों पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिये।[68] इन संगठनों के नेतागण ब्राजील के शिक्षाविद व नेता पाऊलो फ्रेरे के उत्पीड़ित लोगों में 'अंतर्विवेकशीलता' को विकसित करने के उपागम से प्रेरित थे। ये संगठन उत्पीड़ितों में ऐसी सामाजिक-आर्थिक संरचना और सांस्कृतिक यथार्थ के संबंध में चेतना उत्पन्न करते हैं जो उन्हें पराधीन रखती है। इनके लिए अंतर्विवेकशीलीकरण स्वायत्तता का एक रास्ता है जो स्वयं आमजन के लिए खुला होता है। वे अपेक्षा करते हैं कि यह उत्पीड़ित लोगों में धीरे-धीरे अपने आंतरिक रूपान्तरण, सांस्कृतिक चेतना के साथ-साथ आर्थिक और उनके प्रजातांत्रिक

65. एलिनॉर जेलिएट (1978) एवं एस.पी. पुनलेकर (2001).
66. गोपाल गुरू (2001) एवं स्टीफन हेन्निगम (1981).
67. स्टीफन हेन्निगम (1981) वही.
68. घनश्याम शाह (1988).

संगठन के लिए तथा अंतत: उनके द्वारा सत्ता पर कब्जा करने के प्रति आशा उत्पन्न करेगी।

इस प्रकार से इन संगठनों ने, आर्थिक मुद्दों जो मजदूरी से संबंधित थे और सामाजिक मुद्दे जो अस्पृश्यता से संबंधित थे, से जुड़े कई मुद्दों को लेकर अनेक आंदोलन किए।[69] तमिलनाडु में 1974 और 1978 के बीच उत्पन्न हुए विभिन्न दलित आंदोलनों में आंदोलनकारियों ने यह अनुभव किया कि केवल हरिजनों तक उनका केन्द्रीयकरण सम्पूर्ण खेतिहर मजदूरों की एकता के लिए घातक है। अत: उन्होंने खेतिहर मजदूरों तथा छोटे एवं सीमांत किसानों जो हरिजन थे और गैर दलित जातियों से संबंधित थे, उनके कई संगठन बनाये और आंदोलनों की शुरुआत की।[70] इसके साथ ही उत्तर-औपनिवेशिक भारत में दलित आंदोलन का एक बड़ा स्वरूप हिंदू धर्म को त्याग कर बौद्व धर्म को अपनाना रहा है। यह धर्म परिवर्तन महज किसी व्यक्ति विशेष की मुक्ति का प्रयास नहीं था, बल्कि दलित समुदाय की सामूहिक मुक्ति हेतु एक साझा अभियान था, उस समय इसका संदेश पूरे देश में जोर-शोर से फैला। बावजूद इसके दलितों की एक बड़ी संख्या ने औपचारिक रूप से बौद्व धर्म को स्वीकार नहीं किया।[71] दलितों के द्वारा राजनीतिक लामबंदी कोई ऐसी आश्चर्यजनक घटना नहीं थी, जो उत्तर औपनिवेशिक भारत में ही विकसित हुई है। बल्कि यह पहले से चली आ रही थी, जिसकी शुरूआत डॉ. आंबेडकर ने ही (1936) में इण्डिपेंडेन्ट लेबर पार्टी की स्थापना के साथ कर दी थी। महाराष्ट्र का दलित साहित्य एवं वहाँ चलाया जा रहा पैंथर आंदोलन जो कि धर्म परिवर्तन की राजनीति की ही एक शाखा थी, 1970 के दशक में दलितों के प्रतिष्ठा एवं अधिकार के मुद्दे को लेकर पूरे देश में फैल गई, लेकिन आगे चलकर अन्य दलित आंदोलनों की तरह ही यह आंदोलन भी ज़्यादा लोकप्रियता प्राप्त नहीं कर सका। इस प्रकार 1980 के दशक के मध्य तक शायद ही ऐसा कोई आंदोलन था जो दलितों का सर्मथन प्राप्त कर सकने एवं उसके वोट बैंक को एकत्रित कर सकने में सक्षम हो।[72] लेकिन इस रिक्तता को 1980 के दशक से उत्तर प्रदेश में बहुजन समाज पार्टी की लहर ने सामाजिक

69. डेनिश वाण्डर वेड, गाय पोइटविन (1981).
70. घनश्याम शाह (1988) वही.
71. घनश्याम शाह (2001).
72. तीला कुमार भट्ट, हेमन्त कुमार (2009).

न्याय एवं लोकतांत्रिक परिवर्तन के एक नवीन दृष्टिकोण के साथ मजबूत किया। इसने राज्य एवं दलित आंदोलन के संबंध को लेकर भी एक नया परिदृश्य तैयार किया। अब तक जितने भी साहित्य थे उसमें कुछ सामाजिक विसंगतियों के प्रति राज्य के ढीले-ढाले नज़रिये की वजह से दलित आंदोलन को सामान्यत: राज्य के विरुद्ध माना जाता था, उदाहरण के लिए जाति प्रथा के उन्मूलन एवं दलितों की सामाजिक-आर्थिक स्थिति को ऊंचा उठाने की दिशा में राज्य ने ज़्यादा कुछ नहीं किया था, इस पर कुछ विद्वानों ने दक्षिण भारत में जाति विरोधी आंदोलनों के द्वारा एक ''पृथक पहचान'' की तलाश पर प्रकाश डाला है।[73] बसपा के नेतृत्व में चलाये जा रहे इस दलित आंदोलन की विचारधारा एवं नेतृत्व रिपब्लिकन पार्टी ऑफ़ इंडिया की तुलना में काफ़ी उग्र है, इसे पहले के आंदोलनों की तरह सहयोजित नहीं किया जा सकता है, इसमें गरीबों एवं शोषितों के रूप में दलितों की एक नई पहचान उभरी है, जिसने जाति प्रथा की व्यवस्था को मानने से इंकार कर दिया है, तथा इसमें वे परिवर्तन लाना चाहते हैं।[74] इस तरह से यह दलित आंदोलन की वह धारा है जो प्रतिकारी भी है, अर्थात यह ऐतिहासिक गलतियों को सुधारने की भी कोशिश करता है।

भाग-ख

दलित आंदोलन पर उपलब्ध अकादमिक लेखन की समाजशास्त्रीय समीक्षा

इस भाग में हम कुछ क्षेत्रों की दलित जातियों के आंदोलन के इतिहास के बारे में लिखित पुस्तकों तथा शोधपूर्ण कार्यों का विश्लेषण करेंगे। इस संदर्भ में एलिनॉर जेलिएट और गेल ओम्वेट का काम विशेष महत्त्व रखता है। दलित समाज और आंदोलन से ये दोनों व्यक्तिगत रूप से परिचित हैं और इन्होंने दलित इतिहास को अकादमिक क्षेत्र में स्थापित करने का महत्त्वपूर्ण काम किया है। एलिनॉर जेलिएट को तो इस विषय में एक प्रणेता के रूप में माना जा सकता है। लगभग 45 वर्षों से वे इस विषय का अध्ययन और इस पर लेखन कर रही हैं। उनके लगभग तीन दशकों में लिखे गए महत्त्वपूर्ण लेखन 1992 में एक पुस्तक संग्रह के रूप में प्रकाशित हुए। फ्राम अनटचेबल्स टू दलित्स एसेज ऑन डॉ.आंबेडकर

73. एम.एस.एस. पांडियन (2002).
74. सुधा पाई (2002).

मूवमेंट[75] पुस्तक में उन्होंने मुख्य रूप से दलित राजनीति, साहित्य और धर्म का विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। राजनीति से संबंधित निबंध मुख्य रूप से डॉ. आंबेडकर के जीवन, राजनीति और विचारों पर केंद्रित हैं। इस संदर्भ में उन्होंने दलितों, खास तौर से महार जाति के लोगों के बीच डॉ. आंबेडकर की एक मिथक के रूप में स्थापना के बारे में ध्यान आकर्षित किया। इसके अलावा भक्ति आंदोलन से जुड़े संतों, जैसे चोखामेला, एकनाथ इत्यादि के जीवन, अंतर्संबंधों और विचारों पर प्रकाश डाला है। इस पुस्तक में महाराष्ट्र के दलितों, विशेषतया बौद्ध दलितों के धार्मिक विश्वास और गतिविधियों का भी अध्ययन है।[76] एलिनॉर जेलिएट दलित अध्ययन की अग्रिम पंक्ति की विद्वान और डॉ. आंबेडकर के जीवन और कार्यों की प्रामाणिक विशेषज्ञ थीं। इन विषयों में रूचि रखने वाले मेरे जैसे कई लोगों का डॉ. आंबेडकर से परिचय उन्हीं के लेखन द्वारा हुआ। जिस समय भारत के बाहर डॉ. आंबेडकर की कोई पहचान नहीं थी, उस समय उन्होंने डॉ. आंबेडकर और दलित आंदोलन पर कई पुस्तकें लिखीं, जिन्होंने दुनिया भर के अध्येताओं और सामाजिक कार्यकर्त्ताओं पर गहरी छाप छोड़ी। पेन्सिल्वेनिया विश्वविद्यालय में एलिनॉर जेलिएट के अप्रकाशित शोध प्रबंध, जिसका शीर्षक ''डॉ. आंबेडकर एंड द महार मूवमेंट''[77] डॉ. आंबेडकर को समझने में एक महत्त्वपूर्ण शोध रहा है। इस प्रकार से एलिनॉर जेलिएट के इस अध्ययन से अकादमिक ज्ञान की दुनिया में जिस समय भारत के बाहर डॉ. आंबेडकर की कोई पहचान नहीं थी, उस समय उन्होंने डॉ. आंबेडकर और दलित आंदोलन पर कई पुस्तकें लिखीं, जिन्होंने दुनिया भर के अध्येताओं और सामाजिक कार्यकर्त्ताओं पर गहरी छाप छोड़ी।

एलिनॉर जेलिएट की किताब 'आंबेडकर्स वर्ल्ड : द मेकिंग ऑफ़ बाबासाहेब एंड द दलित मूवमेंट'[78] डॉ. आंबेडकर के जीवन के सामाजिक-राजनीतिक पक्षों का एक विस्तृत और गंभीर अध्ययन है। एलिनॉर जेलिएट ने 1960 के दशक में डॉ. आंबेडकर पर जो शोध पत्र लिखा उसका विषय था आंबेडकर्स वर्ल्ड : द मेकिंग ऑफ़ बाबासाहेब एंड द दलित मूवमेंट। यही उनकी पीएच.-डी.की

75. एलिनॉर जेलिएट (1992).
76. एलिनॉर जेलिएट, रोहिणी मोकाशी पुनेकर (2005).
77. एलिनॉर जेलिएट (1969).
78. एलिनॉर जेलिएट (2013).

थीसिस भी थी। उनका यह शोधपत्र हमें एक इतिहासकार की दृष्टि से डॉ. आंबेडकर के जीवन और दलित आंदोलन के बारे में विस्तार से बताता है। उनकी यह पुस्तक आज भी एक महत्त्वपूर्ण कृति है क्योंकि डॉ. आंबेडकर के नहीं रहने के बाद दलित आंदोलन पर लिखा गया यह पहला अकादमिक शोध था। इस शोधपत्र ने इस आंदोलन के इतिहास को वैश्विक पाठकों तक पहुंचा दिया। जेलिएट डॉ. आंबेडकर के सामाजिक-राजनीति जीवन को पाँच खंडों में बांटती हैं : (1) महार पृष्ठभूमि, (2) अस्पृश्य आन्दोलन, (3) राजनीति में दबे-कुचले वर्ग, (4) धर्मांतरण आन्दोलन, (5) डॉ. आंबेडकर की पार्टी राजनीति।

जेलिएट परंपरागत बलुतेदारी व्यवस्था में महारों की भूमिका और औपनिवेशीकरण की वजह से इसमें आए परिवर्तनों के बारे में लिखा है : कैसे ब्रिटिश सेना में भर्ती होने की वजह से उनकी सामाजिक-आर्थिक स्थिति में परिवर्तन आया। इसकी वजह से डॉ. आंबेडकर से पहले गोपाल वालंगकर, किसन बनसोडे और शिवराम काम्बले दलितों के हितचिन्तक और मार्गदर्शक बनकर उभरे। इन नेताओं ने महारों में आलोचनात्मक चेतना की आधारशिला रखी और शिक्षा और रोजगार के क्षेत्र में उनकी उन्नति के लिए कई संस्थानों की स्थापना की।

इस पुस्तक के दूसरे खंड में उन विभिन्न तरीकों का जिक्र है जिसको डॉ. आंबेडकर ने अपने शुरुआती दिनों में अपनाया। इनमें पूरे महाराष्ट्र में आयोजित अस्पृश्यों के सम्मेलन भी शामिल हैं। इन सम्मेलनों का उद्देश्य अस्पृश्यों में चेतना का विकास करना और आम कार्रवाई के लिए जनमत जुटाना था। दूसरा, अमरावती, नासिक और पुणे में मंदिर-प्रवेश आंदोलन शुरू किया गया। डॉ. आंबेडकर ने इनमें से किसी भी आंदोलन का नेतृत्व नहीं किया; उनका नेतृत्व वास्तविक से ज़्यादा सांकेतिक था। यहाँ लेखक एक पत्र प्रस्तुत करती हैं जो 1934 में डॉ. आंबेडकर ने भाउराव गायकवाड़ को लिखा था जिसमें उन्होंने लिखा था कि मंदिर-प्रवेश आंदोलन ''दलित वर्गों'' में जोश का संचार करने का सबसे अच्छा तरीका है ताकि वे हिंदू सामाजिक व्यवस्था में अपनी निम्न स्थिति के बारे में सजग हो जाएं। नासिक सत्याग्रह के बाद, उन्होंने महसूस किया कि इस आंदोलन से जिस उद्देश्य की प्राप्ति की उम्मीद थी उसे प्राप्त कर लिया गया है और मंदिर-प्रवेश का आंदोलन अब अप्रासंगिक हो गया है। दो साल बाद, 1936 में डॉ. आंबेडकर ने धर्मांतरण की योजना की घोषणा की।

तीसरा, डॉ. आंबेडकर ने अखबारों का प्रयोग जातिवाद विरोधी संघर्ष के लिए किया। उनके पूर्ववर्तियों ने भी ऐसा किया था पर उन्होंने इसके लिए काफ़ी हद तक अखबारों के साथ मिलकर रणनीति बनाई और मूकनायक, बहिष्कृत भारत, जनता और प्रबुद्ध भारत जैसे अखबारों की मदद ली। यह विरासत आज भी ज़िंदा है। चौथा और अन्तिम, उन्होंने बहिष्कृत हितकारी सभा जैसे संस्थानों की स्थापना की। इस संस्थान की भूमिका में लोगों को शिक्षित करना और इसमें सभी ''अस्पृश्य'' जातियों और सभी दलित वर्गों के जीवन के सभी पक्षों को शामिल करना था। इस पुस्तक का तीसरा अध्याय साउथबरो कमिटी (1918), साइमन कमीशन (1928) और गोलमेज सम्मलेन (1930-32) जैसे विभिन्न आयोगों में उन्होंने जो अपनी बात रखी उसकी अंतर्दृष्टि से हमें रू-ब-रू कराता है। चूँकि ब्रिटिश सरकार भारत में सुधार लागू करने जा रही थी, उस स्थिति में डॉ. आंबेडकर की बातचीत ने अस्पृश्यों के लिए राजनीतिक अधिकार हासिल करने में महती भूमिका निभाई। हालाँकि, पूना संधि के लिए गाँधी को जबरदस्ती बाध्य करने के बाद डॉ. आंबेडकर को अस्पृश्यों के लिए अलग निर्वाचक-मंडल की अपनी माँग के बदले उनके लिए आरक्षित सीटों से ही संतोष करना पड़ा। चौथा है धर्मांतरण आंदोलन जो 1936 में शुरू हुआ और 1956 तक चला। यहाँ पर लेखक हमें बताती हैं कि देश के सिख, ईसाई और मुस्लिम नेता उस समय डॉ. आंबेडकर के संपर्क में थे और उन्हें अपने-अपने धर्मों में शामिल होने का न्योता दे रहे थे। पर डॉ. आंबेडकर, जो उस समय संविधान का प्रारूप बनाने में व्यस्त थे, बौद्धिक और राजनीतिक तौर पर इन विकल्पों से संतुष्ट नहीं थे। अंततः, 5 लाख महारों और अन्य अस्पृश्यों के साथ उन्होंने नवयान बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया। यह बौद्ध धर्म की उनकी अपनी व्याख्या थी जो उनको बचपन से ही प्रभावित करता आया था।

इस पुस्तक का अंतिम अध्याय पार्टी की राजनीति के माध्यम से डॉ. आंबेडकर ने राजनीतिक क्षेत्र में जो हस्तक्षेप किया उसका जिक्र है। उन्होंने इंडिपेंडेंट लेबर पार्टी (आईएलपी), शेड्यूल्ड कास्ट फेडरेशन और रिपब्लिकन पार्टी ऑफ़ इंडिया की स्थापना की। पर इनमें से सिर्फ आईएलपी ही सफल रहा क्योंकि, जेलिएट के अनुसार, डॉ. आंबेडकर एक मजबूत पार्टी के गठन पर अपना ध्यान केंद्रित नहीं कर पाए। फिर, उदाहरण के लिए, आज की बहुजन समाज पार्टी की तुलना में उनकी पार्टी को सिर्फ अस्पृश्यों का ही समर्थन प्राप्त था जबकि मूल रूप

से दलित आधार के बावजूद बहुजन समाज पार्टी ''सामाजिक इंजीनियरिंग'' के तहत अन्य हिंदू जातियों को रिझाने और उनका वोट प्राप्त करने में भी सफल रही है। जेलिएट कहती हैं कि डॉ. आंबेडकर ने अपना सम्पूर्ण जीवन राजनीति के शीर्ष पर बिताया : आजादी के पहले ब्रिटिश शासन के साथ उनका संपर्क विभिन्न आयोगों के माध्यम से था जबकि आजादी मिलने के बाद संविधान सभा और फिर संसद के सदस्य के रूप में। अपने पूरे जीवन में वे सिर्फ तीन ही प्रदर्शनों के हिस्सा बने।

इस पुस्तक में डॉ. आंबेडकर के आंदोलन को सिर्फ महार आंदोलन तक सीमित रखने की बात अखरने वाली है। यद्यपि जेलिएट ने इस पुस्तक की प्रस्तावना में लिखा है कि शुरू में इस पुस्तक का शीर्षक था ''डॉ. आंबेडकर एंड द महार मूवमेंट'' जिसे बाद में बदलकर ''डॉ. आंबेडकर एंड द दलित मूवमेंट'' कर दिया गया और उन्होंने इस पुस्तक के अध्यायों में महार आंदोलन के बारे में सारे सन्दर्भों को यथास्थान रखा है। यद्यपि महारों ने आंदोलन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई, पर शायद डॉ. आंबेडकर इसे महार आंदोलन का नाम नहीं देते। क्योंकि उनका लक्ष्य अस्पृश्यों, सभी पिछड़ी जातियों का उद्धार और ख़ुद जाति का विनाश था।

गेल ओम्वेट दलित विचारधारा और आंदोलन के इतिहासकारों में सबसे महत्त्वपूर्ण नामों में एक हैं। इन्होंने अपनी विभिन्न पुस्तकों और लेखों के माध्यम से इस विषय का गहन अध्ययन प्रस्तुत किया है। उनकी पहली पुस्तक कल्चरल रिवोल्ट इन कोलोनियल सोसाईटी (1966) अब्राह्मण आंदोलन पर केंद्रित है और इसमें मुख्य रूप से महाराष्ट्र के जाति-विरोधी विचारक और कार्यकर्त्ता ज्योतिबा फुले के जीवन, विचारधारा और कार्यकलापों पर विचार किया गया है। लेखिका का यह मानना है कि ज्योतिबा फुले के नेतृत्व में संचालित सत्यशोधक आंदोलन एक क्रांतिकारी आंदोलन था जो रूढ़िवादी समाज की जड़ों को झकझोर देना चाहता था।[79] एक अन्य महत्त्वपूर्ण पुस्तक, दलित्स एंड डेमोक्रेटिक रिवोल्यूशन (अँग्रेज़ी में 1994) दलित और प्रजातांत्रिक क्रांति : उपनिवेशीय भारत में डॉ. आंबेडकर एवं दलित आंदोलन (हिंदी में 2009) यह अत्यन्त प्रभावशाली पुस्तक उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से 1956 में सुप्रसिद्ध दलित नेता डॉ. आंबेडकर की

79. गेल ओम्वेट (2011).

मृत्यु तक की अवधि तक के दलित आंदोलनों के इतिहास को प्रस्तुत करती है, गेल ओम्वेट ने तीन राज्यों आन्ध्र प्रदेश, महाराष्ट्र तथा कर्नाटक पर केंद्रित करते हुए दलित आंदोलनों की विचारधारा तथा संगठन का स्वतंत्रता संग्राम (विशेष रूप से गाँधी और गाँधीवाद) तथा मजदूरों व किसानों के वर्ग संघर्ष तथा इसकी प्रभावशाली विचारधारा मार्क्सवाद दोनों के साथ इनकी अन्त: क्रिया का विश्लेषण किया है। साथ ही इसमें जाति की उत्पत्ति तथा उसके विकास को भी ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया गया है। लेखक ने दलित आंदोलन को विस्तृत जाति विरोधी आंदोलन के एक भाग के रूप में माना है, जो भारतीय समाज में मुख्य प्रजातांत्रिक आंदोलन था, इस समस्त प्रक्रिया में ''हिंदू राष्ट्रवाद'' को चुनौती देते हुए दलितों ने भारतीय सामाजिक व्यवस्था की मूल संरचना को बदलने का प्रयास किया है। ऐतिहासिक भौतिकवाद पर आधारित अपने विश्लेषण में गेल ओम्वेट ने जाति, वर्ग एवं जेण्डर की यर्थाथताओं को चित्रित करने के साथ-साथ दलित आंदोलन के प्रर्वतक डॉ. आंबेडकर के विचारों जो दलित आंदोलन की प्रमुख विचारधारा रही है, का आलोचनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत किया है, यह अध्ययन तीन भाषाई क्षेत्रों के मौलिक शोध स्त्रोतों से सामग्री एकत्रित कर किया गया है जो औपनिवेशिक काल के दलित आंदोलनों का एक मात्र विश्लेषण है। गेल ओम्वेट ने देश के विभिन्न भागों, खास तौर पर महाराष्ट्र, कर्नाटक और आंध्र प्रदेश के विभिन्न क्षेत्रों, में दलित आंदोलन के उद्‌भव और विकास पर विचार किया है। लेखिका के अनुसार, इन आंदोलनों में दो धाराएं थीं। एक तो थी सुधारवादी धारा जो कुछ ऊपरी और सतही परिवर्तन ही चाहती थी और जिसका नेतृत्व कई मायनों में गैर-दलित जातियों के लोग कर रहे थे। दूसरी धारा प्रमुखत: जाति विरोधी और व्यवस्था विरोधी थी। यह आंदोलन समाज के भेदभाव युक्त ढाँचे को बदलकर एक समतामूलक समाज की स्थापना करना चाहता था। जो अवधारणा मूल रूप से जाति विरोधी धारा को सुधारवादी धारा से अलग करती थी, वह थी हिंदू धर्म का विरोध। ओम्वेट के अनुसार, जाति विरोधी धारा अपनी तरह से राष्ट्रवादी और साम्राज्यवाद विरोधी थी। 1920 और 1930 के दशकों में देश के विभिन्न भागों में उग्र दलित आंदोलन विकसित हो गए थे जो 'मूल निवासी' होने की पहचान पर आधारित थे और अपने को 'आदि' आंदोलन के नाम से संबोधित करते थे। अत: तमिलनाडु में आदि-द्रविड़, कर्नाटक में आदि-कन्नड़, आंध्र प्रदेश और उत्तर प्रदेश में आदि-हिंदू और पंजाब में आदि-धर्म

या आद्धर्म के नाम से प्रसिद्ध इन दलित आंदोलनों ने सशक्तता से दलित पहचान और अस्मिता का प्रश्न उठाया था। लेकिन 1930 के दशक के अंत तक इनका अवसान हो गया था, और दलित आंदोलन के नए दौर में लगभग हर क्षेत्र में डॉ. आंबेडकर का व्यक्तित्व, राजनीति और विचारधारा का कुछ न कुछ प्रभाव जरूर था।[80] अपनी एक अन्य पुस्तक (दलित विजंस: अँग्रेज़ी, 1995, दलित दृष्टि: हिंदी में 2011) में ओम्वेट पुन: फुले और डॉ. आंबेडकर की विचारधाराओं का विवरण देती हैं और उनका तर्क यह है कि फुले-डॉ. आंबेडकर विचारधारा भारत में प्रचलित अन्य विचारधाराओं, जैसे राष्ट्रवाद या रूढ़िवादी मार्क्सवाद, की तुलना में बेहतर और अधिक अनुकरणीय है।[81] एक और पुस्तक सीकिंग बेगमपुर (2008) में ओम्वेट ने जाति-विरोधी बुद्धिजीवियों के सामाजिक-आर्थिक दृष्टि का पंद्रहवीं सदी से बीसवीं सदी तक का अध्ययन प्रस्तुत किया है। नामदेव, कबीर, रविदास, तुकाराम, फुले, अयोतीथास, रमाबाई, पेरियार और डॉ. आंबेडकर को केंद्र में रखकर लेखिका उनके द्वारा एक आदर्श समाज की कल्पना, यूटोपिया, को सामने लाती हैं।[82]

गोपाल गुरू ने मुख्यधारा समाजशास्त्र में दलित आंदोलन (1999) लेख के माध्यम से दलित आंदोलन के अध्ययन ने, पिछले दो दशकों में भारत और विदेश में कुछ अग्रणी समाजशास्त्रियों को आकृष्ट किया है। डॉ. आंबेडकर के शताब्दी वर्ष में प्रकाशन अत्यधिक हुआ जिसके परिणामस्वरूप डॉ. आंबेडकर, दलित राजनीति एवं दलित आंदोलन पर साहित्य की काफ़ी वृद्धि हुई। समाजशास्त्रियों में एक प्रभुत्वशाली वैचारिकी धारा को पहचानना आसान है जिसका प्रभाव दलित आंदोलन के अध्ययन पर पड़ा। विद्वानों के एक समूह में एक 'उदारवादी' प्रवृत्ति है जो यह विश्वास रखते हैं कि प्राचीन हिंदू प्रतिक्रियावादी परंपराओं तथा दलितों के विरुद्ध उच्च जातियों के गहन पूर्वाग्रह के कारण ही दलितों द्वारा विरोध का प्रारम्भ हुआ। अत: यह प्रवृत्ति दलितों द्वारा किए जा रहे विरोध को पुराणपंथी हिंदू परंपरा के एक आवश्यक परिणाम के रूप में देखती है। इस उदारवादी दृष्टि में यह मान लेने की भी एक मजबूत प्रवृत्ति पाई जाती है कि, दलित, आंदोलन

80. गेल ओम्वेट (2009).
81. गेल ओम्वेट (1995).
82. गेल ओम्वेट (2011).

वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के अंतर्गत ही, सामाजिक-आर्थिक, नागरिक एवं राजनीतिक क्षेत्रों में एक आंशिक उन्नति प्राप्त करने तक ही सीमित है, अत: अन्य पक्षों में उग्र रूपान्तरण करने का कोई विचार इसमें नहीं है। इस वैचारिक स्थिति के कारण ही दलित आंदोलन संबंधी उनके लेखनों में 'सामाजिक गतिशीलता', 'संदर्भ समूह' एवं 'सापेक्ष अभावबोध' जैसी अवधारणाओं का अत्यधिक उपयोग हुआ है, जिसके कारण दलित आंदोलन के अध्ययन का यह एक प्रमुख संदर्भ-ढाँचा बन गया है।[83]

इस उदारवादी श्रेणी में आने वाले विद्वानों में एम.एस.ए. राव (1982) हैं, जिन्होंने भारत में पिछड़े वर्गों, दलितों के विरोध आंदोलन के उद्‌भव को समझने के लिए इसी प्रकार की अवधारणाओं का उपयोग किया है। राव ने, मर्टन एवं रून्सीमेन से उत्प्रेरणा लेकर यह तर्क प्रस्तुत किया कि सापेक्ष अभावबोध के सिद्धान्त का प्रमुख आधार सामाजिक गतिशीलता है। सापेक्ष अभावबोध के एक आधार के रूप में सामाजिक संघर्ष का उल्लेख राव के अध्ययन में ही हुआ है किन्तु इसकी विस्तृत विवेचना नहीं की गई है। राव आगे यह भी तर्क प्रस्तुत करते हैं कि सकारात्मक संदर्भ समूह की बराबरी की चेष्टा से सापेक्ष अभावबोध संबंधित है। अन्य विद्वानों ने भी दलित आंदोलन के उद्‌भव को सापेक्ष अभावबोध, संदर्भ समूह एवं सामाजिक गतिशीलता जैसे मुद्दों के साथ जोड़ने का प्रयास किया है। विद्धानों के अध्ययनों से यह स्पष्ट होता है कि दलितों में सुधार, विरोध एवं आंदोलन के उद्‌भव की विवेचना में, सामाजिक गतिशीलता एवं सापेक्ष अभावबोध जैसी शब्दावली मुख्य संदर्भ ढाँचा बन गई है। कुछ विद्वानों द्वारा यह सुझाव दिया गया है कि दलितों में गतिशीलता के अध्ययन के लिए संस्कृतीकरण की प्रक्रिया एक मॉडल हो सकती है।[84]

इसके आगे राव यह भी कहते हैं कि कुछ निश्चित दलित समूह अथवा व्यक्ति उच्च समूहों अथवा व्यक्तियों को या तो कर्मकांडीय रूप से या सांस्कृतिक रूप से अपनाते हैं, जिससे वे उनके समान सामाजिक स्थिति प्राप्त कर सकें अथवा उन मूल्यों को अपना सकें जो एक नागरिक समाज में एक व्यक्ति की आकांक्षाओं को आगे बढ़ाते हैं। इसे संस्कृतीकरण की प्रक्रिया कहा जाता है। कुछ विद्वानों

83. गोपाल गुरू (1999).
84. एम.एस.ए. राव (1982).

के मतानुसार यदि दलित अपनी इस उच्च गतिशीलता के संस्कृतीकरण मॉडल के अनुकरण द्वारा अपनी उपलब्धि में असफल होते हैं तो वे सापेक्ष अभावबोध का शिकार होते हैं। इसका कारण यह है कि सामाजिक स्तर पर, उनके प्रयास उच्च जाति समूहों द्वारा, जिन्हें वे अपना संदर्भ समूह मानते हैं अधिकांशत: पूर्व नागरिक परिस्थिति में अस्तित्वरत तथा जो आज भी देश के कुछ भागों में प्रभुत्वशाली हैं, प्रतिबन्धित कर दिया जाता है। एक दूसरे स्तर पर शिक्षित दलितों में सापेक्ष अभावबोध तब सुस्पष्ट हो जाता है जब उनकी तुलना पश्चिमीकृत उच्च जाति से होती है।[85] भारत में जैसा कि उम्मेन (1990) इंगित करते हैं, वंचना बहुआयामी है। जो अध्ययन दलित आंदोलन के उद्‌भव का सापेक्ष अभावबोध, सामाजिक, गतिशीलता एवं संदर्भ समूह सिद्धान्त के साथ संबंध स्थापित करते हैं, हालाँकि वे दलित आंदोलन को समझने हेतु अपर्याप्त हैं, फिर भी सैद्धान्तिक एवं नीतिगत आधारों पर उनका समर्थन किया जाना चाहिए।[86]

ओवन लिंच की किताब दि पोलिटिक्स ऑफ़ अनटचेबिलिटी (1960) उत्तर प्रदेश के दलितों पर एक महत्त्वपूर्ण अध्ययन है। खास तौर पर आगरा के जाटवों पर आधारित यह पुस्तक उनके अतीत और वर्तमान दोनों का विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत करती है। आगरा के जाटव मुख्य रूप से जूता उद्योग से जुड़े रहे हैं। जूता कारखानों के ज़्यादातर मालिक और लगभग सारे कारीगर जाटव जाति के ही हैं। यद्यपि इस कारोबार के कारण आर्थिक रूप से उनका विकास हुआ, फिर भी सामाजिक तौर पर उनके साथ भेदभाव बरता जाता था। इस विषय में स्थिति से उत्पन्न आक्रोश के फलस्वरूप उनके बीच एक सशक्त आंदोलन की शुरूआत हुई जो पहले वर्णक्रम में अपने को ऊपर उठाने में व्यक्त हुई, लेकिन बाद में आंदोलन का यही संवेग डॉ. आंबेडकरवादी आत्मसम्मान के आंदोलन में परिवर्तित हो गया। अंतत: आगरा में जाटव जाति के अनेक लोगों ने डॉ. आंबेडकर का अनुसरण करते हुए बौद्ध धर्म अपना लिया। इसके साथ-साथ प्रदेश की राजनीति में भी वे असरदार होने लगे। इस पुस्तक में लिंच इस बात पर बल देते हैं कि आगरा में जाटव जाति की ऊर्ध्वमुखी सामाजिक गतिशीलता उनकी राजनीतिक गतिविधियों के कारण है न कि संस्कृतीकरण या पश्चिमीकरण जैसी

85. एम.एस.ए. राव (1982).
86. टी.के. उम्मेन (1990).

प्रक्रियाओं की वजह से।[87]

एक अन्य इतिहासकार मार्क जुर्गेंसमेयर ने पंजाब में हुए दलितों के एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण आंदोलन आद्धर्म (या आदि-धर्म) का गहन अध्ययन किया है। उनकी पुस्तक, रिलिजन ऐज सोशल विजन (1982) में 1920 के दशक में पंजाब में जोर पकड़ रहे दलितों के आंदोलन, जिसे 1926 में मंगूराम ने औपचारिक तौर पर आद्धर्म के नाम से स्थापित किया, का विस्तृत वर्णन और विश्लेषण है। वैसे तो इस पुस्तक में पंजाब के दलितों के अन्य आंदोलनों जैसे बाल्मीकि, राधास्वामी और ईसाई का भी जिक्र है, लेकिन इसमें मुख्य ध्यान आद्धर्म पर ही केंद्रित है। इनका मानना है कि दलितों के प्रोटेस्ट आंदोलनों में धर्म की एक प्रमुख भूमिका रही है। इसीलिए आद्धर्म ने संत रविदास को अपने गुरू के रूप में (मान्यता दी गई) स्थापित किया। इसके अलावा अन्य धारा में महर्षि बाल्मीकि को यही पदवी दी गई। लेखक कहते हैं कि आद्धर्म आंदोलन धर्म के अलावा कौम या समुदाय की धारणा पर भी आधारित था, जिससे पंजाब में उनके अनुयायी अपने को सिखों, मुसलमानों और हिंदुओं के समकक्ष खड़ा करते थे। 1930-31 में इस पंथ के लगभग 5 लाख अनुयायी थे। लेकिन 1930 के दशक के अंत तक दलित जातियों के बीच एकता बनाये रखने के अभाव में, इसके नेतृत्व में फूट और राजनीति में आने की असफल कोशिश के कारण इस आंदोलन का प्रभाव घटने लगा और धीरे-धीरे इसका ह्रास हो गया।[88]

बीसवीं सदी, विशेष रूप से इसके पूर्वार्द्ध की राजनीति में दलितों की भूमिका को लेकर एस.के. गुप्ता की पुस्तक द शिड्युल्ड कास्ट इन मॉडर्न इंडियन पॉलिटिक्स (1985) एक महत्त्वपूर्ण योगदान है। 1909 के मार्ले-मिंटो सुधारों से शुरू करके यह दलितों द्वारा राजनीतिक हस्तक्षेप का लेखा-जोखा प्रस्तुत करती है। लेखक के अनुसार उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशक से ही दलित अपने हित के लिए संगठित हो रहे थे और राजनीतिक रूप से सक्रिय थे। लेखक का यह भी निष्कर्ष है कि 1930 तक कांग्रेस द्वारा दलितों के पक्ष पर ज़्यादा ध्यान न देने के कारण दलित राजनीतिज्ञों द्वारा कांग्रेस का विरोध न्यायोचित ठहराया जा सकता है।[89] विजय प्रसाद की पुस्तक, अनटचेबल फ्रीडम (2000) दिल्ली के सफाई कर्मचारियों

87. ओवेन लिंच (1969).
88. मार्क जुरर्गेंसमेयर (1982).
89. एस.के.गुप्ता (1985).

के राजनीतिक और विचारधारात्मक पहलुओं की उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशकों से लेकर स्वतंत्रता के बाद के दशक तक का विश्लेषणात्मक वर्णन है। इसमें सामाजिक ढाँचे और इन कर्मचारियों के अनुभवों की सामूहिक स्मृति को जोड़ करके यह दर्शाने की कोशिश की गयी है कि किस सीमा तक अतीत ने इनके वर्तमान को प्रभावित किया है। लेखक के अनुसार पंजाब और अन्य इलाकों से आए और लाए गए मजदूरों को शहरी जीवन की जरूरतों के अनुसार औपनिवेशिक प्रशासन द्वारा लगभग जबरदस्ती मैला उठाने और सफाई करने के काम में लगा दिया गया। उनको मजदूरी भी कम दी जाती थी। जब ये कर्मचारी अपनी मजदूरी बढ़ाने और काम करने और रहने की दशा सुधारने के लिए हड़ताल और आंदोलन करते थे, तो उन्हें धमकाया और दबाया जाता था। राष्ट्रवादी आंदोलन के नेताओं ने हालाँकि उनकी दशा सुधारने के लिए कुछ काम किया, लेकिन इसका कोई अधिक असर नहीं दिखा। लेखक ने इसके अलावा इन दलितों पर हिंदूवादी और मार्क्सवादी राजनीति के प्रभावों का भी चित्रण किया है।[90]

बंगाल की दलित जातियों पर शेखर बंद्योपाध्याय और स्वराज बसु ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। शेखर बंद्योपाध्याय ने बंगाल के दलित समुदायों में संख्या की दृष्टि से सबसे बड़ी 'नामशूद्र' जाति पर काम किया है। इस संदर्भ में उनकी पुस्तक कास्ट, प्रोटेस्ट एंड आइडेंटिटी (1997) एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। बंगाल के नामशूद्र समुदाय के इतिहास का इसमें 1972 से 1947 तक विस्तृत वर्णन है। ऐसा कहा जाता है कि नामशूद्र पहले चांडाल के नाम से जाने जाते थे, लेकिन बंद्योपाध्याय ने इस बात का खंडन करते हुए तर्क दिया है कि दरअसल चांडाल शब्द का प्रयोग किसी एक जाति के लिए न होकर बहुत सारी जातियों के लिए किया जाता था। अंग्रेज़ी शासकों ने उन्नीसवीं सदी के दौरान इसका प्रयोग नामशूद्रों के लिए करने की शुरूआत की। नामशूद्र पहले मछली पकड़ते थे और कुछ खेती करते थे। उन्नीसवीं सदी में ज़्यादातर लोग खेती से ही जुड़ गए। कई तरह के व्यवसायों में संलग्न होने के कारण उनमें थोड़ा सामाजिक विभेदीकरण होने लगा, फिर भी एक सामूहिक पहचान बनी रही और इसके आधार पर उनके बीच एक सशक्त आंदोलन की शुरूआत हुई। इस दौरान और इसके बाद भी उनके ऊपर शक्ति विचारधारा का प्रभाव था जो बाद में (मतुआ) पंथ के नाम से प्रसिद्ध

90. विजय प्रसाद (2000).

हुआ। प्रारंभिक दौर में नामशूद्रों की राजनीति राष्ट्रवादी आंदोलन से अलग हो गई। लेकिन 1937 के बाद वे राष्ट्रवादी धारा में शामिल हो गए।[91] स्वराज बसु की पुस्तक डायनेमिक्स ऑफ़ ए कास्ट मूवमेंट (2003) बंगाल की राजबंशी जाति का ऐतिहासिक अध्ययन है। राजबंशी संख्या के आधार पर बंगाल की हिंदू जातियों में तीसरे स्थान पर थे। दलित जातियों में इनकी संख्या नामशूद्रों के बाद थी। नामशूद्रों की ही तरह राजबंशियों में एक सशक्त आंदोलन की शुरूआत हुई जो उच्च जातियों और औपनिवेशिक प्रशासन द्वारा उन्हें निम्न जाति घोषित करने के विरोध में था। इस विरोध के दो लक्ष्य थे–सामाजिक सोपान में स्वयं को ऊपर उठाना और क्षत्रिय सिद्ध करना, और दूसरा राजनीतिक सत्ता में भागीदारी करना। इसके अलावा उनकी मांगें शिक्षा, रोजगार और प्रतिनिधि संस्थाओं में अपने लिए आरक्षण की भी थीं। लेखक इस बात पर बल देते हैं कि जाति के अतिरिक्त कई अन्य पहचानें थीं, जिन्होंने विभिन्न समयों और स्थानों पर महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। इनमें से एक महत्त्वपूर्ण पहचान वर्ग–आधारित थी। उदाहरण के रूप में बसु तेभागा आंदोलन को लेते हैं। जिसके दौरान राजबंशी क्षत्रिय समिति के विरोध के बावजूद राजबंशी किसानों और मजदूरों ने सक्रियता से तेभागा आंदोलन में भागेदारी की।[92]

औपनिवेशिक काल में उत्तर प्रदेश की दलितों की राजनीति पर एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण पुस्तक नंदिनी गोप्तू की दि पोलिटिक्स ऑफ़ अरबन पुअर (2001) है। इस पुस्तक में उत्तर प्रदेश के चार शहरों–कानपुर, इलाहाबाद, बनारस और लखनऊ–में पिछड़े और दलित वर्गों के आंदोलन का विस्तृत विवरण है। गोप्तू के अनुसार, औपनिवेशिक समाजशास्त्र ने विभिन्न जातियों के लिए विशिष्ट कार्यों का प्रावधान किया जिसके फलस्वरूप अस्पृश्य जातियों को शहरों में निम्न और कम आमदनी वाले कामों में लगाया गया। ये काम मुख्य रूप से सफाई, हलालखोरी, चमड़े का काम और मृत जानवरों को उठाने का था। एक तरह से शहरों में भी उनके रहने की बस्तियाँ ओर उनका काम शेष लोगों से अलग था। अत: शहरी जीवन में भी ऐसे अधिकतर लोग अछूत ही बने रहे। यद्यपि सीधे रूप में जाति का वर्चस्व अब उनके ऊपर नहीं था, लेकिन अस्पृश्यता के भार से वे मुक्त न

91. शेखर बंद्योपाध्याय (1997).
92. स्वराज बसु (2003).

हो सके। इस विरोधाभास के कारण, लेखिका के अनुसार, इन इलाकों में दलित आंदोलन विकसित हुए जो भक्ति की विचारधारा से प्रेरित थे और ऐतिहासिक तौर पर दलितों को भारत का मूल निवासी मानते थे। उत्तर प्रदेश में इस प्रकार का सबसे महत्त्वपूर्ण दलित आंदोलन आदि-हिंदू आंदोलन था जिसका आरंभिक नेतृत्व अछूतानंद और रामचरण कर रहे थे। इन विचारकों का मानना था कि दलित लोग आर्य-पूर्व भारत में शासक थे। आर्यों के आक्रमण से वे पद्च्युत हो गए और फिर दास बनाए गए और घृणित कार्य करने के लिए विवश किए गए। उनका संदेश था कि दलित जातियों को निम्न कार्य छोड़ देना चाहिए और अपने को सामाजिक और सांस्कृतिक रूप से ऊपर उठाने का प्रयास करना चाहिए। इस प्रक्रिया में इस आंदोलन के नेता राजनीति को एक बड़ा हथियार मानते थे।[93]

उत्तर प्रदेश में बहुजन समाज पार्टी के उद्भव, विचारधारा, संगठन, कार्यक्रम व जनसहभागिता की रणनीतियों तथा बहुजन समाज पार्टी द्वारा चुनावों में अपनी उपस्थिति, चुनावी प्रगति एवं उसमें राजनीतिक महत्त्व का विश्लेषण सुधा पाई (2002) ने दलित एसरसन एंड द अनफिनिस्ड डेमोक्रेटिक रिवोल्यूशन : द बहुजन समाज पार्टी इन उत्तर प्रदेश, प्रस्तुत पुस्तक में किया है। उत्तर प्रदेश के सामाजिक-राजनीतिक परिदृश्य में सुधा पाई ने बहुजन समाज पार्टी का उद्भव एक दलित आधारित पार्टी के रूप में किया है, जिसको सुधा पाई एक महत्त्वपूर्ण घटना मानती हैं। बहुत से विद्वानों ने इसका विश्लेषण क्रांतिकारी घटना के रूप में किया है और मानते हैं कि इसका लक्ष्य जाति व्यवस्था को तोड़कर सामाजिक बदलाव लाना है। लेकिन सुधा पाई ने यह निष्कर्ष निकाला है कि बहुजन समाज पार्टी ने उच्च जातियों के साथ समझौते किए हैं। इसका नेतृत्व आज एक कठिन प्रश्न का सामना कर रहा है कि क्या ये एक बुनियादी सामाजिक बदलाव का आंदोलन है, या फिर सत्ता पाने की आकांक्षा से ग्रस्त एक राजनीतिक दल। सुधा पाई ने यह निष्कर्ष निकाला है कि बहुजन समाज पार्टी द्वारा सामाजिक बदलाव ना ला पाने का प्रमुख कारण यह है कि यह भारतीय लोकतंत्र का प्रतिफल है। इसलिए यह एक ऐसी पार्टी है जो राज्य की शक्ति संरचना पर (उच्च जातीय) खासकर ब्राह्मणों के वर्चस्व को तोड़कर अपना वर्चस्व स्थापित करना चाहती

93. नंदिनी गोप्तू (2001).

है और इस सत्ता का प्रयोग दलितों के विकास के लिए करना चाहती है।[94]

भारत की आजादी के पश्चात् की राजनैतिक गतिविधियों व विषयों को समझने के लिए क्रिस्ट्रोफ जेफरलाट की पुस्तक इंडियाज साइलेण्ट रिवोल्यूशन: द राइज ऑफ़ द लो कास्ट्स इन नार्थ इण्डियन पॉलिटिक्स (2003) सहायक सिद्ध होती है। खासतौर से भारत के वंचित मूक समूहों की राजनैतिक सहभागिता व बढ़ते राजनैतिक प्रतिनिधित्व को लेकर। इस प्रकार से प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने 1960 के दशक के बाद से भारत के अधिकांश बहुसंख्यक मूक समाज (बहुजन) दलित, अर्थात् जो भारत की जनसंख्या का दो तिहाई हिस्सा हैं, द्वारा अपने अधिकारों के लिए आवाज़ उठाना शुरू करना, तथा भारत के सबसे अधिक जनसंख्या वाले उत्तर-प्रदेश की राजनीति का नियंत्रण छोटी जाति के राजनीतिज्ञों के हाथ में है, तथा राष्ट्रीय राजनीति में छोटी जातियों का राजनैतिक प्रतिनिधित्व बढ़ रहा है, लेखक का पुस्तक में मानना है कि यह सही अर्थों में भारत का सही लोकतांत्रिकरण है। इस प्रक्रिया को लेखक ने वंचित समूहों की खामोश क्रांति की संज्ञा दी है, और इस खामोश क्रांति से बहुत से सामाजिक व आर्थिक प्रभाव पड़ेंगे, जो आने वाले समय में और ज़्यादा प्रभावित करेंगे। इस प्रकार से लेखक ने अपने सैद्धान्तिक, प्राथमिक व द्वितीयक आधार पर किए गए अध्ययन के आधार पर पुस्तक को परिचय तथा निष्कर्ष को मिला कर चार भागों में बांटा है। पुस्तक के प्रथम भाग में परिचय के साथ उत्तर भारत की राजनैतिक प्रक्रिया में बहुजनों की बढ़ती राजनैतिक भागीदारी व प्रतिनिधित्व तथा स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत में लोकतंत्र को दो अध्यायों में बाँट कर विश्लेषण के साथ ही कांग्रेस, गाँधी व डॉ. आंबेडकर के बीच सैद्धांतिक मुद्दों पर संघर्ष, कांग्रेस की सामाजिक रूपांतरण नीतियाँ, वोट बैंक की राजनीति तथा दलित आरक्षण नीति पर विमर्श, इन्दिरा गाँधी की सुधारवादी नीतियों तथा लोकतंत्र में सुधारवादी कार्यक्रमों का विश्लेषण किया गया है। पुस्तक के दूसरे भाग में दक्षिण तथा उत्तर भारत में गैर ब्राह्मण आंदोलन तथा जाति विमर्श, छूआ-छूत संस्कृतिकरण और भक्ति आंदोलन तथा पिछड़ों पर आरक्षण के प्रभाव व आरक्षण नीति पर दक्षिण तथा उत्तर भारत के संदर्भ के मुद्दे सम्मिलित किए गए हैं, पुस्तक के तीसरे अध्याय में कोटा राजनीति, किसान राजनीति तथा वर्तमान के सभी राजनैतिक, सैद्धांतिक

94. सुधा पाई (2002).

मुद्दों पर विमर्श को इंगित करते हुए 1980 के दशक तक जमींदारों द्वारा दलितों को वोट बैंक के रूप में राजनैतिक रूप से प्रयोग की बात करती है। पुस्तक के चौथे अध्याय में मुख्य रूप से कांग्रेस पर सवर्ण राजनीतिज्ञों के प्रभुत्व के प्रभाव तथा इस दशक के अन्तिम वर्षों में मण्डल राजनीति तथा उसके विरोध में भाजपा द्वारा कमण्डल राजनीति के तहत नये संस्कृतिकरण सम्बंधी मुद्दों को लेकर सामाजिक इंजीनियरी के द्वारा हिंदुओं का संघीकरण की राजनीति करना आदि मुद्दे सम्मिलित किए गए हैं।[95] इस प्रकार से पुस्तक की सैद्धांतिकी को प्रस्तावित शोध कार्य में द्वितीयक स्त्रोत के रूप में आधार बनाते हुए, उत्तर प्रदेश के मूक समूहों, (दलितों) द्वारा किए जा रहे, दलित आंदोलन के विभिन्न पक्षों पर अपना अध्ययन केंद्रित करने का प्रयास किया गया है, पुस्तक में दलित आंदोलन तथा दलितों के कुछ मुद्दों को अधूरा छोड़ दिया गया है, शोध में दलित आंदोलन की अगली रणनीतियों पर भी अध्ययन किया गया है।

उत्तर प्रदेश में समकालीन दलित आंदोलन एवं बहुजन समाज पार्टी के विकास पर विवेक कुमार व उदय सिन्हा ने ''दलित एसर्सन एंड बहुजन समाज पार्टी–अ पर्सपेक्टिव फ्राम बिलो'' में शोधपरक विश्लेषण किया है। वर्ष 1984 में स्थापना के बाद बसपा का इतिहास केवल 15 वर्षों का है। यदि इसमें बामसेफ एवं डी.एस.–4 को जोड़ लिया जाए तो भी यह केवल 20 वर्ष होता है। भारतीय सभ्यता के पाँच हजार वर्षों तथा कांग्रेस के 120 वर्ष के इतिहास की तुलना में यह रंच मात्र है फिर भी बसपा का विकास बहुत तेज रहा है। समाज के विभिन्न क्षेत्रों में इसकी रणनीति ने भारतीय राजनीति को एक विशेष दर्जा दिलाया है। इसी कारण प्रत्येक राजनीतिक पार्टी न केवल प्रदेश बल्कि राष्ट्रीय स्तर पर बसपा से गठबंधन करने की इच्छुक है।'' यह विचार ''अनाम दलित नायकों तथा संगठित, शिक्षित और संघर्षशील होने के इच्छुक प्रबुद्ध दलितों'' को समर्पित पुस्तक 'दलित एसर्सन एंड बहुजन समाज पार्टी–अ पर्सपेक्टिव फ्राम बिलो' में व्यक्त किए गए हैं। उत्तर प्रदेश में व्याप्त जातीय तनावों एवं दलित उत्पीड़न को दूर करने में दलित आंदोलन तथा दलित आदिवासी आयोग की भूमिका एवं परिणामों पर भी नज़र डाली गयी है। लेखकों ने प्रदेश में दलित आंदोलन में सुधार के नज़रिये से चलाए गए भक्ति आंदोलन तथा आर्य समाज की भूमिका

95. क्रिश्टोफे जेफरलॉट (2003).

पर विचार करते हुए इसे राजनीतिक माँगों की ओर मोड़ने में डॉ. आंबेडकर के योगदान तथा आंदोलन से उभरकर सामने आने वाले दलित नेतृत्व की मानसिकता पर भी विचार किया है। अनेक सफलताओं के बावजूद बसपा की कुछ सीमाएँ तथा असफलताएँ रही हैं। वह आज भी सभी दलितों की एक पहचान नहीं कायम कर पाई है जिसके कारण वे अपनी पहचान अनेकानेक जातियों के रूप में करते हैं, जो दलित एकता में बाधक हैं। बसपा देश में चल रहे दलित आंदोलन के विभिन्न रूपों के बीच भी कोई समन्वय नहीं बना पाई है। दलितों की आर्थिक समस्याओं को भी अभी पूरी तरह से नहीं उठाया जा रहा है। पुस्तक का अंतिम अध्याय बसपा में आ रहे बदलावों के बारे में है। आज बसपा सवर्णों को भी अपने साथ लाना चाहती है और वह सर्वजन हित करने तथा सवर्णों का पूरा सम्मान देने का वादा कर रही है, पर आम कार्यकर्त्ता ऊंची जाति वालों के हृदय परिवर्तन पर विश्वास नहीं कर पा रहा है। कांग्रेस और भाजपा के बड़े पूँजी पतियों के चंगुल में होने के कारण बसपा आज समाज के नवधनाढ्य वर्ग के आकर्षण का केंद्र बनती जा रही है। बसपा की सभाओं में सभी किस्म के चौपहिया वाहन आसानी से देखने में आते हैं, पर समाज के हाशिए पर पड़े गरीब दलित को इससे आशंका पैदा होती है कि कहीं अमीर लोग पार्टी पर कब्जा न कर लें। मीडिया के प्रति भी बसपा के रूख में बदलाव हो रहा है और वह अब उसका पूरा लाभ उठाने का प्रयास कर रही है। प्रदेश के शहरी चुनावों में बसपा का महत्त्व तथा छात्र नेताओं का उसके प्रति आकर्षण भी अच्छे संकेत हैं।[96]

दलित नेतृत्व ऐसे समाज की स्थापना करने के लिए आंदोलन चला रहा है, जिसमें स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व की भावना हो। इस संदर्भ में दलित राजनीति एवं दलित नेतृत्व का अध्ययन समाज विज्ञानी विवेक कुमार (2002) ने अपनी पुस्तक दलित लीडरशिप इन इंडिया[97] में किया है। इसमें वे कहते हैं कि आत्मनिर्भर दलित राजनीतिक नेतृत्व हमेशा दलित मुक्ति के प्रश्न पर कार्य करता है। वह दलित हितों से समझौता करने में हिचकता है। अपनी विचारधारा के मुद्दों को कार्यक्रम में लेकर चलता है। दलितों के राजनीतिक ध्रुवीकरण के लिए एजेण्डे का निर्माण करता है। ऐसा नेतृत्व देश के संसाधनों में दलितों को

96. विवेक कुमार, उदय सिन्हा (2002).
97. विवेक कुमार (2002).

हिस्सा दिलाने के लिए संघर्ष करता है। साथ ही सामाजिक सांस्कृतिक परिवर्तन के लिए समाज को तैयार करते हैं। दलित राजनीतिक नेतृत्व ने शुरूआती चरण में दलितों को सामाजिक सुधार के लिए प्रेरित किया। सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक परिवर्तन में समकालीन दलित नेतृत्व की भूमिका परिपक्व हो गयी है। बहुजन समाज पार्टी एवं संरचनात्मक परिवर्तन : एक समाजशास्त्रीय अवलोकन[98] (2007) में विवेक कुमार ने भारतीय दलित आंदोलन में बहुजन समाज पार्टी के योगदान की व्याख्या के साथ-साथ उसका संरचनात्मक परिवर्तन में योगदान की व्याख्या समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से की है, साथ ही बहुजन समाज पार्टी की विचारधारा, दलितों में महत्वाकांक्षा तथा दलितों में बढ़ती अस्मिता का भी विश्लेषण किया है। इस दौरान उनमें रैखिक परिवर्तन एवं संबंधों का भी विश्लेषण किया है।

बद्री नारायण की फैसिनेटिंग हिन्दुत्व : सेफ्रन पॉलिटिक्स एंड दलित मोबिलाइजेशन (2009) उत्तर प्रदेश एवं बिहार के विभिन्न इलाकों के फील्ड कार्य पर आधारित है। यह पुस्तक निगाह डालती है कि किस तरह हिन्दुत्ववादी शक्तियों की शह पर पहचान, अस्मिता की राजनीति दलित समुदायों में एक अलग तरह का खेल रच रही है। प्रस्तुत पुस्तक दलित पहचान के हिन्दुत्ववादी शक्तियों द्वारा इस्तेमाल की जानेवाली कार्यप्रणाली की इसी गतिशीलता को दिखाती है जहाँ वह 'हिन्दुत्ववादी शक्तियों द्वारा दलितों को अपने हक़ में खड़ा करने में इस्तेमाल की गयी रणनीति, रणकौशल का विखण्डन करती है।'[99] यहाँ हम हिन्दुत्व की 'स्पेशियल स्ट्रेटजी' (सतीश देशपांडे, कान्टेम्परेरी इंडिया, 2003, वाइकिंग) अर्थात स्थान संबंधी रणनीति का खुला खेल देख सकते हैं। सतीश देशपांडे के मुताबिक ''यह रणनीति दो पहलुओं पर आधारित होती है। सबसे पहले एक विशिष्ट जगह या स्थान को एक विशिष्ट ख़ासियत से लैस माना जाए ताकि उसे अपने जैसे एकमात्र जगह के तौर पर कहा जा सके, या अगर किसी स्थान को लेकर ऐसे दावे पहले से मौजूद हों तो उन्हें परिष्कृत किया जाए और बढ़ा-चढ़ा कर पेश किया जाए। हालाँकि इसके चयन के पीछे पैमाना यही होता है कि वह विशिष्ट स्थान में 'अन्य' भी गहरे रूप से जुड़ा हो ताकि आसानी से उससे निकाला ना जा सके। इन सबका सम्मिलित नतीजा यही होता है एक ऐसी

98. विवेक कुमार (2007).
99. बद्री नारायण (2009).

युद्धभूमि का निर्माण जहाँ हिंदू 'अभिमान' या 'स्वाभिमान' की हिफाजत किसी किस्म के 'अन्य' को अपमानित करके ही पूरी की जा सकती है। सालार मसूद को एक क्रूर व्यक्ति के तौर पर पेश करने के अलावा, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ इस बात पर लगातार जोर देता है कि यह दरगाह कभी बालार्क ऋषि का आश्रम था। उनका कहना होता है कि इस आश्रम और सूर्यकुण्ड को सालार ने तबाह कर दिया। ऐसे हिंदू जो साझी संस्कृति और विरासत में यकीन रखते हैं, उन्हें हीन दिखाने के लिए संघ का यह भी दावा होता है कि हिंदू धर्म और राष्ट्र के मुक्तिदाता को हिंदुओं ने भी भुला दिया है और उन्हें किसी विदेशी आक्रांता की काल्पनिक कब्र पर जाने एवं वहाँ प्रार्थना करने से कोई गुरेज नहीं है। इस बात को रेखांकित किया जाना जरूरी है कि माहौल को विषाक्त करने की संघ एवं उसके आनुषांगिक संगठनों की तमाम कोशिशों के बावजूद इस मसले को लेकर लोगों में मौजूद आख्यान इसके बिल्कुल विपरीत हैं, और इस आख्यान के मुताबिक सुहैलदेव खलनायक है और गाज़ी मियाँ नायक है।''[100] इसमें कोई दो राय नहीं कि 'महान योद्धा के तौर पर सुहैलदेव के निर्माण' के चलते लोगों को लामबन्द करने में हिन्दुत्व की ताकतों को क़ामयाबी मिली है और यहाँ के पासी समुदाय के लोगों में उनका जनाधार विकसित किया है। गौरतलब है कि बहराइच के आसपास के इलाकों में पासी समुदाय की अच्छी तादाद है। 'मेंकिंग ऑफ़ ए वॉरिंग हीरो' (एक योद्धा नायक की रचना) शीर्षक से लिखे गए अध्याय में एक समुदाय विशेष के हिंदुत्वकरण पर निगाह डालने के बाद पुस्तक अन्य दलित समुदायों में किए गए उसी किस्म के हस्तक्षेपों पर निगाह डालती है। इधर के वर्षों में निषाद समुदाय पर विद्वानों का ध्यान गया है। यह एक 'नदी केंद्रित' समुदाय है जिसमें निषादों की कई उपजातियाँ मिलकर एक बृहत् निषाद अस्मिता का निर्माण कर रही हैं। मुख्यत: नाव चलाने, मछली पकड़ने और बालू खनन में संलग्न इन समुदायों ने अपनी राजनीति और गोलबंदी विकसित की है। इन 'जातियों के 'राजनीतिक आधारों के रूपान्तरण' को अपने पक्ष में करने के लिए राजनीतिक पार्टियों में होड़ मची दिखती है, उसको रेखांकित किया जा रहा है। रमाशंकर सिंह का अध्ययन यह भी दिखाता है कि किस प्रकार निषाद समुदाय ने अपने अतीत, सांस्कृतिक सामग्री से एक राजनीतिक भविष्य निर्मित करने का

100. सतीश देशपांडे (2003).

प्रयास किया है।[101] बद्री नारायण के अनुसार 'सभी राजनीतिक पार्टियाँ उन्हीं मिथकीय और सांस्कृतिक संसाधनों का इस्तेमाल करती दिखती हैं जिसमें साझा उद्देश्य इन जातियों के वोट हासिल करना है, मगर साथ ही साथ अपने राजनीतिक लक्ष्यों के अनुकूल उन्हें अलग-अलग ढंग से पुनर्व्याख्यायित भी किया जा सके।' इस प्रक्रिया के चलते यह भी देखने में आ रहा है कि अलग-अलग पर्टियों से सौदेबाजी करने की ताकत इन जातियों ने हासिल की है। राम जन्मभूमि-बाबरी मस्जिद आंदोलन के दौरान भाजपा-राष्ट्रीय स्वयंसेवक गठजोड़ ने निषादों के मिथकीय नायक निषादराज गुहा जिसने कथित तौर पर राम की मदद की छवि का इस्तेमाल बेहद होशियारी के साथ किया। वर्ष 1990 में जब आडवाणी अपनी रथ यात्रा पर निकले थे और उनके कारवां को अयोध्या में पहुँचने से रोका गया था, तब अयोध्या में कारसेवकों को पानी के रास्ते से पहुँचाने के लिए इन निषादों को ही लामबन्द किया गया था। जहाँ तक मुसहरों की बात है तब शबरी का मिथक जो रामायण में एक छोटे हिस्से के चरित्र के तौर पर सामने आती है तथा दीना और भदरी के नाम से उसके दो भाई, जो बड़े योद्धा थे जिन्होंने समुदाय को अपनी दावेदारी पेश करने का तथा सामाजिक सोपानक्रम में अपने आप को ऊँचा दिखाने का मौका प्रदान किया है, और अपने सामाजिक आत्मविश्वास को भी बढ़ाया है, की बातें आगे बढ़ी हैं, उसने भाजपा-राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ को इस समुदाय में अपना एजेण्डा आगे बढ़ाने की सहूलियत प्रदान की है। चूँकि मुसहर अपने आप को शबरी का वंशज समझते हैं, इसे देखते हुए हिन्दुत्ववादी ताकतों ने यह कहकर उन्हें लामबन्द करने की कोशिश की है कि वह राजकाज (अर्थात राम के छूटे हुए काम) पूरा करने में सहयोग दें। इन दो भाइयों दीना और भदरी को राम लक्ष्मण के अवतार के तौर पर भी महिमामंडित किया जाता है।[102]

बहुजन समाज पार्टी, जिसका गठन ही सदियों से दमित, शोषित दलितों के सशक्तीकरण के लिए हुआ था, उसने लोगों में आत्मविश्वास भरने के लिए ऐतिहासिक नायकों को प्रतीक के रूप में चुना जबकि बीजेपी ने रामायण और महाभारत जैसे ग्रंथों से पात्र चुने। मसलन रामायण से शबरी, निषादराज, महाभारत से एकलव्य और धीरे-धीरे उनके जातीय नायकों को राम और लक्ष्मण के अवतार

101. रमाशंकर सिंह (2022).
102. बद्री नारायण (2009).

बता कर यह जताने का प्रयास किया कि उन्हें सवर्ण हिंदुओं ने नहीं, तुर्क और मुगल आक्रांताओं ने सदियों प्रताड़ित किया है। बद्री नारायण लिखते हैं–'बीजेपी ने दलितों के लिए वंचित शब्द का इस्तेमाल करना चाहा है, वंचित एक निरापद शब्द है लेकिन प्रजातांत्रिक राजनीति के दबाव में दलित शब्द के प्रयोग से भी परहेज नहीं किया है। वंचित इसलिए कि वो लोग कभी हिंदू धर्म और संस्कृति के गौरवशाली रक्षक और संरक्षक हुआ करते थे, लेकिन समाज में मुस्लिमों की घुसपैठ के बाद वंचित हो गए। बीजेपी का ये भी कहना है कि पिछले पैंतालीस वर्षों में हुए दंगों में हिंदुओं के लिए लड़ने वाले और मरने वाले अधिकांश लोग आज की दलित और पिछड़ी जातियों से संबंधित थे। इसका अर्थ यह हुआ कि हिंदुओं की रक्षा के लिए मुसलमानों से लड़ने वाले वही लोग थे, जो कि तथ्यात्मक रूप से गलत नहीं है। दंगों में किस वर्ग के लोग ज़्यादा भोगते हैं, यह सर्वविदित है, और मध्ययुगीन बर्बरता भी निश्चय ही इसी वर्ग के लोगों ने ज़्यादा झेली थी। यह तो ऐतिहासिक तौर पर एक स्थापित सत्य है। वे कहते हैं कि बीजेपी ने सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को सफल बनाने के लिए जो रणनीतियाँ अपनाईं वे कारगर साबित हुईं और पार्टी एकाएक कांग्रेस की राष्ट्रीय प्रतिद्वंद्वी बन गई। लेकिन धीरे-धीरे जब राम का मिथक वोट दिलाने में असफल होने लगा तो वीएचपी और संघ इस वोट बैंक की जातीय स्मृतियों की ओर मुड़े। वे प्रमाण देते हैं कि उत्तर प्रदेश और बिहार में मुसहर जाति की अच्छी खासी आबादी को भुनाने के लिए दो लोकप्रिय नायकों- दीना-भदरी को राम और लक्ष्मण के अवतारों के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है। इसी तरह दुसाध जाति के नायक सलहेस को भी भगवान राम का अवतार बताया जा रहा है। निषादराज गुहा और शबरी को महान दलित प्रतीक बनाया जा रहा है। शबरी और निषादराज दोनों ही राम से जुड़े हैं। शबरी का राम के प्रति भक्तिभाव जगजाहिर है और राम की शबरी के प्रति करुणा भी अनन्य है। वे मानते हैं कि दलितों में उनके नायकों और जातीय स्मृतियों को लेकर अभिमान पैदा करने का एकमात्र उद्देश्य उन्हें मुसलमानों के खिलाफ गोलबंद करना है। जबकि वे ख़ुद इस सत्य को स्वीकार करते हैं कि ख़ुद दलितों में अपनी जातीय स्मृतियों के लिए गौरव अनुभव करने की इच्छा बलवती हुई है। उत्तर प्रदेश के बहराइच में सुहेलदेव के मिथक का इस्तेमाल किया गया है। किताब में कुछ इतिहासकारों का जिक्र है, जिन्होंने दलितों की वंशावली या उनका इतिहास लिखा है। इस कड़ी में वे कुछ आर्य समाजियों की चर्चा भी करते हैं. किताब मेहनत से लिखी गई है, जिसमें तमाम बड़े समाजशास्त्रियों, इतिहासकारों,

विचारकों को उन्होंने उद्धरित किया है। ख़ुद लेखक ने कई क्षेत्रों का दौरा किया है और लोगों से बातचीत के आधार पर सबूत जुटाए हैं। लेकिन अधिकांश जगहों पर दृष्टि एकांगी हो गई है। उन्होंने संघ परिवार को खतरनाक सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की ओर बढ़ते हुए प्रस्तुत किया है, लेकिन वैश्विक स्तर पर इस्लाम के प्रचंड रूप के बरक्स एक संरक्षणात्मक और प्रतिक्रियात्मक शक्ति के रूप में इनके उदय को देखने से चूक गए हैं। वे कहते हैं कि बहराइच में पासी नायक सुहेलदेव के प्रतीक को पूरी तरह से सांप्रदायिक रंग दे दिया गया है। बद्रीनारायण के मुताबिक संघ परिवार ने सुहेलदेव को एक वीर पासी राजा के रूप में चित्रित करने में बहुत हद तक कामयाबी पाई है, जिसने मुस्लिम सैयद सालार गाजी मियाँ का वध किया था और लोगों को उसके आतंक से मुक्ति दिलाई थी। बहराइच में गाजी मियाँ की दरगाह भी है, जहाँ लाखों हिंदुओं की आस्था है। लेकिन सुहेलदेव का मंदिर बनवाकर और नौटंकी खेलकर लगातार वहाँ का माहौल बिगाड़ा जा रहा है। हालाँकि उन्होंने यहाँ लिखा है कि बहराइच जिले में मदरसों की बाढ़ से हिंदू सशंकित हुए हैं। लेखक के मुताबिक, संघ दावा करता है कि गाजी मियाँ की दरगाह प्राचीन काल में बालार्क ऋषि का आश्रम हुआ करती थी। इसके भीतर के सूरजकुंड को तहस-नहस कर दिया गया। उन्होंने सुहेलदेव के मंदिर की तस्वीर तो किताब में दी है लेकिन दरगाह की कोई तस्वीर नहीं दी है। इतिहास के मुताबिक सालार मसूद गाजी, महमूद गजनी का भांजा था। किताब में इलाके का सौहार्द्र बिगाड़े जाने का तो खूब जिक्र है लेकिन महमूद गजनवी का भांजा होने के बावजूद सालार मसूद को सवालों के घेरे से बाहर रखा गया है। बहराइच में मदरसों की भरमार को भी उन्होंने बहुत ही साधारण तरीके से उठाया है और लगातार यह स्थापित करने की कोशिश की है कि सुहेलदेव के चरित्र को भगवा रंग में रंगा जा रहा है। कई जगहों पर उनके तर्क में दम है लेकिन कई जगहों पर अजीबोगरीब बातें भी हैं। वे कहते हैं कि संघ ने सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को आगे बढ़ाने के लिए देश की जगह राष्ट्र शब्द को प्रचलित कर दिया है।[103]

दलित आइडेंटिटी एंड पॉलिटिक्स, (2007) घनश्याम शाह द्वारा सम्पादित

103. देवांशु झा के आलेख को https://aajtak.intoday.in/story/book-review-hindutva-ka-mohini-mantra-by-badri-narayan-published-by-rajkamal-prakashan—1-796443.html पर उपलब्ध।

इस सम्पूर्ण पुस्तक में दलित अस्मिता और उनकी राजनीतिक सहभागिता से संबंधित मुद्दों को सम्मिलित किया गया है। जिनमें चार मुख्य विमर्शों को समाहित किया गया है, पहला–भारतीय समाज में दलितों के लिए समानता, दूसरा–पूँजीवाद द्वारा जाति व्यवस्था का कमजोर होना, तीसरा– दलितों में बढ़ती सामाजिक गतिशीलता एवं, चौथा– दलितों में राजनीतिक चेतना के विकास आदि का विश्लेषण किया गया है।[104]

द दलित मूवमेंट इन इंडिया लोकल प्रैक्टिसेज ग्लोबल कनेक्शन्स (2009) इवा हार्डमन के द्वारा लिखित शोध परक पुस्तक दलित कार्यकर्त्ताओं पर फील्ड कार्य के माध्यम से तैयार की गई। भारत के दलित आंदोलन– स्थानीय अभ्यास वैश्विक सम्बध विषय पर यह शोध परक कार्य 1990 से लेकर आधुनिक विश्व सामाजिक मंच प्रक्रिया 2008 तक किया गया है। यह कार्य इनकी शोध का अद्यतन आधुनिक रूप है। यह अध्ययन सामाजिक आंदोलनों के बारे में सिद्धांतों के लिए मानव विज्ञान क्षेत्र की पद्धति से संबंधित है। यह समकालीन दलित आंदोलन में प्रक्रियाओं को समझने के लिए एक पूर्व शर्त के रूप में एक ऐतिहासिक संदर्भ प्रदान करता है। ये अध्ययन भारत में दलित आंदोलन की विविधता और आंदोलन के भौगोलिक फैलाव पर केंद्रित है। लखनऊ में दलितों के एक छोटे से इलाके से फील्डवर्क का काम करते हुए महाराष्ट्र में दलित कार्यकर्त्ताओं के साथ एवं बर्मिंघम में पंजाबी दलित प्रवासियों के जीवन से जुड़ी बातचीत इस शोध का हिस्सा है। लखनऊ डरबन और वूल्वहैम्प्टन के रूप में विभिन्न भिन्नताओं के रूप में किए गए शोध के आधार पर ईवा मारिया हार्डमन की पुस्तक भारत की सीमाओं के भीतर और उसके बाहर दलित आंदोलन की हमारी समझ में महत्त्वपूर्ण योगदान देती हैं।[105]

इधर हाल के दिनों में दलित अध्ययनों की निर्मिति को लेकर बद्री नारायण ने 'खंडित आख्यान : भारतीय जनतंत्र में अदृश्य लोग'[106] के माध्यम से समाज विज्ञान के लेखन को लेकर एक महत्त्वपूर्ण काम किया है। बद्री नारायण ने इस पुस्तक में दलितों के बीच जातीय विभाजन के अंतर्विरोध को और अधिक

104. घनश्याम शाह (2007).
105. इवा मारिया हार्डमन (2009).
106. बद्री नारायण (2018).

विस्तारित करते हुए उत्तर भारत से लेकर दक्षिण भारत तक की समस्या को उठाया है। बद्री नारायण कहते हैं कि उत्तर प्रदेश के दलितों से भिन्न दक्षिण भारत के दलित तीव्रता से दावेदारी करने वाले हैं। और उनके बीच लाभों के हिस्से प्राप्त करने के लिए सतत खींचतान लगातार विद्यमान है। उदाहरण के लिए माला, मदिगा तथा अन्य जातियों के बीच आरक्षण के लाभों को प्राप्त करने के लिए प्रतिस्पर्धा बढ़ रही है। इस तरह से बद्री नारायण का मानना है कि उत्तर भारत से लेकर दक्षिण तक अनुसूचित जातियों के लिए आरक्षण का लाभ सभी अनुसूचित जातियों तक बराबरी से नहीं पहुँचा है। बद्री नारायण की बात को हरकिशन संतोषी द्वारा लिखित 'दलितों के दलित' पुस्तक आगे बढ़ाती है। क्या वास्तव में दलित और पिछड़े वर्ग की सभी जातियों ने आरक्षण का समान रूप से लाभ उठाया है? क्या इस समुदाय की सभी जातियों का विकास एक समान हो सका है? क्या छुआछूत की समस्या का अंत हो पाया है? क्या एक मनुष्य को मनुष्य होने के नाते मिलने वाले सभी प्रकार के सामाजिक, राजनीतिक अधिकार मिल पाए हैं? इन सभी सवालों का उत्तर नकारात्मक है। क्योंकि हुआ यह है कि आरक्षण का लाभ दलित वर्ग की उन जातियों ने ही उठाया जिनका स्थान समाज में पहले से ही ऊंचा था। बाल्मीकि, भंगी, डोम आदि सफाई पेशे से जुड़ी जातियाँ आज भी अपने अधिकारों से वंचित हैं। अस्पृश्यता तथा अपमान का दंश झेल रही हैं। हरकिशन संतोषी ने ''दलितों के दलित'' रचना के माध्यम से दलित समाज की ही एक जाति बाल्मीकि की जीवन दशा का शोधपूर्ण अध्ययन प्रस्तुत किया है। अपने अध्ययन के माध्यम से उन्होंने साबित किया है कि दलितों में जो अति दमित बाल्मीकि समाज है, उनके लिए कुछ अलग से करने की जरूरत है। अगर अनुसूचित जाति के समुदायों का वर्ग क्रम निर्धारित करें तो जनसंख्या के आधार पर दूसरे स्थान पर बाल्मीकि समाज आता है। परंतु यदि सुविधाओं के आधार पर इसका स्थान निर्धारित किया जाए तो इस जाति का दलितों में वही स्थान है जो मनु की वर्णव्यवस्था में शूद्रों का था।[107]

दलित अध्ययनों पर एक महत्त्वपूर्ण काम रामनारायण एस. रावत और के. सत्यनारायन का है।[108] इस पुस्तक के लेख जातीय भेदभाव की परंपराओं की

107. हरकिशन संतोषी (2009).

108. रामनारायण एस. रावत, के.सत्यनारायन (2016).

तरफ़ ध्यान आकर्षित कराते हैं, जिसमें भारतीय इतिहास लेखन और समाज विज्ञान को नए सिरे से देखने की बात है। दूसरा, पहले के वैचारिक रुख के तहत दलितों को सिर्फ पीड़ित या सुधार की वस्तु (जैसा कि गाँधी के हरिजन विमर्श या आर्य समाज के मंदिरों में प्रवेश संबंधी आंदोलन से पता चलता है) की तरह देखा जाए, जबकि इसके उलट मौजूदा खंड में दलितों को बुद्धिजीवी, नेता और सामाजिक बदलाव की प्रक्रिया में सक्रिय भागीदार की तरह माना गया है और आधुनिक भारत में बहसों को तैयार करने में उनकी भूमिका के बारे में भी बताया गया है। तीसरा, इसमें यह भी बताया गया है कि दलितों की भूमिका सिर्फ व्यापक स्तर पर प्रचलित विमर्शों और परंपराओं को आँख मूंदकर अपनाने की नहीं थी, इसके बजाय उन्होंने जाति के खिलाफ भेदभाव के संघर्ष को आगे बढ़ाने के लिए सक्रियतापूर्वक अपने एजेंडे को मुखरता के साथ पेश किया। इस पुस्तक के सम्मिलित लेखों में रामनारायण एस. रावत और के. सत्यनारायण ने दलित स्टडीज़ न्यू पर्सपेक्टिव ऑन इंडियन हिस्ट्री एंड सोसाइटी[109] में भारतीय भाषाओं में दलित लेखन ने इस बात के लिए औपनिवेशिक आधुनिकता की तारीफ की है कि इसने नए सिद्धांत और संस्थान दिए, जिससे दलितों और हाशिये पर मौजूद अन्य समूहों को सार्वजनिक दायरे में भागीदारी करने का अवसर मिला। अर्जुन डांगले की दलित साहित्य की समीक्षा ब्रिटिशों के आगमन को 'नए ज्ञान, तकनीक और उत्पादन प्रक्रियाओं' से जोड़ती है। साथ ही, उनका कहना है कि ब्रिटिशों के कारण 'नई कानूनी प्रणाली' आई, जिसने दलितों को हिंदू धर्म और धार्मिक ग्रंथों से संबंधित व्यवस्था को चुनौती दी।[110] बाबूराव बागुल औपनिवेशिक आधुनिकता 'नई साहित्यिक अभिव्यक्ति के उभार' से जोड़ते हैं जो ख़ुद की आलोचना और पड़ताल पर आधारित है और जिसने रहस्यवादी, अलौकिक या धार्मिक के बजाय पहली बार सामाजिक थीम की अभिव्यक्ति को मुमकिन बनाया।[111] इस पुस्तक में मौजूद लेख केरल, आंध्र प्रदेश, उत्तर प्रदेश और पंजाब

109. रामनारायण एस. रावत, के. सत्यनारायण (2016): 1–30.

110. अर्जुन डांगले (1992): 19.

111. बाबूराव बागुल, 'दलित साहित्य मानवीय साहित्य है। इस संदर्भ में' हाल के वर्षों में दलित लेखक, कार्यकर्त्ता और टिप्पणीकार, चंद्रभान प्रसाद ने हर साल दिल्ली में लॉर्ड मैकाले का जन्मदिन मनाने की शुरुआत की है, ताकि एक समान नियम बनाकर औपनिवेशिक आधुनिकता स्थापित करने में उनकी भूमिका की सराहना की जाए जिससे दलितों को फायदा हो।

के संदर्भ में औपनिवेशिक आधुनिकता की इस राय को विकसित करते हैं कि दलित संस्थानों और कार्यकर्त्ताओं ने आंदोलन तैयार करने और आधुनिक संस्थानों में जगह हासिल करने के दावे के लिए औपनिवेशिक कानूनों पर भरोसा किया और समानता और प्रतिनिधित्व की राजनीतिक भाषा को अपनाया। भाग्य रेड्डी ने दलितों से होने वाले भेदभाव और गैर-बराबरी के बर्ताव के मुद्दे से निपटने के लिए हैदराबाद में 1922 में केंद्रीय आदि-हिंदू सामाजिक सेवा लीग की स्थापना की। रामनारायण एस.रावत ने कोलोनियल आरकाईव वर्सेज कोलोनियल सोशियोलोजी : राइटिंग दलित हिस्ट्री[112] पुस्तक के अपने दूसरे लेख में 1920 के दशक के दौरान उत्तर प्रदेश में दलित आंदोलनों के इतिहास के बारे में बताया है, जिसके तहत सार्वजनिक विमर्श में चमार संगठनों की भूमिका के बारे में जानकारी दी गई है। रावत ने उत्तर प्रदेश में सम्मेलनों और प्रदर्शनों के जरिये दलित जनता को गोलबंद करने में स्वामी अछूतानन्द की भूमिका के बारे में भी बताया है। इस आंदोलन ने जातीय भेदभाव और अस्पृश्यता के सवाल से निपटने में कांग्रेस पार्टी की नाकामी को चुनौती दी। गोपाल गुरु द इंडियन नेशन इन इट्स इगैलिटेरियन कॉन्सेप्ट[113] में इस बात कि पड़ताल करते हैं कि अब दलित प्रश्न भारतीय राष्ट्र की कल्पना, मुद्दों और चिंताओं में शामिल हो रहे हैं यह दलित और गैर-दलित दोनों के लेखन में स्पष्ट होता है। सोशल स्पेस, सिविल सोसाइटी, और दलित एजेंसी ट्वेंटीथ-सेंचुरी केरल[114] पी. सनल मोहन का लेख केरल में दलित संगठनों की गतिविधियों के बारे में बताता है, जिसने 1898 से 1910 के दौरान सार्वजनिक जगहों की उपलब्धता का अधिकार हासिल करने के लिए अदालतों और अल्पसंख्यक अधिकारों की भाषा का इस्तेमाल किया। रावत कहते हैं कि उत्तर प्रदेश के दलित समूहों ने 1920 के दशक में सकारात्मक कार्रवाई की भाषा को अपनाया और इलाहाबाद में 1928 में अखिल भारतीय सम्मेलन का आयोजन किया। समाज विज्ञानी सुरिंदर जोधका के फ्राम जात टू कौम : फ्लुइड कंटूवर्स ऑफ़ द रवि दासी आइडेंटिटी इन पंजाब[115] लेख के मुताबिक,

112. रामनारायण एस.रावत (2016): 53-73.
113. गोपाल गुरु (2016): 31-52.
114. पी. सनल मोहन (2016): 74-103.
115. सुरिंदर एस. जोधका (2016): 248-270.

पंजाब में आदि-धर्मियों का रविदासी समुदाय में लगातार धर्मांतरण नए धर्म की खोज की तरफ़ इशारा करता है। 1940 के दशक में यह ज़्यादा प्रचलित हो गया, जब मंगूराम समेत अन्य नेताओं ने उत्तर भारत के निर्गुण संत रविदास की शिक्षाओं को ग्रहण करना शुरू किया। रविदास के उपदेश सिख धर्मग्रंथ गुरु ग्रंथ साहिब का हिस्सा हैं और उनके अनुयायियों को रविदासी के रूप में जाना जाता है। आदि-धर्मियों, मुख्य तौर पर चमार रविदास डेराओं के संरक्षक बने और उनके उपदेशों का पालन करते हुए ख़ुद को सिख धर्म से अलग किया, साथ ही उन्होंने रविदासी समुदाय भी बनाया है। इंग्लैंड में पंजाबी दलित प्रवासियों (जो ब्रिटेन में कुल पंजाबी आबादी का 10 प्रतिशत हैं) ने सिख गुरुद्वारा के विकल्प के रूप में डेरा को तैयार करने में अहम भूमिका निभाई। इसी तरह, कुछ दलित ईसाई संगठनों ने ईसाई धर्म में असमानता के खिलाफ संघर्ष की अगुवाई की। उदाहरण के तौर पर इन संगठनों ने दलितों की मुक्ति एवं मोक्ष के अर्थ को व्यापक बनाते हुए और दलितों की जिंदगी से जुड़े विचार के आधार पर दलित ईसाइयों को सीरियाई ईसाइयों से अलग करने की कोशिश की, जिसे सनल मोहन नया 'मुक्ति संबंधी विमर्श' बताते हैं। मुक्ति एवं मोक्ष की बाइबिल संबंधी अवधारणा से प्रेरित होकर दलित ईसाई नेता पोयकायल योहनन ने अपने समुदाय को मुक्त करने में दलित मसीहा की भूमिका पर जोर दिया है।

इस पुस्तक में सम्मिलित लेखों के जरिये बीसवीं सदी के शुरुआती दशक में सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक क्षेत्रों में दलितों की सक्रियता के सबूत पेश किए गए हैं और ये लेख दलित एजेंसी के बारे में बताने के लिए आधुनिक भारतीय इतिहास का सहारा लेते हैं। दलित लेखक और समाज विज्ञानी राजकुमार हंस का लेख मेकिंग सेंस ऑफ़ दलित सिख हिस्ट्री[116] 17वीं शताब्दी में गुरु गोविंद सिंह के दौर से 20वीं सदी के शुरू तक सिख इतिहास में दलित कार्यकर्त्ताओं की महत्त्वपूर्ण भूमिका के बारे में बताता है। इसमें उन्नीसवीं सदी के आखिर और 20वीं सदी की शुरुआत में सिंह सभा आंदोलन में दलित कार्यकर्त्ताओं की अहम भूमिका के बारे में जानकारी दी गई है। राजकुमार हंस का लेख सिख धर्म में समानता, जातीय उत्पीड़न को लेकर आलोचना के दावों को लेकर सवाल खड़े कर और अस्पृश्यता के लगातार बने रहने के बारे में बताकर सिख धर्म और

116. राजकुमार हंस (2016): 131-154.

उसके इतिहास में मौजूद तनावों के बारे में बयां करता है। इसके परिणास्वरूप सिख धर्म में भी दरार पड़ने के मामले का जिक्र भी हंस ने किया है। वह सिखों के धार्मिक नज़रिये को स्वीकार करते हैं, लेकिन उन्होंने जाट सिखों को दलित समूहों के खिलाफ उपेक्षा और भेदभाव शुरू करने का दोषी ठहराया है, जिनका पिछली दो सदियों में सिख धर्म के संगठनों और राजनीतिक अर्थव्यवस्था पर वर्चस्व रहा है। क्या हम जाट सिखों की वर्चस्ववादी भूमिका को सिख धर्म का ब्राह्मणवाद कह सकते हैं? हंस यह भी बताते हैं कि दलित सिखों ने अपने समुदाय के लिए वैकल्पिक धार्मिक जगह- दलित सिख डेरा क्यों बनाना शुरू किया? हंस का लेख एक परंपरागत तरीके के बारे में बताता है और इससे संबंधित बहसें भारतीय भाषा के साहित्य में मौजूद हैं, लेकिन अंग्रेज़ी भाषा वाले अकादमिक लेखों में यह नहीं मिलता। यह हमें अंग्रेज़ी भाषा के अकादमिक लेखन में इस तरह की बहसों और विमर्श को शामिल करने के लिए जागरूक करता है। हंस का कहना है कि सिख इतिहास में जाति नहीं होने के तमाम दावों के बावजूद 17वीं सदी के बाद से दलित सिख कार्यकर्त्ताओं ने अस्पृश्यों के खिलाफ चलने वाले भेदभाव के बारे में ठोस जानकारी पेश की है। उत्तर-औपनिवेशिक भारतीय सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में (खासतौर पर 1980 के दशक से) बदलाव के प्रतिनिधि के तौर पर दलितों की मौजूदगी उल्लेखनीय रूप से नई परिघटना (हालाँकि, उनकी गतिविधियाँ नई नहीं हैं) है।

द दलित रीकॉन्फ़िगरेशन ऑफ़ मॉडर्निटी: सिटीजन एंड कास्ट्स इन द तेलुगु पब्लिक स्फीयर[117] में के.सत्यनारायण का तर्क है कि दलितों की सामूहिक हत्या और 1990 में मंडल कमीशन की सिफारिशों को लागू करने से जुड़े विवाद ने राष्ट्रीय सवाल के रूप में जाति पर बहस के लिए जरूरी सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियाँ तैयार की। 1990 के दशक में जाति भारतीय राजनीति में राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक गोलबंदी का प्रमुख आधार बनकर उभरी। जाति ने इस अवधि में वर्ग आधारित राजनीति के मार्क्सवादी और राष्ट्रवादी प्रारूप को भी चुनौती दी, जिसका इससे पहले तक काफ़ी प्रभाव था। क्वेस्चन ऑफ़ रिप्रेजेंटेशन इन दलित क्रिटिकल डिस्कोर्स: प्रेमचंद एंड दलित फेमिनिज़्म[118] लॉरा आर.

117. के.सत्यनारायण (2016) वही : 155-179.
118. लॉरा आर. ब्रूक (2016): 180-201.

ब्रूक और सत्यनारायण के लेखों ने यह दिखाया है कि हिंदी और तेलुगू साहित्यिक हलकों में यह बहस काफ़ी सार्थक और तीव्र तरीके से हुई है। इसके मुताबिक, लेखक और कवि की भूमिका में दलित और हाशिये पर मौजूद अन्य समूहों की कमी पर बात करते हुए दलित लेखकों ने भारतीय समाज को समझने के लिए वर्ग को सबसे अहम कैटेगरी से हटाकर हिंदी में मुंशी प्रेमचंद और तेलुगू में श्री श्री (श्रीरंगम श्रीनिवास राव) जैसे लेखकों के साथ जुड़े मापदंडों को चुनौती दी है। इस तरह से भारतीय इतिहास लेखन के साम्राज्य-विरोधी, राष्ट्रवादी और किसानों से जुड़े संघर्षों के उलट इन दो लेखों में जातीय पहचान की ताकत कायम रहने पर जोर देते हुए आधुनिक धर्मनिरपेक्ष और वर्ग आधारित नागिरकता के ढाँचे को चुनौती देने की दलित लेखकों की कोशिशों पर प्रकाश डाला गया है। ब्रूक, संबैयाह गुंडीमेडा का लेख सोशल जस्टिस एंड द क्वेस्चन ऑफ़ केटेगराइजेशन ऑफ़ शेड्यूल्ड कास्ट रिज़र्वेशन: द डंडोरा डिबेट इन आंध्र प्रदेश[119] और डी.श्याम बाबू का कास्ट एंड क्लास अमंग द दलित्स[120] के लेखों में दलित समुदाय में राजनीतिक और सांस्कृतिक बहसों पर विचार करते हुए लिंग असमानता समेत दलित समूहों में असमानता के सवाल का जवाब ढूँढ़ने का प्रयास किया गया है। ब्रूक के लेख में पुरुषों के वर्चस्व वाले समूहों को लेकर दलित महिला कार्यकर्त्ताओं की आलोचना और लैंगिक समानता को लागू करने में इन संगठनों की अक्षमता पर फोकस किया गया है। ब्रूक की आलोचना 'दलित नारीवादी दृष्टिकोण' को लेकर नारीवादी व्याख्या से संबंधित है और यह दलित महिलाओं के अनुभव और महिला होने के कारण उन पर हुई हिंसा को लेकर आधारित है। उनका कहना है कि इस तरह की मान्यता दलित महिलाओं को पीड़िता होने के एक बेहद सांकेतिक रूप में सीमित कर सकती है। ब्रूक के मुताबिक, हिंदी दलित नारीवादी लेखकों ने मुख्यधारा के दलित पुरुष लेखकों की 'दलित रेप स्क्रिप्ट' व्याख्या से परे आगे बढ़ने की कोशिश की है, जिसका मकसद दलित समुदाय की गोलबंदी और उन्हें संतुष्ट करना है। हाल की हिंदी दलित नारीवादी लेखकों द्वारा सम्मान के साहित्य की बात की जाती है, जो शिक्षा, श्रम और महिलाओं के अधिकारों के मुख्य विमर्श के दायरे में लाता है। गुंडीमेडा के लेख

119. संबैयाह गुंडीमेडा (2016): 202-232.
120. डी.श्याम बाबू (2016): 233-247.

में आंध्र प्रदेश के मडिगा समुदाय के बीच हाल में डंडोरा आंदोलन के उभार की पड़ताल की गई है, जो राज्य के शैक्षणिक, प्रशासनिक और आर्थिक क्षेत्रों में माला के वर्चस्व को लेकर सवाल करता है। इस तरह की परिस्थिति के कारण मडिगा जाति के युवा आरक्षण की मौजूदा नीति में जाति आधारित श्रेणी बनाए जाने की माँग कर रहे हैं, ताकि केंद्र और राज्य सरकार से जुड़ी नौकरियों और शिक्षण संस्थानों में उनके लिए भी बराबरी का अवसर सुनिश्चित हो सके। मडिगा समूहों का तर्क है कि इस तरह की नीति से अनुसूचित जाति के समुदायों के बीच संसाधनों का ज़्यादा संतुलित बँटवारा मुमकिन हो सकेगा। गुंडीमेडा आंध्र प्रदेश में आरक्षण की नीतियों पर बहस के पिछले दो दशकों के इतिहास के बारे में बताते हुए डंडोरा समुदाय की माँगों की तुलना 1947–48 में संविधान सभा की बहसों में सकारात्मक कार्रवाई की माँग से करते हैं। उनका कहना है कि माला समुदाय द्वारा मडिगा के खिलाफ दिए तर्क कई मामलों में सवर्ण हिंदू नेताओं के तर्कों जैसे हैं। बाबू का तर्क है कि हाल में दलित बुर्जुआ के उभार ने नई चुनौतियाँ पैदा की हैं।

कई दलित अपने स्टेटस (हैसियत) के कारण उपजी दुविधा को दूर नहीं कर पा रहे हैं और वे ख़ुद को इस सवाल का सामना करते हुए पाते हैं कि उनकी वर्तमान स्थिति में उनकी जाति ज़्यादा मौलिक है या उनका वर्ग। श्याम बाबू के लेख में 1990 के बाद की इस परिघटना को समेटा गया है। उनका कहना है कि सकारात्मक कार्रवाई ने विरोधाभासी चुनौतियाँ पैदा की हैं। एक तरफ, दलित मध्य वर्ग उपभोक्तावादी मध्य वर्ग का हिस्सा बनना चाहता है, जबकि दूसरी तरफ़ वह भारतीय समाज और अपनी जिंदगी में जाति की भूमिका को भी स्वीकार करता रहता है। डॉ. आंबेडकर ने 1938 में जी. आर. प्रधान की किताब 'अनटचेबल वर्कर्स ऑफ़ बॉम्बे सिटी' की प्रस्तावना में कहा था कि अगर किताब में सवर्ण हिंदुओं के उलट अस्पृश्यों की सामाजिक स्थिति का तुलनात्मक अध्ययन होता है तो इसकी महत्ता और बढ़ जाती। उन्होंने आधुनिक 'प्रतिस्पर्धी समाज' में दलितों और सवर्ण हिंदुओं के पास उपलब्ध विकल्पों को बेहतर बनाने में अस्पृश्यता की भूमिका को अहम बनाने का आग्रह किया था। डॉ. आंबेडकर ने दलितों को वैसी शिक्षा लेने से मना किया था, जो व्यापक सामाजिक और राजनीतिक संदर्भों से बिल्कुल कटी हुई हो। 1920 के दशक से लेकर 1990 के दशक तक भारतीय समाजशास्त्रीय और ऐतिहासिक ज्ञान का जो हिस्सा दलितों पर केंद्रित था, उसमें सिर्फ उनकी बदतर हालत और अस्पृश्यता की भेदभाव वाली परंपराओं पर ही

ध्यान केंद्रित था। अपमान, सम्मान और जातीय असमानता के खिलाफ संघर्ष जैसे सवालों का लंबा इतिहास है और दलित संगठनों ने उपनिवेशवाद के संदर्भ में इन सवालों के ढाँचे और रूप को बदला है। अकादमिक जगत को आज औपनिवेशिक आधुनिकता के साथ दलितों के जुड़ाव और आत्म-सम्मान और आत्म-पहचान के सवालों से जुड़े संघर्षों के लंबे इतिहास पर गंभीरतापूर्वक गौर करने की जरूरत है। इस पुस्तक के लेख उन शख्सियतों का पता लगाने के लिए ये सवाल पेश करते हैं, जिन्होंने सभी भारतीयों के लिए सम्मान की सुरक्षा से जुड़ी पहलकदमियों के मामले में सक्रियता दिखाई। अध्याय के अगले भाग जिसमें श्याम बाबू ने 'अनुसूचित जातियों के बारे में सरलीकरण' को लेकर आगाह किया है। इस श्रेणी (कैटेगरी) में बड़ी संख्या में अलग-अलग समूहों की मौजूदगी है।' उसके बाद से यूपी (दलित-ब्राह्मण गठजोड़) और राजस्थान (अनिरुद्ध कृष्ण के मुताबिक गाँवों में परिवर्तन) में चीजें और जटिल हो गईं।[121] दलित राष्ट्रीय स्तर पर राजनीतिक रूप से किसी एक पार्टी के लिए वोट बैंक नहीं रह गए हैं। दरअसल, उन्होंने महसूस कर लिया कि दोनों राष्ट्रीय पार्टियों में किसी के पास भी उनके हितों को आगे बढ़ाने के लिए किसी तरह का प्रोत्साहन नहीं है। हालाँकि, व्यापक तस्वीर पेश करने के लिए फील्ड सर्वे, जनगणना के आंकड़ों और अन्य चीजों को संयोजित नहीं किया जा सकता। सिर्फ दलितों के मामले में ऐसा नहीं है। भाषा, जातियाँ, क्षेत्रीयता और धार्मिक विविधता जैसी चीजें भारत को जटिल बना देती हैं। बहरहाल, दलितों का मामला भले ही खास नज़र आए, लेकिन वे पूरे देश के उतार-चढ़ाव को साझा करते हैं। उदाहरण के तौर पर 1991 से सभी समूहो में गरीबी में कमी आई है, दलितों में भी इसी तरह का पैटर्न दिखा है। भारत का दीर्घकालिक आर्थिक भविष्य शहरीकरण और औद्योगीकरण पर निर्भर करता है और दलितों की मुक्ति में ये अहम कड़ियाँ हैं।[122]

दलितों की बड़ी संख्या (और जनजातीय आबादी भी) कथित पिछड़े राज्यों मसलन बिहार, मध्य प्रदेश, उड़ीसा, राजस्थान और उत्तर प्रदेश में है। हालाँकि, जाति और क्षेत्रों के आधार पर दलित समुदाय में भी काफ़ी विभिन्नताएं हैं, लेकिन

121. अनिरुद्ध कृष्ण (2003) : 1175-90.
122. डी.श्याम बाबू (2016): वही.

यह भिन्नताएं वर्ग से संबंधित नहीं हैं। मिसाल के तौर पर आंध्र प्रदेश में माला–मडिगा विवाद को अब नौकरियों से जुड़े कोटा (आरक्षण) को बांटने को लेकर लड़ाई के रूप में देखा जा रहा है, लेकिन यह सिर्फ उनके दशकों पुराने मनमुटाव का ताजा चरण नहीं है। इस तरह का विवाद या टकराव महाराष्ट्र में महारों और माँग समुदाय और उत्तर प्रदेश में चमारों और वाल्मीकि समुदाय व चमार व पासी समुदाय के बीच देखा जा सकता है। अत: क्षेत्र, जाति या धर्म के आधार पर अंतर इतना ज़्यादा है कि यहाँ तुलना के लिए गुंजाइश नहीं है। दलित बनाम गैर–दलित की कहानी भी कम जटिल नहीं है। देबाशीष चक्रवर्ती, श्याम बाबू और मानसी चक्रवर्ती की रिपोर्ट के मुताबिक उन्होंने उस अवधारणा की जाँच की, जिसमें कहा गया कि गरीब क्षेत्रों नहीं बल्कि उन इलाकों में अत्याचारों के मामले सामने आ रहे हैं जहाँ दलितों में उच्च स्तर की तरफ़ बढ़ने संबंधी बदलाव देखने को मिल रहे हैं, और उन्होंने इस अवधारणा को सही पाया। आसान शब्दों में कहें तो दलितों द्वारा जाति से वर्ग की तरफ़ बढ़ने में उन्हें प्रतिरोध और हिंसा का सामना करना पड़ता है। अत: इस पुस्तक में यह पता लगाने की कोशिश की गई है कि जाति और वर्ग के लिहाज से दलितों के मामले में क्या हो रहा है: जाति से वर्ग की तरफ़ बढ़ने का ढाँचा कितना प्रासंगिक है; सरलीकरण क्यों संभव नहीं है; दलित ख़ुद को कैसे देखते हैं, और गैर–दलित समुदाय किस तरह से इस समुदाय को देखते हैं। कुल मिलाकर कहें तो वर्ग तब तक दलितों की प्रगति को समझने या इसके आंकलन का कारगर औजार नहीं होता, जब तक इसकी परिभाषा में इतना संशोधन न कर दिया जाए कि जाति और वर्ग के बीच अंतर बिल्कुल धुंधला हो जाए। कुछ मार्क्सवादियों ने अपने तर्क से यह साबित किया है कि भारतीय लिहाज से जाति ही वर्ग है। रामकृष्ण मुखर्जी कहते हैं: 'अत:, हमें जाति को नए अवतार के रूप में नहीं देखना चाहिए, वर्गीय ढाँचे ने जातीय पदानुक्रम को ख़त्म कर नया गठबंधन और प्रतिरोध तैयार किया है। भारत में आज वर्ग में जाति वास्तविकता को दर्शाती है, न कि अपने आप में सिर्फ जाति या जाति और वर्ग के जरिये यह वास्तविकता झलकती है।' जहाँ शिक्षा, प्रोफेशनल हैसियत और आय जैसे मापने योग्य पहलुओं का उपयोग कर लोगों को समूहों में वर्गीकृत किया जा सकता है, वहीं किसी वर्ग में सदस्यता न सिर्फ योग्यता (मिसाल के तौर पर कोई बिना डिग्री के डॉक्टर नहीं बन सकता) पर मिलती है, बल्कि इसके लिए अन्य सदस्यों की स्वीकार्यता भी जरूरत होती

है। यह नया तर्क नहीं है: ऐतिहासिक तौर पर कई देशों में अल्पसंख्यकों को कभी न कभी, किसी दौर में अस्वीकार्यता झेलनी पड़ी। उदाहरण के तौर पर अमेरिका में यहूदियों और कैथोलिक ईसाइयों के साथ हिंसा नहीं हुई (कम से कम भारत में दलितों के बराबर तो नहीं), लेकिन वहाँ उनका स्वागत भी नहीं था। दलितों का मामला अफ्रीकी अमेरिकियों से काफ़ी मिलता-जुलता है। भारत में विडंबना यह है कि इतिहास, सांस्कृतिक मसलों पर हमेशा रैखिक अनुक्रम को नहीं अपनाता है, लोग घुमावदार तरीके से आगे बढ़ना चाहते हैं।[123]

अरुंधति रॉय ने डॉ. आंबेडकर के लेखन और विचारों पर एक नई पुस्तक 'द डॉक्टर एंड द सेंट: कास्ट, रेस एंड एननिहिलेशन ऑफ़ कास्ट: द डिबेट बिटवीन डॉ.बी.आर. आंबेडकर एंड एम.के. गाँधी' एक नई भूमिका के साथ प्रकाशित की है।[124] इस पुस्तक के प्रकाशित होने पर इस पुस्तक ने दलितों के एक हिस्से में एक बड़ा विवाद भी खड़ा किया। आपत्तियाँ उस पवित्र कृति की भूमिका लिखने हेतु अरुंधति के पूर्व इतिहास पर सवाल उठाने से लेकर उन पर गाँधी को अनुचित रूप से, वह भी एक संत के रूप में प्रोजेक्ट करने का आरोप लगाने तक थीं। असल में जब वह गाँधी डॉ. आंबेडकर बहस पर लिख रही थीं, तब ही अरुंधति को स्वयं अंदाजा था कि विवाद होगा। डॉ. आंबेडकर और गाँधी एकदम अलग हित समूहों का प्रतिनिधित्व करते थे, और उनके बीच संघर्ष छिड़ा था भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के केंद्र में। उन्होंने जो कहा और किया उसका समकालीन राजनीति से गहरा संबंध अब भी है। उनकी असहमतियों में पहले भी कोई मेल नहीं था और अब भी नहीं है। दोनों के अनुयायियों को उनसे गहरा प्रेम है और वे अक्सर उनका दैवीकरण करते हैं। गाँधी की दास्तां कहने से डॉ. आंबेडकर के अनुगामी खुश नहीं होते और न डॉ. आंबेडकर की कथा कहने से गाँधी के अनुयायी। वर्तमान भारत में असमानता को समझने और उससे निपटने के लिए अरुंधति रॉय ज़ोर दे कर कहती हैं कि हमें राजनैतिक विकास और मोहनदास करमचंद गाँधी के प्रभाव दोनों का ही परीक्षण करना होगा। सोचना होगा कि क्यों डॉ. आंबेडकर द्वारा गाँधी की लगभग दैवीय छवि को दी गई प्रबुद्ध चुनौती को भारत के कुलीन वर्ग द्वारा दबा दिया गया। रॉय के विश्लेषण में हम

123. डी.श्याम बाबू (2016) : वही.
124. अरुंधति राय (2017).

देखते हैं कि न्याय के लिए डॉ. आंबेडकर की लड़ाई जाति को सुदृढ़ करनेवाली नीतियों के पक्ष में व्यवस्थित रूप से दरकिनार कर दी गई जिसका परिणाम है वर्तमान भारतीय राष्ट्र जो आज ब्रिटिश शासन से स्वतंत्र है विश्व स्तर पर शक्तिशाली है। लेकिन आज भी जो जाति व्यवस्था में आकंठ डूबा हुआ है।

निष्कर्ष :

इस अध्याय का मुख्य ज़ोर दलितों पर लिखे गए इतिहास और उनके द्वारा किए गए आंदोलनों के अकादमिक विवरण पर केंद्रित रहा। दूसरा इस अध्याय का जोर दलित अस्मितावादी इतिहास लेखन पर रहा है न कि वास्तविक इतिहास पर। इतिहास की जो बातें इस प्रक्रिया में सामने आई हैं वे मुख्य रूप से उन पुस्तकों और लेखों की चर्चा के दौरान रहीं जो दलितों के इतिहास पर हैं। अत: जो निरंतरता इतिहास से अपेक्षित रहती है,वह शायद इसमें नहीं मिल पाई हो, क्योंकि इस शोध परियोजना का उद्देश्य दलितों से संबंधित दलित अस्मितावादी इतिहास लेखन पर प्रकाश डालना रहा है। इसके अतिरिक्त यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि दलितों पर किए गए प्रमुख इतिहास लेखन और कुछ प्रमुख आंदोलनों पर दस्तावेजी शोधपरक लेखन व किताबों पर ही यहाँ विचार किया गया है न कि इस विषय के समस्त लेखन पर।

अध्याय : चार

दलित ज्ञान की निर्मिति : पाठ और पाठशाला से बाहर के लोग

पिछले अध्याय में हमने यह पड़ताल की थी कि किस तरह से दलित प्रश्न पर विपुल लेखन किया गया और यह समाज विज्ञान में एक अकादमिक विमर्श के रूप में स्थापित हो चुका है। पिछले अध्याय की इस बहस को प्रस्तुत अध्याय में बढ़ाते हुए हम इस बात को रेखांकित करेंगे कि पिछले तीन दशकों में दलित समुदाय के बारे में विशेष अध्ययन और विश्लेषण के लिए विद्वानों और समाज विज्ञानियों की दिलचस्पी काफ़ी बढ़ी है। पहले इसे जाति और जाति प्रथा के अध्ययन का हिस्सा माना जाता था। इधर के वर्षों में दलितों के बारे में लिखे जा रहे वैकल्पिक देशज पाठों में उस ज्ञान और अनुभव को महत्त्व दिया जा रहा है जो भारत के दलितों के बीच में उपजा है। यह ज्ञान और अनुभव भारत में दलित ज्ञान की निर्मिति और आंगिक दलित बुद्धिजीवी और नेता पैदा करने में सक्षम हो सका है। इस अध्याय में इसी को रेखांकित करते हुए, ग्राम्सी के हवाले से यह बात कहने की कोशिश की गयी है कि कांशीराम ने 1980 के दशक से ही इन बुद्धिजीवियों और नेताओं को अपने आंदोलन, संगठन और पार्टी के निर्माण में लगाया था। इसके माध्यम से एक दलित लोकवृत्त बना।[1] इस नए दलित लोकवृत्त के बनने की प्रक्रिया की इस अध्याय में पड़ताल की गई है।

दलित अध्ययन और देशज ज्ञान परंपरा का अंत:संबंध

माता प्रसाद की आत्मकथा 'झोपड़ी से राजभवन'[2] (2002 में प्रकाशित)

1. बद्री नारायण (2018).
2. माता प्रसाद (2002).

में कहा गया है कि औपनिवेशिक शासन के दौरान अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे भारतीयों को रोज़-ब-रोज़ जो अपमान सहना पड़ता था, वही भारतीय राष्ट्रवाद के उभार का कारण था। अन्य दलित लेखकों की तरह प्रसाद का भी तर्क है कि भारतीय राष्ट्रवाद की जड़ें निश्चित तौर पर औपनिवेशिक शासन के दौरान राष्ट्रवादी नेताओं के निजी अनुभवों से जुड़ी होंगी। अंग्रेज़ी शासन में इन नेताओं से भारत और इंग्लैंड दोनों जगहों पर दूसरे दर्जे के नागरिक की तरह बर्ताव किया जाता था। इसके अलावा माता प्रसाद जैसे लेखकों का मानना है कि भारतीय राष्ट्रवाद की व्याख्या सिर्फ आर्थिक असमानता के परिणाम के रूप में नहीं की जा सकती। इसके बजाय इन लेखकों का कहना है कि सामाजिक और सांस्कृतिक अलगाव की औपनिवेशिक परिस्थितियों ने मध्यवर्गीय भारतीयों को राष्ट्रवादी आंदोलन छेड़ने के लिए प्रेरित किया। माता प्रसाद, 1893 में दक्षिण अफ्रीका में एक ट्रेन के महात्मा गाँधी के अनुभवों पर विस्तार से चर्चा करते हुए अपमान संबंधित प्रश्न का उदाहरण पेश करते हैं, जो गाँधी की राजनीति के मामले में निर्णायक घटना है। गाँधी अंग्रेज़ी पोशाक पहने हुए थे, उनकी शिक्षा इंग्लैंड में हुई थी, वह वकील थे, उन्होंने फ़र्स्ट क्लास का टिकट भी खरीद रखा था और इस तरह से उनके पास ऐसे डिब्बे में चढ़ने का अधिकार भी था। इसके बावजूद उन्हें फ़र्स्ट क्लास कंपार्टमेंट से ढकेल कर बाहर कर दिया गया। माता प्रसाद यह भी कहते हैं कि दलितों का संघर्ष हिंदू परंपराओं में जाति आधारित भेदभाव के खिलाफ है, जिसके कारण सदियों से दलितों को अपमान झेलना पड़ रहा है। माता प्रसाद ने भारतीय राष्ट्रवाद के उभार को समझने के लिए नस्लवाद और बहिष्कार संबंधी अनुभवों का इस्तेमाल किया है। इस सिलसिले में माता प्रसाद ने भारतीय संभ्रात वर्ग के साथ ब्रिटिशों के अपमानजनक बर्ताव और सवर्ण हिंदुओं द्वारा दलितों के अपमान के अनुभव के बीच तुलना या समानता पेश की है।[3]

इस संदर्भ को हम थोड़ा और व्यापक करें तो पाएँगे कि पाँच रुझानों ने दलित अध्ययन के उभार को संभव बनाया है : पहला, 1980 की मंडल कमीशन की रिपोर्ट की सिफारिशों को 1990 के दशक में लागू किए जाने पर राजनीतिक और बौद्धिक विवाद और इसके कारण ''निचली जाति'' के हिंदू समूहों के लिए सार्वजनिक शिक्षा संस्थानों और सरकारी नौकरियों में संवैधानिक आधार पर

3. गोपाल गुरु, (1998): 14-18.

आरक्षण मुमकिन हुआ।[4] इस कमीशन का नाम दूसरे पिछड़ा वर्ग आयोग, (1979–80) के चेयरपर्सन बी.पी. मंडल के नाम पर रखा गया था। दूसरा, भारत में नई तरह की दलित सक्रियता का उभार, जिसने दलित आंदोलन, दलित राजनीति, दलित लेखन, अकादमिक विमर्श में दलित प्रश्नों का शामिल किया जाना, और इसके साथ ही दलित सांस्कृतिक प्रश्न। तीसरा बहुजन समाज पार्टी (बीएसपी) जैसी नई दलित राजनीतिक पार्टियों द्वारा राजनीतिक और चुनाव संबंधी सक्रिय हस्तक्षेप करना। चौथा भारत में दलित नारीवादी विमर्श की सामाजिक–अकादमिक विमर्श में शुरुआत। पाँचवा जाति, नस्ल और सामाजिक बहिष्कार आदि पर वैश्विक चर्चा, मसलन दक्षिण अफ्रीका में 2001 में हुआ डरबन सम्मेलन (नस्लवाद, नस्ल के आधार पर भेदभाव, उग्र राष्ट्रवाद और नस्लीय असहिष्णुता के खिलाफ वैश्विक सम्मेलन)। इस संदर्भ में रजनी कोठारी का कहना है कि 1990 के दशक

4. भारत सरकार ने प्रमुख हिंदू समूहों द्वारा लगाए गए ऐतिहासिक सामाजिक और शैक्षणिक बाधाओं के कारण भारत में पिछड़े समूहों के लिए सकारात्मक भेदभाव की नीतियों की शुरुआत की। 1950 के भारतीय संविधान ने अनुसूचित जातियों (जिन्हें पहले अछूत के रूप में जाना जाता था) को 15 प्रतिशत और 7 प्रतिशत अनुसूचित जनजातियों को आरक्षण प्रदान किया, क्रमशः भारतीय संसद और राज्य विधान सभाओं जैसी प्रतिनिधि संस्थानों में तथा सार्वजनिक शिक्षा, नौकरियों और रोजगार में। मंडल कमीशन की रिपोर्ट ने इस आरक्षण को सार्वजनिक शिक्षा के केंद्रों और रोजगार में प्रवेश के लिए अन्य पिछड़े वर्गों के लिए बढ़ाकर कुल 27 प्रतिशत करने की सिफारिश की। अन्य पिछड़े वर्गों की श्रेणी सामाजिक और शिक्षा में हाशिये के संवैधानिक सिद्धांतों के आधार पर पहचाने जाने वाले ''निम्न–जाति'' हिंदू समूहों के समूह से बनी है। (The Indian government introduced the policies of positive discrimination for the backward groups in India becauseof historic social and educational barriers imposed by the dominant Hindu groups. The Indian constitution of 1950 provided the scheduled castes (formerly known as untouchables) and the scheduled tribes with15 percent and 7 percent, respectively, of the seats in representative institutions such as the Indian Parliament and state legislative assemblies and of jobs in public education and employment. The Mandal commission report recommended expanding this reservation to the other backward classes in admissions to centers of public educationand in employment, to total 27 percent.The category of other backward classes ismade up of a cluster of "lower-caste"Hindu groups identified on the basis of the constitutional principles of social and education marginalization.)

में हुए नए दलित आंदोलन ने सामाजिक बदलाव में जाति और उसकी भूमिका को लेकर पूरी बहस से संबंधित सैद्धांतिक और राजनीतिक मुद्दों पर विस्तार से विचार-विमर्श के लिए मजबूर किया है। इसने ''शिक्षा, रोजगार और विशेष अधिकारों'' की माँग कर व्यवस्थागत रूप में मौजूद अन्याय और ऊँच-नीच की प्रचलित परंपराओं को चुनौती दी है।[5]

बीसवीं सदी के अंतिम दो दशकों में बनी इस दलित सक्रियता की वजह से सम्मान को लेकर प्रश्न और दलित समुदायों से जुड़े पूर्वाग्रहों पर चर्चा और विचार-विमर्श का मामला 1990 में अपने चरम पर पहुँच गया। भारत सरकार ने अगस्त 1990 में मंडल कमीशन की सिफारिशों को स्वीकार करने का फैसला किया और वैधानिक आरक्षण नीतियों का दायरा दलितों से बढ़ाकर अन्य पिछड़ी जातियों तक पहुंचाया। ऐसे में ग्रामीण भारत से जुड़ी चीज मानी जाने वाली जाति का रंग शहरी भारत में भी दिखने लगा और दिल्ली, मुंबई, कोलकाता, हैदराबाद और बेंगलुरु सहित पूरे देश में छात्रों की तरफ़ से जमकर विरोध-प्रदर्शन हुए। शहरी केंद्रों में सवर्ण हिंदुओं ने अनुसूचित जाति और जनजाति के अलावा ऐतिहासिक रूप से वंचित रहे 'निचली जाति' समूहों को आरक्षण नीति का हिंसात्मक विरोध किया। उस वक्त के. बालगोपाल और गेल ओम्वेट जैसे विद्वानों का कहना था कि भारतीय बौद्धिक जगत के बड़े हिस्से ने यह कहते हुए मंडल कमीशन की रिपोर्ट से जुड़ी सिफारिशों को लागू करने का विरोध किया कि इस तरह की नीतियों से देश की राष्ट्रीय एकता व राष्ट्रीय सौहार्द तहस-नहस हो जाएगा।[6]

दूसरी बात यह कि 1990 के दशक में दक्षिण भारत में नए तरह की दलित सक्रियता देखने को मिली। दक्षिण भारत में दलितों की सामूहिक हत्या की घटनाओं और संसदीय पार्टियों और मार्क्सवादी संगठनों द्वारा इस चुनौती से निपटने में नाकाम रहने के कारण भारत में जातीय हिंसा पर नए तरह का विमर्श शुरू हुआ। दक्षिण भारतीय राज्य, आंध्र प्रदेश में बड़ी संख्या में दलित कार्यकर्त्ता

5. रजनी कोठारी (1998): 1589-1594.

6. (Balagopal's "This Anti-Mandal Mania" captures the spectrum of responses to the government's decision to implement the recommendations in the Mandal commission report. See also Omvedt, "Twice-Born'Riot against Democracy.")

मार्क्सवादी–लेनिनवादी (माओवादी या नक्सलाइट) विचाराधारा को छोड़ते हुए दलित समूहों, स्वतंत्र दलित पहचान से जुड़े ताकि वे मुख्यधारा के राजनीतिक विमर्श में ज़्यादा प्रभावकारी तरीके से भागीदारी कर सकें।[7] भारत में समाजवादी और साम्यवादी विचाराधारा की घटती लोकप्रियता (खास तौर पर दलित कार्यकर्त्ताओं के बीच) भी दलित संघर्ष में पहचान के प्रमुखता से हावी होने की मुख्य वजह है। भारत में अब वर्ग आधारित संघर्ष या सक्रियता अब इन आंदोलनों में हावी नहीं है, जैसा कि 1990 के दशक से पहले हुआ करती थी। 1990 के दशक से वैचारिक स्तर पर हुए बदलाव के कारण नई जागरूकता आई और दलित परिवार में जन्मे भारतीय नेता और कानूनविद डॉ. आंबेडकर अहम सामाजिक दार्शनिक और प्रतीक के रूप में व्यापक स्तर पर पहचाने जाने लगे।[8] तमिलनाडु में दलित संगठनों और कार्यकर्त्ताओं ने पेरियार (ई. वी. रामास्वामी) की विरासत और द्रविड़ आंदोलन पर सवाल उठाए।[9] कर्नाटक में दलित संघर्ष समिति, तमिलनाडु में दलित पैंथर्स ऑफ़ इंडिया और आंध्र प्रदेश में दलित महासभा जैसे संगठनों की स्थापना 1990 के दशक में हुई। इसके अलावा, इसी दौर में आंध्र प्रदेश में मडिगा रिजर्वेशन पोराता समिति और तमिलनाडु में आदि तमिलझार पेरावई (Adi Tamilzhar Peravai) आदि संगठन भी बने। इस तरह से 20वीं सदी के अंतिम दो दशकों में दलित पहचानों का मजबूत होना और सार्वजनिक स्तर पर उनकी मौजूदगी में बढ़ोतरी 1990 के दशक की खास बात रही।[10]

तीसरा, उत्तर भारत में बहुजन समाज पार्टी की शानदार चुनावी सफलता और सक्रियता भारतीय राजनीति का बेहद महत्त्वपूर्ण समकालीन घटनाक्रम है। बहुजन समाज पार्टी की स्थापना 1984 में पंजाब में अखिल भारतीय पार्टी के रूप में

7. श्रीनिवासुलु के आलेख कास्ट, क्लास एंड सोशल आर्टिकुलेशन इन आंध्र प्रदेश, https://www.odi.org/sites/odi.org.uk/files/odi-assets/publications-opinion-files/2692.pdf. पर उपलब्ध।
8. रजनी कोठारी (1998): 450–52.
9. रवि कुमार (2006), री–रीडिंग पेरियार https://www.countercurrents.org/dalit-ravikumar020306.htm पर उपलब्ध।
10. संदीप पेंडसे (1994) एवं ह्यूगो गोरिंगे (2004). (संदीप पेंडसे के ''एट क्रास रोड'' निबंधों का यह संग्रह स्वतंत्र भारत में दलित आंदोलन की विस्तृत चर्चा करता है। इसके साथ ही 'अछूत नागरिक' के विस्तृत विवरण के लिए गोरिंगे को भी देखे।)

हुई थी, लेकिन 1990 के बाद इसकी चुनावी सफलता सबसे ज़्यादा उत्तर प्रदेश में देखने को मिली है। बहुजन समाज पार्टी की सफलता में 1990 में मंडल कमीशन की सिफारिशों को लागू किए जाने के कारण हुए विवाद का अहम योगदान रहा है। बहुजन समाज पार्टी (बीएसपी) ने 1993 के उत्तर प्रदेश विधानसभा चुनाव से पहले ''पिछड़ी जातियों'' (खासतौर पर यादव जाति) के हितों की नुमाइंदगी का दावा करने वाली, समाजवादी पार्टी के साथ गठबंधन किया और इस गठबंधन ने विधानसभा चुनाव में जीत हासिल कर राजनीतिक विद्वानों को चौंका दिया। उसके बाद से बीएसपी की बढ़ती राजनीतिक और सामाजिक ताकत लगातार मुख्यधारा से जुड़े तंत्र को चौंकाती और चुनौती देती रही है।[11] बीएसपी ने दलितों, गरीबों, पिछड़ी जातियों, मुसलमानों और ब्राह्मणों का मजबूत गठबंधन बनाकर 2007 के उत्तर प्रदेश विधानसभा चुनावों में अकेले दम पर बहुमत हासिल किया। उत्तर भारत में पिछले तीन दशकों में इस चुनावी और राजनीतिक सफलता के कारण देश के अलग-अलग हिस्सों में कई दलित समूह प्रेरित हुए हैं और इसकी झलक दक्षिण भारतीय राज्यों में बीएसपी की मौजूदगी और दलित पैंथर्स ऑफ़ इंडिया और पुडिया तमिलाझम (Pudiya Tamilazham) जैसी दलित पार्टियों की सक्रियता देखने को मिलती है।

चौथा, 1990 के घटनाक्रम के संदर्भ में बात करें तो मंडल कमीशन की रिपोर्ट लागू करने का समर्थन और विरोध करने वाले समूहों की गोलबंदी हुई। इसके अलावा, दलित आंदोलन में बढ़ोत्तरी के साथ-साथ अलग राजनीतिक संगठन के रूप में दलित महिला फोरम, संगठनों, मंचों का उभार भी देखने को मिला और इस तरह से भारतीय उदारवादी (लिबरल) और मार्क्सवादी नारीवादी विचाराधारा के बुनियादी मॉडल में शंका, सवाल, और पड़ताल के लिए गुंजाइश बनी। 1990 में मंडल आयोग की सिफारिशों को लागू किए जाने के बाद सवर्ण हिंदू महिलाओं का एक तबका मंडल विरोधी राजनीतिक मोर्चों (फोरमों) में भागीदारी के लिए प्रेरित हुआ। इस दौरान सवर्ण हिंदू महिलाओं ने महिलाओं की जिंदगी में जाति की प्रमुखता का सवाल पेश करते हुए सड़कों पर उतरकर मंडल आयोग की सिफारिशों का विरोध किया। इन महिलाओं के हाथों में तख्तियाँ थीं, जिन पर लिखा हुआ था कि नई आरक्षण नीति के कारण उन्हें सवर्ण

11. सुधा पाई (2002).

हिंदू जाति से ताल्लुक रखने वाला अच्छा पति मिलने में दिक्कत हो सकती है और इसको लेकर वे चिंतित हैं। हिंदू महिलाओं के एक तबके द्वारा जातीय श्रेष्ठता और सवर्ण पहचान के इस तरह के सार्वजनिक प्रदर्शन से दलित और सवर्ण महिलाओं के बीच मौजूद सामाजिक दूरी का भी पता चला।[12] संस्थागत लिहाज से देखें तो 1995 में दलित महिलाओं से जुड़ा राष्ट्रीय फेडरेशन बनाए जाने से भारत में महिलाओं के आंदोलन के भीतर नए राजनीतिक हस्तक्षेप का संकेत मिला।[13] दलित महिला संगठनों ने मुख्यधारा के भारतीय नारीवाद को ब्राह्मणवादी बताते हुए कहा कि यह जाति को सामाजिक और राजनीतिक जीवन के अहम अंग के रूप में समझने में नाकाम रहा है। इस तरह से दलित महिला संगठनों ने सवर्ण भारतीय नारीवादियों के सभी महिलाओं की तरफ़ से बोलने के अधिकार को चुनौती दी। दलित नारीवादी संगठनों ने दासता/अधीनता के तीन विशिष्ट तरीकों पर जोर दिया है। ये हैं पितृसत्तात्मकता (परिवार और समाज में महिलाओं पर पुरुषों का दबदबा, और दलित पुरुष के दबदबे वाले राजनीतिक और सांस्कृतिक संगठनों से दलित महिलाओं की उपेक्षा), जातीय असमानता (सवर्ण हिंदू महिलाओं और पुरुषों द्वारा दलितों की उपेक्षा), और यौन हिंसा (खासतौर पर दलितों पर वर्चस्व के लिए सवर्ण हिंदू पुरुषों द्वारा और कभी-कभी परिवार के संदर्भ में दलित पुरुषों द्वारा भी)।

गोपाल गुरु द्वारा 1995 में लिखे गए लेख, 'दलित विमेन टॉक डिफरेंटली' यानि ''अलग तरीके से बात करती हैं दलित महिलाएं'' में वर्चस्व, उपेक्षा और हिंसा के स्थापित स्वरूप में जातीय पहचान की अहम भूमिका पर जोर दिया गया है। गुरु ने 1995 में दलित महिला कार्यकर्त्ताओं के बयानों का हवाला देते हुए कहा कि दलित महिलाओं के संगठनों में उल्लंघन और अपमान में जातीय पहचान की अहम भूमिका होती है और इसका स्वरूप काफ़ी सख्त होता है, जिसकी पितृसत्ता, वर्ग और मनौवैज्ञानिक आदि पहलुओं के मौजूदा ढाँचे के ज़रिये व्याख्या नहीं की जा सकती। 1990 के दशक में दलित नारीवादी आंदोलन के उभार ने भारत के नारीवादी इतिहास की पड़ताल के लिए नए सवाल पेश किए हैं।[14] अनुपमा राव द्वारा सम्पादित 'द जेंडर ऐंड कास्ट रीडर' में 1990

12. उमा चक्रवर्ती, मैत्रेयी कृष्णा राज, जेम्स एफ. (2009).
13. गोपाल गुरु (1995) : 2548-49.
14. गोपाल गुरु (1995) वही : 2548-49.

के बाद के कई लेख हैं, जो इस बदलाव की तरफ़ इशारा करते हैं।[15]

पाँचवां, 1990 के दशक में भारतीय आर्थिक उदारीकरण के साथ नए संस्थागत और औपचारिक सार्वजनिक मुद्दे बहस के लिए मंच के तौर पर उपलब्ध हुए हैं। नई राजनीतिक अर्थव्यवस्था ने दलित लेखकों और कार्यकर्त्ताओं के लिए नए अवसर पैदा किए हैं। इंटरनेट के प्रसार, भारतीय भाषाओं से जुड़े मीडिया का फैलाव और सरकार के तंत्र से बाहर संसाधनों की बढ़ती उपलब्धता, इन तमाम चीजों ने दलितों को साहित्यिक रचनाओं, प्रिंट मीडिया और सोशल मीडिया के ज़रिये लोगों का ध्यान अपनी तरफ़ आकर्षित करने में मदद की है।[16] वैश्विक

---

15. अनुपमा राव (2005).

16. नस्लवाद, नस्लीय भेदभाव, ज़ेनोफोबिया और नस्लीय असहिष्णुता के खिलाफ डरबन में 2001 (दक्षिण अफ्रीका), और 2003 में वैंकूवर, बीसी में अंतर्राष्ट्रीय दलित सम्मेलन, दलित प्रवासी गैर-लाभकारी संगठनों और अन्य अंतरराष्ट्रीय एजेंसियों के प्रतिनिधियों को एक साथ लेकर जातिगत भेदभाव पर वैश्विक संदर्भों में बहस करने के लिए हुए। इन सम्मेलनों में दलित विद्वानों और कार्यकर्त्ताओं के एक महत्त्वपूर्ण समूह ने भाग लिया। अंतर्राष्ट्रीय फ्रांसीसी साहित्यिक उत्सव ''लेस बेल्स एट्रैंग्रेस'' (सुंदर विदेशी) ने 2009 में पेरिस में दलित लेखकों बामा (फस्टिना मैरी फातिमा रानी) और नरेंद्र जाधव को सम्मानित किया। संयुक्त राज्य अमेरिका में दो अकादमिक सम्मेलन आयोजित किए गए: दिसंबर 2008 में दलित अध्ययन सम्मेलन पेन्सिलवेनिया विश्वविद्यालय में भारत के उन्नत अध्ययन के केंद्र द्वारा ''जाति और समकालीन भारत,'' अक्टूबर 2009 में कोलंबिया विश्वविद्यालय में अपने पूर्व छात्र डॉ. बी. आर. आंबेडकर के सम्मान में आयोजित एक सम्मेलन। (The 2001 World Conference against Racism, Racial Discrimination, Xenophobia and Racial Intolerance, Durban (South Africa), and the International Dalit conference at Vancouver, BC, in 2003 brought together representatives of Dalit diasporic nonprofit organizations and other international agencies to debate caste discrimination in the global context. A significant group of Dalit scholars and activists attended these conferences. The international French literary festival "Les Belles Etrangères" (Beautiful foreigners) honored the Dalit writers Bama (Faustina Mary Fatima Rani) and Narendra Jadhav in Paris 2009. Two academic conferences were held in the United States: the Dalit studies conference in December 2008 organized by the Center for the Advanced Study of India at the University of Pennsylvania, mentioned above; and "Caste and Contemporary India," a conference held in October 2009 at Columbia University, in honor of its alumnus B. R. Ambedkar.)

संचार, ट्रांसपोर्ट नेटवर्क और अंतरराष्ट्रीय मंच की उपलब्धता के कारण नए संवाद और गठबंधन के लिए गुंजाइश बनी है। उदाहरण के तौर पर दलित कार्यकर्त्ताओं और विद्वानों के एक बड़े समूह ने सितंबर 2001 में दक्षिण अफ्रीका के डर्बन में नस्लवाद, नस्लीय भेदभाव, उग्र राष्ट्रवाद और उससे जुड़ी असहिष्णुता पर वैश्विक सम्मेलन'' में हिस्सा लिया। सम्मेलन में दलित प्रतिनिधियों ने इसके एजेंडे में जाति को नस्लीय भेदभाव के स्वरूप के तौर पर शामिल करने की माँग की। जातीय भेदभाव की इस नई अवधारणा ने दलित कार्यकर्त्ताओं को अपने समुदाय के अधिकारों को वैध मानवाधिकार की तरह घोषित करने की इजाजत दी।[17]

पिछले दो दशकों में अमेरिका में भारत के अध्ययन को मजबूती मिलने और दोनों देशों के बीच विद्वानों के बढ़ते आदान-प्रदान ने दलित अध्ययन के उभार को अतिरिक्त रफ्तार दी है। अफ्रीकी अमेरिकी सिविल राइट्स आंदोलन और अमेरिका में अश्वेत अध्ययन विभाग की मौजूदगी के कारण तुलनात्मक अध्ययन और आदान-प्रदान के लिए मंच भी उपलब्ध हुआ है। दलित मुद्दों का वैश्विक स्तर पर प्रसार, दलित प्रवासियों की संख्या में बढ़ोतरी और विविधता और नस्ल से जुड़े सवालों से जुड़ाव ने जाति पर बहस को समृद्ध करने और इसका विस्तार करने में मदद दी है। इसके तहत विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने जाति आधारित और अन्य तरह की उपेक्षा व भेदभाव की पड़ताल के लिए देश के विश्वविद्यालयों में 'सामाजिक बहिष्करण और समावेशी नीति अध्ययन केंद्र' (सेंटर फॉर द स्टडी ऑफ़ सोशल एक्सक्लूजन एंड इंक्लिसिव पॉलिसी)[18] स्थापित किए हैं।[19]

समकालीन भारत और विदेशों में दलितों बुद्धिजीवियों की संख्या में बढ़ोतरी

17. डी.रेड्डी (2001).
18. यूजीसी की इस महत्वपूर्ण योजना के लिए https://ugc.ac.in/pdfnews/4750856_CentrestudySocialExclusionInclusivePolicy.PDF पर उपलब्ध।
19. सामाजिक बहिष्करण और समावेशी नीति के अध्ययन के लिए विश्वविद्यालयों में केंद्रों की स्थापना के लिए दिशानिर्देश, http://www.ugc.ac.in/pdfnews/2118716 सामाजिक-बहिष्कार-महाविद्यालय। पीडीएफ, 15 सितंबर 2015 को एक्सेस किया गया 26 मार्च, 2011)। (See "Guidelines for Establishment of Centres in Universities for Study of Social Exclusion and Inclusive Policy," http://www.ugc.ac.in/pdfnews/2118716 social-exclusion-colleges.pdf, accessed September 15, 2015 (also on March 26, 2011).

हुई है। 1990 के दशक में दलित कार्यकर्त्ता और बौद्धिक तबके ने भारतीय अकादमिक जगत में प्रवेश करना शुरू किया था और इस तरह से भारत के मुख्यधारा के सार्वजनिक दायरे में नए सामाजिक समूह के आगमन की शुरुआत हुई थी।[20] पहली बार भारतीय अकादमिक जगत में सवर्ण हिंदू समूहों के दबदबे को लेकर सवाल उठाए गए थे। इस बात में कोई शक नहीं कि मंडल आयोग की सिफारिशों को लागू करने के खिलाफ और इसके समर्थन में होने वाले विरोध-प्रदर्शन और देशभर में दलित आंदोलनों के बढ़ने से जातीय भेदभाव का सवाल अकादमिक और राजनीतिक बहसों के केंद्र में पहुँच गया।[21] यह ऐतिहासिक घटनाक्रम है, जिस पर बड़े पैमाने पर ज़्यादा ध्यान नहीं दिया गया है, जबकि इसने भारतीय इतिहास और राजनीति पर पुनर्विचार करना मुमकिन बनाया है।

दलित अध्ययन के मौजूदा स्वरूप की पड़ताल

स्वामी अछूतानन्द हरिहर, चन्द्रिका प्रसाद जिज्ञासु, भाग्य रेड्डी वर्मा, के.धर्मना और अयोथीथास, पेरियार ललई सिंह यादव, रामस्वरूप वर्मा जैसे बीसवीं सदी के दलित बुद्धिजीवियों के विचारों को लेकर शोध का अभाव रहा है साथ ही अस्पृश्यता और जातीय असमानता को लेकर उनकी आलोचनाओं के बारे में ज़्यादा जानकारी उपलब्ध नहीं है। यहाँ तक कि 1990 तक भारतीय समाज को लेकर डॉ. आंबेडकर की आलोचना व पड़ताल और गाँधी के राष्ट्रीय आंदोलन के बारे में भी ज़्यादा जागरूकता नहीं थी।[22] भारतीय इतिहास लेखन में अस्पृश्यता के खिलाफ दलितों के संघर्ष और सवर्ण हिंदुओं के वर्चस्व को चुनौती देने को

20. गुरु ने दलित बौद्धिक संग्रह के बैनर तले विद्वानों के एक छोटे लेकिन महत्त्वपूर्ण समूह का आयोजन किया। 1990 के दशक में दलित सक्रियता का एक बड़ा नतीजा था ''भोपाल सम्मेलन : 21 वीं सदी के लिए दलितों के लिए एक नया पाठ्यक्रम तैयार करना'' जो जनवरी 2002 में दलित विद्वानों, कार्यकर्त्ताओं और गैर-सरकारी संगठनों को एक साथ लाकर वैश्विक स्तर पर विकास और अर्थव्यवस्था में हिस्सेदारी की माँग करता था।

21. इस तरह की बहसें दलित वर्णनात्मक लेखन में सबसे स्पष्ट थीं कुछ हाल ही में अनुवाद किए गए हैं, जिनमें दलित मौखिक लेखन का अंग्रेज़ी में बड़ी संख्या में अनुवाद किया जा रहा है।

22. 1990 के दशक के बाद से अम्बेडकर ने काफ़ी अकादमिक ध्यान आकर्षित किया है लेकिन मुख्यधारा के सामाजिक विज्ञान विषयों में उनके सैद्धांतिक योगदान की अभी तक पर्याप्त सराहना नहीं की गई है।

अक्सर सांप्रदायिक और ब्रिटिश समर्थक माना जाता रहा और इसलिए इसे राष्ट्र विरोधी भी कहा जाता रहा है। भारत के प्रमुख मार्क्सवादी इतिहासकार सुमित सरकार ने 2002 में एक लेख में कहा कि 'इस ढाँचे [उपनिवेशवाद बनाम राष्ट्रवाद] में महिलाओं के अधिकारों और ''निचली जाति'' के विरोध-प्रदर्शनों से जुड़े आंदोलनों का उचित मूल्यांकन मुश्किल साबित हुआ है और इनके लिए अक्सर संसाधन के रूप में औपनिवेशक नीतियों से जुड़े पहलुओं और पश्चिमी सिद्धातों का उपयोग किया गया।[23] तमिल दलितों पर अपने काम के सिलसिले में जी. एलॉयसियस का कहना है कि 'उन्नीसवीं सदी के मध्य से ही सबाल्टर्न जीवन में सामाजिक संकट के कारण संगठित गतिविधियाँ शुरू हो गई थीं', हालाँकि, इससे जुड़े नायकों को अब भी इतिहास में अपनी वैध जगह बनाने के लिए इतिहास लेखकों और समाज विज्ञानियों का इंतजार है'।[24]

1990 के दशक से एक उल्लेखनीय बदलाव यह देखने को मिला है कि भारत के इतिहास में दलितों की नायक के तौर पर पहचान होने लगी है। आधुनिक भारत को आकार देने में दलितों के योगदान को ध्यान में रखा गया है। राजनीतिक संघर्ष और दलित समुदाय के अहम नेताओं को मान्यता देने, दोनों लिहाज से ऐसा देखने को मिल रहा है। यह बीसवीं सदी के उस प्रचलन के उलट है, जब अंग्रेज़ी भाषा के प्रकाशनों और मुख्यधारा के अकादमिक लेखों और लेखनों में सिर्फ सवर्ण उच्च जातीय बुद्धिजीवियों का एजेंडा दिखता था और दलित संघर्षों पर ध्यान की कमी नज़र आती थी। इस तरह से जब हम दलित अध्ययन द्वारा दलितों पर भारतीय अकादमिक ज्ञान से जुड़े महत्त्वपूर्ण पहलुओं पर बात कर रहे हैं। इनमें शामिल है : 1-गाँधीवादी हरिजन विचारधारा, 2-आधुनिक भारत के अध्ययन के लिए राष्ट्रवादी नज़रिये के बजाय औपनिवेशिक ऐतिहासिक लेखन के ढाँचे को प्राथमिकता, 3-भारतीय सभ्यता का राष्ट्रवादी विचार, और 4-भारत निर्माण का आधुनिक विकास का नेहरूवादी मॉडल। इन तमाम अवधारणाओं में अकादमिक बहसों से दलितों और उनके दृष्टिकोण को वंचित रखा गया। इसके साथ ही 1960 से 1990 के दशक के दौरान दलितों पर अकादमिक लेखन से जुड़ी सामग्री और उसके मिजाज में हुए उल्लेखनीय बदलाव का जायजा लिया

23. सुमित सरकार (1998) : 359.
24. जी.एलॉयसियस (1998) एवं रवि कुमार (2009).

गया है। यह बदलाव दलित समाज और आंदोलनों के सामान्य अध्ययन से आगे बढ़ते हुए दलितों को खास वैचारिक एजेंडे के साथ नायक के रूप में स्थापित करने से जुड़ा है।[25]

भारतीय अकादमिक ज्ञान प्रणाली में दलित नायकों और उनके सवालों की कमी की एक और वजह उपनिवेशवाद बनाम राष्ट्रवाद के युग्मक द्वारा परिभाषित अवधारणात्मक ढाँचा भी है।[26] भारतीय इतिहास लेखन सत्ता का एकतरफा विमर्श तैयार कर उपनिवेशवाद को भारतीय इतिहास में निर्णायक अंतराल की तरह देखता है। मार्क्सवादी और राष्ट्रवादी अवधारणा में उपनिवेशवाद को भारत के सामाजिक और आर्थिक-पिछड़ेपन का एकमात्र महत्त्वपूर्ण कारण बताया गया है और औपनिवेशिक राज्य को शोषण और दासता का उपकरण करार दिया गया है। इस दृष्टिकोण के कारण दलित सामाजिक और धार्मिक आंदोलनों के अध्ययन को बढ़ावा नहीं मिला, जिससे औपनिवेशिक आधुनिकता के वादे और संभावनाओं को तवज्जो मिली। छुआछूत के खिलाफ आंदोलन, मंदिरों में प्रवेश के लिए आंदोलन और सार्वजनिक स्थानों पर हक और औपनिवेशिक संस्थानों में प्रतिनिधित्व के लिए संघर्ष का संबंध न तो औपनिवेशिक विरोधी एजेंडे से था और न ही यह राष्ट्रवाद से प्रेरित था। इसके बजाय इन आंदोलनों ने सामाजिक और सांस्कृतिक दायरे में जाति आधारित भेदभाव और राजनीतिक क्षेत्र में प्रतिनिधित्व की कमी पर जोर दिया।[27]

दलित समूहों ने अपने अधिकारों को मुखर अंदाज में बयां करने के लिए औपनिवेशिक राज्य और उसके संस्थागत ढाँचे का इस्तेमाल अपने पक्ष में किया और इस वजह से औपनिवेशिक राज्य को पूरी तरह से खारिज करना कभी भी उनके एजेंडे में नहीं था। आधुनिक भारतीय इतिहास में दलित इतिहास की कहानी नहीं है, क्योंकि स्वतंत्र दलित संगठनों और समूहों को औपनिवेशिक सत्ता विरोधी विमर्श में समाहित नहीं किया जा सका। नीलाद्रि भट्टाचार्य का तर्क है कि इसके बजाय दलितों के इतिहास को उपनिवेशवाद के उनके विरोध के रूप में राष्ट्रवादी

25. रामनारायण एस. रावत (2016) दलित स्टडीज़ में सनल मोहन, चिन्नाया जंगम, राजकुमार हंस, और सुरिंदर जोधका के अध्यायों को।
26. सुमित सरकार (2002) एवं रामनारायण एस.रावत (2012).
27. रामनारायण एस. रावत (2016) दलित स्टडीज़ में सनल मोहन, चिन्नाया जंगम, राजकुमार हंस, और सुरिंदर जोधका के अध्यायों को।

विमर्श में ठीक उसी तरह से शामिल किया गया, जिस तरह से किसानों और मजदूरों को शामिल किया गया।[28] 1990 से पहले दलित समुदाय का मुख्य प्रतिनिधित्व औपनिवेशिक समाज विज्ञान से निकला था। उसका मकसद दलित समुदायों के खिलाफ छुआछूत और भेदभाव को उनके ''अशुद्ध'' धार्मिक और सामाजिक परंपराओं के लिहाज से समझना था। हालाँकि, दलितों को अध्ययन की विषय-वस्तु मानते हुए इन समाजशास्त्रीय गतिविधियों के ज़रिये भारत में अस्पृश्यता के प्रचलन को लेकर विमर्श की शुरुआत हुई। 1890 से 1930 के बीच जाति और जनजातीय समूहों पर प्रकाशित औपनिवेशिक खंडों के ज़रिये पहली बार आधुनिक भारत में दलित समाज के बारे में विस्तार से जानकारी मुहैया कराई गई। मिसाल के तौर पर इन खंडों में माला, मडिगा, पेरियार, महार, चमार और पासी जैसे दलित समुदायों के बारे में विस्तार से जानकारी दी गई थी।[29] इसमें हर जाति से जुड़े कार्य के बारे में भी बताया गया था, जिसे मनुस्मृति जैसे ब्राह्मणवादी ग्रंथों और सवर्ण हिंदू समूहों द्वारा अपवित्र माना जाता था। हिंदू समाज से दलितों के रिश्तों को समझने के लिए इन खंडों में दलित समूहों की धार्मिक और सामाजिक परंपराओं और विचारों का वर्णन किया गया था।

उत्तर भारत के डोम और चमारों व दक्षिण भारत के पुलया समुदाय को लेकर किए गए अध्ययन में इन समुदायों की सवर्ण हिंदुओं से अलग सामाजिक परंपराओं, आर्थिक ढाँचे और राजनीतिक परिपाटी की पड़ताल की गई। एक और अध्ययन में दलित मुहल्लों में ऊँच-नीच की परंपराओं के फिर से तैयार होने को लेकर ध्यान केंद्रित किया गया।[30] 1990 के दशक तक प्रमुख ध्यान का केंद्र दलित समुदायों की उन अशुद्ध परंपराओं की पहचान करने पर था, जो उन्हें हिंदू समाज से अलग करती थीं। दलितों के साथ भेदभाव के कारण 1960 के दशक से एक और अहम प्रवृत्ति दलित विरोध को रूढ़िवादी हिंदू परपंरा के खिलाफ जरूरी जवाब के रूप में देखने का रहा है।[31] इस प्रवृत्ति ने नई सैद्धांतिक संरचना को बढ़ावा दिया, जिसमें सामाजिक गतिशीलता और अपेक्षाकृत अभाव की अवधारणा

28. नीलाद्रि भट्टाचार्य (2003), द प्रॉब्लम. 37. https://www.indiaseminar.com/2003/522/522%20the%20problem.htm पर उपलब्ध।
29. एड्गर थर्स्टन, के. आर. रंगाचारी (1909).
30. माइकल मोफट (1979).
31. गोपाल गुरु (2015) वही : 570.

भी शामिल है जिनका समाजशास्त्रियों और मानवविज्ञानियों ने व्यापक स्तर पर इस्तेमाल किया। इन अवधारणाओं ने विद्वानों को स्वतंत्र जीवन और मूल्यों पर आधारित भविष्य की कल्पना करने से रोका। सवर्ण हिंदुओं का दर्जा हासिल करना दलितों और अन्य ''निचली जातियों'' का लक्ष्य बताया गया। दूसरे शब्दों में कहें तो इन अध्ययनों में गतिशीलता और अभाव का आकलन करने वाले मानक समूह सवर्ण हिंदू ही रहे। 1972 में प्रकाशित निबंधों के संकलन 'द अनटचेबल्स इन कंटेमपरेरी इंडिया'[32] में दो प्रमुख शीर्षकों (थीम्स) की जाँच की गई।[33] दलितों द्वारा पहली संबंधित रणनीति अभाव से निपटने के लिए अपनाई गई और दूसरी में सवर्ण हिंदुओं द्वारा तैयार की गई पाबंदियों का खाका खींचा गया था, जिन्हें मानक व्यवहार के लिए संदर्भ बिंदु भी माना गया था।

उत्तर भारत के चमार समुदाय के जीवन पर आधारित बर्नार्ड कोहन के अध्ययन में गाँव के बाहर नए काम के अवसरों और चुनावी राजनीति के कारण तैयार सामाजिक गतिशीलता के ठिकानों का जायजा लिया गया है।[34] 1970 के दशक से सामाजिक गतिशीलता की संरचना को छोड़ते हुए दलित विरोधों को लेकर नई तरह की गतिविधियों पर ध्यान केंद्रित किया गया। दलित साहित्य से जुड़ी नई तरह की खूबी दलित आंदोलनों की पहचान करना और उन तौर-तरीकों पर ध्यान केंद्रित करना था, जिसके तहत उनकी स्थानीय पहलकदमियों के कारण वर्चस्व वाले समूहों को चुनौती दी गई। एलिनॉर जेलिएट के डॉ. आंबेडकर, दलितों की सक्रियता और दलित संतों पर लेख में इन मुद्दों के बारे में पश्चिम भारत के संदर्भ में विस्तार से बताया गया। साथ ही, जाति, संघर्ष और विचारधारा : उन्नीसवीं सदी के पश्चिमी भारत में महात्मा ज्योतिराव फुले और निम्न जाति के विरोध के संदर्भों को रोज़ालिंड ओ'हांलोन की किताब ''हिस्ट्री ऑफ़ ज्योतिराव फुलेज मूवमेंट ऐंड हिज इंटेलेक्चुअल वर्ल्ड इन द 1860-1900'' एवं कास्ट, कनफ्लिक्ट एंड आइडियोलॉजी : महात्मा जोतीराव फुले एंड लो कास्ट प्रोटेस्ट इन नाइन्टीथ सेंच्युरी वेस्टर्न इंडिया में भी इस बारे में विस्तार से चर्चा की गई है।[35]

उत्तर भारत में ओवेन लिंच का अध्ययन ''स्टडी ऑफ़ दलित (चमार)

32. जे.माइकल महार (1972).
33. जे.माइकल महार (1972): 17-35.
34. बर्नाड कोहन (1987) : 11-14.
35. एलिनॉर जेलिएट (2012) एवं रोजलिंड ओ'हलान (2002).

एक्टिविजम इन द सिटी ऑफ़ आगरा'' स्वामी अछूतानन्द हरिहर पर आर.एस. खरे की किताब और मार्क जुर्गेंसमेयर की किताब ''डिस्कशन ऑफ़ मंगूराम्स आइडियोलॉजिकल एजेंडा ऑफ़ आदि-धर्म इन पंजाब'' ने दलित नायकों का ध्यान अपनी तरफ़ आकर्षित किया, जिन्होंने सवर्ण हिंदुओं के वर्चस्व और उपेक्षा की परंपराओं को चुनौती दी।[36] गुरु के मुताबिक, 1970 के दशक से ऐसे लेखों ने पहली बार आधुनिक भारत में दलितों के सांस्कृतिक और राजनीतिक विरोध अभियान को तैयार करने में जातीय असमानताओं की भूमिका को दिखाया।[37] सरकार की अगुवाई में विकासवाद के ज़रिये भारत देश के नेहरूवादी विचार को स्वीकार किया गया, जिसमें जातिविहीन और धर्मनिरेपक्ष समाज के लिए गुंजाइश हो। नेहरूवादी दौर ने अखिल भारतीय संभ्रात तबका तैयार किया, ''जिसमें सिर्फ सवर्ण हिंदू और मध्य वर्ग से जुड़े लोग शामिल थे, ये चुनिंदा सांस्कृतिक पृष्ठभूमि और खास क्षेत्रों से थे।'' यह राष्ट्रीय संभ्रात तबका ''धर्मनिरपेक्ष, राष्ट्रवाद, वैज्ञानिक तकनीक और आर्थिक विकास के आधुनिक मुहावरे में बात करता था, इस मुहावरे को अपनाकर संभ्रात अपनी स्वाभाविक पहचान को अदृश्य बनाने में सक्षम थे।''[38] राष्ट्रीय आधुनिकता की वैचारिक परियोजना ने सार्वजनिक जीवन में जाति जैसी चीजों को दबा कर इसे गुम कर दिया। आज़ादी के बाद उदारवादी लोकतंत्र के संदर्भ में 1960 और 1970 के दशक में भारतीय समाज के अध्ययन से पता चला कि राष्ट्रवादी आधुनिकता ने 'जाति की परंपरागत संस्था' को धर्मनिरपेक्ष पैरा कम्युनिटी (अर्द्ध समुदाय) में बदल दिया दिया है।[39]

लॉयड रुडोल्फ और सुजैन रुडोल्फ के मुताबिक, उदारवादी लोकतंत्र के संदर्भ में जाति आधारित लामबंदी और चुनाव के कारण जाति व्यवस्था का स्वरूप लोकतांत्रिक और धर्मनिरपेक्ष हुआ।[40] जाति के आधुनिकीकरण का सिद्धांत अब भी इस मान्यता से जुड़ा है कि ''जाति एक पारंपरिक व्यवस्था है, इसका मुख्य सिद्धांत औपचारिक पदानुक्रम से जुड़ा है और इसका ढाँचा सीधा है।''[41] अनुभवजन्य समाजशास्त्रीय मापदंडों के आधार पर यह दलील दी गई कि आधुनिक भारत

36. ओवेन लिंच (1969) आर. एस.खरे (1984) एवं मार्क जुर्गेंसमेयर (1989).
37. गोपाल गुरु (2015) वही : 571.
38. सतीश देशपांडे (2003) : 71.
39. लॉयड आई रुडोल्फ, सुज़ैन होबर रुडोल्फ (1999) : 29-36.
40. लॉयड आई रुडोल्फ, सुज़ैन होबर रुडोल्फ (1999) वही : 64-87.
41. के. सत्यनारायण (2014) : 46-61.

में जातीय पहचान में कमी आई है और इसमें बदलाव देखने को मिला है। श्रीनिवास, ए.एम. शाह, बी.एस. बवीस्कर, आंद्रे बेते और वीणा दास जैसे समाज विज्ञानी और विद्वानों ने आधुनिक विकासवाद और जाति आधारित भेदभाव के संवैधानिक रूप से ख़त्म होने का हवाला देते हुए कहा कि जाति का मामला आधुनिक भारत में पुराना पड़ चुका है और जाति आधारित आरक्षण ''फूट डालो और राज करो'' जैसी औपनिवेशिक नीतियों की विरासत है। उन्होंने 1990 में मंडल कमीशन की सिफारिशों के ज़रिये लागू किए गए जाति आधारित आरक्षण नीति का जमकर विरोध किया।[42] इतिहास लेखन की सबाल्टर्न अध्ययन परियोजना ने भी जातीय असमानता के सवालों के साथ सिलसिलेवार रिश्ता नहीं विकसित किया, जबकि जाति आधारित भेदभाव की घटनाएँ आज भी हो रही हैं। हालाँकि, रणजीत गुहा और पार्थ चटर्जी, दोनों ने सबाल्टर्न आक्रामकता और राजनीतिक संघर्षों में जातीय जागरूकता और ऊँच-नीच के चलन की अहम भूमिका को स्वीकार किया है और इन चीजों को पारंपरिक के बजाय आधुनिक बताया है। चटर्जी का तर्क है कि जाति और सबाल्टर्न जागरूकता खासतौर पर शारीरिक और पारंपरिक शुद्धता के सवालों से जुड़े हैं और उन्होंने अधिकार हासिल करने के लिए ताकतवर सामाजिक समूहों के धर्म के इस्तेमाल को चुनौती देने की बात कही।[43] आधुनिक भारत में जातीय भेदभाव से जुड़े सवाल हर किसी की जिंदगी का हिस्सा थे और हैं, लेकिन जिस तरह से सबाल्टर्न विषय की कैटेगरी तैयार की गई, उसके कारण ये सवाल हाशिये पर रहे। किसान के संदर्भ में ''सबाल्टर्न'' शब्द के अनधिकृत इस्तेमाल से कृषक समाज के भीतर दलित किसानों और श्रमिकों और बड़े भूस्वामियों और सबाल्टर्न किसानों द्वारा उनके शोषण की बात नज़रअंदाज़ हो जाती है। सबाल्टर्न अध्ययन परियोजना में सबाल्टर्न एक गैर-चिह्नित विषय था और जातीय असमानता उसकी सांस्कृतिक और राजनीतिक संरचना का प्रमुख पहलू नही था।

ज़्यादातर मामलों की बात करें तो सबाल्टर्न विद्वानों का तर्क है कि किसान ''निचली जाति'' से ताल्लुक रखते थे (हालाँकि, अछूत जातियों से नहीं), जो हिंदू धर्म के स्वरूपों और जातीय असमानता के मूल्यों को लेकर सांस्कृतिक

42. रजनी कोठारी (1998) : 439-58 एवं निकोलस बी. डर्क्स (2001) : 286-88.
43. पार्थ चटर्जी (1989) : 169-209.

रूप से प्रतिबद्ध थे। इस तरह का मामला दुर्लभ था, जहाँ सबाल्टर्न दलित किसान था और जिसका जमीन या इसके बँटवारे को लेकर अन्य जातीय समूहों से टकराव था या वह शहरों में काम करने वाला मजदूर था, जो ''निचली जाति'' की पृष्ठभूमि वाले लोगों से उपेक्षा और बहिष्कार का सामना कर रहा था। दरअसल, सबाल्टर्न जागरूकता तैयार करने में सबाल्टर्न अध्ययन परियोजना के किसी भी खंड में जाति के सवाल पर ज़्यादा ध्यान नहीं दिया गया। इस सीरीज में ऐसे कई निबंध हैं जिसमें ग्रामीण किसानों की गोलबंदी (खंड-1) में दलित सबाल्टर्न की नायक की तरह पहचान नहीं की गई या वर्गीय चरित्र नहीं होने के कारण दलित संघर्षों की आलोचना की गई और इन संघर्षों के राजनीतिक लक्ष्यों से जुड़ने को खारिज किया गया (खंड-10)।[44]

औपनिवेशिक राज्य या स्थानीय संभ्रातों के विरोध में उत्तर-औपनिवेशिक लोकतांत्रिक संघर्षों में सबाल्टर्न विषय का ऐसा सिद्धांत तैयार करना मुश्किल है, जिस पर जातीय चिन्हों का दाग नहीं हो।[45] सबाल्टर्न अध्ययन परियोजना के आखिरी खंड (2005 में प्रकाशित) के लेखकों ने जाति आधारित असमानता के सवाल का जवाब पेश करने का प्रयास किया।[46] इस खंड में 1990 के बाद भारत में हुए राजनीतिक बदलाव से जुड़ने की कोशिश की गई। यह वह दौर था, जब जातीय आधारित असमानता पर बहस और शोध सार्वजनिक दायरे में पूरी तरह से नज़र आने लगे थे। 1990 से कई लेखकों ने दलितों से जुड़ी कई तरह की पहलकदमियां की एवं उस पर प्रकाश डाला है, जिनके बारे में पहले काफ़ी कम जानकारी थी। सन् 1880 से 1930 के दौरान बंगाल में नामशूद्रों (नमोशूद्रों) की उपस्थिति से लेकर मध्य भारत में सतनामियों द्वारा नई धार्मिक परंपराएं तैयार करने तक, सवर्ण हिंदुओं के वर्चस्व से मुक्त नए सामाजिक-राजनीतिक ढाँचे के लक्ष्य के लिए दलितों के प्रयासों का लंबा इतिहास रहा है।[47]

जी.एलॉयिसिस का 'रिलीजन एज इमेन्सीपेटरी आइडेंटिटी अ बुद्धिस्ट मूवमेंट एमंग द तमिल्स अंडर कोलोनियलिज़्म' (1998) का अध्ययन अयोथीथास और

44. रामनारायण एस. रावत (2010) :12-18.
45. दीपेश चक्रवर्ती (2000): 10-11.
46. शैल मायाराम, एम. एम. एस. पांडियन एवं अजय सकारिया (2005).
47. शेखर बंद्योपाध्याय (2011).

1890 से 1914 के दौरान इस दावे के लिए उनके सागंठनिक प्रयासों की तरफ़ हमारा ध्यान आकर्षित करता है कि बौद्ध धर्म तमिल दलितों का असली धर्म है।[48] अयोथीथास की सक्रियता के कारण एक स्वतंत्र दलित आंदोलन को मान्यता मिली, जिसने 1930 के दशक के परिपक्व द्रविड़ आंदोलन से पहले दक्षिण भारत की देसी भाषाओं का इस्तेमाल किया।[49] 2009 में आई अनुपमा राव की किताब 'द कास्ट क्वेस्चन दलित्स एंड द पॉलिटिक्स ऑफ़ मॉडर्न इंडिया' में मुक्ति की रणनीति के बारे में बताया गया है, जिसकी वकालत ''कास्ट सबाल्टर्न्स'' ने जातीय असमानता पर सवाल खड़े करने और इतिहास के पुनर्लेखन, पहचान को नया नाम देने व ब्राह्मणवादी ज्ञान परंपरा को चुनौती देने के प्रयास के सिलसिले में की है।[50] राव का तर्क है कि उदारवादी राज्य की सकारात्मक कार्रवाई की नीतियों ने दलितों के खिलाफ हिंसा के नए तौर-तरीके और ठिकाने तैयार किए हैं। हाल ही में रामनारायण एस. रावत के 'रिकंसीडरिंग अनटचेबिलिटी' (2011) के अध्ययन में 1922 के बाद से उत्तर भारत में राजनीतिक परंपराओं को फिर से गढ़ने में दलित नायकों के किरदारों की भूमिका की बात कही गई, जिसने न सिर्फ दलितों बल्कि सभी राजनीतिक नायकों के किरदारों के लिए नया आदर्श प्रतीक मुहैया कराया।[51] दलित नारीवाद के उदय ने भारतीय नारीवादी इतिहास लेखन की मौजूदा परंपरागत मान्यताओं, खास तौर पर दलित महिलाओं की मुक्ति को लेकर सवाल खड़े किए हैं।[52] उर्मिला पवार और गोपाल गुरु ने मुख्यधारा के इतिहास लेखन में स्वतंत्र विषय के तौर पर दलित पितृसत्ता और दलित महिलाओं की नुमाइंदगी के मामले की पड़ताल का अनुरोध किया है।[53]

पवार की दलील है कि दलित महिलाओं को ''जाति आधारित अत्याचार, रेप की धमकी से निपटना पड़ता है, शारीरिक हिंसा और पुरुषों के अन्य अत्याचारों

48. जी.आलोसियस (1998) : 3-4.
49. के. सत्यनारायण, शशी थारू (2011) : 119.
50. अनुपमा राव (2009) : 2.
51. रामनारायण एस. रावत (2010) अध्याय 4 एवं 5.
52. लिडल एंड जोशी (1986): 85-95 एवं काँचा इलैया (1996) : 65-69.
53. उर्मिला पवार (1994) : 84-85 एवं गोपाल गुरु (1995) : 2548-49. साथ में यह भी उर्मिला पवार एंड मीनाक्षी मून (2008) विशेष रूप से अध्याय-9.दलित नारीवादी तर्कों की संक्षिप्त चर्चा के लिए यह भी देखें के.सत्यनारायण एंड शशि थारू (2013) : 36-43.

को बर्दाश्त करना पड़ता है।''[54] गुरु के इस लेख में अलग दलित नारीवादी दृष्टिकोण पेश करने में सामाजिक स्थान और महिला बुद्धिजीवी-कार्यकर्त्ता के अनुभव पर जोर दिया है, जो सवर्ण हिंदू महिला के अनुभव से बिल्कुल अलग है। शर्मीला रेगे ने इसी बिंदु को आगे बढ़ाते हुए तर्क दिया है कि भारत में नारीवादी आंदोलन ने सवर्ण हिंदुओं (पुरुष और महिला दोनों) की सांस्कृतिक और राजनीतिक परंपराओं को गढ़ने में ब्राह्मणवाद के निर्णायक प्रभाव का विश्लेषण नहीं किया।[55]

1990 के बाद कार्यस्थलों पर और सामाजिक भूमिकाओं में दलित महिलाओं की मौजूदगी और उनकी बढ़ती राजनीतिक सक्रियता के कारण उनके खिलाफ हिंसात्मक हमले भी हुए हैं।[56] गोपाल गुरु की तरफ़ से औपनिवेशिक आधुनिकता पर फिर से विचार के लिए एक सिलसिलेवार प्रयास और औपनिवेशिक और उत्तर-औपनिवेशिक भारत के अध्ययन के लिए वैचारिक ढाँचा मुहैया कराया गया है। वह इतिहास लेखन से जुड़ा सवाल पूछते हैं जो भारत के अध्ययन के लिहाज से बेहद अहम है। इसी सिलसिले में उन्होंने लिखा है, ''वे कौन से मापदंड हैं, जिसके आधार पर सबाल्टर्न जनता द्वारा अस्वीकार किए जाने संबंधी संघर्ष को अंजाम दिया जाता है?''[57] उनका कहना है कि मानदंड संबंधी आधार पहचान की राजनीति, मुक्ति और विषय की शिक्षा के ज़रिये तैयार होता है। साथ ही, हमें यह भी समझना चाहिए कि आधुनिक संस्थानों, नौकरशाही, औद्योगीकरण और सार्वजनिक क्षेत्रों के साथ इन आधुनिक विचारों ने अपमान की स्थिति जारी रखने के लिए नई परिस्थितियाँ तैयार की हैं। गोपाल गुरु का तर्क है कि आधुनिकता, वर्चस्व वाले समुदायों और कमजोर समूहों में समतावादी मूल्यों के लिए आम नैतिक प्रतिबद्धता तैयार करती है। हालाँकि, यह ऐसी परंपराएं भी तैयार करती है, जो कमजोर समूहों की उपेक्षा में योगदान करते हैं। डी. आर. नागराज का कहना है कि संतों से जुड़ी दलित सांस्कृतिक विरासत में जातीय ऊँच-नीच को चुनौती देने का लंबा इतिहास रहा है। जातीय भेदभाव से निपटने में स्थानीय विद्रोहियों और उग्र सुधारवादियों की कोशिशें ''उनकी परंपरा की एक आध्यात्मिक

54. उर्मिला पवार (1994) वही : 84-85.
55. शर्मिला रेगे (2006) : 3-7.
56. अनुपमा राव (2009).
57. गोपाल गुरु, (2009) : 219. 25.

जरूरत रही है।''[58] उत्तर भारत में रविदास, पश्चिम भारत में चोखेमाला और दक्षिण भारत में बसवन्ना और नंदनार जैसे संतों के समर्थकों द्वारा भारत में सम्मान की खातिर संघर्ष के लिए तैयार की गई वैकल्पिक परंपरा की लोकप्रियता कायम रहने के बारे में यहाँ बताना जरूरी है। साथ ही, दलित बुद्धिजीवी और कार्यकर्त्ता दलित और सवर्ण हिंदू समाजों के बीच सभ्यतागत जुड़ाव संबंधी नागराज के सुझाव को लेकर आशंकित हैं। साथ ही, नागराज द्वारा आधुनिकता के अभियान में दलितों से जुड़े सामाजिक और साहित्यिक आंदोलनों की आलोचना पर भी इन बुद्धिजीवियों को आपत्ति है। इसके बजाय हमारा यह कहना है कि दलित समूह सांस्कृतिक परंपराओं को अपनाने में व्यस्त थे और वे जातीय असमानता से लड़ने के मकसद से ख़ुद की पहचान बदलने के लिए आधुनिक उदारवादी संदर्भों में इन परंपराओं का इस्तेमाल कर रहे थे।

इस तरह से सबाल्टर्न अध्ययन परियोजना से अलग हटते हुए यह लेखन सम्मान से संबंधित संघर्षों पर जोर देना चाहता है, जो धार्मिक आधार पर मान्यता प्राप्त जातीय भेदभाव पर सवाल खड़ा करने के लिए सफलापूर्वक औपनिवेशिक उदारवाद से ख़ुद को जोड़ता है। इस तरह से हमारी इस परियोजना में मानवीय सम्मान से जुड़े संघर्षों का इतिहास लिखकर और जातीय भेदभाव के खिलाफ संघर्षों के इतिहास को याद करते हुए इसका मकसद भारत के अध्ययन के लिए नए इतिहास लेखन के लिए एक खाका तैयार करना है। जातीय सबाल्टर्नों मातहतों को जिस उपेक्षा और वंचितता का सामना करना पड़ा है, अधिकांश अकादमिक विमर्श में उससे जुड़े पहलुओं का विश्लेषण सामाजिक गोलबंदी और संस्कृतीकरण के नज़रिये से किया गया है। दरअसल, उपनिवेशवाद के खिलाफ आंदोलनों को लेकर भारी दिलचस्पी और भारतीय सभ्यता की सांस्कृतिक एकता से जुड़ी प्रतिबद्धता के कारण हाल तक भारतीय इतिहास लेखन में दलित विचारों और आंदोलनों पर काफ़ी कम ध्यान दिया गया है। राष्ट्रवादी संभ्रातों की शैक्षणिक परियोजनाओं में दलितों के सामाजिक–राजनीतिक संघर्ष समेत उनकी ऐसी तमाम गतिविधियों को आदिम और पिछड़ा या औपनिवेशिक राज्य की संरक्षण राजनीति का उत्पाद माना गया। इसके बावजूद दलितों ने अल्पसंख्यकों के लिए प्रतिनिधित्व जैसे ठोस सवालों से निपटने में औपनिवेशिक उदारवादी विचार समेत औपनिवेशिक

58. डी.आर. नागराज (2011) : 25.

आधुनिकता को उपयोगी पाया और इसने सवर्ण हिंदुओं के साथ जुड़ने का नया मौका दिया। विधान सभाओं और स्कूल व कॉलेजों में प्रतिनिधित्व हासिल करने जैसे मुद्दों पर सकारात्मक कार्रवाई के लिए ज़्यादातर दलित संगठनों ने औपनिवेशिक राज्य के साथ मिलकर काम किया। आत्म-सम्मान और आत्म-पहचान के सवालों से संबंधित दलितों के लंबे इतिहास पर आज गंभीर अकादमिक विमर्श की जरूरत है।

दलित अध्ययन : कुछ महत्त्वपूर्ण बिन्दु

दरअसल, राष्ट्रवादी इतिहास में दलितों के योगदान के बारे में लिखकर उन्हें न्याय देने का दावा अकादमिकों और उनके ऐतिहासिक विमर्श के परोक्ष पहलुओं के बीच सैद्धांतिक अंतर को बयाँ करता है। इसके अलावा, इस तरह के प्रयास दलित आलोचना को राष्ट्रवाद के नज़रिये से अलग करते हैं। ऐसा लगता है कि ये अकादमिक विद्वान दलितों के राष्ट्रवादी स्वरूप की खोज से जुड़े विरोधाभासों का पता लगाने में नाकाम रहे यानि यह राष्ट्रवाद को असंबद्ध क्षेत्र बना देता है, जहाँ उद्देश्य और प्रवृत्तियों का टकराव होता है। उदाहरण के तौर पर राष्ट्रवाद अलग-अलग सामाजिक समूहों को पारस्परिक खास मकसदों के लिहाज से उपलब्ध होता है। औद्योगिक वर्गों की राष्ट्रवाद में दिलचस्पी इसलिए थी, क्योंकि इससे उन्हें औपनिवेशिक बाधाओं के बगैर फायदा हासिल होने की संभावना थी। एक तरफ, कामगारों ने राष्ट्रवाद में इसलिए भरोसा जताया, क्योंकि इसे उन्हें उद्योगपतियों से बेहतर सौदेबाजी की उम्मीद थी। दूसरी तरफ, हिंदुत्वादी ताकतों (दक्षिणपंथी हिंदू संगठनों) की राष्ट्रवाद में इसलिए दिलचस्पी थी, क्योंकि उन्हें इससे भारत को हिंदू राष्ट्र बनाने में मदद मिलने की अपेक्षा थी। स्वाभाविक रूप से अल्पसंख्यक और 'निचली जाति' के लोग राष्ट्रवाद को लेकर संशय में थे और उनका यह मानना उचित था कि इससे सवर्ण हिंदुओं का फिर से वर्चस्व स्थापित हो जाएगा। आखिर में मैं यह कहना चाहूँगा कि ये अकादमिक विद्वान राष्ट्रवाद जैसी अवधारणाओं की ताकत की प्रामाणिकता को ज्ञान पद्धति या प्रणाली विज्ञान के ज़रिये पड़ताल करने में असफल रहे। नतीजतन, उनका लेखन भी वैसा ही रहा, जिसके वे आलोचक थे। उपेक्षा या चुप्पी को मुख्यधारा के इतिहास लेखन की आलोचना के औजार के रूप में इस्तेमाल करना एक बात है, लेकिन लोगों की धारणाओं की व्याख्या करना और एक सिद्धांत के मूल्यों को सही

ठहराने के लिए (मौजूदा मामले में राष्ट्रवाद) उसका इस्तेमाल करना पूरी तरह से अलग मामला है। हालाँकि, मेरा मानना है कि दलितों की अलग-थलग रिहाइश व कूड़ा चुनने और शौचालय साफ करने जैसे कार्यों और राष्ट्रवादी प्रतीकों व स्तंभों के बीच मौलिक विरोधाभास है। हाशिये पर मौजूद लोगों की बुनियादी स्थितियों में बदलाव कर राष्ट्रवाद को मूर्त अर्थ प्रदान करने वाला भारतीय गणराज्य इस विरोधाभास को प्रभावकारी ढंग से दूर करने में सक्षम नहीं रहा है। इसी तरह, लोकतांत्रिक निर्वाचन प्रणाली और वैश्वीकरण भी इस चुनौती से निपटने में सफल नहीं रहे हैं। उदाहरण के तौर पर लोकतांत्रिक निर्वाचन प्रणाली दलितों में नागरिकों का सकारात्मक भाव पैदा करने में सफल नहीं रही है। दरअसल, उन्हें ऐसा लगता है, मानो वे छिटपुट फायदों के परोक्ष लाभार्थी हैं, जो इस तरह के लोकतंत्र के माध्यम से धीरे-धीरे पहुँचता है।

वैश्वीकरण के कारण दलितों के जीवन में किसी तरह का खास बुनियादी बदलाव नहीं हुआ है और अब भी बड़ी संख्या में दलित समुदाय के लोग गाँवों और शहरी झुग्गियों में अमानवीय जीवन गुजार रहे हैं। डॉ. आंबेडकर के मुताबिक, एक आधुनिक राष्ट्र के तौर पर भारत निश्चित तौर पर समाज को समतावादी सिद्धांतों के आधार पर संगठित करने का प्रयास करता है, लेकिन यह इन सिद्धांतों को सामाजिक प्रचलन के तौर पर लागू करने में असहाय है।[59] आधुनिक राष्ट्र अपनी भौगोलिक सीमाओं के बारे में बेहद प्रभावकारी ढंग से बताता है, लेकिन इसमें मुख्य गाँव (वर्चस्वशाली जातियों की बस्तियाँ) और दलित बस्तियों के बीच की दुखद सीमाओं का अस्तित्व कायम रहता है। राष्ट्रीय सीमाएं सम्मान और गर्व की तरफ़ इशारा करती हैं, जबकि समाज को बांटने वाली सीमाएं दलितों की बस्तियों के लिए उपेक्षा को प्रतिबिंबित करती हैं। डॉ. आंबेडकर का कहना था कि भारत में दो देश हैं: पुरस्कृत भारत और बहिष्कृत भारत। डॉ. आंबेडकर ने अपने पाक्षिक अखबार बहिष्कृत भारत में लेखों के ज़रिये अपने विचारों को पेश किया, जिसे उन्होंने 1924 में शुरू किया था। उनके मुताबिक, पुरस्कृत भारत द्विज जातियों का प्रतिनिधित्व करता है, जो स्थानिक, सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से बहिष्कृत भारत यानी अस्पृश्यों से अलग हैं, जिनका अलग स्थानिक और सांस्कृतिक ठिकाना है। उन्होंने राष्ट्र का एक वैकल्पिक आइडिया पेश किया, जिसे

59. एम.एस.गोरे (1993): 314.

उन्होंने प्रबुद्ध भारत कहा।[60] उन्नीसवीं सदी के गैर-ब्राह्मण विचारक ज्योतिराव फुले मानते हैं कि पौराणिक कथाओं में राजा बाली भारत का सबसे समतावादी राजा था, लेकिन ब्राह्मणवादी विमर्शों में उसे शैतान की तरह पेश किया गया।[61] ये व्याख्याएं बताती हैं कि राष्ट्र को लेकर किसी भी व्यक्तिपरक परिकल्पना में जहाँ दो राष्ट्रों- पुरस्कृत और बहिष्कृत भारत की बात नहीं है, वहाँ समानता और एकता की राष्ट्रवादी व्याख्या को स्वीकार्यता मिलती है। फुले और डॉ. आंबेडकर की राष्ट्रवाद की व्याख्याओं के संदर्भ में इस बात की पड़ताल करना जरूरी है कि क्या राष्ट्रवाद पर आधारित अकादमिक अध्ययन पुरस्कृत और बहिष्कृत भारत के बीच इस स्थानिक और वैचारिक विरोधाभास को पहचानने और इस पर सवाल करने को लेकर संवेदनशीलता या अनिवार्यता का भाव दिखाता है। पुरस्कृत और बहिष्कृत भारत को लेकर डॉ. आंबेडकर की अवधारणा हमें राष्ट्रवाद और उसके वैचारिक ढाँचे की गुत्थियों को समझने में मदद करती है। इस ढाँचे में सामाजिक समानता का सैद्धांतिक दावा तो है, लेकिन उपेक्षा की परंपरा कायम है।

यह हमें 1857 के विद्रोह से जुड़े राष्ट्रवादी विमर्श में दलितों को शामिल करने के भारतीय विद्वानों के प्रयासों पर भी सवाल खड़े करने में मदद करता है।[62] इसके अलावा यह वैचारिक आधार हमें इस बात की व्याख्या के लिए मूल्यवान स्रोत मुहैया कराता है कि क्यों कुछ दलित लेखक राष्ट्र की अवधारणा में काफ़ी दिक्कतें पाते हैं, जबकि कुछ विद्वानों को ऐसा नहीं लगता। यह एक अहम मुद्दा है, जिस पर चारू गुप्ता एवं बद्री नारायण ने इस लेख के पहले हिस्से में चर्चा की है। लेख के दूसरे हिस्से में चारू गुप्ता एवं बद्री नारायण ने उन दलित और गैर-दलित लेखकों के बारे में बात की है, जिन्होंने जाने या अनजाने वर्चस्ववाद की अवधारणा की डॉ. आंबेडकरवादी आलोचना को नज़रअंदाज़ कर दिया, जबकि यह उत्तर प्रदेश की राजनीति समेत दलित राजनीति का अंदरूनी हिस्सा है। लोकतांत्रिक राजनीति राष्ट्रवाद को मूर्त रूप से हासिल करने के लिए आवश्यक आधार मुहैया कराती है। राष्ट्र के लिए स्वामित्व का भाव देश में रहने वाले अलग-

60. प्रबुद्ध भारत की अवधारणा को डॉ. आंबेडकर द्वारा एक साप्ताहिक अखबार के माध्यम से विकसित किया गया था, अखबार की शुरुआत 1950 के दशक में डॉ.आंबेडकर ने की थी।
61. महात्मा ज्योतिराव फुले, वांग्मय: 190.
62. चारू गुप्ता (2007): 1739-45 एवं बद्री नारायण (2007): 1734-38.

अलग वर्गों के सामाजिक और लोकतांत्रिक संवाद के ज़रिये पैदा होता है। तमाम वर्ग संबंधों को जोड़ने और आंतरिक मतभेदों को दूर करने का काम लोकतांत्रिक राजनीतिक का होता है। इसके ज़रिये नागरिकों के बीच आत्म-महत्त्व की भावना भी पैदा होने की उम्मीद की जाती है, जो राष्ट्रीय महत्त्व से जुड़े तमाम मुद्दों को लेकर अपनी सहभागिता सुनिश्चित कर सकें। इससे दलितों का महत्त्व भी बढ़ने की संभावना रहती है, क्योंकि वे इस प्रक्रिया में ताकतवर वर्गों के आदेश का पालन करने वाले नहीं रहते हैं, बल्कि उनके पास नैतिक और राजनीतिक क्षमता होती है। इस क्षमता के कारण वे अपने आप को गंभीरता से लेने के लिए दूसरों को मजबूर करते हैं, जिसका राष्ट्रीय हित वाले मुद्दों पर असर होता है। भारतीय विद्वानों का मानना है कि लोकतांत्रिक विमर्श की प्रक्रिया में दलितों की भागीदारी के कारण वे राष्ट्रीय जीवन में उनकी भूमिका महत्त्वपूर्ण है। अगर वे इस प्रक्रिया का हिस्सा नहीं माने जाते हैं या ख़ुद को ऐसा नहीं मानते तो उन्हें ऐसा नहीं महसूस होता कि वे राष्ट्र का हिस्सा हैं। राष्ट्र उन्हें भूल सकता है और वे राष्ट्र को भूल सकते हैं। राष्ट्रवाद से जुड़े सवालों पर विचार-विमर्श की प्रक्रिया में दलित कितना मायने रखते हैं? दलितों को इसमें अपनी भागीदारी सुनिश्चित करनी चाहिए, क्योंकि उनके पास यह क्षमता है और इस तरह से वे लोकतांत्रिक परंपराओं को विकसित कर सकते हैं। सामाजिक और राजनीतिक प्रक्रियाओं से जुड़ाव के माध्यम से वे मित्रता, प्यार और समानता जैसे आदर्शवादी मूल्यों को प्रदर्शित कर सकते हैं, जिससे राष्ट्र की बेहतर छवि के निर्माण में मदद मिलेगी।

सर्वजन यानि जाति संबंधी भेदभाव के बिना सभी समुदायों के बीच समानता और समावेशी समाज के आदर्श मॉडल का आंकलन इस अवधारणा को लागू करने को लेकर ईमानदार बहसों की जरूरत पर आधारित होना चाहिए। सर्वजन का नारा दलितों के हितों के मकसद से बनाई गई राजनीतिक पार्टी बहुजन समाज पार्टी ने दिया था। इस पार्टी की स्थापना 1984 में हुई थी और इसने ख़ुद को खास तौर पर दलित-बहुजन की पार्टी के रूप में पेश किया। यह पार्टी राजनीतिक सत्ता हासिल करने में भी सफल रही है, लेकिन अन्य जातियों के साथ गठबंधन के ज़रिये। दलित-बहुजन को लेकर वैचारिक प्रतिबद्धओं के कारण बहुजन समाज पार्टी का चुनावी दायरा और राजनीतिक संभावनाएँ सीमित हो गईं। चुनावी और राजनीतिक परिदृश्य को देखते हुए पार्टी की महत्वाकांक्षाएं बढ़ गईं और वह सभी भारतीयों का प्रतिनिधित्व करने को इच्छुक हो गई। ऐसे में पार्टी का

चरित्र राष्ट्रीय हो गया। पार्टी ने 2007 में अपने वैचारिक एजेंडे को दलित–बहुजन से बदलकर सर्वजन कर दिया, जिसका मकसद राजनीतिक और चुनावी गठबंधन बनाना था। सिर्फ दलित–बहुजन प्रतिबद्धताओं के बजाय अब बहुजन समाज पार्टी सवर्जन मॉडल (प्रारूप) की बात करने लगी, जिसके तहत वैचारिक रूप से विरोधी समूहों के बीच राजनीतिक गठबंधन बनाने की बात थी। उसे सर्वजन के आदर्श को अपने प्रमुख मूल्यों से अलग करना चाहिए। उत्तर प्रदेश के ब्राह्मणों ने बहुजन समाज पार्टी को समानता या अस्पृश्यता के खिलाफ उसकी प्रतिबद्धता के कारण समर्थन नहीं दिया है, बल्कि इसकी वजह शुद्ध रूप से अपना हित यानि 'निचली जाति' (पिछड़ी जातियों) से संबंधित एक राजनीतिक पार्टी–समाजवादी पार्टी को सत्ता से बाहर करना है, क्योंकि यह पार्टी सैद्धांतिक स्तर पर ब्राह्मणवाद विरोधी मानी जाती है। साथ ही, दक्षिणपंथी हिंदू राजनीतिक पार्टी, भारतीय जनता पार्टी के समर्थकों को लग रहा था कि यह पार्टी उत्तर प्रदेश में चुनाव जीतने में अभी सक्षम नहीं है। अत: दलितों को चुनावी समर्थन देने वाले ब्राह्मणों को सर्वजन का विचार उपयोगी लगा। बहुजन समाज पार्टी की राजनीति के सर्वजन मॉडल (प्रारूप) की आलोचनात्मक व्याख्या करने की जरूरत है, जिसमें जातीय वर्चस्व और दमन के पहलू का खयाल नहीं रखा गया है। एक दलित राजनीतिक पार्टी के रूप में बहुजन समाज पार्टी दलित संघर्षों की नैतिक वैधता पर निर्भर है, लेकिन वह सवर्ण हिंदू वोटों के लिए इन संघर्षों को नज़रअंदाज़ भी करती है। सर्वजन मॉडल (प्रारूप) सिर्फ अनैतिक मानक तैयार करेगा और समाज के जातीय आधारित ऊँच–नीच वाले मॉडल (प्रारूप) का समर्थन करेगा।

वास्तव में भारत की परिकल्पना में किस हद तक विरोधाभासी तत्त्व मौजूद हैं। पुरस्कृत और बहिष्कृत भारत की मान्यता जातीय पदानुक्रम के आधार पर तैयार की गई है, जो स्थानिक और सामाजिक रूप से नियंत्रित है। राष्ट्रवाद की अपवर्जात्मक प्रकृति की जड़ें लोगों के परिकल्पित उन्नयन और वास्तविक तौर पर उनके गौण करने से जुड़ी हैं। दरअसल, राष्ट्रवाद का विमर्श लोगों की अमूर्त श्रेणी निर्मित करता है। यह राष्ट्रवादी हितों के प्रति लोगों की संपूर्ण वफादारी की माँग करता है और इसके बदले लोगों के अस्तित्ववादी सवालों को राष्ट्रवादी सवालों के अधीन करने की मंशा होती है। यहाँ तक कि जाति के खात्मे के ज़रिये दलितों की सामाजिक मुक्ति के हल के लिए उपनिवेशवाद के खिलाफ लड़ाई जैसी राष्ट्रवादी चिंताओं के निपटारे का इंतजार करना होगा। ये संयुक्त वजहें राष्ट्र

को भगवान बनाती हैं और लोगों से राष्ट्र की पूजा करने की अपेक्षा की जाती है। यह भक्तिमय अंदाज इस बात का संकेत देता है कि देश लोगों की मूर्त अभिव्यक्ति नहीं है, बल्कि यह उससे परे ईश्वर जैसा कुछ है। अत: देश के इस स्वरूप के माध्यम से लोगों में गर्व का भाव होने की अपेक्षा की जाती है, बेशक यह भाव सांकेतिक हो। 'मेरा भारत महान' नारा भारत में काफ़ी लोकप्रिय हो चुका है और मास मीडिया में अक्सर इसका इस्तेमाल किया जाता है। यह भक्तिमय स्वरूप में लोगों के गर्व के भाव का संकेत है, जो सिर्फ अमूर्त रूप में मौजूद है। लोग अपनी भक्ति और राष्ट्रवादी भाषणों के ज़रिये वास्तव में देश का संतचरित्र लेखन करते हैं। इस संदर्भ में इस बात का उल्लेख करना दिलचस्प होगा कि कुछ राष्ट्रवादी नेताओं और विचारकों ने वास्तव में भारत का संतचरित्र लेखन किया है। इनमें प्रमुख जवाहर लाल नेहरू हैं। नेहरू की प्रमुख किताब 'द डिस्कवरी ऑफ़ इंडिया' में भारत का आदर्शीकरण साफ तौर पर दिखता है।[63]

स्वतंत्रता संग्राम के दौरान लोगों से लोकतंत्र, आज़ादी, भाई-चारा और सम्मान को लेकर किए गए वादों के कारण राष्ट्रवाद का यह आदर्शीकरण उचित था। हालाँकि, ये वादे सिर्फ पुरस्कृत भारत के सदस्यों के लिए उपयोगी थे। बहिष्कृत भारत के सदस्यों यानी देश की बहुसंख्यक आबादी के लिए ये वादे पूरे नहीं हुए। भक्ति की तरफ़ ध्यान आकर्षित करने यानि अधिकारों और आज़ादी से वंचित लोगों का राजनीतिक समर्थन हासिल करने के लिए राष्ट्र की यह गौरवपूर्ण अवधारणा विकसित की गई। यहाँ यह भी बताना जरूरी है कि राष्ट्रवाद को लेकर गाँधी का रवैया पूरी तरह से सतर्कतापूर्ण था। हालाँकि, गाँधी के संतचरित्र लेखन में इसे पवित्रता का दर्जा देते हुए इसकी तुलना गाँधी की राम राज्य की अवधारणा से की गई है। सुमित सरकार का कहना है कि गाँधी की तरफ़ से शुरू किए गए राष्ट्रवादी अभियानों में बेहद अनिच्छा के साथ लोकतंत्र से संबंधित वादों को शामिल किया गया।[64] गाँधीवादी मामलों के प्रमुख जानकार भीखू पारेख ने राष्ट्रवाद को लेकर गाँधी के गहरे संशय के बारे में बताया है। पारेख के मुताबिक, गाँधी ने भारतीय राष्ट्रवाद में मुसलमानों, अन्य अल्पसंख्यकों और यहाँ तक 'निचली जातियों' को डराने वाला तत्त्व देखा।[65] कांग्रेस पार्टी

63. जवाहरलाल नेहरू (1946).
64. सुमित सरकार (2001): 30.
65. भिखू पारेख (1987) : 193.

में ब्राह्मणों और सवर्ण हिंदुओं के वर्चस्व के कारण अल्पसंख्यक डरे हुए थे। दरअसल, गाँधी की राम राज्य की अवधारणा अल्पसंख्यक और ''निचली जातियों'' के लिए डराने वाली नहीं थी। आखिरकार गाँधी भारत के लिए एक नज़रिया पेश करते हैं। इस नज़रिये में स्वतंत्र भारत की कल्पना राम राज्य के रूप में की जाती है, जिसमें सामाजिक ऊँच-नीच को ख़त्म कर समानता स्थापित करने का दावा किया जाता है।[66]

भारत को लेकर गाँधी का जो सपना था, उसमें गाँवों में तमाम तरह की ऊँच-नीच को ख़त्म करने की बात थी। आशीष नंदी इसे 'भारत का शूद्रीकरण' यानि मुख्यधारा की राजनीति में 'निचली जातियों' और दलित समूहों का प्रवेश कहते हैं।[67] गाँधीवादी लेखन ने भारतीय राष्ट्र की नई अवधारणा पेश की, लेकिन इसने देश की भावना से जुड़े दिन-प्रतिदिन के संवाद और सामाजिक परंपराओं को भी कमजोर किया। गाँधीवादी लेखन में सांस्कृतिक सीमाओं को ख़त्म कर और संवाद की प्रक्रिया के ज़रिये राष्ट्रवाद की मूर्त अभिव्यक्ति के लिए गुंजाइश नहीं होती है। राष्ट्र का लोकतांत्रिक पहलू बहिष्कृत भारत से जुड़े सामाजिक समूहों के लिए काफ़ी जरूरी संवादमूलक तत्त्व मुहैया कराता है और इसमें उनके उपेक्षित होने के भाव को ख़त्म करने की क्षमता होती है। इस भाव की वजह द्विजों द्वारा की गई सभ्यता संबंधी हिंसा है। भारतीय संदर्भ में बात की जाए तो लोकतांत्रिक सभ्यतागत हिंसा अस्पृश्यों को बात करने, संपर्क करने आदि के अयोग्य बना देती है। रोजमर्रा के जीवन में सामाजिक और सांस्कृतिक संवाद में शामिल होने की आज़ादी देश को मूर्त इकाई के रूप में बदलने में अहम भूमिका निभाती है। दूसरे शब्दों में कहें तो राष्ट्रवाद को अमूर्त रूप में अहसास करने के बजाय इसे रोज़मर्रा के जीवन में संवादमूलक बनाना होगा। भारत में सिविल सोसायटी (या पुरस्कृत भारत) का बड़ा हिस्सा भाषणों और सांस्कृतिक प्रतीकों को पेश कर देशभक्ति की भावना जगाता है। हालाँकि, सिविल सोसायटी का यह हिस्सा अस्पृश्यों से संवाद को बढ़ावा देने या दलितों से घृणा को ख़त्म करने से जुड़े उपायों को अपनाने से मना कर देता है।

---

66. दीनानाथ तेंदुलकर (1953), महात्मा : लाइफ ऑफ़ मोहनदास करमचंद गाँधी, वॉल्यूम. 6. पब्लिकेशन डिवीजन, गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया :67.
67. आशीष नंदी का साक्षात्कार - रामनारायण एस. रावत (2016) में।

सवर्ण जाति के लोगों द्वारा अस्पृश्यों का सामाजिक बहिष्कार इस राष्ट्र विरोधी और संकुचित प्रवृत्ति की वजह है। पुरस्कृत भारत से जुड़े यानि सवर्ण जाति के हिंदू, बहिष्कृत भारत के दलितों और 'निचली जातियों' की सामाजिक अवनति को मान्यता देते हैं, जो राष्ट्र की सुरक्षा के लिए युद्ध में हिस्सा लेते हैं। उदाहरण स्वरूप कई दलित सैनिक सीमा पर देश के लिए लड़ते हैं, लेकिन रिटायरमेंट के बाद वे ख़ुद को उसी उपेक्षित समूह में पाते हैं। रक्षा सेवाओं से रिटायर होकर अपने पुश्तैनी गाँव या शहर लौटने वाले कई दलित सैनिक घर खरीदने में सक्षम होने के बावजूद उस मुहल्ले में नहीं रह सकते जहाँ सवर्ण जातियों के लोग रहते हैं। महाराष्ट्र के अकोला जिले की अकोट तहसील के मुंडगाँव में सैनिकों को दलित बस्तियों में घर खरीदना पड़ा। इसी तरह, गाँव वाले अर्द्ध-शहरी इलाकों में, छोटे इलाकों में दलित सैनिकों की तस्वीरें लगा सकते थे, लेकिन वे सवर्ण जातियों के मुहल्ले में दलितों को जगह देने से हिचकिचाते थे। यह महाराष्ट्र के कोल्हापुर जिले के गढ़िंगलाज के दलित सैनिकों का अनुभव था। जातीय भेदभाव से भरे समाज द्वारा दलित समुदाय के लोगों का बहिष्कार जारी है और इस तरह से वे बहिष्कृत भारत का हिस्सा बनते जाते हैं।

इस जातीय भेदभाव का एक नमूना एक दीवार के निर्माण में भी देखने को मिला। तमिलनाडु में सवर्ण जाति के सदस्यों ने इसलिए यह दीवार बनवाई ताकि वे दलितों को नहीं देख सकें।[68] अतः, राष्ट्र की सवर्ण अवधारणा में शुद्धता और अशुद्धता के नियमों वाली सामाजिक परंपरा है। इस सिलसिले में डॉ. आंबेडकर ने उचित ही कहा था- भारतीय गाँव अज्ञानता के केंद्र और जातिवाद की नाली

68. There are several examples of caste walls, separating Dalits from caste Hindu (or, at times, from "lower-caste") neighborhoods, in the districts of Salem, Coimbatore, and Madurai in Tamil Nadu. See "Uthapuram Wall Is No Berlin Wall," Hindu, March 21, 2012; "Caste Fence Pulled Down in Tamil Nadu," Times of India, October 18, 2010. इसके लिए देखें रामनारायण एस. रावत (2010) : जातीय दीवारों से जुड़े बहुत से उदाहरण हैं जो दलितों को अन्य हिंदू जातियों के पड़ोसियों से अलग करते हैं (या, कई बार, ''निचली जाति'' से) पड़ोस के सलेम, कोयम्बटूर जिलों में, मदुरई जिले में (तमिलनाडु)। देखिये ''उत्तपुरम की दीवार, बर्लिन की दीवार नहीं'' हिन्दू, 21 मार्च, 2012; 18 अक्टूबर, 2010 को टाइम्स ऑफ़ इंडिया में तमिलनाडु में जातिगत दीवार को गिरा दिया गया।

हैं।[69] लिहाजा, किसी दलित या बहिष्कृत के लिए भारत राष्ट्र विखंडन पर आधारित है और यह विखंडन न सिर्फ वास्तविक बल्कि घृणास्पद भी है। बहुसंख्यक आबादी राष्ट्र को युद्ध और विरोध के माध्यम से पारिभाषित करती है। लेकिन वे अस्पृश्यता के आधार पर अलगाव की परंपरा का पालन कर इसके विखंडन को बयां करते हैं। सवर्ण हिंदू युद्ध में शामिल हुए बिना भी अपने समाज के माध्यम से राष्ट्र से ख़ुद को जोड़ सकते हैं। एक आदर्श राष्ट्र की छवि बनाने की कोशिश पुरस्कृत भारत और बहिष्कृत भारत के रूप में भारत की अस्तित्व संबंधी दिक्कतों को दूर करने पर निर्भर करती है। राष्ट्र की अवधारणा से जुड़ी इस विरोधाभासी प्रकृति को मुख्यधारा के राष्ट्रवादी लेखकों व दलितों का इतिहासकार होने का दावा करने वाले लेखकों, दोनों ने नज़रअंदाज़ किया है। भारत में इतिहास लेखन और बौद्धिक परंपराएं जातीय ऊँच-नीच के चलन के जारी रहने पर सवाल खड़े करने में नाकाम रही हैं, जिसके कारण बहिष्कृत भारत की एक अलग दुनिया है। सवर्ण हिंदुओं की माँग का नज़रिया अल्पसंख्यकों और दलितों से अलग है और इससे ऊपर कही गई बात की तस्दीक होती है। उदाहरण के तौर पर औपनिवेशिक काल में वे यह मानते हुए स्व-राज के लक्ष्य को लेकर चले कि स्व-राज हासिल करना उनके लक्ष्य की स्पष्टता पर निर्भर है। सवर्ण राष्ट्रवादी लक्ष्यों में राजनीतिक चिंताओं (स्वतंत्रता या देशभक्ति) की प्राथमिकता किसी अंतर्निहित विरोधाभास को अस्पष्ट कर देती है। वे सब कुछ बिल्कुल स्पष्ट देखते हैं। हालाँकि, वे सत्ता के स्थानीय स्वरूप में आत्म सम्मान के सिद्धांत में उल्लंघन की अपनी विरोधाभासी भूमिका को नहीं देख पाते हैं। सत्ता के इस स्थानीय स्वरूप में दो सामाजिक ताकतें होती हैं-पूँजीवाद और ब्राह्मणवाद। दलितों ने पूँजीवाद को भौतिक शासन के माध्यम के रूप में देखा, जबकि ब्राह्मणवाद में उन्होंने अपनी गरिमा और आत्मसम्मान को नष्ट करने के स्रोत के तौर पर देखा। राष्ट्रवादी स्थानीय परिस्थितियों से निपटने, अपने व्यापक राजनीतिक एजेंडे को लागू करने और बहिष्कृत भारत की चिंताओं को दूर करने में नाकाम रहे और यह दलितों के साथ उनके उपेक्षा भरे रवैया को दिखाता है।

डॉ. आंबेडकर ने स्वराज के राष्ट्रवादी लक्ष्य में विरोधाभास को ढूँढ़कर उसकी तरफ़ इशारा किया। डॉ. आंबेडकर को खासतौर पर गाँधीवाद में ऐसा नज़र आया।

69. बी.आर. आंबेडकर (1998), डॉ.आंबेडकर राइटिंग एंड स्पीचेज, वॉल्यूम 6, कम्पाइल्ड बाई वसंत मून, डिपार्टमेंट ऑफ़ एजुकेशन, गवर्नमेंट ऑफ़ महाराष्ट्र-6:290.

उनके मुताबिक, 'गाँधीवाद में विरोधाभास है, क्योंकि यह विदेशी प्रभुत्व से आज़ादी की माँग करता है। इसका मतलब देश के मौजूदा राजनीतिक ढाँचे का खात्मा है। साथ ही, यह सामाजिक ढाँचे को बनाए रखने की बात करता है, जिसमें एक वर्ग पर दूसरे वर्ग के वर्चस्व की बात है।'[70] इतिहास की मुख्यधारा से जुड़े विद्वान अपनी आलोचना औपनिवेशिक नस्लवाद पर केंद्रित रखते हैं, लेकिन वे राष्ट्रवादी एजेंडे में जाति के सवाल पर किसी तरह की ठोस आलोचना करते नज़र नहीं आते। इस तरह के दृष्टिकोण के कारण जाति का सवाल राष्ट्रीय स्वतंत्रता जैसे अमूर्त सवाल में गौण हो जाता है। इसी तरह, देश के गुणगान में आत्म-सम्मान से स्व-राज जैसे मानक सवाल गौण हो जाते हैं। जो लोग संतचरित्र लेखन को देश के विकास में योगदान मानते हुए इस वैचारिकी (आइडिया) का बचाव करते हैं, वे द्विभाजीकरण की प्रक्रिया को नज़रअंदाज़ कर देते हैं, जो राष्ट्रवाद की राजनीति और राष्ट्र की परिकल्पना के लिए मजबूत आधार तैयार करने में अहम भूमिका निभाती है। कुछ विद्वानों और टीकाकारों का मानना है कि दलितों खास तौर पर जिन महिलाओं ने 1857 के विद्रोह में हिस्सेदारी की, वे कम से कम उत्तर भारत में समकालीन दलित राजनीति में प्रतिमान के रूप में रही हैं। उत्तरऔपनिवेशिक सिद्धांत कितना मौलिक है? इन विद्वानों का तर्क है कि समकालीन उत्तर प्रदेश में आम दलित महिलाएँ राज्य के दलित नेताओं को लेकर 1857 के दलित नायकों की तरह अवधारणा तैयार करेंगी।[71] 1857 के विद्रोह से दलितों के संबंध को लेकर इस सरल नज़रिये का मकसद भारत राष्ट्र और स्व-राज के संतचरित्र लेखन में उनके योगदान को दिखाना है, लेकिन इसमें आत्म-सम्मान का अहम सवाल नज़रअंदाज़ हो जाता है। हाल के लेखन में 1857 के विद्रोह में दलितों की शानदार भूमिका को दिखाया जा रहा है। इससे दलितों को राष्ट्रवाद के ढाँचे में नई जगह मिल सकेगी। लेखों में यह संकेत दिया गया है कि राष्ट्रवाद में मौजूद विरोधाभास से निपटे बिना ही जातीय सवाल का राष्ट्रवादी समाधान संभव है, और भारतीय राष्ट्रवादियों ने जातीय विषमताओं और उसके खिलाफ संघर्षों को जानबूझकर नज़रअंदाज़ किया।

दरअसल, उत्तर प्रदेश में 1990 के दशक में दलित राजनीतिक पार्टी, बहुजन समाज पार्टी द्वारा शुरू की गई जातिविहीन और समावेशी राजनीति के सर्वजन

70. बी.आर. आंबेडकर (1998) वही : 290.

71. चारू गुप्ता (2007) वही : 1739-45 एवं बद्री नारायण (2007) वही : 1734-38.

मॉडल की पड़ताल के लिए ऊँच-नीच की सामाजिक व्यवस्था से जुड़े सवालों से संबंधित बयानों-भाषण पर गौर किया जा सकता है। सर्वजन संस्कृत और हिंदी का शब्द है, जिसका अर्थ 'सब लोग' होता है। इस शब्द का उपयोग सभी हिंदुओं की एक पहचान के बारे में बताना और उन जातीय भेदभावों को खारिज करना, जिसके कारण दलितों और 'निचली जातियों' से भेदभाव जारी है। बहुजन समाज पार्टी एकमात्र ऐसी दलित पार्टी है, जिसने स्वतंत्र भारत में किसी राज्य में सरकार बनाई है। बहुजन समाज पार्टी ने तीन बार (1993, 1997 और 2002 में) सहयोगी पार्टियों के साथ सरकार बनाई, जबकि 2007 में उसे पूर्ण बहुमत मिला और उसे अपने दम पर सरकार बनाने में सफलता हासिल हुई। दरअसल, सर्वजन का विचार जाति के राष्ट्रवादी मॉडल का उल्टा है। सर्वजन का शाब्दिक अर्थ 'सभी लोग' होता है, लेकिन उत्तर प्रदेश की राजनीति के संदर्भ में इसका इस्तेमाल उन लोगों के लिए किया जाता है, जो जातीय पहचान या जातिविहीन दायरे से अलग हैं। बहुजन समाज पार्टी इसका उपयोग भारतीय समाज के सभी तबकों को गोलबंद करने के लिए करती है, जबकि पहले उसका नारा सिर्फ दलित-बहुजन तक सीमित था। दरअसल पार्टी की रणनीति में इस बदलाव को दलित आंदोलन के लंबे इतिहास में वैचारिक स्तर पर प्रमुख बदलाव माना जाता है। हम यह देखते हैं कि किस तरह से सर्वजन की राजनीति सामाजिक ऊँच-नीच की व्यवस्था को ख़त्म करने के बजाय इसके साथ सामंजस्य बिठा लेती है। दरअसल, सर्वजन की अवधारणा पुरस्कृत और बहिष्कृत भारत के बीच विषमताओं को नज़रअंदाज़ करना मुमकिन बनाती है, जो राष्ट्रवाद की राजनीति, चुनावी राजनीति और वैश्वीकरण में अहम तत्त्व है।

चूँकि राष्ट्रवादी ढाँचा सामाजिक ऊँच-नीच की व्यवस्था की सैद्धांतिक तौर पर आलोचना के लिए गुंजाइश बनाता है, इसलिए हम यह समझ पाते हैं कि सर्वजन राजनीति दलितों और सवर्ण जाति के लोगों दोनों के मौलिक चरित्र को धुंधला कर देती है। सर्वजन का प्रस्तावित राजनीतिक चरित्र भी अस्पष्ट होना चाहिए ताकि इसमें चीजों को हटाने के लिए गुंजाइश बनी रहे। इस लेख में मेरा उद्देश्य इस सुविचारित अस्पष्टता को प्रमुखता से दिखाना और उत्तर प्रदेश की राजनीति के संदर्भ में सर्वजन की अवधारणा की स्थिरता की व्याख्या करना है। यह नज़रिया मुख्यधारा के लेखन की राय के उलट है। उत्तर प्रदेश से जुड़े कई टीकाकार सवर्जन की राजनीति में किसी तरह का अंतर्निहित विरोधाभास नहीं

देखते हैं। उत्तर प्रदेश में दलित राजनीति से जुड़े कुछ लेखों में यहाँ तक कहा गया है कि सर्वजन की राजनीति ने दलितों को अपनी मुक्ति से जुड़े अभियान के लिए सटीक दृष्टिकोण मुहैया कराया है।[72] लेखकों ने अपने उत्साह में यह भी कह दिया कि यह सशक्तीकरण का सटीक रास्ता है, जिसे देश के अन्य हिस्सों के लोगों को भी अपनाने की जरूरत है। इन लेखों में उत्तर प्रदेश की दलित राजनीति को ऐसा मॉडल बताया गया है, जिसे अन्य जगहों पर भी आजमाया जा सकता है। ऐसे में यह संभावना भी बनती है कि देश के अन्य हिस्सों में भी दलित अन्य प्रमुख पार्टियों के सिद्धांतों में मौजूद अंतर्निहित खामियों को नज़रअंदाज़ कर सकते हैं। अब बहुजन समाज पार्टी अन्य राज्यों में दलितों की मुक्ति से जुड़े स्पष्ट दृष्टिकोण को पेश करने में जुटी है और इस सर्वजन मॉडल को लेकर अकादमिक विद्वानों में संतोष के बजाय संशय है। यह भी दिलचस्प है कि मार्क्सवादियों को भी बहुजन समाज पार्टी की सर्वजन मॉडल पर आधारित राजनीति में किसी तरह का विरोधभासा नहीं दिखता। मार्क्सवादियों के कुछ हिस्सों ने भारत के प्रधानमंत्री पद के लिए बसपा अध्यक्ष का समर्थन किए जाने का ऐलान किया था और इससे यह साफ है कि मार्क्सवादियों को इस तरह की राजनीति में विरोधाभास नहीं नज़र आता। दूसरे शब्दों में कहें तो यह दावा किया जा रहा है कि सर्वजन का सिद्धांत किसी भी तरह से विरोधाभास से मुक्त है। इस सवाल का जवाब दिए जाने की जरूरत है कि किस स्तर तक सर्वजन राजनीति के दावों का बचाव किया जा सकता है? हालाँकि, इस सवाल के जवाब की तरफ़ बढ़ने से पहले यहाँ कुछ स्पष्टीकरण पेश करना जरूरी है। दलित राजनीति सर्वजन मॉडल का स्रोत नहीं है, क्योंकि यह मॉडल पहले ही दलितों द्वारा तैयार किया जा चुका है। पहला सवर्णों की भौतिक आकांक्षाओं को पूरा करने में भारतीय जनता पार्टी और कांग्रेस जैसी मुख्य राजनीतिक पार्टियों की असफलता इस मॉडल के संभावना बनने के लिए सामान्य शर्तें हैं।

सर्वजन मॉडल मुख्य तौर पर ऐसी स्थिति के बाद उभरता है। यह अपूर्ण दुनिया का उत्पाद है, ऐसी स्थिति तभी पैदा हो सकती है, जब असमानता और असममिति का ढाँचा पूरी तरह से स्थापित हो जाए। इसकी सफलता तंत्र की आत्म-चिंतनशील क्षमता को भी जाहिर करती है। भारतीय राजनीति के मौजूदा

72. अजय बोस (2008).

ढाँचे ने विचाराधारा के बेहतर उपयोग के ज़रिये यह मॉडल तैयार किया है। दलित के पास वैचारिक पड़ताल के ज़रिये इस मॉडल को तैयार करने की अतिरिक्त जिम्मेदारी है। अत:, सैद्धांतिक कार्य को अंजाम देने और स्पष्ट समतावादी लक्ष्य की तरफ़ बढ़ने में सवर्ण हिंदुओं के मुकाबले दलितों की भूमिका ज़्यादा अहम होती है। दरअसल, दलित राजनीति भी एक रचनात्मक संदर्भ मुहैया कराती है। दलित और उनकी सत्ता की राजनीति ऐसे माध्यम हैं, जिसके ज़रिये समाज में सर्वजन मॉडल और भारतीय राष्ट्रवाद के बखान की जड़ें मजबूत हुई हैं। जैसा कि मैंने शुरू में बताया, सामाजिक जातीय पदानुक्रम की आलोचना के लिए सैद्धांतिक स्तर पर गुंजाइश बनाना भारतीय राष्ट्र और राष्ट्रवाद की अवधारणा के लिए स्थानिक यानि किसी क्षेत्र विशेष का मामला है। यह दलित राजनीति के लिए भी स्थानिक मामला है। दरअसल, सत्ता के बदले ढाँचे में शीर्ष पर बने रहने के लिए समतावादी भाषणों का सहारा लेना जरूरी है। अत: दलित राजनीतिक नेताओं के लिए ऐसी परिस्थिति बनाना जरूरी है, जिसमें सामजिक समानता को लेकर राष्ट्रवादी बातों पर चर्चा हो। सर्वजन मॉडल सत्ता के बदलते प्रारूप में निर्मित हुई परिस्थितियों का परिणाम है। खास तौर पर उत्तर प्रदेश में दलित समूह सत्ता के ढाँचे में प्रवेश के लिए चुनाव के ज़रिये राजनीतिक सत्ता हासिल करते हैं, लेकिन वे काफ़ी हद तक भारतीय राष्ट्रवाद से जुड़े भाषणों और बातों पर निर्भर होते हैं और अपने फायदे के लिए वे इन चीजों को नए सिरे से पेश करते हैं। हालाँकि, उनके पूर्वजों ने इन चीजों के खिलाफ लड़ाई लड़ी थी। कांग्रेस पार्टी की राजनीति को लेकर बहुजन समाज पार्टी की आलोचना उचित हो सकती है, क्योंकि कांग्रेस ने दलितों को सामाजिक असमानता की लफ़्फ़ाज़ी में फँसाने की कोशिश की। यह बात इस आधार पर उचित बताई जा सकती है कि कांग्रेस की राजनीति ने दलितों को स्वायत्तता और प्रतिनिधित्व से वंचित रखा। कांग्रेस ने सत्ता के उन ढांचों पर नियंत्रण रखा जो अतिरिक्त फायदे के लिए अवसर मुहैया कराते हैं। इस नियंत्रण के ज़रिये कांग्रेस ने दलितों के बीच सामाजिक समानता का टिकाऊ राष्ट्रवादी माहौल बनाया। जिनके हाथों में सत्ता की बागडोर है और जिन्हें सत्ता के रिसाव से फायदा मिलता है, उनके लिए ऐसे माहौल का पुनर्निर्माण जरूरी हो जाता है। धीमापन का तत्त्व यह बताता है कि जो राष्ट्रवाद से जुड़े दोहरे मापदंडों को समझने में सक्षम हैं, वे इस बारे में बोलने से बचते हैं, क्योंकि वे व्यवस्था में उलझे हुए होते हैं। सुविचारित योजना हाशिये पर मौजूद

लोगों को स्वामित्व का भाव प्रदान करने में अहम भूमिका निभाती है। साथ ही, उन्हें भी अहसास होता है कि वे भी व्यवस्था में एक पक्ष हैं। हाशिये पर मौजूद समूह संबंधित पक्ष के रूप में अतिरिक्त फायदों के रिसाव को व्यवस्था से जुड़े संसाधनों को लेकर आश्वासन के रूप में देखता है।[73] इस तरह से राष्ट्रवाद से जुड़ी बातों–भाषणों और सत्ता के बीच सहजीवी संबंध बन जाता है और सत्ता के बदलते ढाँचे में भी यह व्यवस्था में तकरीबन स्थानिक हो जाता है। उत्तर प्रदेश में बहुजन समाज पार्टी के सर्वजन मॉडल के ऐलान के मामले में हम इसे देख सकते हैं।

जैसा कि ऊपर बताया गया है, सर्वजन मॉडल तमाम संरचनाओं में स्थानिक नज़र आता है, चाहे सत्ता में उसका सामाजिक आधार कुछ भी हो। ऐसे में इस मॉडल के लिए दलित या यहाँ तक ब्राह्मणों जैसे सामाजिक समूहों के बीच बढ़ती कुंठा को रोकना मुश्किल हो जाता है। अत: सर्वजन मॉडल की सार्वजनिक अभिव्यक्ति आशा और निराशा के बीच बढ़ते अंतर पर निर्भर करती है। हालाँकि, इस बात का जिक्र करना होगा कि सर्वजन मॉडल अपनी अभिव्यक्ति की परिस्थिति का चुनाव नहीं करता। सवर्जन मॉडल में यह अंतर्दृष्टि कई वजहों से दूषित की जा सकती है। पहला, सर्वजन मॉडल की अभिव्यक्ति उन लोगों पर निर्भर करती है, जिन्होंने न सिर्फ प्रतिरोध के लिए बल्कि विरोधाभास की आलोचना के लिए भी नैतिक शक्ति हासिल की है। नैतिक शक्ति उन संदर्भों में महत्त्वपूर्ण हो जाती है, जहाँ कई राजनीतिक टीकाकार और विद्वान सर्वजन मॉडल की सीमाएं समझते हैं, लेकिन कुछ वजहों से इसका खुलासा नहीं करते। दलित मध्यम वर्ग से नैतिक आधार पर दलित राजनीति में अंतर्दृष्टि विकसित करने और उत्तर प्रदेश में बहुजन समाज पार्टी की राजनीति के सवर्जन मॉडल की सीमाओं का खुलासा करने की अपेक्षा की जाती है। हालाँकि, दलित मध्य वर्ग बहुजन समाज पार्टी की सर्वजन राजनीति की आंतरिक आलोचना के लिए नैतिक रूप से आगे बढ़ने को इच्छुक नज़र नहीं आता। ऐसा क्यों है? इसकी दो परस्पर संबद्ध वजहें हो सकती हैं। पहला, उच्च मध्यम वर्गीय उन अवसरों और संरक्षणों से फायदा उठाना चाहता है, जो सरकारी संस्थानों पर नियंत्रण रखने वाले दलित नेताओं के जरिये मिलते हैं। दूसरा, मध्यम वर्गीय दलित अपने समुदाय के नेताओं के राजनीतिक रूप

73. अजय बोस (2008) वही.

से आगे बढ़ने और उनकी राजनीतिक ताकत को हथियार के रूप में देखता है, जिसके ज़रिये वह कार्य स्थल पर सवर्ण जातियों के प्रभुत्व और भेदभाव से बच सकता है। इन दोनों कारणों से वे दलित नेताओं की विरोधाभासी सवर्जन राजनीति की आलोचना नहीं कर पाते हैं। मध्यम वर्ग दलित समुदाय का एक छोटा सा हिस्सा है, लेकिन यह वर्ग सर्वजन मॉडल को प्रमुख बनाने में अहम भूमिका निभाता है। निश्चित प्रशिक्षण उपकरणों के ज़रिये ऐसा किया जाता है। इस वर्ग का तर्क होता है कि मौजूदा व्यवस्था में काफ़ी अवसर हैं और इन अवसरों को संपत्ति में बदलना संभव है। इस संपत्ति को हासिल करने के लिए व्यक्तिगत प्रयासों की जरूरत होती है। इस प्रशिक्षण में इस नैतिक संदेश का पाठ भी पढ़ाया जाता है कि जो जोखिम नहीं लेते हैं (मेहनत कर और अपना सम्मान गंवाकर), वे भविष्य में इस व्यवस्था में घुसने में सफल होने की अपेक्षा नहीं कर सकते। इस तरह से यह संदेश दिया जाता है कि व्यवस्था या ढाँचे के ज़रिये एक बार में सबकी समस्याओं का समाधान नहीं होता है, लेकिन धीरे-धीरे ऐसा होता है। अत: सरकारी संरक्षण वाले ये लाभार्थी धैर्य के गुणों का बखान कर इस प्रचलित जुमले को दोहराते रहते हैं, 'आज वक्त किसी और का है, कल यह तुम्हारा होगा।' यह बताता है कि जो आज वंचित हैं, वे अगर लीक से हटते हैं तो उन्हें भविष्य में भी नुकसान होगा। यह मान्यता असंतोष को बड़े पैमाने पर फैलाने से रोकती है। यह बात सर्वजन मॉडल को सहज बनाने में सफल रहती है, इस तथ्य पर अब भी वैसे लोगों का ध्यान नहीं है, जो अपनी जीवन की योजना को लेकर वाजिब तरीके से महत्वाकांक्षी हैं। दूसरा, सर्वजन मॉडल इसलिए टिकाऊ बन जाता है, क्योंकि इसमें विरोधाभास खोजने में अग्रणी भूमिका निभाने वालों का इरादा इसे फिर से तैयार करने का होता है। यह इस बात पर निर्भर करता है कि मध्य वर्ग सत्ता के ढाँचे में कहाँ स्थिर होता है। अवसर की संरचना में प्रगतिशील सामंजस्य मध्यम वर्ग को व्यवस्था का हिस्सा बनाता है। अत:, जो मूल रूप से विरोधाभास के बाहर खड़े थे, वे अब इसके पुनरुत्पादन में भागीदार बन जाते हैं। तीसरा, सर्वजन मॉडल एक अंगभूत परिस्थिति तैयार करती है। जब राज्य अवसर मुहैया कराने में नाकाम रहता है तो जो लोग राज्य के प्रति अपनी निष्ठा को छोड़ सकते हैं, वे ऐसा नहीं करते। ऐसी स्थिति में भी उनका मानना होता है कि राज्य उन्हें कुछ अवसर देगा। अगर राज्य ने उन लोगों को अवसर

उपलब्ध कराएं हैं, जिनकी सामाजिक पृष्ठभूमि उन लोगों जैसी है, जिससे सरकार ने वादे किए हैं, तो इससे इस बात की संभावना कम हो जाती है कि ये लोग सरकार की आलोचना करेंगे। उत्तर प्रदेश के संदर्भ में बात की जाए तो यहाँ दलित सरकार होने पर विरोधाभास ढूँढ़ने की जरूरत बदल जाती है, जब सच नहीं बल्कि सच के शोर की व्याख्या होती है। नैतिक सापेक्षवाद के जरिये विध्वंसात्मक कार्रवाई की संभावना ख़त्म हो जाती है। नैतिक सापेक्षवाद नैतिक रूप से आपत्तिजनक प्रचलनों को अपने प्रभाव में स्वीकार्य दिखाने लगता है और इस तरह से विरोधाभास से जुड़ी वैचारिक संभावनाएँ ख़त्म हो जाती हैं। लोगों पर एक संतुलित प्रभाव छोड़ने के लिए सभी लोग, खास नेताओं (मसलन मायावती) के समर्थक यह पूछेंगे कि जब सभी राजनीतिक पार्टियों के नेताओं का नैतिक पतन हुआ है, तो सिर्फ दलित नेताओं पर निशाना क्यों साधा जा रहा है? इन दलित नेताओं के समर्थक अपने संगठन और संबंधित समूहों में नैतिक सापेक्षवाद का विचार फैलाकर आलोचना से निपटते हैं।

इस नैतिक सापेक्षवाद के अलावा, दलित किसी वैध आलोचना से निपटने के लिए बचाव तंत्र के रूप में भी जातीय पहचान का इस्तेमाल करते हैं, जिसका मकसद उनकी राजनीति के केंद्र में मौजूद विरोधाभासों का पर्दाफाश करना होता है। इस तरह से इस सवर्जन मॉडल को आगे बढ़ाने के लिए नैतिक सापेक्षवाद का इस्तेमाल किया जाता है। नैतिक सापेक्षवाद का सिद्धांत उन लोगों के खिलाफ काम करता है, जो कुछ समकालीन दलित नेताओं की नैतिक परंपराओं या सांस्कृतिक जीवन शैली की आलोचना करते हैं। दरअसल, दलित नेता अक्सर सापेक्षवाद की इस भाषा का इस्तेमाल अपने विरोधीभासी अतीत और वर्तमान के लिए समर्थन इकट्ठा करने और यह बताने के लिए करते हैं कि वे सच जानते हैं। इसके उलट, हमारे प्रतिमान (डॉ. आंबेडकर) का निर्माण नैतिक संपादन की सतत प्रक्रिया या विरोधाभासी व्यवहार को लेकर ख़ुद की पड़ताल के ज़रिये हुआ है। डॉ. आंबेडकर ने नैतिक संपादन/परिमार्जन के इस स्वरूप का पालन किया और यही वजह है कि वह राष्ट्रवादी और चुनावी राजनीति में सामाजिक बराबरी की भाषणबाजियों में विरोधाभास को देख सके और उन्होंने लोगों के बीच इस संदेश को समझाने के लिए वैचारिक ढाँचा पेश किया। संविधान सभा में उनका भाषण व्यवस्था में विरोधाभास ढूँढ़ने की उनकी रचनात्मक और नैतिक

क्षमता का गवाह है।[74]

सत्ता का ढाँचा दलितों की ज्ञानात्मक क्षमता को प्रतिकूल तरीके से प्रभावित करता है और वे विरोधाभास को खोजने से इनकार कर देते हैं। उदाहरण के तौर पर कुछ दलित महिलाएँ अपने नेता के प्रतिकूल कपड़े का जश्न मनाती हैं, लेकिन वे ख़ुद फटे-पुराने कपड़े ही पहनने को मजबूर होती हैं। इसी तरह, दलित अपने नेताओं के महलनुमा घरों से खुश होते हैं, लेकिन वे टूटी हुई झोपड़ी में रहने को अभिशप्त होते हैं। सत्ता के प्राधिकृत ढाँचे से जुड़े लोग इस विरोधाभास को पहचानने से इनकार कर देते हैं या सर्वजन मॉडल को लेकर अपनी आलोचना से बचते हैं। यह चार पहलू हमें बहुजन समाज पार्टी द्वारा सर्वजन मॉडल को उचित बताने की वजहों के बारे में समझने में मदद करेंगे। साथ ही, इससे हम पार्टी को दलित या गैर-दलित समूहों द्वारा मिले समर्थन के कारणों को भी समझ सकेंगे। इस मॉडल की लोकप्रियता ने दलित राजनीति की मौलिक संभावना के साथ छेड़छाड़ की है और इसे जातीय समानता की राष्ट्रवादी लफ़्फ़ाज़ी के अधीन कर दिया है। दलित मध्य वर्ग के बुद्धिजीवियों की यह जिम्मेदारी बनती है कि वे समावेश के सर्वजन मॉडल को स्वीकार करने के बजाय इस मॉडल की सीमाओं के बारे में जागरूकता फैलाएं। इस संदर्भ में एक महत्त्वपूर्ण बात यह भी है कि कोई व्यक्ति सामाजिक समानता की राष्ट्रवादी लफ़्फ़ाज़ी को समझता है या नहीं, यह उस वक्त की स्थिति और समय पर निर्भर करता है। दरअसल, यह राष्ट्रवादी लफ़्फ़ाज़ी पुरस्कृत भारत और बहिष्कृत भारत के बीच स्थानिक विरोधाभासों को नज़रअंदाज़ कर सामाजिक ऊँच-नीच की व्यवस्था को जारी रखती है। जो लोग लगातार हाशिये पर और अवसरों से वंचित हैं और बहिष्कृत भारत का अंग हैं, वे इस अंतर्दृष्टि को विकसित करने के लिए संभावित रूप से तैयार

74. इस भाषण में आंबेडकर ने स्पष्ट किया कि ''जनवरी की 26 तारीख को हम अंतर्विरोधों के युग में प्रवेश करेंगे। राजनीति में समता और सामाजिक-आर्थिक जीवन में विषमता होगी। राजनीति में हम एक व्यक्ति की कीमत एक वोट के आधार पर आंकेंगे लेकिन सामाजिक और आर्थिक जगत में विषमतामूलक संरचनाओं के कारण हम एक व्यक्ति-एक मूल्य के उसूल को नकारना जारी रखेंगे। अंतर्विरोधों की इस गिरफ्त में हम कब तक फंसे रहेंगे? सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में हम समता को कब तक ठुकराते रहेंगे? अगर हमने लंबे अरसे तक समता को अस्वीकार करना जारी रखा तो इसका नतीजा हमारे राजनीतिक लोकतंत्र के संकटग्रस्त होने में ही निकलेगा।''(कांस्टीटुएंट एसेंबली डिबेट खण्ड दस, ऑफीशियल रिपोर्ट)।

हैं। हालाँकि, यह अंतर्दृष्टि अपने आप स्पष्ट नहीं है–दरअसल राष्ट्रवादी बातों और भाषणों का लगातार विरोध करना काफ़ी मुश्किल भरा काम है। भारत में दलित जागरूकता के मामले में कुछ ऐसा हुआ कि जिन लोगों ने राष्ट्रवादी लफ़्फ़ाज़ी के खिलाफ आवाज़ उठाई, उन्हें शांत कर इन ढाँचों के अंदर खींच लिया गया। महाराष्ट्र की दलित पैंथर्स पार्टी इसका उदाहण है। इस पार्टी के दलित नेताओं ने महाराष्ट्र में रिपब्लिकन पार्टी ऑफ़ इंडिया (महाराष्ट्र में डॉ. आंबेडकर द्वारा स्थापित की गई पार्टी) और कांग्रेस के बीच विरोधाभासी राजनीतिक संबधों के बारे में सार्वजनिक तौर पर खुलासा किया, लेकिन कुछ समय बाद यही पार्टी कांग्रेस में संभावनाएँ देखने लगी। सत्ता के ढाँचे में शामिल होने के बाद पार्टी के रवैये में यह बदलाव देखने को मिला। हालाँकि, उसे सत्ता में केंद्रीय जगह नहीं दी गई। महाराष्ट्र में पुरस्कृत भारत की श्रेणी वाली सत्ताधारी पार्टियों ने काफ़ी सफलतापूर्वक इस सह–विकल्प का इस्तेमाल किया। आज गैर–दलित सत्ताधारी पार्टियों को राष्ट्रवादी लफ़्फ़ाज़ी और इससे जुड़े माहौल की जरूरत नहीं है, क्योंकि दलितों की अपनी पार्टियाँ हैं जो यह काम कर सकती हैं।

बहिष्कृत भारत से जुड़े सदस्यों और समूहों का अब तर्क है कि दलितों को राजनीतिक पार्टियों में सबसे ऊंचा राजनीतिक पद हासिल करने की संभावना है। हालाँकि, वे अक्सर इस बात को नज़रअंदाज़ कर देते हैं कि सत्ता में यह वांछनीय बदलाव भी राष्ट्रवादी लफ़्फ़ाज़ी को बनाए रखेगा और सामाजिक क्षेत्र में कई दलितों की मुश्किलों को कम किए बिना राजनीतिक क्षेत्र में प्रतिकूलता को कम करेगा। उदाहरण के तौर पर बहुजन समाज पार्टी में सवर्ण राजनीतिक रूप से इस पार्टी की सर्वोच्च नेता के अधीन हो सकते हैं, लेकिन अपने सामाजिक संवादों में वे स्पष्ट तौर पर दलित विरोधी हो सकते हैं। इसके बावजूद बहुजन समाज पार्टी का सर्वजन मॉडल दलित समूहों की ऐतिहासिक, राजनीतिक मुश्किलों और भेदभाव वाली परंपराओं को कम करता है। जैसा कि पिछले खंड में बताया गया है, सर्वजन मॉडल को चुनौती देना उन लोगों पर निर्भर करता है, जिनके पास इसका पर्दाफाश करने के लिए जरूरी नैतिक शक्ति हो। हालाँकि, अपने निजी फायदे के लिए वे इसे नज़रअंदाज़ भी कर सकते हैं। ऊपर यह भी बताया गया है कि विरोधाभास का पता लगाने के लिए दलितों को ख़ुद ही नैतिक जिम्मेदारी लेनी होगी। हालाँकि, सर्वजन मॉडल में विरोधाभास ढूँढ़ने के लिए सिर्फ नैतिक क्षमता पर्याप्त नहीं है। इसके अलावा, वंचना की गहरी सामाजिक,

राजनैतिक समझ तथा अभाव की पृष्ठभूमि का होना जरूरी है; यह राज्य के हस्तक्षेप और राज्य द्वारा अनुचित लोकलुभावनवाद में बदलाव की संभावना तैयार करता है। अगर राज्य ईमानदारी से काम करना शुरू करता है और जरूरतों को संतुष्ट करने के मामले में अपनी सीमाओं को स्वीकार करता है तो सर्वजन मॉडल या सामाजिक समानता को लेकर भाषणबाजी की जरूरत नहीं रह जाएगी। उदारवादी संरचना में इस तरह के नैतिक राज्य की कल्पना करना मुश्किल है। अत:, ऐसी स्थिति में जो लोग प्रचलित मान्यताओं के विपरीत खड़े हैं, उन्हें इन विरोधाभासों का पर्दाफाश करने में पहल करनी चाहिए।

दलित अध्ययन एवं आंगिक दलित बुद्धिजीवी: व्यापक संदर्भ और उससे जुड़े कुछ सवाल

यह सब जानते हैं कि जब से जाति प्रथा पर आधारित समाज व्यवस्था अस्तित्व में आई, तब से ही विचार और व्यवहार दोनों स्तरों पर इसका विरोध और विश्लेषण होना भी शुरू हो गया था। जाति प्रथा के विरुद्ध मानवीय समानता और गरिमा के पक्ष में लगातार आवाज़ उठती रही है। जन्म आधार या कर्म आधार, छुआछूत, कर्मकांडों और रीति-रिवाजों को लेकर चले वैचारिक संघर्ष के प्रमाण पूरे भारतीय इतिहास एवं साहित्य में बिखरे पड़े हैं। ईसा पूर्व छठी शताब्दी में हम बड़े पैमाने पर सामाजिक उथल-पुथल और जैन, बौद्ध, आजीवक आदि मतों के उत्थान की परिघटना देखते हैं, वह भी इसी सामाजिक संघर्ष का एक विराट चित्र प्रस्तुत करती है।[75] प्रसन्न कुमार चौधरी इस बात की ओर ध्यान दिलाते हैं कि भारतीय साहित्य में इस बात के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं कि शिक्षा से वंचित रहने तथा अनेक किस्म की बंदिशों का शिकार होने के बावजूद शूद्र जातियों से कई ऋषि, संत और लेखक सामने आए और उन्होंने न्याय, बंधुता और समानता के विचारों का प्रसार करने करने की सफल कोशिश की।[76] यह उनकी ज्ञान के उत्पादन और प्रसारण में भूमिका को रेखांकित भी करता है।

इस अध्याय के इस भाग में दलित आंगिक बुद्धिजीवियों और लोकज्ञानियों के जीवन और साहित्य की चर्चा के ज़रिये यह पड़ताल करनी है कि आधुनिक भारत में धर्म, राजनीति और राज्य जैसी संरचना को चन्द्रिका प्रसाद जिज्ञासु और

75. प्रसन्न कुमार चौधरी (2015) : 203-209.
76. प्रसन्न कुमार चौधरी (2015) वही : 205.

उनके समानधर्मी स्वामी अछूतानन्द, मंगूराम, पेरियार ललई सिंह यादव जैसे लोकचिन्तकों ने किस प्रकार देखा? उनके कार्यवृत्तों और विचारधारा को उस परिधीय समाज ने कैसे देखा और स्वीकार किया जिसके बारे में वे लगातार बात करते रहे थे? इस अध्याय के इस खंड में यह भी बताने का प्रयास होगा कि परिधीय समुदायों का दलित लोक-ज्ञानियों के प्रति क्या दृष्टिकोण था? इसके माध्यम से यह भी खोजा जाएगा कि दलित चिंतकों को डॉ. आंबेडकर के साहित्य ने किस प्रकार जागरूक और प्रभावित किया। साथ ही वह कौन सी प्रेरणा और उद्देश्य थे जिसके कारण चन्द्रिका प्रसाद जिज्ञासु ने डॉ. आंबेडकर के साहित्य को प्रचारित और प्रसारित करने के लिए प्रेस की स्थापना की। इस प्रकार इस भाग में जिज्ञासु और बहुजन कल्याण प्रकाशन से जुड़े कुछ अन्य आंबेडकरवादी साहित्य प्रचारकों के तमाम प्रयासों का लेखाजोखा व आकलन प्रस्तुत किया गया है। वह कौन से विचार थे जो लोगों को अधिकारों के प्रति जागरूक कर रहे थे? किस तरह से इन लोकज्ञानियों की वजह से समाज विज्ञान का लेखन आज 21वीं सदीं में उसे रेखांकित करने को मजबूर हुआ है? जिन्हें समाज, साहित्य, राजनीति व अकादमियों में अब तक ठीक से जगह नहीं मिली थी। प्रस्तुत अध्याय के इस भाग में इन सब प्रश्नों को विस्तारपूर्वक आगे बढ़ाया गया है।

दलित अध्ययन और देशज चैतन्यता का अंत:संबंध

इस शोध कार्य के लिए देशज चैतन्यता को समझना बहुत आवश्यक है क्योंकि अमूमन इन जातीय समूहों के लोग अनाधिकारिक और गैर-मुख्यधारिक सांस्कृतिक संसाधनों के मध्य रोजमर्रा का जीवन गुजर-बसर करते हैं। इस संदर्भ में जातीय विवेक से ही लोगों की लोकतान्त्रिक अभिलाषाओं और उनकी मुखरता का भी ज्ञान मिलता है। नवउदारवादी धारणाओं ने इनके जीवन के मूलभूत तत्वों को उद्वेलित किया है। आशीष नंदी के अनुसार राज्य निरंतर आंतरिक उपनिवेश, नवीन संस्कृति और स्तरीकरण का निर्माण करती तो है लेकिन यह प्रक्रियाएं ग्रामीण परिवेश को उस तरह नहीं छू पाती जैसे शहरी परिवेश को प्रभावित करती हैं। ग्रामीण जन राजकीय हस्तक्षेपों को स्वीकार्य करते तो हैं, लेकिन उसे अपनी आलोचनात्मकता की कसौटी पर परखते भी हैं। इससे ऐसा प्रतीत हो सकता है कि ग्रामीण समाज भी राजकीय राजनीतिक हस्तक्षेपों का भुक्तभोगी है, लेकिन वे ऐसा बिना देशज आलोचना के नहीं करते। वर्षों की रोजमर्रा संस्कृति जिस

तरह से निरूपित होती रही है उसमें प्रचलित लोकोक्तियाँ, चुटकुले, गीत, और उद्धरण ऊपरी हस्तक्षेप से संवाद में रहती है। इसी कारण ग्रामीण और जातीय परिवेश से उभरे देशज दलित लेखक इस चैतन्यता को प्रकट भी करते हैं और उसकी समालोचना भी करते हैं।

हिंदी में दलितों की छोटी-छोटी किताबें लिखने की शुरुआत अछूतानन्द ने की थी। चन्द्रिका प्रसाद जिज्ञासु, पेरियार ललई सिंह यादव, इत्यादि ने ऐसी ही किताबें लिखकर, अपने संतों गुरुओं एवं समाज सुधारकों के वैचारिक साहित्य का अनुवाद करके, उन्हें स्वयं के द्वारा स्थापित प्रेस में छापकर, उन्हें दलितों के लोकप्रिय ज्ञान में तब्दील करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इन्हीं के माध्यम से हिंदी क्षेत्र के दलित वर्गों में डॉ. आंबेडकर, पेरियार फुले, शाहू जी महाराज के विचार लोकप्रिय हुए एवं हो रहे हैं। दलितों के इन्हीं साहित्य में आज कांशीराम द्वारा लिखित चमचा युग भी बिकता मिल जाएगा। जिसने उत्तर भारत की राजनीति का पूरा पाठ ही सबवर्ट कर दिया।[77]

इन किताबों को चैप बुक्स, छोटी किताबें, पुस्तिकाएँ, जिन्हें बद्री नारायण लोकप्रिय पुस्तिकाएँ कहते हैं।

मिशेल फूको की एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण उक्ति है ज्ञान एक शक्ति रूप है। सचमुच जिसका ज्ञान पर अधिकार है, वही सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक रूप से सत्तावान भी है। आज दलित समुदाय इस सच्चाई को समझते हुए अपने अस्तित्व एवं शक्ति प्राप्ति की लड़ाई में ज्ञान पर अपने अधिकार को एक महत्त्वपूर्ण लक्ष्य मानने लगा है। उत्तर भारत में दलित शब्द उच्चारते ही हमारी आँखों के सामने एक छवि उभरती है, बनती है - दलित राजनीति के रूप में जनतांत्रिक प्रणाली में वोट में तब्दील होते अपढ़, निरक्षर, गरीब-गुरबा निचली जाति की एक विशाल जनसंख्या की। लेकिन इसके साथ ही आज के उत्तर भारत में दलित शब्द से हमारी आँखों के सामने एक और छवि बनने लगी है। वह है दलितों की विशाल जनसंख्या में से कुछ का एक साक्षर, शिक्षित समुदाय में तब्दील होकर लिखने-पढ़ने वाले वर्ग के रूप में उभरना। दलितों में लिखने-पढ़ने की यह प्रक्रिया निश्चित रूप से एक खास कालखंड में न घटित होकर पिछले भारतीय सामाजिक इतिहास में अनेक प्रकार की सामाजिक ऐतिहासिक परिघटनाओं के

77. बद्री नारायण (2008).

कारण सम्भव हो सकी। भक्तिकाल एवं उसके पूर्व भी बुद्ध पंथ, आजीवक पंथ तथा अनेक गैर वैदिक पंथों के प्रभाव में निचली जातियों में ज्ञान का आकर्षण बढ़ा। इनमें से अनेक ने अपने आपको ज्ञानी एवं सुधारक के रूप में विकसित किया। हिंदूवादी वर्णक्रम में विभाजित समाज में आर्थिक रूप से गरीब होते हुए भी इनमें से कइयों ने सामाजिक आर्थिक आधिपत्य के विरुद्ध लड़ाई में ज्ञान के महत्त्व को समझा। भक्ति आंदोलन के बाद तो निचली जातियों में अपने को ज्ञान से जोड़ने की प्रक्रिया और तेज हुई। कबीर, रविदास, जनजीवन दास, पलटूदास, रामदेव, तुकाराम, नामदेव आदि अनेक संतों के मतों के प्रभाव में उभरे पंथों ने इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। हालाँकि यह भी सही है की भारत में अंग्रेजों के आने के बाद उभरी आधुनिकता, आधुनिक शिक्षा के संदर्भ में ज्ञान का अर्थ बदल गया है तथा प्राक औपनिवेशिक ज्ञान शैलियाँ विवेक बोध अप्रासंगिक साबित हो गए। उपनिवेशवाद के साथ जो नई राजसत्ता, नया समाज एवं नई शिक्षा उभरी उसमें उपनिवेशवाद के द्वारा या तो पैदा किया हुआ या स्वीकृत अभिजात्य वर्ग आगे बढ़ता गया। उसी ने धन, सत्ता के साथ-साथ शिक्षा एवं ज्ञान पर भी ज़्यादा से ज़्यादा आधिपत्य स्थापित करने की अनवरत चेष्टा की एवं इसमें सफलता भी पायी। किन्तु सामाजिक विकास के इस नए औपनिवेशिक चक्र में भी धीरे-धीरे निचली जातियाँ शिक्षा एवं ज्ञान से जुड़ती गयीं। डच, पुर्तगीज, अंग्रेज़ी मिशनरियों की कार्य शैली, अंग्रेज़ी व्यवस्था द्वारा स्कूल के दरवाजे अछूत जातियों के लिए खोलने, मुस्लिम स्कूलों द्वारा निचली जातियों को प्रवेश देने इत्यादि ने धीरे-धीरे ट्रिकल डाउन इफेक्ट के तहत निचली जातियों में शिक्षा एवं ज्ञान प्रसारित होना प्रारम्भ हुआ। उत्तर भारतीय समाज में औपनिवेशिक काल में आर्य समाज के उद्भव एवं उसकी सक्रियता ने इस दिशा में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। अंग्रेज अफसरों के घरों में चाकरी करने वाली निचली जातियाँ यथा सफाईकर्मी, लालबेगी इत्यादि के छात्र अंग्रेजों के प्रभाव में एवं उनकी मदद से स्कूल जाने लगे, साथ ही साहेब के प्रभाव में इन चाकर संवर्गों में कइयों ने अंग्रेज़ी रहन-सहन एवं गौरौटी अंग्रेज़ी भी सीख ली।[78]

राष्ट्रवादी आंदोलन एवं गाँधी के अभियानों से फैली चेतना ने भी उत्तर भारत में स्कूलों के दरवाजे दलितों के लिए खोले। दलित जातियों के समाज सुधारकों

78. बद्री नारायण (2008) वही.

यथा बालंकर, ज्योतिराव गोविंद राव फुले, अछूतानन्द, डॉ. आंबेडकर, इत्यादि ने दलितों में 'पढ़ो और संघर्ष करो' की जो प्रेरणा पैदा की, उसके कारण दलित शिक्षा से जुड़ते गए। आज़ादी के बाद जो राष्ट्र बना, जो संविधान बना, उसने शिक्षा में छुआछूत मिटाकर निचली जातियों को शिक्षा से जोड़ने के लिए अनेक योजनाएँ शुरू की। इन सब के संयुक्त प्रभाव में दलित जातियों में शिक्षित, शिक्षक, एवं लेखक भी पैदा हुए। औपनिवेशिक काल में हीरा डोम, अछूतानन्द जैसे निचली जातियों के लेखक हिंदी साहित्यिक परिदृश्य पर आने लगे। अछूतानन्द ने तो उत्तर भारत में दलितों को पोस्टकार्ड पर लिख कर पेटीशंस के माध्यम से अंग्रेज़ी सत्ता के समक्ष अपने हितों की बात रखने को प्रेरित किया ही, दलित समुदायों के लिए लेखन को प्रतिरोध के एक महत्त्वपूर्ण माध्यम के रूप में विकसित करने की प्रेरणा भी दी। दलितों की अभिव्यक्ति को छापने के लिए प्रिंटिंग प्रेस लगाए। स्कूल खुलवाये, आदि हिंदू छात्रावास विकसित किए। उत्तर-भारत के दलितों का पहला अखबार निकाला। उत्तरप्रदेश के गाँवों-गाँवों घूमकर दलित छात्रों को शिक्षा में मदद देने के लिए अपनी हर सभा में सभी से एक-एक मुट्ठी अनाज देने का आग्रह किया। भारतीय समाज के निचले तबकों में चले इन सभी अभियानों का संयुक्त प्रभाव यह पड़ा कि दलितों में धीरे-धीरे शिक्षित होने एवं लेखन से जुड़ने का बोध प्रबल हुआ।[79]

1980 के बाद के दशक में उभरे नये जनतान्त्रिक आंदोलनों, मण्डल आयोग, आरक्षण, बी.एस.पी. का उभार इत्यादि ने भारत में शिक्षा एवं ज्ञान की प्रक्रिया को जनतान्त्रिकृत करते हुए उससे दलित समुदायों को जोड़ने की दिशा में महत्त्वपूर्ण संभावनाएं खोलीं। जब दलित समुदायों में शिक्षा बढ़ी तो पढ़ने वालों की संख्या भी बढ़ने लगी। फलत: दलितों के बढ़ रहे पाठक वर्ग के लिए 'अपने साहित्य' की जरूरत भी महसूस हुई। परिणामस्वरूप आज अनेक महत्त्वपूर्ण दलित लेखक, कवि, कथाकार, पत्रकार हिंदी साहित्य के साहित्यिक परिदृश्य पर सक्रिय हैं। एक ओर ओमप्रकाश वाल्मिकी, मोहनदास नैमिशराय, श्यौराज सिंह बेचैन, कंवल भारती जैसे लेखक सक्रिय हैं। दूसरी ओर उत्तर प्रदेश के छोटे-छोटे कस्बों एवं जिलों शहरों में रह रहे कार्यकर्त्ता छोटी-छोटी पुस्तिकाओं के माध्यम से दलितों का राजनैतिक, वैचारिक एवं सांस्कृतिक साहित्य लिखने वालों का एक बड़ा

79. बद्री नारायण (2008) वही.

वर्ग विकसित हो गया है। गुरुप्रसाद मदन, आर.बी. त्रिशरण, बुद्ध शरण हंस, बौद्धाचार्य संजीवन नाथ, के. नाथ जैसे लेखक मात्र अपने पाठकों के लिए न केवल साहित्य लिख रहे हैं बल्कि सामाजिक चिंतन, दलित सौंदर्यशास्त्र, दलित जागरण का साहित्य भी लिख रहे हैं। राजकुमार इतिहासकार, डी. सी. दिनकर, के. नाथ जैसे दलित इतिहासकार दलितों का अपना इतिहास रच रहे हैं। ज्ञान में शक्ति है जैसे विचार ही शायद दलितों को अपना ज्ञान विकसित करने की प्रेरणा दे रहे हैं।[80]

दलित ज्ञान के निर्मिति की देशज परंपरा

सामान्यत: अक्षर ज्ञान से रहित समूह ही बोली या भाषा बचाए रखते हैं। यह कहना कहीं ज्यादा सही होगा कि वे ही इसे रचते हैं। जब यह प्रक्रिया एक स्पष्ट आकार ग्रहण कर लेती है और इसमें तमाम सांस्कृतिक अभिव्यक्तियाँ रची जा चुकी होती हैं तो व्याकरण और मानकों के द्वारा पढ़ा-लिखा समूह इस पर अधिकार जमाने का प्रयास करता है और फिर शुरू हो जाता है यह बताना कि क्या व्याकरण सम्मत है और क्या नहीं। व्याकरण सम्मत भाषा तो वही बोल सकते हैं जिनकी पाठशाला तक पहुँच रही है। पाठशाला के बाहर के लोग इस विमर्श से सीमांतीकृत कर दिए जाते हैं। भाषा हमेशा अपने आप को पाठशाला के बाहर बचाने के लिए हजार उपाय ढूँढ़ लेती है और उसमें पूरा का पूरा युग अपने दस्तावेजी स्वरूप में मौजूद होता है।[81] यही बात समाजशास्त्र के लिए भी कही जा सकती है की उसका अध्ययन पाठ से बाहर जाकर किया जाए। चूँकि यह अध्ययन ऐसे किसी अनुभवजन्य शोध पर आधारित नहीं है लेकिन उपलब्ध साहित्य के परीक्षण से हम इस निष्कर्ष की ओर बढ़ सकते हैं। इस तरह से यहाँ मेरा मतलब दलित इतिहास से और उसके लेखन से है लेकिन सवाल उठता है कि दलित इतिहास को किसने बनाया?

उत्तर भारत में प्रतिरोधी दलित ज्ञान की निर्मिति : स्वामी अछूतानन्द 'हरिहर', चन्द्रिका प्रसाद जिज्ञासु और पेरियार ललई सिंह यादव

उत्तर भारत में स्वामी अछूतानन्द 'हरिहर' (1879-1933) के आदि हिंदू

80. बद्री नारायण (2008).

81. रमाशंकर सिंह (2016) : 306-307.

आंदोलन की भी बहुजन समाज के जागरण में महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। उन्होंने दलित-पिछड़ी जातियों की पहचान आदि हिंदू के रूप में की थी। वे पहले कवि, नाटककार, सम्पादक, पत्रकार और प्रचारक थे, जिन्होंने अपने अल्प जीवन काल में पहला आदि हिंदू प्रेस और पहला आदि हिंदू अखबार कायम किया था। उन्होंने कविता और नाटकों के माध्यम से ब्राह्मणवाद की असली तस्वीर बहुजन समाज के समक्ष रखी थी। उनके नाटकों-मायानन्द बलिदान और रामराज्य न्याय अर्थात शम्बूक वध ने बहुजन समाज को उस अन्याय से परिचित कराया था, जिनसे वह पूरी तरह अनजान था।[82] बिहार में 1933 में त्रिवेणी संघ की स्थापना हुई। कहा जाता है कि यह तीन जातियों का संगठन था, पर मनीष रंजन ने इसका खंडन किया है। उनके अनुसार, यह दलितों, पिछड़ों और व्यापरियों का संघ था, जिसकी मान्यता थी, 'जब तक धार्मिक साम्राज्यवाद, सामाजिक साम्राज्यवाद, राजनीतिक साम्राज्यवाद तथा आर्थिक साम्राज्यवाद का अंत न होगा, तब तक सुराज्य हो ही नहीं सकता।'[83] त्रिवेणी संघ के बारे में मनीष रंजन लिखते हैं कि 'बिहार में ब्राह्मण और ब्राह्मणवाद से मुक्ति की शुरूआती लड़ाई त्रिवेणी संघ ने ही लड़ी थी। उसने ब्राह्मण-विधि से अलग जयमाला और प्रतिज्ञा पत्र शादी तथा भंडारा कर श्राद्ध शुरू किया, जिसमें ब्राह्मण की कोई आवश्यकता नहीं थी।'[84] त्रिवेणी संघ ने ब्राह्मण ग्रंथों में दर्ज शूद्र विरोधी आदेशों का भी विरोध किया था।

उत्तर भारत में ब्राह्मणवाद और सामंतवाद के खिलाफ व्यापक नव जागरण के प्रवर्तक भदन्त बोधानंद थे, जिनकी नव रत्न कमेटी दलित-पिछड़े समाज को दासता की नींद से जगाने के लिए प्रबल प्रयास था। इस कमेटी में स्वामी अछूतानन्द, राम सहाय पासी, राम चरण मल्लाह, शिवदयाल सिंह चौरसिया, चन्द्रिका प्रसाद जिज्ञासु, महादेव प्रसाद धानुक, वैद्यरत्न बदलू राम रसिक और

82. कंवल भारती (2011).
83. मनीष रंजन द्वारा 18.8.2018 इंटरनेट पर डाली गई पुस्तिका, त्रिवेणी संघ का बिगुल, लेखक : त्रिवेणी बन्धु चौधरी जे. एन. पी. मेहता, प्रकाशक : त्रिवेणी शक्ति कार्यालय, जितौरा, शाहाबाद, पहला संस्करण 1940. से साभार।
84. मनीष रंजन द्वारा 18.8.2018 इंटरनेट पर डाली गई पुस्तिका, त्रिवेणी संघ का बिगुल, लेखक : त्रिवेणी बन्धु चौधरी जे. एन. पी. मेहता, प्रकाशक : त्रिवेणी शक्ति कार्यालय, जितौरा, शाहाबाद, पहला संस्करण 1940. से साभार।

गौरी शंकर पाल ये आठ रत्न थे, और नौवें वे स्वयं थे। बोधानन्द जी जन्म से ब्राह्मण थे, पर वे हिंदू धर्म में व्याप्त ब्राह्मणवादी अंधविश्वासों, कुरीतियों और पोंगापंथी ढकोसलों से बहुत दुखी थे। उन्होंने सुधार के लिए बहुत प्रयास किए, पर सभी प्रयास बेकार रहे। अत: उन्होंने हिंदू धर्म को त्याग कर बौद्ध धर्म अपना लिया। बौद्ध भिक्षु होकर उन्होंने रिसालदार पार्क लखनऊ में एक भूखंड खरीदकर बुद्ध विहार तथा पुस्तकालय की स्थापना की।[85] भदन्त बोधानंद के शिष्य चन्द्रिका प्रसाद जिज्ञासु यदि 1965 में उनके व्यक्तित्व और कृतित्व पर 'भदन्त बोधानंद महास्थविर' नामक पुस्तक नहीं लिखते, तो बहुजन समाज के जागरण में उनके योगदान को कोई भी नहीं जान पाता। अत: बोधानंद जी के जीवन-संघर्ष को जानने के लिए एकमात्र साधन जिज्ञासु जी की यही पुस्तक है। जिज्ञासु जी लिखते हैं, 'सन 1928 में लखनऊ में एक नवरत्न कमेटी की स्थापना की, जिसमें दलित-पिछड़ी जातियों के कई वकील और दूसरे समझदार लोग थे। अंत में यह कमेटी विस्तृत होकर 'हिंदू बैकवर्ड क्लासेज लीग' अथवा 'मूल भारतवासी समाज' नाम से एक संस्था बन गई, जिसके प्रवर्तक श्री स्वामी जी महाराज (बोधानन्द) थे। इस संस्था ने दलित-पिछड़ी जातियों को न सिर्फ सामाजिक, बल्कि राजनीतिक रूप से भी जागृत किया।

भदन्त बोधानंद के बाद उनकी बहुजन वैचारिकी का परिपूर्ण रूप में सतत विकास हम उनके शिष्य चन्द्रिका प्रसाद जिज्ञासु के साहित्य में देखते हैं। उन्होंने 1937 में 'भारत के आदि निवासियों की सभ्यता' पुस्तक का प्रकाशन किया, जिसके द्वारा उन्होंने बहुजन समाज की वैचारिकी स्थापित की। उन्होंने इस पुस्तक में देश के मजदूरों, दबे-कुचले-शोषित और पिछड़े वर्गों को संबोधित किया। उन्होंने उसके परिचय में लिखा ''80 प्रतिशत भारतीय कृषक, मजदूर, शिल्पकार आदि दबी-पिछड़ी हिंदू जातियों की प्राचीन गौरवपूर्ण सभ्यता के संबंध में वेद-पुराण आदि की साक्षी, जन-विज्ञान व भाषा-विज्ञान की छानबीन और पुरातत्त्व की खोजों व इतिहासविदों द्वारा जाना गया हाल।''[86] जहाँ से उन्होंने किताब को शुरू किया, उसके आदि में यह छंद लिखा-

'आदि निवासी बंधु! लीजिए, यह निज गौरवशाली इतिहास।
आर्य जाति ने छल-कौशल से जिसे कर दिया था सब नाश।

85. अँगने लाल (2011): 28-29.
86. कंवल भारती (2017) : 33.

पढ़िए इसे मिटाकर मन की सब दुर्बलता, भ्रम, तम, त्रास।
हृदय-कमल यह खिला करेगा नवजीवन का दिव्य प्रकाश।'[87]

इस प्रकार से स्वामी अछूतानन्द, चन्द्रिका प्रसाद जिज्ञासु, पेरियार ललई सिंह यादव और उनके समानधर्मा चिंतकों के कारण भारत के हाशियाकृत समूहों के बीच से उनका स्वयं का इतिहास लिखने के लिए आंगिक बुद्धिजीवी निकले। यह आंगिक बुद्धिजीवी समाज विज्ञान की सैद्धांतिक रूढ़ियों और गूढ़ियों से परे अपना भुला दिया गया इतिहास अपने शब्दों में और अपनी भाषा में लिख रहे थे। यह बात मैं इसलिए लिख रहा हूँ या कहना चाहता हूँ क्योंकि भाषा के माध्यम से समूहों और समुदायों को बहिष्कृत किया जा सकता है, साथ ही साथ ज्ञान की दुनिया से बेदखल किया जा सकता है। यदि इस संदर्भ में उत्तर भारत का जिक्र किया जाए तो पता चलता है कि दलित समूहों के बीच से इस तरह के आंगिक बुद्धिजीवी निकले। जिनमें स्वामी अछूतानन्द, चन्द्रिका प्रसाद जिज्ञासु, पेरियार ललई सिंह यादव, जगदेव प्रसाद, रामस्वरूप वर्मा, ललई सिंह, बाबू मंगल सिंह 'जाटव', डॉ.गया प्रसाद 'प्रशांत' बाबू खुर्रम दास, बिंदा प्रसाद, मोलहू प्रसाद बौद्ध, बंधु प्रसाद मौर्य, मंगल देव विशारद, महावीर प्रसाद बनौधा, आर.सी. बनौधा, करण सिंह केन, एडवोकेट खेमचंद सौगात, अँगने लाल आदि अपने-अपने तरीके से दलित और हाशियाकृत समूहों के बीच काम कर रहे थे।

आधुनिक काल में ज्योतिबा फुले के शैक्षिक आंदोलनों तथा डॉ. आंबेडकर के नये शोध तथा सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक एवं राजनैतिक क्षेत्रों में सतत् संघर्षों और आंदोलनों के कारण दलित साहित्य, दलित संघर्ष के इतिहास के बारे में जानकारी मिलनी शुरू हुई है। इन परिघटनाओं के पहले दलितों को इतिहास को जानने के लिए दूसरों के द्वारा लिखे गए जातिवादी सवर्ण साहित्य पर ही आश्रित रहना पड़ता था। ये जरूर है कि हजारों साल से सवर्ण वर्चस्व को चुनौती देने वाले प्रगतिशील धारा के लोग अपना साहित्य इतिहास रचते रहे, लेकिन उनका प्रचार-प्रसार व मुख्यधारा के इतिहास साहित्य में उचित स्थान नहीं मिल पाया। महाराष्ट्र में दलित साहित्य, संस्कृति के नवीन क्रांतिकारी विकास तथा बसपा के उभार के बाद उत्तर प्रदेश में दलित राजनीति ने दलित सांस्कृतिक एवं साहित्यिक आंदोलन को एक नवीन दिशा प्रदान की है। दलित साहित्य और दलित अध्ययन

87. कंवल भारती (2017) वही : 42.

आज भारत के प्रत्येक प्रांत में प्रान्तीय भाषा में बढ़ता जा रहा है।

दलित साहित्य की पूरी अवधारणा से सैकड़ों दलित जीवन संघर्ष की आत्मकथाएँ, कहानियाँ, गीत, कविताएँ, नाटक हमारे सामने आ रहे हैं। इस पूरी प्रक्रिया ने सवर्ण समाज के जातीय अत्याचारों का पर्दाफाश किया है, दलितों में संघर्ष चेतना आत्मसम्मान का भाव पैदा किया है। साथ ही समानता के संघर्ष को बदल दिया है। प्रतिरोध की नवीन जनसंस्कृति की प्रक्रिया को आगे बढ़ा रहा है। दलितों के बीच बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार ने नवीन संस्कृति का प्रभाव पैदा किया है। इस प्रक्रिया के कारण दलितों ने ब्राह्मणवादी, कर्मकांड, अन्धविश्वासों, परंपराओं की जगह नवीन सांस्कृतिक क्रियाकलापों को अपनाना शुरू किया है। वैज्ञानिक चिन्तन का प्रभाव भी दलितों में पहले की अपेक्षा बढ़ा है। लेकिन ये भी देखने में आ रहा है कि पढ़े-लिखें, दलित मध्य वर्ग के एक हिस्से में नये कर्मकाण्डों का चलन भी शुरू हुआ है, जिसने ब्राह्मणवाद को चुनौती देते हुए दलित ब्राह्मणवाद का रूप अख्तियार करना शुरू किया है। बुद्ध, डॉ. आंबेडकर आदि महान समाज सुधारकों के प्रगतिशील वैज्ञानिक चिन्तन को बढ़ावा देने की जगह दलितों का एक हिस्सा इन महापुरुषों को पूजकों में बदलने लगा है। निश्चित ही ये धारा दलित सांस्कृतिक आंदोलन को पीछे ले जाएगी और वर्णवादी जातिवादी पूर्वाग्रहों को और मजबूती प्रदान करेगी। इस परिघटना का और अधिक अध्ययन विश्लेषण करने की जरूरत है। निश्चित रूप से दलितों में सांस्कृतिक, साहित्यिक चेतना का विकास हुआ है। वे नई प्रतिरोध की संस्कृति के निर्माण की ओर अग्रसर हैं, लेकिन ये नवीन सोच-संस्कृति भविष्य में कैसा रूप लेगी, कैसी जनसंस्कृति का रूप लेगी, जाति-वर्ण को चुनौती देते-देते ब्राह्मणवादी संस्कृतिकरण का शिकार हो जाएगी या वैज्ञानिक चिंतन का रूप लेगी, ये सब भावी देशकाल की परिस्थितियों, दलित आंदोलन की वैचारिक सोच-समझ रणनीति पर निर्भर करेगी।

इस सन्दर्भ में यह भी महत्वपूर्ण है कि जहाँ मुख्यधारा के चिंतकों को सार्वदेशिक कहकर प्रशंसा की जाती रही है लेकिन यह सौभाग्य दलित जीवन-बोध से जुड़े चिंतकों के साथ नहीं है, उन्हें 'स्थानीय संत' के रूप में सीमित कर दिया जाता है। उनके द्वारा रचे गए साहित्य को पहले साहित्य माना ही नहीं जाता है और माना भी जाता है तो उसे किसी सांस्कृतिक मूल्य या राजनीतिक दृष्टि से रहित मान लिया जाता है। स्वामी अछूतानन्द, चन्द्रिका प्रसाद जिज्ञासु और उनके समानधर्मी चिंतकों-लोकज्ञानियों के साथ साहित्य और समाज विज्ञान भी

ऐसा ही करता रहा है जबकि उन्होंने अपने समय के लगभग सभी साहित्य रूपों में अपने विचार व्यक्त किए हैं जिसका स्थायी मूल्य है। इससे गुजरते हुए हम पाते हैं कि स्वामी अछूतानन्द ने एक बेहतर दुनिया की कल्पना की जिसमें भक्तिकालीन और समाज सुधारक संतों के स्वप्न और आधुनिक राजनेताओं की वैचारिकी का सुंदर संयोग था। स्वामी अछूतानन्द जी 'हरिहर' और चन्द्रिका प्रसाद जिज्ञासु द्वारा चलाया गया आंदोलन हिंदी क्षेत्र का प्रथम दलित आंदोलन था, जो विशुद्ध रूप से सामाजिक और राजनीतिक था। इसका उद्देश्य समाज में जागृति और चेतना पैदा करना था। अपने आंदोलनों को आगे बढ़ाने के लिए उन्होंने साहित्य का भी सहारा लिया। आज यह साहित्यिक आंदोलन हिंदी दलित साहित्य आंदोलन की नींव बन गया है। स्वामी अछूतानन्द जी हिंदी के प्रथम दलित पत्रकार, सम्पादक एवं प्रेस संस्थापक भी थे।

स्वामी अछूतानन्द : जीवन वृत्त और कार्यवृत्त

डॉ. आंबेडकर से अछूतानन्द तक फैले दलित आंदोलन के इतिहास के वे दशक हैं जिनमें सामाजिक न्याय और अस्मिता के लिए सवर्णों से जबरदस्त टकराव की स्थितियाँ रही हैं। इसी दौर में सैकड़ों नहीं, बल्कि हजारों दलित समाज के जुझारू कार्यकर्त्ता उस संघर्ष में चश्मदीद गवाह रहे हैं। यही वह समय था जब उत्तरी भारत में दलितों के भीतर विद्रोह पनप रहा था।[88] आजादी के पूर्व उत्तर प्रदेश की साप्ताहिक इंटेलिजेंस रिपोर्ट ने ब्रिटिश प्रशासन को यह जानकारी दी थी कि राज्य के अछूतों में विद्रोह की चेतना देखी जा रही है। अभय कुमार दुबे ने इसी चेतना को 'अजनबी आहटें' कहा है।[89] 1 अप्रैल 1922 को जारी की गई उत्तर प्रदेश पुलिस की रिपोर्ट में विद्रोह की जिस चेतना का जिक्र किया गया था, बनारस, इलाहाबाद, लखनऊ और कानपुर में चल रहे आदि-हिंदू आंदोलन का फलितार्थ थी। यह आंदोलन पंजाब में उसी समय जारी आदि-धर्म आंदोलन, मद्रास में चल रहे आदि द्रविण आंदोलन और महाराष्ट्र में फुले द्वारा छेड़े गए ब्राह्मणवाद विरोधी आंदोलन से मिलता जुलता था। स्वामी अछूतानन्द और रामचरण दास के नेतृत्व में आदि हिंदुओं ने दावा किया था कि वे ही इस

88. मोहनदास नैमिशराय (2013): 208.
89. मोहनदास नैमिशराय (2013) वही : 208.

देश के असली निवासी हैं और ब्राह्मण, ठाकुर व वैश्य आक्रमणकारी आर्यों के वंशज है, जिन्होंने आदि भारतीयों (मूल निवासियों) को आक्रांत किया, उन पर शोषण किया और वर्ण व्यवस्था के रचनाकारों ने उन्हें स्थाई रूप से निम्नतर श्रेणी में डाल दिया।[90] हिंदी प्रदेशों के यह आदि हिंदू नेता ना केवल समाज सुधारक थे, न केवल धार्मिक या राजनीतिक नेता थे उनमें यह तीनों पहलू तो थे ही साथ ही हुए नितांत अभिनव प्रकार के सांस्कृतिक नेता भी थे जो एक नया समाज एक नई आराधना पद्धति और एक नया इतिहास रचना चाहते थे। इनकी अभिव्यक्ति का रूप मध्ययुगीन भक्ति आंदोलन से लिया गया था। उन्होंने भक्त कवियों द्वारा ईश्वर से सीधे तारतम्य स्थापित करने के प्रयासों का समाजीकरण कर दिया था।[91]

स्वामी अछूतानन्द के बारे में डी.सी. दिनकर लिखते हैं कि वह उन संतों तथा महापुरुषों में से थे जिन्होंने ब्रिटिश भारत में जहाँ एक तरफ़ अंग्रेजों की गलत नीतियों का विरोध किया वहीं दूसरी ओर भारतीय समाज में विषमता पर जबरदस्त चोट करते हुए सामंतों और जमींदारों के अत्याचारों के खिलाफ भी आवाज़ उठाई थी।[92] दलित लेखक के.एल. चंचरीक लिखते हैं कि स्वामी अछूतानन्द ने जाति प्रथा सामंतवाद तथा रूढ़ियों पर प्रहार किया था। उन्होंने कहा था आज हम मुट्ठी भर हैं कल के भारत में घर-घर में हमारा समाज सुधारक और नेता होगा। एम.आर.विद्रोही लिखते हैं कि समय-समय पर हिंदू धर्म के प्रदूषण को समाज सुधारक साफ करने का प्रयत्न करते रहे हैं। इस क्षेत्र में स्वामी अछूतानन्द जी का महत्त्वपूर्ण स्थान है।[93] स्वामी अछूतानन्द का जन्म उत्तर प्रदेश के फर्रुखाबाद जिले में सौरीख नामक गाँव में 6 मई 1879 में वैशाख शुक्ल पूर्णिमा के दिन हुआ था। बचपन में हीरालाल के नाम से परिवार के लोग पुकारते थे। कंवल भारती के अनुसार उनके पिता मोतीराम ने अपने पिता की स्मृति में अपने बेटे का नाम हीरालाल रखा था।[94] उनकी आरंभ से ही पढ़ने लिखने की रुचि थी। हालाँकि अन्य परिवारों की तरह उनके परिवार में पढ़ने लिखने की

90. मोहनदास नैमिशराय (2013) वही : 208.
91. मोहनदास नैमिशराय (2013) वही : 208.
92. डी.सी.दिनकर (2007) : 83.
93. एम.आर.विद्रोही (2004).
94. कंवल भारती (2011).

कोई सुविधा न थी। वैसे भी उनका जन्म एक साधारण परिवार में हुआ था। किताबी ज्ञान लेने से अधिक आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करने की उनके मन में लालसा थी। उनकी आरंभिक शिक्षा कैंप स्कूल में हुई जहाँ ही उन्हें हिंदी, संस्कृत, फारसी, उर्दू तथा मराठी आदि भाषाओं का ज्ञान हो गया था। जितना अधिक वे पढ़ते उतना ही ज़्यादा ज्ञान प्राप्त करने की ललक उनके मन में पैदा होती।[95] भारत की सामाजिक संरचना और परिस्थितियों का कड़वा सच ऐसा था कि जाति उत्पीड़न कहीं भी और किसी का भी पीछा नहीं छोड़ता। इसके भुक्तभोगी स्वामी अछूतानन्द जी थे। सौरीख गाँव के सवर्ण लोगों के उत्पीड़न से तंग आकर वे परिवार सहित मैनपुरी के गाँव अमरी सिरसागंज (स्वामी अछूतानन्द की ससुराल) आ गए थे।[96] कहते हैं घुमक्कड़ी करने वाला एक औपचारिक शिक्षा प्राप्त व्यक्ति आनुभविक ज्ञान में कहीं अधिक ज्ञानी होता है और समाज के प्रति उतना ही अधिक संवेदनशील। इस तरह से स्वामी अछूतानन्द की घुमक्कड़ी ने उन्हें साधुओं की संगत में ला दिया, फिर क्या उन्होंने खूब भ्रमण किया। इससे जीवन के नए रंगों से रिश्ता बना, नए अनुभव हुए।

स्वामी अछूतानन्द 1950 से लगातार घूम-घूमकर इस शूद्र समाज में जागृति लाने का प्रयास कर रहे थे। विशेष रूप से उत्तर से दक्षिण, बंगाल से पंजाब तक के संपूर्ण क्षेत्र में आदि-हिंदू आंदोलन के रूप में 1922 से निरंतर न टूटने वाला सामाजिक जागरूकता का कार्यक्रम चल रहा था। आदि-हिंदू पत्र के माध्यम से अपने सशक्त संगठन एवं उनके कार्यकर्त्ताओं के माध्यम से 'मुल्की हक' की प्राप्ति का आंदोलन जोरों पर जारी रखा था। दूसरी ओर बाबासाहेब डॉ. आंबेडकर 'बहिष्कृत हितकारिणी सभा' एवं 'मूक नायक' पत्र के माध्यम से जागृति का बिगुल बजा रहे थे। दोनों नेतागण इस 'पृथक निर्वाचन' एवं 'संयुक्त निर्वाचन' के गुण और दोषों के प्रति काफ़ी सजग थे। दोनों नेताओं के अथक संघर्ष का परिणाम था कि संपूर्ण भारत के अछूतों का मन 'पृथक निर्वाचन' की माँग के साथ जुड़ गया था। इसकी प्राप्ति के लिए जी जान से संघर्षशील भी थे।[97] 1905 में अछूतानन्द आर्य समाजी संन्यासी सच्चिदानंद के संपर्क में आए और आर्य

95. ओवेन एस. लिंच (1969) : 66.
96. रमणिका गुप्ता (2000): 8.
97. रमणिका गुप्ता (2000) वही : 10.

समाज के अनुयाई बने और उनका नाम हीरालाल से हरिहरानंद पड़ गया। अछूतानन्द जी को हिंदू से मुसलमान बने लोगों की शुद्धि का कार्य सौंपा गया। परिणामस्वरूप हिंदू-मुसलमान दोनों उनके कट्टर दुश्मन हो गए। यहाँ तक कि उन पर प्राणघातक हमले भी हुए। बाद में वे उज्जैन और फिर आगरा आ गए। 7 वर्ष तक हरिहरानंद ने आर्य समाज का प्रचार किया पर इसी दौरान उन्होंने अनुभव किया कि आर्य समाज के सन्यासी और नेता भी ब्राह्मणवाद से ग्रस्त हैं। इस तरह से आर्य समाज की नीतियों से मोहभंग होने के बाद 1912 में अछूतानन्द जी ने आर्य समाज छोड़ दिया और कबीर पंथ को अपना लिया।[98]

आगरा में जाटव सभा की स्थापना में भी स्वामी जी का सक्रिय योगदान रहा, संस्था निर्माण के पीछे दलितों के लिए कुछ करने की भावना थी उनके भीतर। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे आगरा तथा आस-पास के गाँवों में सक्रिय रहे। स्वामी अछूतानन्द जी 1921 में दिल्ली चले गए और वहाँ के अछूत नेता वीर रतन देवी दास जटिया और यादराम जटिया के सहयोग से सदर क्षेत्र में जाति सुधारक 'अछूत महासभा' की स्थापना की तथा एक पत्रिका का भी संपादन किया। इससे स्वामी जी को दिल्ली में दलित वर्ग का पूर्ण सहयोग मिलने लगा। आगरा से दिल्ली की स्थिति कुछ अलग थी। नए स्थान पर जमने में थोड़ा समय लगा। 22 अक्टूबर 1921 को दिल्ली में एक शास्त्रार्थ बहस आरंभ हुई थी जिसमें उन्होंने पंडित अखिलानंद को हराया था। यहीं उन्हें श्री 108 की उपाधि प्रदान की गई। 1922 में इंग्लैंड के सम्राट जार्ज पंचम के सुपुत्र प्रिंस ऑफ़ वेल्स के दिल्ली आगमन पर स्वामी जी ने उनके स्वागत तथा अछूतों की दशा का दृश्य चित्रण करने हेतु एक विराट अछूत सम्मेलन का आयोजन किया। जिसमें प्रिंस ऑफ़ वेल्स पधारे, इस अवसर पर उनको 17 सूत्रीय माँग पत्र भेंट किया।[99]:

प्रिंस ने धन्यवाद देते हुए कहा था, इस उत्साही स्वागत के लिए मेरी ओर से हार्दिक स्वागत, आप सभी को मेरी शुभकामनाएँ। मैं उन जातियों के लिए संपन्नता की कामना करता हूँ जो इनका प्रतिनिधित्व करते हैं। जब युवराज इंग्लैंड पहुँचे तो उन्होंने अछूतों की कहानी अपने पिता सम्राट जॉर्ज पंचम को बताई और

98. कंवल भारती (2011) वही : 176.
99. मोहनदास नैमिशराय (2013): 210.

कहा कि भारत में सवर्ण लोग किस प्रकार अछूतों के साथ निरंकुशता का व्यवहार कर रहे हैं। उनको धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक अधिकारों से वंचित रखा जाता है। इस पर लंदन के सेक्रेटेरी ऑफ़ स्टेट फॉर इंडिया द्वारा भारत के वायसराय के लिए आदेश भेजा गया कि प्रत्येक नगर पालिका में एक-एक अछूत सदस्य रखा जाए। इसी प्रकार टाउन एरिया, नोटिफाइड एरिया, डिस्ट्रिक्ट वार्ड काउंसिल आदि सभी शासकीय संस्थाओं में एक-एक सदस्य अछूतों का मनोनीत किया जाए और इसका कड़ाई से पालन हो ऐसे आदेश जारी किए गए।[100]

दिल्ली में रहते हुए स्वामी अछूतानन्द जी ने दलितों के लिए उल्लेखनीय कार्य किए 1922 में उन्होंने दिल्ली में एक और सम्मेलन किया जिसमें दलितों के बीच शिक्षा के प्रचार-प्रसार को फैलाने के लिए अनेक कार्यक्रम रखे गए। 1923 में स्वामी जी ने इटावा में पदार्पण किया और एक वर्ष तक अनवरत रूप से समूचे शहर तथा आसपास के गाँवों का भ्रमण किया। इटावा के बड़े डाकखाने के मैदान में उनके सम्मान में एक ऐतिहासिक सम्मेलन हुआ जिसमें जिले के तत्कालीन अंग्रेज कलेक्टर मैकलोड भी शामिल हुए थे जिसमें उन्होंने काफ़ी मर्मस्पर्शी व गंभीर भाषण दिया था उनके व्यक्तित्व से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके थे इसका कारण था कि वे आम आदमी के बीच गए थे उनके सुख-दुख में दलित समाज के एक-एक व्यक्ति से गहरे रिश्ते बन गए थे। निश्चित ही वे दलितों को जागरूक बनाना चाहते थे। उन्होंने दलितों में मान-सम्मान की भावना आए इस हेतु सजगता से प्रयास किया। स्वामी अछूतानन्द जी ने इस बात को शिद्दत से महसूस किया कि देश में अंग्रेजों का शासन था पर कुछ जागीरदार और सामंत भी अपने ही लोगों पर अत्याचार करने में पीछे न थे। जो जितना अंग्रेज राज्य के प्रति वफादारी निभाता उसे उतना ही बड़ा पुरस्कार मिलता ऐसी परिस्थितियों में कमजोर समुदायों पर दोहरा अत्याचार होता था। इस तरह से स्वामी अछूतानन्द जी की दलितोद्धार की इस मुहिम में उन्हें तीन तरफ़ से हो रहे हमलों का मुकाबला करना पड़ा- पहला हिंदू धर्म में फैली कुरीतियों और छुआछूत के समर्थक मठाधीशों से, दूसरा मुसलमानों की धर्म परिवर्तन नीति से

100. रोज कीनथ (1983): 65-66.

और तीसरे अंग्रेजों की राजनीतिक गुलामी से। इस तरह सर्वत्र हो रहे जुल्म और अत्याचार को हमेशा के लिए समाप्त कराने के उद्देश्य से उन्होंने अनेक स्थानों पर दौरा किया। जहाँ भी वो जाते स्थानीय लोगों को इकट्ठा होकर जुल्म का सामना करने के लिए कहते। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने 1926 में कानपुर में दलितों का एक सम्मेलन बुलाया इस सम्मेलन में उन्होंने पूर्ण स्वराज की माँग की। उन्होंने कहा कि देश में जो मजदूर वर्ग रात-दिन मेहनत करता है उसके पास न कपड़ा है न उनके पेट में रोटी है। जबकि मजदूर-किसान ही देश के आर्थिक ढाँचे का आधार है। वह अगर अपना कार्य करना छोड़ दें तो एक पल में सब कुछ उल्टा-पुल्टा हो सकता है अत्याचार सहते हुए भी कभी किसी को नुकसान नहीं पहुंचाता।[101]

स्वामी अछूतानन्द ने साइमन कमीशन के सामने गवाही देते हुए कहा था 'हमें अंग्रेजों की हमदर्दी नहीं सम्मानपूर्वक जीवन अधिकार चाहिए' उन्होंने इस अवसर पर जमींदारी उन्मूलन कानून बनाने की भी बात की थी। इस संदर्भ में जवाहरलाल नेहरू ने उन्हें एक पत्र में लिखा था कि आप तथा आपके सहयोगी आज़ादी के संघर्ष में पहले सहयोग दें आज़ादी के बाद जमींदारी उन्मूलन अपने आप हो जाएगा। इस समय देश विदेश के नेताओं की नजरें उन पर थीं, वे जहाँ भी जाते दलित समाज के लोगों के बीच जागृति तथा चेतना जगाते। उन्हें समाज की कुरीतियों तथा पाखंड से बचने की सलाह देते, उनके बच्चों को स्कूल जाने के लिए उत्साहित करते, साथ ही महिलाओं को भी पढ़ने के लिए प्रेरित करते। हालाँकि इस बीच स्वामी अछूतानन्द को अनेक प्रलोभन दिए गए, जहाँ एक तरफ़ ब्रिटिश हुकूमत ने उन्हें पदवी देकर अपना पिट्ठू बनाना चाहा वहीं दूसरी ओर देशी राजाओं, सामंतों तथा जागीरदारों ने भी तरह-तरह के लालच देकर उन्हें अपनी ओर मिलाने का भरपूर प्रयास किया लेकिन वह अपने कर्तव्य से जरा भी नहीं भटके, उन्होंने देश के करोड़ों मजबूर लोगों की सेवा करने का व्रत लिया था। कुछ व्यक्तिगत लाभों के लिए उन करोड़ों लोगों से अपने आप को कैसे अलग करते यही तो उनके व्यक्तित्व की विशेषता थी।[102]

---

101. मोहनदास नैमिशराय (2013) : 211-212.
102. मोहनदास नैमिशराय (2013) : 212.

कंवल भारती लिखते हैं कि 1923 में दिल्ली में ही 'आदि हिंदू आंदोलन' की विधिवत घोषणा हो जाने पर 1932 तक दस वर्षों के भीतर इस आंदोलन ने पूरे देश में धूम मचा दी थी।[103] 1930 तक स्वामी जी के नेतृत्व में उनके आठ राष्ट्रीय अधिवेशन, तीन विशेष सम्मेलन और पंद्रह प्रांतीय सभाओं के साथ सैकड़ों की संख्या में जनपदीय सभाएं सम्पन्न हुईं। पहला वार्षिक सम्मेलन दिल्ली (1923) में, दूसरा नागपुर (1926), तीसरा हैदराबाद (1925), चौथा मद्रास (1926), पाँचवा इलाहाबाद (1927), छठवाँ मुंबई (1928), सातवां अमरावती (1929) और आठवां (1930), में इलाहाबाद में आयोजित किए गए थे।[104]

इनके साथ ही प्रांतीय सभाएं लखनऊ, कानपुर, इलाहाबाद, मेरठ, मैनपुरी, मथुरा, इटावा, गोरखपुर, फर्रूखाबाद तथा आगरा में आयोजित की गई थी। स्वामी अछूतानन्द जी की मृत्यु 20 जुलाई 1933 में 54 वर्ष की आयु में बेना झाबर, कानपुर में हुई। उनकी शवयात्रा में हजारों दलित उपस्थित थे। बीसवीं सदी के प्रथम तीन दशकों में उत्तर भारत के दलित आंदोलन में उनकी प्रभावी भूमिका बड़ी महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। स्वामी अछूतानन्द के प्रति ईसाइयों की भी सहानुभूति रही थी एक ईसाई प्रचारक मि. लिंज उनसे प्रभावित रहे हैं। स्वामी अछूतानन्द की रचनाओं में समुद्र मंथन, बलि छलन, एकलव्य, एवं सुदास और देवदास (सभी नाटक), आदिवंश का डंका, आदि खंडकाव्य, मायानंद बलिदान, रामराज्य तथा अन्य असंख्य भजन व कविताएं हिंदी दलित साहित्य का महत्त्वपूर्ण भाग हैं।[105]

उनकी 'प्रभात फेरी' कविता की कुछ पंक्तियाँ :-

''आदि वंश वालों जागो हुआ सवेरा
अब मोह नींद त्यागो देखो हुआ मुजरा
अन्याय की निशा से अंधेर से ना डरना

---

103. कंवल भारती (2011) : 177.

104. आदि हिन्दू आंदोलन के प्रवर्तक स्वामी अछूतानन्द जी हरिहर (1960) : 108, यह भी देखें चंद्रिका प्रसाद जिज्ञासु, हिन्दू समाज सुधार कार्यालय, सआदतगंज, लखनऊ : 9.

105. मोहनदास नैमिशराय (2013) : 213.

होगा उदय तुम्हारा भागेगा दुख घणेरा
तुम हो निसर्ग से ही भारत के आदि स्वामी
गैरों का हो गया है इस देश में बसेरा।''

स्वामी अछूतानन्द जी लोक नाटककार थे उन्होंने लोक में प्रतिरोध को स्थापित करने के उद्देश्य से दलित नाटकों की रचना की थी।[106]

स्वामी अछूतानन्द और डॉ. आंबेडकर

स्वामी अछूतानन्द जी को जब पता चला कि बंबई में एक अछूत नवयुवक अनेक समस्याओं और सामाजिक कष्टों को सहकर अमेरिका और लंदन से उच्च शिक्षा प्राप्त कर भारत आया है और अछूतों के बीच में काम कर रहा है तो उन्हें बड़ी खुशी हुई। वे उस नवयुवक अर्थात डॉ. आंबेडकर से मिलने के लिए उत्सुक हुए। डॉ. आंबेडकर के मन में भी उत्तर भारत के अछूतों से मिलने की प्रबल इच्छा थी। नवंबर 1928 में डॉ. आंबेडकर और स्वामी अछूतानन्द की मुलाकात हुई और दोनों महान देशभक्तों ने आज़ादी के साथ-साथ अछूतों के अधिकार के लिए आवाज़ बुलंद की। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि किस प्रकार डॉ. आंबेडकर के पूर्व अछूतानन्द के रूप में दलितों के नवजागरण का एक नायक कार्यरत था। किंतु डॉ. आंबेडकर के मिथक के आक्रामक उभार के कारण दलित संघर्ष के इतिहास का यह पक्ष छिप जाता है। अछूतानन्द ने दलितों को पढ़ने, लिखने और छपने के प्रति जागरूक किया। इस संदर्भ को आगे बढ़ाते हुए बद्री नारायण लिखते हैं कि दलित स्वयं अपने संघर्ष का इतिहास लिखते वक्त डॉ. आंबेडकर के जादुई असर में कई बार उत्तर प्रदेश में डॉ. आंबेडकर के पूर्व एवं अलग ढंग से दलित चेतना जागरण के इस अभियान को महत्त्व देना भूल जाते हैं। उत्तर भारत में दलित आंदोलन की एक धारा नहीं रही है। उत्तर भारत में डॉ. आंबेडकर का प्रभाव आज़ादी के बाद विकसित हुआ। जीवित डॉ. आंबेडकर से ज़्यादा मृत डॉ. आंबेडकर प्रभावी हुए।[107]

स्वामी अछूतानन्द जी इसी दौर में समाज में कार्य कर रहे महापुरुषों से भी मिल रहे थे। नवंबर 1928 में आदि-हिंदू आंदोलन के राष्ट्रीय सम्मेलन बंबई में इन दोनों महापुरुषों की मुलाकात हुई। उन्होंने बातचीत में इस बात पर भी

106. कंवल भारती (2011).
107. बद्री नारायण (2001): 202-203.

जोर दिया कि आदि हिंदू आंदोलन को राजनीति में क्रांतिकारी भूमिका निभानी है। 9 फरवरी को ग्वालियर राज्य के विराट आदि-हिंदू महासभा में उनके द्वारा दिया गया भाषण दलित आंदोलन में मील का पत्थर साबित हुआ।[108]

डॉ. बाबासाहेब डॉ. आंबेडकर का पत्र अछूतानन्द जी के नाम :

मद्रास 3/2/32

स्वामी जी को अनेक प्रणाम

आपका तारीख 3/2/32 का पत्र मुझको कल यहाँ मिला उसके पहले आप की तार भी मिल चुकी थी। आप लोग देहली जाकर जो कार्य किए हैं उस पर मुझको बहुत ही आनंद है। हमारे नेताओं की नीति इस वक्त बिगड़ी हुई है। इस वास्ते हम लोगों ने हमारी नीति को अचल रखना चाहिए। अगर 2 महीने के अरसे में हम लोग हमारा मत अचल ना रख सकते हैं तो हमारे शब्दों पर कोई एतबार न करेगा।

राजा गवई का समाचार हम लोग ले सकते हैं। इस वास्ते हम लोगों को एक बड़ी भारी कान्फ्रेंस बुलानी चाहिए यह मैं मानता हूँ ठिकाना और समय मुकर्रर करना है, आप इटावा कहेंगे मगर मद्रासी भाइयों को बहुत लंबा होता है। इस वास्ते कोई मध्यम जगह ढूँढ़ निकालना चाहिए उसकी कोशिश में मैं हूँ।

आपका कृपा अभिलाषी डॉ. भीमराव आंबेडकर

यह पत्र दलित चिंतक और लेखक मोहनदास नैमिशराय ने स्वामी अछूतानन्द जी के दामाद मंगल सिंह जाटव, ग्वालियर मध्य प्रदेश से प्राप्त किया है। डॉ. बाबासाहेब डॉ. आंबेडकर ने मद्रास से दिनांक 3/3/1932 को श्री 108 स्वामी अछूतानन्द जी को उपरोक्त पत्र लिखा था। किंतु गलती से 3/2/32 लिख दिया। इस पत्र का विश्लेषण करते हुए मोहनदास नैमिशराय लिखते हैं कि माननीय पी.जी.गवई साहब से चर्चा के बाद यह स्पष्ट हो सका है कि उस समय यानी 1932 में बहिष्कृत समाजोद्धारक नानासाहब गवई ने ऑल इंडिया डिप्रेस्ड क्लासेज एसोसिएशन नाम की संस्था स्थापित कर राष्ट्रीय स्तर पर अपनी सक्रिय भूमिका

108. मोहनदास नैमिशराय (2013) वही : 213.

निभा रहे थे। इस एसोसिएशन के राष्ट्रीय अध्यक्ष माननीय मा.एम.सी. राजा (मद्रास) और महासचिव माननीय नाना साहब गवई थे। इस पत्र का अध्ययन करने के बाद सहसा डॉ. बाबासाहेब डॉ. आंबेडकर के मस्तिष्क में उस समय चल रही उधेड़बुन से लगता है कि वे परेशान होंगे तब ही तो वे लिख रहे हैं कि हमारे नेताओं की नीति इस वक्त बिगड़ गई है। डॉ. आंबेडकर की भाषा बता रही है कि उन्होंने इस समय उनके साथ काम करने वाले साथियों को ही नेता संबोधित किया है। इस पत्र में उस समय की स्थितियों की स्पष्ट झलक दिखाई देती है कि नाना साहब गवई और एम.सी. राजा डॉ. आंबेडकर के विचारों से सहमत नहीं थे तभी तो उन्होंने लिखा है राजा गवई का समाचार हम लोग ले सकते हैं। मोहनदास नैमिशराय आगे और लिखते हैं कि यहाँ हम विशेष तौर पर उल्लेख करना चाहेंगे कि डॉ. आंबेडकर ने यह पत्र स्वामी अछूतानन्द जी को लिखा है जो उस समय आदि-हिंदू आंदोलन के प्रचारक थे। इस पत्र की भाषा बताती है कि डॉ. आंबेडकर स्वामी अछूतानन्द के सहयोग से अपने विरोधी खेमे को पटखनी देने के विचार में थे।[109] स्मरणीय है कि नानासाहब गवई ने मद्रास के एम.सी. राजा साहब को एसोसिएशन का अध्यक्ष बनाकर अपनी शक्ति का प्रदर्शन कर दिया था।[110]

हिंदी दलित पत्रकारिता के जनक

उस समय अछूतों की समस्याओं को उठाने वाला और लोगों तक पहुंचाने वाला दलित समाज का कोई भी समाचार-पत्र या पत्रिका नहीं थी। स्वामी अछूतानन्द जी ने ''अछूत'' नाम से बाद में ''आदि हिंदू'' पत्र चलाया। इस प्रकार वे उत्तर भारत में दलित पत्रकारिता के सूत्रधार बने। सम्मान आंदोलन की अलख जगाने का बहुत कुछ श्रेय इनको है।

साहित्य सृजन

शम्बूक बलिदान (नाटक), मायानाद, बलिदान,(जीवनी), अछूत पुकार (भजनावली), पाखण्ड खण्डिनी (मीमांसा), आदिवंश का डंका (कवितावली),

109. मोहनदास नैमिशराय (2013) वही : 215-217.
110. कंवल भारती (2011) वही : 193.

रामराज्य न्याय (नाटक), संतमाया, लवणासुर वध आदि की भी रचना की है। इस सम्मान संघर्ष में सर्वाधिक योगदान भदन्त बोधानन्द का था, जो दलित और पिछड़े वर्गों में स्वाभिमान जगाने में संलग्न थे। लखनऊ के अन्य नागरिकों में सर्वश्री राम सहाय पासी, रामचरण मल्लाह, शिवदयाल सिंह चौरसिया, चौधरी बुद्ध देव रैदास, भगौती प्रसाद कुरील, चौधरी होरीलाल, श्री महादेव प्रसाद धानुक, बदलूराम रसिक, रामचरण भुर्जी, एडवोकेट गौरी शंकर पाल आदि मुख्य थे। इस आयोजन का नेतृत्व स्वामी अछूतानन्द जी ने किया था।

(चित्र संख्या 1)

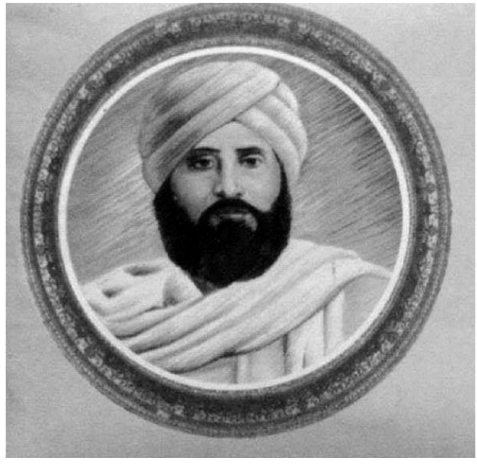

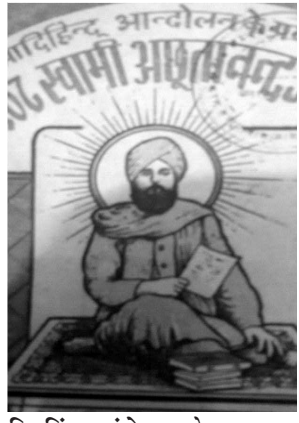

उत्तर भारत में आदि-हिंदू आंदोलन के जनक स्वामी अछूतानन्द)

दलित सम्मान आंदोलन : नवरत्न कमेटी के सदस्य

भदन्त बोधानन्द द्वारा सामाजिक परिवर्तन के लिए गठित नवरत्न कमेटी में 1. भदन्त बोधानन्द 2. 108 स्वामी अछूतानन्द 3. राय साहब राम सहाय पासी 4. राय साहब रामचरन मल्लाह 5. एडवोकेट शिवदयाल सिंह चौरसिया 6. चन्द्रिका प्रसाद जिज्ञासु 7. महादेव प्रसाद धानुक 8. वैद्यरत्न बदलू राम रसिक 9. एडवोकेट गौरी शंकर पाल जैसे कर्मठ लोग सम्मिलित थे। इनके अलावा सर्वश्री राम चरन भुर्जी, कुदरू तुल्लाह धुनिया, छंगालाल बहेलिया, राय साहब श्याम लाल बरेठा, गया प्रसाद कुरील (बाद में डॉ. गया प्रसाद प्रशान्त नाम से प्रसिद्ध) इस सामाजिक परिवर्तन आंदोलन में भदन्त बोधानन्द के सहयोगी थे, जो विभिन्न जातियों और वर्गों का प्रतिनिधित्व करते थे। उस युग में यह कार्य नि:सन्देह एक कठिन कार्य था।[111] यह कमेटी वास्तव में दलित समुदाय में शामिल विभिन्न जातियों का एक इंद्रधनुषीय संकलन थी।

चन्द्रिका प्रसाद जिज्ञासु : जीवन वृत्त

लखनऊ के दलित सम्मान आंदोलन में एक नाम चंद्रिका प्रसाद जिज्ञासु जी का भी सम्मिलित है जिन्होंने साहित्य को दलित सम्मान आंदोलन का माध्यम बनाया। चंद्रिका प्रसाद जिज्ञासु का जन्म 1889 में हुआ था। जब वे 11 वर्ष के थे तो उनके माता-पिता का देहांत हो गया था। वह एकदम अनाथ से हो गए परंतु विषम परिस्थितियों में भी वे घबराए नहीं। ऐसी परिस्थिति में उनकी स्कूली शिक्षा कक्षा 10 तक हो सकी। बाद में उन्होंने संस्कृत में 'मध्यमा' और 'फारसी' में 'गुलिस्ताँ बोस्ताँ' को स्वयं पढ़कर पास किया। हिंदी, उर्दू, बांग्ला, संस्कृत, अरबी-फारसी और पश्तो, भाषाओं का ज्ञान रखते थे। कुरान शरीफ का उन्होंने हिंदी में अनुवाद किया था शुरुआती दिनों में आर्य समाज के सम्मेलनों से प्रभावित रहे।

साहित्य रचना :

आर्य समाजियों ने जिज्ञासु जी से पहली पुस्तक 'महाराणा प्रताप सिंह' लिखवाई, जिसे आर्य पुस्तकालय बरेली द्वारा प्रकाशित करवाया गया। लखनऊ

111. अँगने लाल, राहुल राज (2011).

से गोपाल लाल खत्री ने उसी समय 'नागरी प्रचारिणी' मासिक पत्रिका शुरू की थी। उसका सम्पादन श्री रूप नारायण पाण्डेय करते थे। लेकिन वे जब काशी चले गए, उस समय उसके सम्पादक चन्द्रिका प्रसाद जिज्ञासु जी नियुक्त हुए। प्रूफ रीडिंग के माध्यम से जिज्ञासु जी को विभिन्न प्रकार के धर्मग्रन्थों तथा विविध साहित्य का ज्ञान प्राप्त हुआ। लेकिन यह प्रूफ रींडिग का कार्य दूसरों की दयादृष्टि पर ही निर्भर था। उस समय स्वामी अछूतानन्द के आदि हिंदू आंदोलन और बाबा साहेब डॉ. आंबेडकर के दलित और पिछड़े वर्गों के लिए छेड़े गए राजनैतिक आंदोलन तथा भदन्त बोधानन्द के बौद्ध वैचारिक आंदोलन को भी जिज्ञासु जी प्रेस के माध्यम से पढ़ और समझ रहे थे। धीरे-धीरे दूसरों की प्रूफ रीडिंग उन्हें बोझ लगने लगी वे अपनी ओर गम्भीरतापूर्वक झांकने लगे। उन्होंने स्वतंत्र जीविका का मार्ग अपनाने का निश्चय किया। हिंदू समाज-सुधार कार्यालय स्थापित किया और उसके द्वारा 'ट्रैक्ट' छापने लगे। इनका पहला ट्रैक्ट 1930 ई. में छपा, जिसका नाम था 'राष्ट्रीय डंका'। उसमें राष्ट्रीय गाने थे। जोशीले गानों से भरपूर इस किताब के उर्दू और गुजराती में भी संस्करण प्रकाशित हुए, लेकिन बाद में यह पुस्तक बैन कर दी गयी। यह किताब इतनी प्रचलित हुई कि एक साल में ही बारह संस्करण प्रकाशित हुए। इसके बाद स्वतंत्र भारत का सिंहनाद, आज़ादी की हुंकार, आज़ाद भारत के गाने, आज़ादी की गूंज, स्वतंत्र भारतीय गायन, सुदर्शन चक्र चरखा, स्वदेशी प्रचार विदेशी बहिष्कार, भगवान गाँधी और उनका धर्म राज्य आदि जिज्ञासु जी ने 60 ट्रैक्ट निकाले, जिनमें 22 जब्त हुए, 5 बार हिंदू समाज-सुधार कार्यालय की तलाशी हुई। यही नहीं, जिज्ञासु जी को इसके लिए धारा 124-ए में गिरफ्तार करके जेल भेज दिया गया। इस केस को वकील राय साहब रामचरन ने लड़ा और तीन महीने बाद इन्हें जेल से मुक्त कराया।

आर्थिक दृष्टि से जिज्ञासु जी टूटने लगे। तब कुछ समय इलाहाबाद जाकर अग्रवाल प्रेस में प्रूफ रीडिंग का कार्य किया। 1937 में श्री शारदा सक्सेना ने 'दैनिक नवजीवन' का जिज्ञासु जी को सम्पादक नियुक्त किया। इस प्रकार से जिज्ञासु जी ने दलित सम्मान आंदोलन को गति प्रदान करने और सुदृढ़ दिशा देने के लिए साहित्य को माध्यम बनाया था वे उसे आगे बढ़ाते रहे। सम्मेलनों में भागीदारी उनके लिए गौण मुद्दा था। वे अपने कार्य में पूर्ण सफल हुए और उत्तर भारत में दलित साहित्य प्रकाशन में नि:सन्देह वे एक प्रकाश स्तंभ के समान सिद्ध हुए। उनके प्रकाशन की लम्बी सूची है, उसमें से कुछ प्रमुख पुस्तकें इस

प्रकार हैं– भगवान गौतम बुद्ध, भारत के आदि निवासी, भारत के आदि निवासियों की सभ्यता, सृष्टि और मानव समाज का विकास, रावण और उसकी लंका, ईश्वर और उसके गुड्डे, रामराज्य न्याय नाटक, सन्त प्रवर रैदास साहेब, सद्गुरु कबीर का मानव सन्देश, बाबा साहेब डॉ. आंबेडकर का जीवन संघर्ष, बाबा साहेब का उपदेश और आदेश, बाबा साहेब का नागपुर का ऐतिहासिक भाषण, बाबा साहेब के चुने हुए पन्द्रह व्याख्यान, पूना पैक्ट बनाम गाँधी, बौद्ध धर्म में जय मंगल कार्य पद्धति, पिछड़ा मीमांसा, आदि वंश कथा, बौद्ध दीक्षा आदि। बुद्ध बिहार रिसालदार पार्क में महामना राहुल सांकृत्यायन, भदन्त आनन्द कौसल्यायन, डॉ. भिक्षु धर्मरक्षित, बाबा साहेब डॉ. आंबेडकर, सोहनलाल शास्त्री, शंकरानन्द शास्त्री आदि विद्वानों और सामाजिक कार्यकर्त्ताओं का आवागमन लगा रहता था, जिसके कारण जिज्ञासु जी का इन सभी से परिचय हो गया था।

एक पत्रकार के रूप में 'नवजीवन' अखबार में आने से पहले वे कुछ समय नागरी प्रचारिणी मासिक पत्रिका के सम्पादक रहे। फिर कलकत्ता के साप्ताहिक 'मारवाड़ी' के सम्पादक के रूप में कलकत्ता में कार्य किया। बाद में वे लखनऊ लौट आए। इसके बाद चंद्रिका प्रसाद जिज्ञासु पत्रकारिता के क्षेत्र में आए और नवजीवन में सहायक सम्पादक बने और फिर सेवा मुक्त होकर उन्होंने 'समाज सेवा प्रेस' कायम किया। उन्होंने 'कलवार संदेश' और 'हैहय क्षत्रिय' नाम की पत्रिकाएं निकाली। वे जब कविताएं लिखते थे तो उपनाम 'प्रकाश लखनवी' भी लिखते थे। 'सुधा' तथा 'सरस्वती' में भी अपने उपनाम से लेख लिखते थे। आरंभ में वे गाँधीवादी थे और राष्ट्रीय आंदोलन में भाग लेते थे। 'राष्ट्रीय डंका' और 'आज़ादी' शीर्षक से उनकी राष्ट्रीय कविताओं के ट्रैक्ट खूब बिके और बाद में ब्रिटिश सरकार द्वारा वे जब्त कर लिए गए। धीरे–धीरे उनका गाँधीवाद से मोहभंग हुआ और वे डॉ. आंबेडकर के प्रशंसक हो गए। जिज्ञासु जी दलित जाति के नहीं थे। वह कलवार थे, यदि आज की भाषा में कहें तो वे गैर दलित थे, उन्होंने अपनी जाति नहीं छिपाई बल्कि विद्वान बन कर जाति का नाम रोशन किया ताकि एक अत्यंत पिछड़ी जाति भी स्वाभिमान से सर उठा सके।[112]

चंद्रिका प्रसाद जिज्ञासु (1889– 1974) : लोकवृत और प्रकाशित साहित्य

डॉ. आंबेडकर और उनके साहित्य का जितना प्रचार आज है उतना 60 के

112. अँगने लाल, राहुल राज (2011): 47.

दशक में नहीं था। आरंभ में कुछ किताबें अंग्रेज़ी में थीं जिन्हें पढ़ने वाले नहीं के बराबर थे। ऐसे समय में जिज्ञासु जी ने विशेष परिश्रम करके डॉ. आंबेडकर के लेखन, साहित्य का प्रचार किया। उनका निवास लखनऊ के सआदतगंज में था। उनका कार्यालय 'हिंदू समाज सुधार' के नाम से था। बुद्ध के बहुजन शब्द से प्रभावित होकर चन्द्रिका प्रसाद जिज्ञासु ने बहुजन वैचारिकी के साहित्य के प्रसार के लिए 'बहुजन कल्याण प्रकाशन' की स्थापना की, और उसके माध्यम से कबीर, रैदास, बुद्ध, डॉ. आंबेडकर रामास्वामी नायकर और अन्य प्रगतिशील विचारकों के विचारों को 'बहुजन माला' के अंतर्गत जन-जन तक पहुँचाने का कार्य किया। उन्होंने 1961 में 'बाबासाहेब का जीवन संघर्ष' पुस्तक लिखी, जिसको पढ़कर हिंदी क्षेत्र की नई पीढ़ी डॉ. आंबेडकर और उनके नेतृत्व से परिचित हुई। इसके अतिरिक्त उन्होंने बाबासाहेब की अनेक कृतियों के हिंदी में अनुवाद कराकर प्रकाशित किए, जिनमें 'बाबासाहेब के पन्द्रह व्याख्यान', 'अछूतों की विमुक्ति और गाँधी', 'शूद्रों की खोज, अछूत कौन और कैसे', 'जातिभेद का उच्छेद', 'बाबासाहेब का उपदेश और आदेश', 'बाबासाहेब की भविष्य वाणी', 'पूना पैक्ट बनाम गाँधी', 'गाँधी डॉ. आंबेडकर विवाद', 'कांग्रेस और गाँधी ने अछूतों के लिए क्या किया', 'भारत का विभाजन अथवा पकिस्तान', 'हिंदू नारी का उत्थान और पतन', 'गाँधीवाद की मीमांसा', 'भारत में जातिवाद', और 'रूपये की समस्या' थीं। महाराष्ट्र सरकार द्वारा सम्पूर्ण रचनावली प्रकाशित करने से दो दशक पहले ही उन्होंने बाबासाहेब की प्रमुख रचनाओं को हिंदी में प्रकाशित करा दिया था। इसके अतिरिक्त जिज्ञासु जी ने 'शिव तत्त्व प्रकाश', 'रावण और उसकी लंका', 'ईश्वर और उसके गुड्डे', 'पिछड़े वर्ग के वैधानिक अधिकारों का सरकार द्वारा हनन', 'संत प्रवर रैदास', 'बौद्ध धर्म ही भारत का सच्चा धर्म', 'शम्बूक वध नाटक', 'आदिवंश का डंका', 'आर्य नीति का भंडाफोड़', 'हिंदू संस्कृति में वर्णव्यवस्था और जातिभेद', 'मनुस्मृति : एक प्रतिक्रिया' शीर्षक पुस्तकों का प्रकाशन किया, जिनमें अधिकांश के लेखक वह स्वयं थे। यह वह लेखन था, जो हिंदी साहित्य में क्रांतिकारी था, और सामाजिक बदलाव के लिए था पर न ही कभी साहित्यिक विमर्श ने और न ही समाज विज्ञान ने इस परिवर्तकामी साहित्य को अध्ययन और विश्लेषण के लिए उपयुक्त माना।

 # (चित्र संख्या : 2)

(चंद्रिका प्रसाद जिज्ञासु द्वारा स्थापित (हिंदू समाज सुधार कार्यालय[113])
बहुजन कल्याण प्रकाशन द्वारा प्रकाशित बुकलेट और पुस्तिकाएँ)

यह पुस्तिकाएँ, बुकलेट्स और साहित्य-संस्थान द्वारा प्रदान किए गए विंटर स्टडी लीव के तहत किए गए क्षेत्र कार्य के दौरान एकत्रित किए गए हैं।

113. चंद्रिका प्रसाद जिज्ञासु जब आदि हिंदू आंदोलन के प्रवर्तक स्वामी अछूतानन्द हरिहर और डॉ. अम्बेडकर के संपर्क में आए तो उसके बाद उन्होंने अपनी प्रेस का नाम 'हिंदू समाज सुधार कार्यालय' से बदलकर 'बहुजन कल्याण प्रकाशन' रख दिया।

(चित्र संख्या : 3.)

अम्बेडकर-साहित्य हिन्दी में पढ़िए

१.	बाबासाहेब का जीवन-संघर्ष (लेखक–चंद्रिकाप्रसाद जिज्ञासु)	४५.००
२.	बाबासाहेब के पंद्रह व्याख्यान (अनुवादक–चंद्रिकाप्रसाद जिज्ञासु)	३०.००
३.	रानडे गांधी और जिन्ना (पूना में रानडे जयंती पर भाषण)	२०.००
४.	अछूतों की विमुक्ति और गांधीजी (कनाडा का भाषण)	१०.००
५.	शूद्रो की खोज–Who were Shudras का हिन्दी अनुवाद	३०.००
६.	अछूत कौन और कैसे (The Untouchable का अनुवाद)	४०.००
७.	जातिभेद का उच्छेद (Annihilation of Casts का अनुवाद)	४०.००
८.	जातिभेद का विनाश (उक्त पुस्तक का संक्षिप्त सार)	१०.००
९.	नागपुर की भाषण हम बौद्ध क्यों बनें? (ऐतिहासिक भाषण)	५.००
१०.	बाबासाहेब का उपदेश और आदेश (प्रथम भाग)	५.००
११.	बाबासाहेब का उपदेश और आदेश (द्वितीय भाग)	१०.००
१२.	बाबासाहेब की भविष्य वाणी (कश्मीर पर पाँच भाषण)	१०.००
१३.	पूना-पैक्ट बनाम गांधी (पूना-पैक्ट की नंगी तस्वीर)	४०.००
१४.	गांधी अम्बेडकर विवाद, गांधी के लेखों का मुँहतोड़ उत्तर	१०.००
१५.	कांग्रेस और गांधी ने अछूतों के लिए क्या किया?	४५.००
१६.	भारत का विभाजन अथवा पाकिस्तान (राजनीतिक इतिहास)	५०.००
१७.	भारतीय रिपब्लीकन पार्टी, नई दिल्ली का संदेश	१०.००
१८.	भारतीय रिपब्लीकन पार्टी ही क्यों आवश्यक है?	५.००
१९.	हिन्दू-नारी का उत्थान और पतन (एक हिन्दू लेखक का उत्तर)	२०.००
२०.	गांधीवाद की मीमांसा (गांधीवाद पर गम्भीर विचार)	१०.००
२१.	भारत में जातिवाद (Casts in India का अनुवाद)	१०.००
२२.	अम्बेडकर जीवन-दर्शन (जिज्ञासु)	५.००
२३.	बाबासाहेब द्वारा लीलावतारों का पोल-प्रकाश	२०.००
२४.	बौद्ध-धर्म की रूपरेखा हिन्दू-धर्म से क्यों-कैसे भिन्न है	२०.००
२५.	What Congress & Gandhi have done to the Untouchables	७०.००

बहुजन कल्याण प्रकाशन, सआदतगंज, लखनऊ—३

(चंद्रिका प्रसाद जिज्ञासु द्वारा स्थापित बहुजन कल्याण प्रकाशन द्वारा प्रकाशित एक बुकलेट के अंतिम पृष्ठ पर प्रकाशित की गई बुकलेट और पुस्तिकाओं की सूची और उनकी कीमत)

(चित्र संख्या : 4.)

(चंद्रिका प्रसाद जिज्ञासु द्वारा स्थापित बहुजन कल्याण प्रकाशन द्वारा प्रकाशित प्रत्येक बुकलेट के अंतिम पृष्ठ पर प्रकाशित की गई बुकलेट और पुस्तिकाओं की सूची और उनकी कीमत दी जाती थी)

वे गाँव-गाँव साइकिल से डॉ. आंबेडकर की विचारधारा का प्रचार करते थे। उनके अनेक अनुयाई थे जिनके अनुसार अनुप्राणित लेखकों की लखनऊ में लंबी फेहरिस्त थी। इनमें राज्य वैद्य बदलूराम रसिक, खेमचंद सौगात, श्रीवर्धन मंगल देव विशारद, रामस्वरूप वर्मा, छेदीलाल साथी, अँगने लाल, माता प्रसाद सागर और कन्हैया लाल कमल ही मुख्य थे। महापंडित राहुल सांकृत्यायन, भदंत आनंद कौसल्यायन, आचार्य चतुरसेन, अमृतलाल नागर, भगवतीचरण वर्मा, महावीर प्रसाद द्विवेदी, दुलारे लाल भार्गव, डॉ. राम मनोहर लोहिया और बाबू जगजीवन राम जैसी प्रख्यात हस्तियाँ उनके कार्यालय में आ चुकी थीं। बाबू जगजीवन राम ने उनके अभिनंदन की योजना बनाई पर उन्होंने मना कर दिया।[114] जिज्ञासु जी ने प्रेस की स्थापना 1960 में की थी जो उनकी रचनाकर्म का विशाल संसार है। इस संदर्भ में दलित लेखक कंवल भारती के अनुसार उनके द्वारा लिखित सम्पादित और अनूदित पुस्तकों की ठीक-ठीक संख्या बताना मुश्किल है।[115] उनकी संख्या 100 से अधिक हो सकती है। जिज्ञासु जी की मृत्यु बड़े हृदय विदारक हादसे के कारण हुई। सर्दी के मौसम में वह कपड़े भी काफ़ी पहनते थे और रजाई ओढ़ते थे तथा चारपाई के नीचे हीटर भी लगाते थे। एक रात हीटर से चारपाई ने आग पकड़ ली। काफ़ी जल जाने के कारण वह 10 घंटे ही जीवित रहे और साल 1974 में वे इस दुनिया में नहीं रहे।[116]

उनके द्वारा लिखित और सम्पादित कविता संग्रह शोषित पुकार, बहुजन हुंकार, भीम चेतावनी, हरिजन गोहार, अछूत कौन और क्यों हैं, शोषित प्रबोध शीर्षक कविता उनकी अत्यंत सशक्त और जोशीली कविता है :-

उठो जागो तोड़ो यह नींद
देश पर कर लो निज अधिकार
यही बाबा है उपदेश
यही है ज्ञान नीति का सार
पहन लो अक्षय अहिंसा कवच

---

114. मोहनदास नैमिशराय (2013) वही : 256-257.
115. कंवल भारती (2000) माझी जनता, 27, अगस्त : 4.
116. मोहनदास नैमिशराय (2013) वही : 257.

मुक्ति के लिए करो संघर्ष
तुम्हारी निश्चित ही है विजय
तुम्हारा ही है भारत वर्ष॥

चंद्रिका प्रसाद जिज्ञासु ने गद्य में बहुत सी पुस्तकें लिखी जिनमें मौलिक लेखन से लेकर अनुवाद शामिल हैं। उन्होंने अपने जीवन को हिंदू ज्ञान धारा में समर्पित किया और संतों के सानिध्य में रहकर ज्ञान प्राप्त किया। उन्होंने गीता, रामचरितमानस तथा रामतीर्थ ग्रंथावली का सम्पादन विश्लेषण और व्याख्याएँ की हैं। उनकी एक पुस्तक 'मोहिनी विद्या' है जो 1938 में उनकी तत्कालीन प्रकाशन संस्था 'श्री सरस्वती साहित्य मंदिर' से प्रकाशित हुई। 216 पृष्ठों की इस पुस्तक का मूल्य दो रुपए था। यह सम्मोहन विज्ञान पर एक बेहतरीन पुस्तक है। दलित चिंतन धारा की पहली हिंदी पुस्तक संभवत: 'मूल भारतवासी और आर्य थी' जिसे भदंत बोधानंद महास्थविर ने 1930 में लिखा था। इस पुस्तक से प्रभावित होकर ही उन्होंने भारत के आदिवासी नाम का एक ग्रंथ लिखा। 12 अध्याय के इस ग्रंथ के तीन अध्याय 'सृष्टि और मानव समाज' का विकास नाम से छपे। पाँचवे अध्याय से लेकर बारहवें अध्याय तक को 'भारत के मूलनिवासी और आर्य' शीर्षक से प्रकाशित कराने की उनकी इच्छा पूरी नहीं हुई। चौथा अध्याय भारत के 'आदिवासियों की सभ्यता' नाम से 1937 में छपा, इस पुस्तक के 1969 तक छ: संस्करण प्रकाशित हुए। जिज्ञासु जी की 'पिछड़े वर्ग के वैधानिक अधिकारों का हनन' 1957 में प्रकाशित पुस्तक ने दलित वर्गों में तहलका मचा दिया। उन्होंने इस पुस्तक में पिछड़ी जातियों के अधिकारों के सवाल पर डॉ. आंबेडकर की उस ऐतिहासिक वार्ता को भी दिया जो 30 अक्टूबर 1953 को लखनऊ के पिछड़ी जातियों के नेता शिवदयाल सिंह चौरसिया और कानपुर के दीनानाथ मोदी के साथ हुई थी। इस वार्ता में डॉ. आंबेडकर ने कहा था,''अछूत और पिछड़े वर्ग दोनों को मिलकर निर्वाचनों में सभी स्थानों पर अपने प्रतिनिधियों को खड़ा करना चाहिए। वे जितनी बार हारेंगे उतनी ही बार पिछड़े वर्ग के प्रतिनिधित्व के लिए वोटरों के मन में चाह उत्पन्न होगी।''[117]

चंद्रिका प्रसाद जिज्ञासु जी ने कालेलकर आयोग की रिपोर्ट की समीक्षा के

117. मोहनदास नैमिशराय (2013) वही : 258.

साथ-साथ उस रिपोर्ट की गृहमंत्री श्री गोविंद बल्लभ पंत द्वारा की गई आलोचना की भी तीखी आलोचना की है। 1959 में उनकी तीन पुस्तकें प्रकाशित हुई। वें पुस्तके हैं संत प्रवर रैदास, ईश्वर और उसके गुड्डे तथा रावण और उसकी लंका इनमें संत प्रवर रैदास पुस्तक सर्वाधिक चर्चा का विषय रही। उनकी यह पुस्तक संत रैदास के बारे में बड़ी वैचारिक क्रांति की तरह से है। इनमें रैदास जी का चित्रण कुछ इस तरह से है जो कि श्रवणमार्गी, बौद्धधर्मी और दलित मुक्ति के संघर्ष के नायक हैं। इसी तरह से रावण और उसकी लंका जिज्ञासु जी की एक अनुपम कृति है।

ललई सिंह यादव (1 सितंबर 1921-7 फरवरी 1993)

उत्तर भारत के इस बहुजन वैचारिक आंदोलन से कानपुर के ललई सिंह यादव भी जुड़े। वह सामाजिक समानता के लिए ब्राह्मणवाद के विरुद्ध खड़े हुए। वे 1933 में ग्वालियर की सशस्त्र पुलिस बल में बतौर सिपाही भर्ती हुए थे। पर कांग्रेस के स्वराज का समर्थन करने के कारण दो साल बाद बर्खास्त कर दिए गए। उन्होंने अपील की, अपील में वह बहाल कर दिए गए। 1946 में उन्होंने ग्वालियर में ही 'नान-गजेटेड मुलाजिमान पुलिस एंड आर्मी संघ' की स्थापना की, और सर्वसम्मति से उसके अध्यक्ष बने। इस संघ के द्वारा उन्होंने पुलिस कर्मियों की समस्याएं उठाईं और उनके लिए उच्च अधिकारियों से लड़े। जब अमेरिका में भारतीयों ने लाला हरदयाल के नेतृत्व में 'गदर पार्टी' बनाई, तो भारतीय सेना के जवानों को स्वतन्त्रता आंदोलन से जोड़ने के लिए 'सोल्जर ऑफ़ दि वार' पुस्तक लिखी गई थी। ललई सिंह ने उसी की तर्ज पर 1946 में 'सिपाही की तबाही' किताब लिखी, जो छप तो नहीं पाई, पर टाइप करके उसे सिपाहियों में बाँट दिया गया था। लेकिन जैसे ही सेना के इंस्पेक्टर जनरल को इस किताब के बारे में पता चला, उसने अपनी विशेष आज्ञा से उसे जब्त कर लिया। 'सिपाही की तबाही' वार्तालाप शैली में लिखी गई किताब थी। यदि वह प्रकाशित हुई होती, तो उसकी तुलना आज महात्मा ज्योतिबा फुले की 'किसान का कोड़ा' और 'अछूतों की कैफियत' किताबों से होती।

ललई सिंह यादव और 'सच्ची रामायण'

पेरियार की किताब 'रामायण : अ ट्रू रीडिंग' का हिंदी अनुवाद 1970 के

दशक में ललई सिंह यादव द्वारा प्रकाशित होते ही सनसनी फैल गई थी। तत्कालीन उत्तर प्रदेश सरकार ने बिना कारण बताए ही किताब पर प्रतिबंध लगा दिया। दिसंबर, 1969 में तत्कालीन उत्तर प्रदेश सरकार ने पेरियार ई.वी. रामास्वामी नायकर की पुस्तक 'रामायण : अ ट्रू रीडिंग' की अंग्रेज़ी और हिंदी प्रतियों को ज़ब्त करने का आदेश दिया था।[118] द्रविड़ आंदोलन के अग्रणी, सामाजिक क्रांतिकारी पेरियार ई.वी. रामास्वामी नायकर की किताब सच्ची रामायण को पहली बार हिंदी में लाने का श्रेय ललई सिंह यादव को जाता है। उनके द्वारा पेरियार की सच्ची रामायण का हिंदी में अनुवाद करते ही उत्तर भारत में तूफान उठ खड़ा हुआ था। 1968 में ही ललई सिंह ने 'द रामायना: ए ट्रू रीडिंग' का हिंदी अनुवाद करा कर 'सच्ची रामायण' नाम से प्रकाशित कराया। तत्कालीन उत्तर प्रदेश सरकार ने दबाव में आकर 8 दिसम्बर 1969 को धार्मिक भावनाएँ भड़काने के आरोप में किताब को जब्त कर लिया। मामला इलाहाबाद हाईकोर्ट में गया। राज्य सरकार के वक़ील ने कोर्ट में कहा कि यह पुस्तक राज्य की विशाल हिंदू जनसंख्या की पवित्र भावनाओं पर प्रहार करती है और इस पुस्तक के लेखक ने बहुत ही खुली भाषा में महान अवतार श्रीराम और सीता एवं जनक जैसे दैवी चरित्रों पर कलंक मढ़ा है, जिसकी हिंदू पूजा करते हैं। इसलिए इस किताब पर प्रतिबंध लगाना जरूरी है। ललई सिंह यादव के एडवोकेट बनवारी लाल यादव ने 'सच्ची रामायण' के पक्ष में जबर्दस्त पैरवी की। 19 जनवरी 1971 को कोर्ट ने जब्ती का आदेश निरस्त करते हुए सरकार को निर्देश दिया कि वह सभी जब्तशुदा पुस्तकें वापस करे और अपीलकर्त्ता ललई सिंह को तीन सौ रुपए मुकदमे का खर्च दे। इसके बाद उत्तर प्रदेश सरकार ने इलाहाबाद हाईकोर्ट के निर्णय के खिलाफ सुप्रीम कोर्ट में अपील की। सुनवाई तीन जजों की पीठ ने की, जिसकी अध्यक्षता न्यायमूर्ति वीआर कृष्ण अय्यर ने की और इसके दो अन्य जज थे पीएन भगवती और सैयद मुर्तज़ा फ़ज़ल अली. सुप्रीम कोर्ट में 'उत्तर प्रदेश सरकार बनाम ललई सिंह यादव' नाम से इस मामले पर फ़ैसला 16 सितम्बर 1976 को आया। फ़ैसला पुस्तक के प्रकाशक के पक्ष में रहा। इलाहाबाद हाईकोर्ट के फ़ैसले को सुप्रीम कोर्ट ने सही माना और राज्य सरकार की अपील

---

118. अशोक झा https://www.forwardpress.in/2019/03/lalai-singh-yadav-sachchi-ramayan-hindi-2/ पर उपलब्ध।

को ख़ारिज कर दिया। इस घटना के बाद ललई सिंह उत्तर भारत के पेरियार कहलाये।[119]

(चित्र संख्या : 5.)

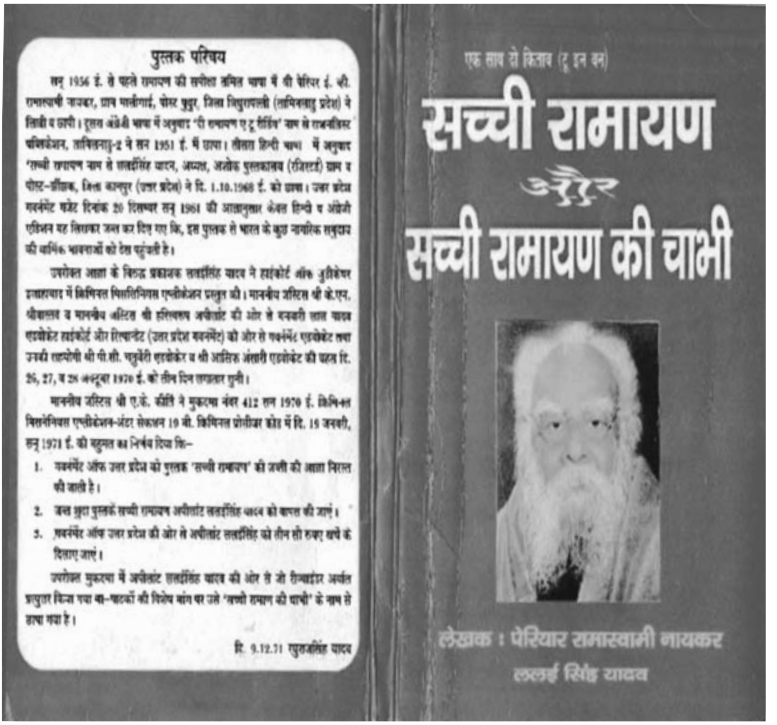

पुस्तक परिचय

सन् 1956 ई. से पहले रामायण की समीक्षा उर्दू भाषा में पी.वी.आर. नरसिंह राव, ग्राम मालीगाई, पोस्ट पुदुर, जिला त्रिचुरापल्ली (तमिलनाडु प्रदेश) ने लिखी व छापी। दूसरा संस्करण अंग्रेजी भाषा में अनुवाद 'दी रामायण ए ट्रू रीडिंग' नाम से राजकीडिंग पब्लिकेशन, त्रिचिनापल्ली-2 ने सन 1961 ई. में छापा। तीसरा हिन्दी भाषा में अनुवाद 'सच्ची रामायण' नाम से लालसिंह यादव, अध्यक्ष, अखिल भारतीय पुलकाश्रय (रजिस्टर्ड) ग्राम व पोस्ट-झींझक, जिला कानपुर (उत्तर प्रदेश) ने दि. 1.10.1968 ई. को छापा। उक्त प्रदेश गवर्नमेंट गजेट दिनांक 26 दिसम्बर सन् 1969 की आज्ञानुसार केवल हिन्दी व अंग्रेजी एडिशन पर लिखकर जब्त कर दिए गए कि, इस पुस्तक से भारत के कुछ नागरिकों की धार्मिक भावनाओं को ठेस पहुंचती है।

उपरोक्त आज्ञा के विरुद्ध प्रकाशक लालसिंह यादव ने हाईकोर्ट ऑफ जुडीकेचर इलाहाबाद में क्रिमिनल मिसलिनियस एप्लीकेशन प्रस्तुत की। माननीय जस्टिस श्री के.एन. वीवास्तव व माननीय जस्टिस श्री हरिस्वरूप अधीक्षक की ओर से बनवारी लाल यादव एडवोकेट हाईकोर्ट और शिवधारी (उत्तर प्रदेश गवर्नमेंट) की ओर से गवर्नमेंट एडवोकेट तथा उनकी सहायता श्री पी.सी. चतुर्वेदी एडवोकेट व श्री अतिरिक्त असिस्टेंट एडवोकेट की धारा दि. 25, 27, व 28 अगस्त 1970 ई. को तीन दिन तक्षकर सुनी।

माननीय जस्टिस श्री ए.के. बोस ने मुकदमा नंबर 412 सन 1970 ई. क्रिमिनल मिसलेनियस एप्लीकेशन-अंडर सेक्शन 19 श्री. क्रिमिनल प्रोसीजर कोड में दि. 15 जनवरी, सन् 1971 ई. को मुख्तसर सा निर्णय दिया कि–

1. गवर्नमेंट ऑफ उत्तर प्रदेश को पुस्तक 'सच्ची रामायण' की जब्ती की आज्ञा निरस्त की जाती है।
2. जब्त शुदा पुस्तकें सच्ची रामायण अधीक्षक लालसिंह यादव को वापस की जाएं।
3. गवर्नमेंट ऑफ उत्तर प्रदेश की ओर से अधीक्षक लालसिंह को तीन सौ रुपए खर्चे के दिलाए जाएं।

उपरोक्त मुकदमा में अधीक्षक लालसिंह यादव की ओर से जो रीडाइंडर अर्थात प्रत्युत्तर किया गया था–फलकों की विशेष बातों पर उसे 'सच्ची रामायण की चाभी' के नाम से छापा गया है।

दि. 9.12.71 लालसिंह यादव

एक साथ दो किताब (टू इन वन)

सच्ची रामायण

और

सच्ची रामायण की चाभी

लेखक : पेरियार रामास्वामी नायकर

ललई सिंह यादव

(सच्ची रामायण ललई सिंह यादव द्वारा प्रकाशित पेरियार ई.वी.रामास्वामी नायकर की किताब 'रामायण : अ ट्रू रीडिंग' का हिंदी अनुवाद)

बौद्ध बन गए ललई सिंह

इलाहाबाद हाईकोर्ट और सुप्रीम कोर्ट में सच्ची रामायण के पक्ष में मुकदमा जीतने के बाद पेरियार ललई सिंह दलित–पिछड़ों के नायक बन गए। ललई सिंह

119. सिद्धार्थ https://hindi.theprint.in/opinion/why-did-become-a-buddhist-the-sachchi-ramayana-printer-lalai-yadav/44163/ पर उपलब्ध.

यादव ने 1967 में हिंदू धर्म का त्याग करके बौद्ध धर्म अपना लिया था। बौद्ध धर्म अपनाने के बाद उन्होंने अपने नाम से यादव शब्द हटा दिया। यादव शब्द हटाने के पीछे उनकी गहरी जाति विरोधी चेतना काम कर रही थी। वे जाति विहीन समाज के लिए संघर्ष कर रहे थे। पेरियार ललई सिंह यादव ने इतिहास के बहुजन नायकों की खोज की। बौद्ध धर्मानुयायी बहुजन राजा अशोक उनके आदर्श व्यक्तित्वों में शामिल थे। उन्होंने 'अशोक पुस्तकालय' नाम से प्रकाशन संस्था कायम की और अपना प्रिन्टिंग प्रेस लगाया, जिसका नाम 'सस्ता प्रेस' रखा था। उन्होंने पाँच नाटक लिखे- (1) अंगुलीमाल नाटक, (2) शम्बूक वध, (3) सन्त माया बलिदान, (4) एकलव्य, और (5) नाग यज्ञ नाटक। गद्य में भी उन्होंने तीन किताबें लिखीं- (1) शोषितों पर धार्मिक डकैती, (2) शोषितों पर राजनीतिक डकैती, और (3) सामाजिक विषमता कैसे समाप्त हो? उनके नाटकों और साहित्य में उनके योगदान के बारे में कंवल भारती लिखते हैं कि यह साहित्य हिंदी साहित्य के समानान्तर नई वैचारिक क्रांति का साहित्य था, जिसने हिंदू नायकों और हिंदू संस्कृति पर दलित वर्गों की सोच को बदल दिया था। यह नया विमर्श था, जिसका हिंदी साहित्य में अभाव था। ललई सिंह के इस साहित्य ने बहुजनों में ब्राह्मणवाद के विरुद्ध विद्रोही चेतना पैदा की और उनमें श्रमण संस्कृति और वैचारिकी का नवजागरण किया। यह हिंदी साहित्य के समानान्तर नई वैचारिक क्रांति का साहित्य था, जिसने हिंदू नायकों और हिंदू संस्कृति पर दलित वर्गों की सोच को बदल दिया था। यह नया विमर्श था, जिसका हिंदी साहित्य में अभाव था। इस कड़ी में रायसाहेब रामसहाय पासी, शिवदयाल सिंह चौरसिया, छंगा लाल बहेलिया, भूलन प्रसाद, डा.गयाप्रसाद प्रशांत, नारायण दास, रामस्वरूप वर्मा, जगदेव प्रसाद, मंगल देव विशारद, महाराज सिंह भारती, क्षेत्रपाल सिंह यादव, महावीर प्रसाद बनौधा इत्यादि भी दलित-बहुजन वैचारिकी के महत्त्वपूर्ण हस्ताक्षर हुए हैं।

(चित्र संख्या : 6.)

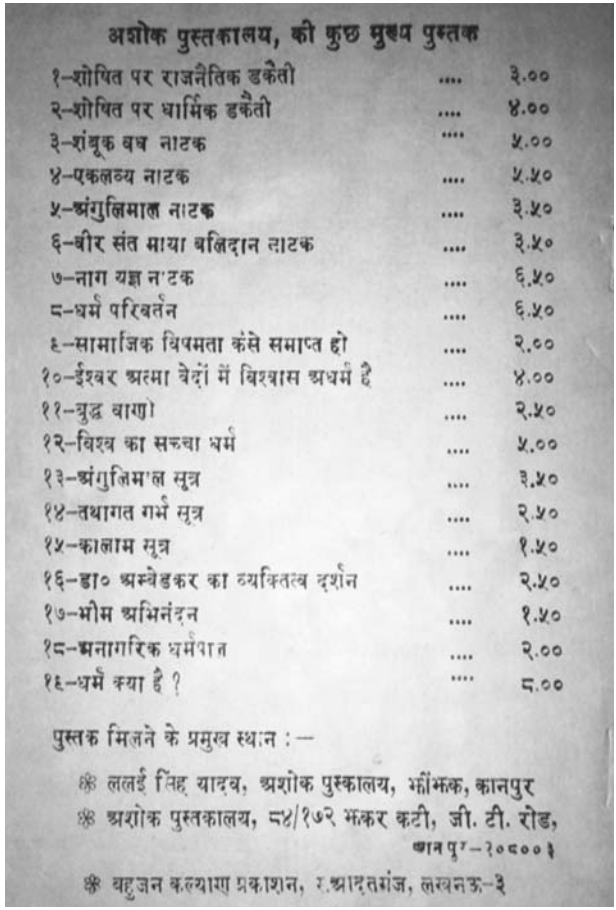

अशोक पुस्तकालय, की कुछ मुख्य पुस्तक

१–शोषित पर राजनैतिक डकैती	....	३.००
२–शोषित पर धार्मिक डकैती	....	४.००
३–शंबूक वध नाटक	....	५.००
४–एकलव्य नाटक	....	५.५०
५–अंगुलिमाल नाटक	....	३.५०
६–वीर संत माया बलिदान नाटक	....	३.५०
७–नाग यज्ञ नाटक	....	६.५०
८–धर्म परिवर्तन	....	६.५०
९–सामाजिक विषमता कैसे समाप्त हो	....	२.००
१०–ईश्वर आत्मा वेदों में विश्वास अधर्म है	....	४.००
११–बुद्ध वाणी	....	२.५०
१२–विश्व का सच्चा धर्म	....	५.००
१३–अंगुलिमाल सूत्र	....	३.५०
१४–तथागत गर्भ सूत्र	....	२.५०
१५–कालाम सूत्र	....	१.५०
१६–डा० अम्बेडकर का व्यक्तित्व दर्शन	....	२.५०
१७–भीम अभिनंदन	....	१.५०
१८–अनागरिक धर्मपाल	....	२.००
१९–धर्म क्या है ?	....	८.००

पुस्तक मिलने के प्रमुख स्थान :—

❀ ललई सिंह यादव, अशोक पुस्कालय, झींझक, कानपुर
❀ अशोक पुस्तकालय, ८४/१७२ झकर कटी, जी. टी. रोड, कानपुर–२०८००३
❀ बहुजन कल्याण प्रकाशन, ४.आदतगंज, लखनऊ–३

(ललई सिंह यादव ने 'अशोक पुस्तकालय' नाम से प्रकाशन संस्था कायम की और अपना प्रिन्टिंग प्रेस लगाया, जिसका नाम 'सस्ता प्रेस' रखा था, अशोक पुस्तकालय द्वारा प्रकाशित पुस्तकें)

दलित प्रश्न और हिंदी भाषा का संसार : समकालीन संदर्भ

इस तरह से मुख्यधारा के हिंदी लेखकों की सामान्य धारणा के विपरीत, दलित साहित्य का उदय 1980 के दशक में दलितों की आत्मकथाओं और कथा

साहित्य के प्रकाशन से बहुत पहले हो गया था। दलितों ने सन् 1920 के दशक में ही हिंदी साहित्य में अपनी आवाज़ बुलंद करनी शुरू कर दी थी।

लेखक और साहित्यिक सिद्धांतकार शरणकुमार लिंबाले 'टूवर्ड्स एन एस्थेटिक ऑफ़ दलित लिटरेचर: हिस्ट्री' में दलित साहित्य को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि 'यह वह साहित्य है, जो दलितों के दु:खों, कष्टों और उनकी निर्धनता, दासता व नित अपमान का कलात्मक चित्रण करता है'। वे आगे लिखते हैं कि दलित साहित्य का एक विशिष्ट लक्षण यह है कि वह दलितों द्वारा, दलितों के लिए लिखा जाता है और बाबासाहेब आंबेडकर के विचारों से जनित दलित चेतना, उसका आधार होती है। बीसवीं सदी के मराठी, तमिल, अंग्रेज़ी व हिंदी साहित्य पर दलित चेतना का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है।[120]

इसी कड़ी में हाल ही में आयी उत्तर-औपनिवेशिक काल के दक्षिण एशियाई साहित्य की अध्येता सारा बेथ हंट की पुस्तक 'हिंदी दलित लिटरेचर एंड द पॉलिटिक्स ऑफ़ रिप्रजेंटेशन' (हिंदी दलित साहित्य और प्रतिनिधित्व की राजनीति), हिंदी में दलित साहित्य के उदय का समालोचनात्मक अध्ययन है। लेखिका ने स्वयं को साहित्य तक सीमित न रखते हुए राजनीति और पहचान से जुड़े मुद्दों पर भी चर्चा की है। यह पुस्तक, पहचान के निर्माण में दलित साहित्य की भूमिका, प्रतिनिधित्व की राजनीति व सामाजिक परिवर्तन के अतिरिक्त, साहित्य व राजनीति के अंतर्संबंधों पर भी प्रकाश डालती है। इस पुस्तक में लेखिका का एक प्रमुख तर्क यह है कि मुख्यधारा के हिंदी लेखकों की सामान्य धारणा के विपरीत, दलित साहित्य का उदय 1980 के दशक में दलितों की आत्मकथाओं और कथा साहित्य के प्रकाशन से बहुत पहले हो गया था। वे लिखतीं हैं, 'सन 1920 के आसपास, उत्तर भारत में दलित साहित्य का अभ्युदय, निजी दलित छापाखानों द्वारा छोटे-छोटे पर्चों के प्रकाशन के साथ हुआ, जिन पर बहुत कम खर्च आता था और जिन्हें सामाजिक समागमों और राजनैतिक सभाओं में केवल दलितों के बीच बांटा जाता था'।[121] कई अन्य विद्वानों का भी यह मत है कि भारतीय राजनीति के क्षितिज पर, 1920 के दशक में डॉ. आंबेडकर के उदय ने साहित्य पर जबरदस्त प्रभाव डाला। आंबेडकर से प्रभावित होकर अनेक दलित लेखकों ने अछूतों और नीची जातियों को जाग्रत करने के लिए लेखन को एक मिशन के रूप में अपनाया।

120. शरणकुमार लिंबाले (2004): 30.
121. सारा बेथ हंट (2014).

लिंबाले के अनुसार डॉ. आंबेडकर के राजनीति में प्रवेश (1920) से लेकर उनके द्वारा बौद्ध धर्म अपनाने (1956) का काल, दलित साहित्य में नवजागरण का काल था। इसी प्रकार, मुल्कराज आनंद व एलिनॉर जेलिएट द्वारा सम्पादित पुस्तक एन एंथोलोजी ऑफ़ दलित लिटरेचर (1992) में अपने आलेख 'दलित लिटरेचर : द हिस्टोरिकल बैकग्राउंड'[122] (दलित साहित्य: ऐतिहासिक पृष्ठभूमि) में जेलिएट कहतीं हैं कि दलित साहित्य का इतिहास, उससे कहीं अधिक पुराना है, जितना कि वह समझा जाता है। वे दलित साहित्य के इतिहास को महार आंदोलन, डॉ. आंबेडकर के अभियान और उनके द्वारा बौद्ध धर्म अपनाने से जोड़ती हैं। हंट भी यही कहती हैं और इस सिलसिले में उन्होंने शुरूआती दलित साहित्य के कई उदाहरण भी प्रस्तुत किए हैं।

विशिष्ट सामाजिक वृत्त (पब्लिक स्फियर) का निर्माण (1920 का दशक)

'हिंदी दलित लिटरेचर एंड द पॉलिटिक्स ऑफ़ रिप्रेजेंटेशन' के पहले दो अध्यायों में उत्तर प्रदेश में बीसवीं सदी के प्रारंभिक वर्षों में प्रकाशित दलित पर्चों की विवेचना की गई है। सार्वजनिक जीवन से अलग-थलग रहने को मजबूर दलितों में से कुछ ने अपने छापेखाने स्थापित किए। ऐसे ही एक उत्साही थे चंद्रिका प्रसाद जिज्ञासु। लखनऊ में सन 1899 में एक निम्न जाति कलवार (ओबीसी) परिवार में जन्मे जिज्ञासु ने 1930 के दशक में 'कल्याण प्रकाशन' की स्थापना की। शुरूआत में वे अपने लेखन द्वारा राष्ट्रवादी विचारों का प्रचार करते थे परंतु जल्दी ही उनका मुख्यधारा के राष्ट्रवादी आंदोलन से मोहभंग हो गया क्योंकि वह समाज सुधार के मुद्दे को पूरी तरह नज़रअंदाज़ कर रहा था। बाद में वे आदि हिंदू आंदोलन के अछूतानन्द और डॉ. आंबेडकर के संपर्क में आए और उन्होंने अपनी प्रेस का नाम 'हिंदू समाज सुधार कार्यालय' से बदलकर 'बहुजन कल्याण प्रकाशन' रख दिया। जिज्ञासु की सोच में जिस तरह का परिवर्तन आया, कुछ वैसा ही परिवर्तन बीसवीं सदी के प्रारंभिक वर्षों के कई दलित-ओबीसी लेखकों के विचारों में भी हुआ। उन्होंने हिंदू धर्म को पूरी तरह नकारना शुरू कर दिया। बहुजन लेखकों ने पर्चों का इस्तेमाल ''सामाजिक कार्य के औजार'' बतौर करना शुरू कर दिया। 1920 के आसपास उन्होंने दलितों के

122. एलिनॉर जेलिएट (1992): 3.

लिए अपने एक अलग सामाजिक क्षेत्र का निर्माण किया। उनके निशाने पर था हिंदू धर्म और उनका लेखन जाति, अछूत प्रथा, दलित इतिहास और भेदभाव से जुड़े मुद्दों पर केंद्रित था। इन पुस्तिकाओं, बुकलेट्स और पर्चों में प्रकाशित सामग्री का विवेचन करते हुए हंट कहती हैं कि अधिकांश पर्चों में दलितों को भारत के मूल निवासियों का वंशज और ऊँची जातियों को 'विदेशी आक्रांता' के रूप में प्रस्तुत किया गया–ऐसे विदेशी आक्रांता, जिनके पूर्वज आर्य थे। दूसरे शब्दों में, इन पर्चों ने 'मूल निवासी' की अवधारणा के आधार पर आर्यों के आगमन के पूर्व के काल को भारत का 'स्वर्णिम काल' निरूपित करना प्रारंभ कर दिया। इन पर्चों में आर्यों को 'बेईमान', 'लोभी', 'धोखेबाज', 'हिंसक' व 'आक्रामक' बताया गया और उन्हें अन्याय करने, कुशासन और घोर दमन करने का दोषी ठहराया गया। कुछ पर्चों में 'अन्यायपूर्ण' रामराज्य की तुलना राजा बाली के 'स्वर्णिम युग' से की गई। जैसा कि स्पष्ट है, इन दलित लेखकों की एक महत्त्वपूर्ण रणनीति थी ब्राह्मणवादी मिथकों का खंडन और ब्राह्मणवादियों के पूजनीय देवताओं की प्रतिष्ठा का ध्वंस। उन्होंने मिथकों का सबाल्टर्न परिप्रेक्ष्य से पुनर्पाठ करने की चेष्टा भी की।[123]

आत्मकथाओं का दौर (1980 का दशक)

पुस्तक के तीसरे और चौथे अध्याय में लेखिका दलित आत्मकथाओं की चर्चा करती हैं। हिंदी दलित साहित्य में आत्मकथाओं का दौर, 1980 के दशक में शुरू हुआ और यह मराठी दलित लेखन से प्रभावित था। ओमप्रकाश वाल्मीकि (जूठन), मोहनदास नैमिशराय (अपने-अपने पिंजरे) व सूर्यपाल चौहान (तिरस्कृत) ने हिंदी साहित्य के क्षेत्र में हलचल मचा दी। इन आत्मकथाओं के दलित लेखकों ने अपने संघर्ष और कष्टों के अलावा अपनी गरीबी और अपने साथ हुए भेदभाव का विशद वर्णन किया। दलित आत्मकथाओं के अपने विश्लेषण में हंट लिखती हैं कि जहाँ मुख्यधारा के साहित्य में दलित चरित्रों को सामाजिक दृष्टि से नीचा और असहाय दिखाया जाता था, वहीं हिंदी दलित लेखकों ने उन्हें ऐसे कार्यकुशल व्यक्तियों के रूप में प्रस्तुत किया, जो अपने विचारों पर दृढ़ थे और अपनी बात कहने का साहस रखते थे। प्रेमचंद के दलित चरित्रों के

123. सारा बेथ हंट (2014) वही।

प्रस्तुतिकरण को लेकर इसी दौर में विवाद छिड़ गया। प्रगतिशील लेखक प्रेमचंद, दलितों के बारे में लिखने वाले पहले लेखकों में से एक थे। परंतु उनकी कहानी 'कफन' के दो दलित पात्रों–पिता घीसू और पुत्र माधव–के चरित्र की अनेक लेखकों ने कड़ी आलोचना की। 'कफन' में जिस समय माधव की पत्नी, प्रसव वेदना से जूझ रही थी और मृत्यु की कगार पर थी, उस समय दोनों को भुने आलू के कुछ टुकड़ों के लिए लड़ता दिखाया गया है। दलित लेखकों को सबसे ज़्यादा आपत्ति इस बात पर थी कि प्रेमचंद की कहानी आगे बताती है कि घीसू और माधव, कफन के लिए इकट्ठा किए गए पैसों से शराब पी लेते हैं। प्रेमचंद घीसू और माधव को 'अमानवीय गतिविधियाँ' करते हुए दिखाया जाना, दलित लेखकों को, बहुत नागवार गुजरा। दलित लेखकों का मुख्य तर्क यह था कि प्रेमचंद जैसे ऊँची जाति के लेखकों की कुछ अंतर्निहित सीमाएं होती हैं और वे कभी दलितों के 'असली' अनुभव को व्यक्त नहीं कर सकते। प्रेमचंद की आलोचना करते हुए जाने–माने दलित लेखक कंवल भारती लिखते हैं कि प्रेमचंद, दलित नहीं थे और उन्होंने दलितों की समस्याओं को दूर से देखा था। परंतु वीर भारत तलवार और प्रसिद्ध लेखिका रमणिका गुप्ता, प्रेमचंद का बचाव करते हुए कहते हैं कि उनके उपन्यास 'गोदान' में दलित चरित्रों के प्रतिकार का चित्रण भी किया गया है। उपन्यास में चमारों का समूह, एक दलित लड़की को गर्भवती करने वाले पंडित के मुंह में गाय की हड्डी ठूंसता है।[124]

स्वानुभूति बनाम सहानुभूति का प्रश्न

प्रेमचंद के मुद्दे पर विवाद, हिंदी साहित्य में चल रही एक व्यापक बहस का हिस्सा है। इस बहस का विषय यह है कि दलितों के बारे में कौन लिख सकता है। यह बहस स्वानुभूति बनाम सहानुभूति पर केंद्रित है। सहानुभूति के पक्षधर कहते हैं कि दलितों के बारे में लिखने के लिए दलित होना कोई शर्त नहीं हो सकती और कोई भी गैर दलित लेखक, जिसे 'व्यापक अनुभव' है और जिसमें 'कल्पना शक्ति' है वह दलित मुद्दों पर लिख सकता है। दूसरी ओर, स्वानुभूति समर्थकों का कहना है कि गैर–दलित लेखक अक्सर दलितों के अनुभवों को विकृत रूप में प्रस्तुत करते हैं और दलित पात्रों का 'घिनौना' प्रस्तुतिकरण करते हैं। उन्हें ऊँची जातियों के लेखकों के इरादों पर भी संदेह है। वे यह पूछते

124. सारा बेथ हंट (2014): 238–239.

हैं कि ''क्या कारण है कि पहले सवर्ण लेखक दलितों के जीवन के बारे में नहीं लिखते थे?''[125]

दलित अस्मितावादी इतिहास लेखन में साहित्य ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है। वास्तव में दलित अस्मितावादी इतिहास लेखन के साथ दलित साहित्य दलितों की चेतना का महत्त्वपूर्ण जनन बीज है। पहली नज़र में यह साहित्य इतिहास लेखन से अलग दिखता है लेकिन उसका इतिहास लेखन से आत्मीय संबंध है। यह कहना मुश्किल है कि पहले इतिहास लेखन शुरू हुआ या दलित साहित्य लेकिन यह कहा जा सकता है कि दोनों साथ-साथ चलते रहे हैं। और 1990 के दशक तक आते-आते दोनो ने स्पष्ट रूप ग्रहण कर लिया। दलित चेतना और दलित आंदोलन के विकास के साथ-साथ दलित साहित्य भी विकसित हुआ जिसने जनवाद, प्रगतिवाद के सांस्कृतिक मुद्दों को अपने अनुभव और यथार्थ की कसौटी पर घिस कर, अपने अनुरूप तराशकर इसे प्रखर रूप दिया। लेकिन इसके साथ यह भी सच है कि भारतीय समाज में दलित चेतना के विकास का एक ही रूप, एक ही स्तर एवं एक ही कालखंड नहीं रहा है। पश्चिमी भारत (महाराष्ट्र) दक्षिणी भारत (तमिलनाडु, आन्ध्रप्रदेश) एवं उत्तरी भारत विशेषत: हिंदी क्षेत्र में दलित चेतना का विकास न एक ही समय में हुआ, न एक ही तरह से हुआ। लेकिन जब भी और जहाँ भी हम दलित चेतना के विकास का महाआख्यान रचते हैं तो उसे महाराष्ट्र में हुए दलित आंदोलन के इतिहास के ढाँचे में ही डालकर प्रस्तुत कर देते हैं। इधर उत्तर भारत में 1980 के बाद दलित चेतना राजनैतिक रूप से अपना प्रभाव प्रदर्शित करने लगी है। अत: उसके विकास के इतिहास पर बातें भी होने लगी हैं। लेकिन जब भी उत्तर प्रदेश एवं अन्य हिंदी क्षेत्रों में दलित चेतना की बात की जाती है तो उसे पूर्णत: डॉ. आंबेडकर का करिश्माई प्रभाव ही मानकर प्रस्तुत किया जाता है।[126]

हिंदी भाषा के लोकवृत्त में दलित बीसवीं शताब्दी की शुरुआत में ही शामिल हो गए थे। फ्रांचेस्का आर्सीनी[127] ने बीसवीं सदी के प्रारम्भ में हिंदी साहित्य

125. इसके लिए देखें अभय कुमार दुबे को 'आत्मानुभव की कोख से उपजा लेखन' https://www.forwardpress.in/2015/08/writings-born-of-experience-hindi/ पर उपलब्ध।

126. बद्री नारायण (2001) : 196.

127. फ्रांचेस्का आर्सीनी (2011).

के मिजाज और उसमें अंतर्निहित रही जातिगत चेतना पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि पटना में रहने वाले बिलकुल अपरिचित व्यक्ति हीरा डोम की भोजपुरी में लिखी कविता 'अछूत की शिकायत', 1914 में सरस्वती में प्रकाशित हुई। यह हिंदी साहित्य में एक शुरुआत है लेकिन बाद में, वे बहुत दिनों तक दिखाई नहीं पड़े। फ्रांचेस्का आर्सीनी ने भी बड़ी चालाकी से अपनी किताब 'हिंदी का लोकवृत्त' के अध्याय-भाषा और साहित्यिक क्षेत्र पृष्ठ (95-96) में क्या लिखा है मिसाल के लिए एक संग्रह, जिसका शीर्षक था 'राष्ट्रीय डंका अथवा स्वदेश खादी' और जिसे किन्ही चन्द्रिका प्रसाद जिज्ञासु ने संकलित और प्रकाशित किया था। यह पाँच बार मुद्रित हुआ था, और 1930 में कुल प्रकाशित प्रतियों की संख्या 30,000 थी। मेरी आपत्ति यहाँ ये है कि उस समय चन्द्रिका प्रसाद जिज्ञासु लखनऊ के आसपास काफ़ी लोकप्रिय नाम थे। लेकिन फ्रांचेस्का आर्सीनी ने भी उस समय के उच्च जाति के पत्रकारों और संपादकों (जिसमें अधिकतम ब्राह्मण थे) का जिस तरह से विस्तृत विवरण दिया है लेकिन चन्द्रिका प्रसाद जिज्ञासु के बारे में वह क्या लिख रही हैं आप ख़ुद सोच सकते हैं।

इस तरह से 1980 तक के पूरे हिंदी साहित्य में दलित कवि के उदाहरण के रूप में मात्र हीरा डोम ही हैं।[128] अछूत की शिकायत कुछ इस प्रकार है :

हमनी के राति दिन दुखवा भोगत बानी
हमनी के साहेब से मिनती सुनाइबि।
हमनी के दुख भगवानओं न देखता ते,
हमनी के कबले कलेसवा उठाइबि।
पदरी सहेब के कचहरी में जाइबिजां,
बेधरम होके रंगरेज बानि जाइबिजां,
हाय राम! धसरम न छोड़त बनत बा जे,
बे-धरम होके कैसे मुंहवा दिखइबि॥1॥
खंभवा के फारी पहलाद के बंचवले।
ग्राह के मुँह से गजराज के बचवले।
धोती जुरजोधना कै भइया छोरत रहै,
परगट होके तहां कपड़ा बढ़वले।
मरले रवनवाँ कै पलले भभिखना के,
कानी उँगुरी पै धैके पथरा उठले।
कहंवा सुतल बाटे सुनत न बाटे अब।
डोम तानि हमनी क छुए से डेराले॥2॥
हमनी के राति दिन मेहत करीजां,
दुइगो रूपयावा दरमहा में पाइबि।
ठाकुरे के सुखसेत घर में सुलत बानीं,
हमनी के जोति-जोति खेतिया कमाइबि।
हकिमे के लसकरि उतरल बानीं।
जेत उहओं बेगारीया में पकरल जाइबि।
मुँह बान्हि ऐसन नौकरिया करत बानीं,
ई कुल खबरी सरकार के सुनाइबि॥3॥
बभने के लेखे हम भिखिया न मांगबजां,
ठकुर के लेखे नहिं लउरि चलाइबि।
सहुआ के लेखे नहि डांड़ी हम जोरबजां,
अहिरा के लेखे न कबित्त हम जोरजां,

128. जितेंद्र गुप्ता (2011) : 173-174

पबड़ी न बनि के कचहरी में जाइबि॥4॥
अपने पहसनवा कै पइसा कमादबजां,
घर भर मिलि जुलि बांटि-चोंटि खदबि।
हड़वा मसुदया कै देहियां बभनओं कै बानीं,
ओकरा कै घरे पुजवा होखत बाजे,
ओकरै इलकवा भदलैं जिजमानी।
सगरै इलकवा भइलैं जिजमानी।
हमनी क इनरा के निगिचे न जाइलेजां,
पांके से पिटि-पिटि हाथ गोड़ तुरि दैलैं,
हमने के एतनी काही के हलकानी॥5॥

[यह कविता महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा सम्पादित 'सरस्वती' (सितंबर 1914, भाग 15, खंड 2, पृष्ठ संख्या 512-513) में प्रकाशित हुई थी।][129] देखिये इस कविता में हीराडोम कह क्या रहे हैं? इसका भावार्थ कुछ इस प्रकार से है ['तमाम दुखों के बावजूद धर्म परिवर्तन का काम हमारे बस का नहीं हो सकता। हम अपना धर्म भी नहीं छोड़ सकते। हे ईश्वर आपने तमाम तरह के चमत्कार दिखाये प्रह्लाद को बचाया, द्रौपदी को बचाया लेकिन हमारा हाल देखिये हमें कोई छूता भी नहीं है। आप हमारी क्यों नहीं सुनते हैं। हम दिन रात मेहनत करते हैं, बेगारी करते हैं, चुपचाप ये सब बर्दाश्त करते हैं। ब्राह्मण की तरह हम भीख नहीं मांगेंगे, ठाकुर की तरह डंडा नहीं चलाएँगे, बनिए की तरह पैसा उधार नहीं देंगे, बेईमानी नहीं करेंगे। अहीरों की तरह फाग-और बिरहा नहीं गाएँगे। कचहरी में शिकायत करने भी नहीं जाएँगे। हम तो कुएँ के पास भी नहीं जा सकते हैं, अगर कुएँ के पास मिल भी गए तो हाथ-पैर तोड़ दिये जाएँगे। तो फिर हमें इतनी परेशानी क्यों?'] यह हिंदी साहित्य में प्रकाशन के माध्यम से दलित अभिव्यक्ति की एक शुरुआत है लेकिन बाद में साहित्यिक हलको में न दलित और न ही दलित अभिव्यक्ति बहुत दिनों तक दिखाई पड़े।

इसके बाद हिंदी में दलित साहित्य का एक ऐसा दौर आया जिसने अपने समय के समाज को दर्ज़ किया। मैं यहाँ पर दलित आत्मकथाओं का उल्लेख नहीं कर रहा हूँ। फिर उसमें वर्णित समाज के बारे में जरूर कहूँगा। ओमप्रकाश वाल्मीकि से लेकर श्यौराज सिंह बेचैन, अँगने लाल, माता प्रसाद, गया प्रसाद 'प्रशांत' और कौशल्या बैसंत्री की आत्मकथाओं ने अपना जीवन और समाजबोध दर्ज़ किया है लेकिन उसे अभी तक 'ज्ञान के एक पाठ के रूप में' समाज विज्ञान मान्यता नहीं दे पाया है। मैनेजर पाण्डेय ने लिखा है : साहित्यिक विधाओं और रूपों के इतिहास का समाज के इतिहास से गहरा संबंध होता है। साहित्यिक

129. यह कविता महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा सम्पादित 'सरस्वती' (सितंबर 1914, भाग 15, खंड 2, पृष्ठ संख्या 512-513) में प्रकाशित हुई थी।

विधाओं के इतिहास में उनके उदय, परिवर्तन, विकास, ह्रास, रूपान्तरण और पुनर्नवीनीकरण की व्यापक प्रक्रिया चलती है। वे आगे लिखते हैं कि कई बार नए सामाजिक विकास के साथ एकदम नई विधा विकसित होती है और कुछ विधाएँ लंबी ऐतिहासिक प्रक्रिया में अनेक परिवर्तनों और परिष्कारों के साथ जीवित रहती हैं।[130] यद्यपि मैनेजर पाण्डेय यहाँ सीधे-सीधे दलित साहित्य का उल्लेख नहीं कर रहे थे लेकिन हीरा डोम की कविता या मोहनदास नैमिशराय की अपने-अपने पिंजरे, दया पवार की अछूत, ओमप्रकाश वाल्मीकि की जूठन, श्यौराज सिंह बेचैन की मेरा बचपन मेरे कंधों पर, कौशल्या बैसंत्री की दोहरा अभिशाप, सूरजपाल चौहान की तिरस्कृत और संतृप्त, बेबी कांबले की जीवन हमारा, बलबीर माधौपुरी की छांग्या रुक्ख, सुशीला टॉकभौरे की शिकंजे का दर्द, अरविंद मालागत्ति की गवर्नमेंट ब्राह्मण, तुलसीराम की मुर्दहिया और मणिकर्णिका, मनोरंजन ब्योपारी की माय चांडाल लाइफ़ आदि में वर्णित ज्ञान को एक समाज वैज्ञानिक और समाजशास्त्रीय सत्य के रूप में लिखा जा सकता है। इसके साथ ही इनमें दलित समाज के जीवन की सामाजिक, सांस्कृतिक ऐतिहासिक राजनीतिक आधारों पर व्याख्याएँ की गयी हैं। इस तरह से ये सभी दलित आत्मकथाएँ अपने कालखंड के प्रश्नों पर गहराई से मंथन और चित्रण करती हुई सांस्कृतिक मूल्यों के नाम पर इंसानी गरिमा का हरण करने वाले व्यवहार के विरोध में सामाजिक संवेदना और प्रतिरोध की निर्मिति करती हैं। इस तरह से दया पवार, बेबी कांबले, कौशल्या बैसंत्री और सुशीला टाकभौरे की आत्मकथाएँ जहाँ महाराष्ट्र यानि पश्चिमी और मध्य भारत के समाज और उसकी परंपराओं का चेहरा देश दुनिया के सामने उंघाड़ती हैं तो बलबीर माधौपुरी की छांग्या रुक्ख, पंजाब की तो अरविंद मालागत्ति की गवर्नमेंट ब्राह्मण कर्नाटक यानि कन्नड़ समाज की सांस्कृतिक संरचना में व्याप्त शोषण से पर्दा हटाती है। इसी तरह से उत्तर और मध्य भारत यानि जिसे हिंदी पट्टी कहते हैं के आत्मकथाकारों के रूप में मोहनदास नैमिशराय, ओमप्रकाश वाल्मीकि, सूरजपाल चौहान, श्यौराज सिंह बेचैन, तुलसीराम ने समाज के विविध विचारों, मुद्दों की व्याखाएँ अपने लेखन में की है। आत्मकथाओं में रचनाकारों द्वारा झेली गयी तकलीफ, व्यथा

130. मैनेजर पांडे (1989): 210.

और वेदना बार-बार उभरती है। इससे मुक्ति हेतु रचनाएँ विद्रोही भाव जगाकर अन्याय के अंत की अभिव्यक्ति का रास्ता दिखाती हैं। ये साहित्यिक कृतियाँ जनमानस या पाठक को लोकतान्त्रिक मूल्यों के प्रति संवेदनशील बनाकर सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक रूपान्तरण के लिए प्रेरित करती हैं। इस तरह से यह लेखन अपना दुखड़ा रोने के लिए नहीं बल्कि तथाकथित सांस्कृतिक महानता में छिपी सड़ांध को उंघाढ़ता है। अब निर्णय हमे करना है कि सदियों से यूँ ही चला आ रहा वर्ण जातियों की सांस्कृतिक बदबू मारता समाज चाहिए या वैश्विक लोकतान्त्रिक मूल्यों का पक्षधर प्रज्ञावान, न्यायप्रिय और भाईचारे का आधुनिक समाज। क्योंकि सामाजिक लोकतन्त्र के बिना राजनीतिक लोकतन्त्र अधूरा है और सामाजिक लोकतन्त्र तभी आ सकता है जब इंसान को इंसान मानकर उसके अधिकारों का सम्मान करना सीखकर सामाजिक गैरबराबरी को मिटा दिया जाए।

इस तरह से यहाँ मैं यह नहीं कहूँगा कि साहित्य समाज का दर्पण है बल्कि दलित साहित्य अपने-आप में एक राजनीतिक कार्यवाही है जिसमें समाज के बदले जाने की आहट और सपने छिपे हैं। दलितों के बारे लिखे जा रहे समाज वैज्ञानिक पाठों में इसका उल्लेख उसी प्रकार हो रहा है जिस प्रकार ब्लैक फेमिनिज्म की वकालत करने वाले समूहों और विद्वानों द्वारा माया एंजेलो की आत्मकथा 'आई नो व्हाई द केज्ड बर्ड सिंग' को ज्ञान और अनुभव के एक पाठ के रूप में तवज्जो दी जा रही है।

एक सुविधाजीवी अकादमिक तरीका बन गया है जिसमें डॉ. आंबेडकर के जीवन और विचार से निकली राजनीति को चुनावी गोलबंदी में सीमित कर, चुनावी परिणामों की व्याख्या या मायावती के मुख्यमंत्री बनने पर केंद्रित कर दिया जाता है। उत्तर भारत में, कम से कम उत्तर प्रदेश में दलित राजनीति इससे आगे जाती है, और दलित राजनीति ही क्यों, दलित समाज की राजनीतिक बनावट में अभी तक स्वामी अछूतानन्द, चन्द्रिका प्रसाद जिज्ञासु, पेरियार ललई सिंह यादव, मंगूराम, रामस्वरूप वर्मा, माता प्रसाद, महाराज सिंह भारती, ओमप्रकाश वाल्मीकि, कँवल भारती, मोहनदास नैमिशराय, श्यौराज सिंह बेचैन, चौधरी लौटन राम निषाद जैसे कई आंगिक बुद्धिजीवियों के जीवन और विचारों पर बहस नहीं की गयी है, और न ही समाजशास्त्र ने उन चिंताओं को संबोधित किया है जिसे

अपने-अपने तरीके से यह सभी विद्वान उत्तर प्रदेश के दलित और हाशियाकृत समूहों के बीच उठा रहे थे। मुख्यधारा के चिंतकों को सार्वदेशिक कहकर प्रशंसा की जाती रही है लेकिन यह सौभाग्य दलित जीवन-बोध से जुड़े चिंतकों के साथ नहीं है, उन्हें 'स्थानीय संत' के रूप में सीमित कर दिया जाता है। उनके द्वारा रचे गए साहित्य को पहले साहित्य माना ही नहीं जाता है और माना भी जाता है तो उसे किसी सांस्कृतिक मूल्य या राजनीतिक दृष्टि से रहित ज्ञानविहीन मान लिया जाता है। स्वामी अछूतानन्द और अन्य आंगिक बुद्धिजीवियों के साथ साहित्य और समाज विज्ञान भी ऐसा ही करता रहा है जबकि उन्होंने अपने समय के लगभग सभी साहित्य रूपों में अपने विचार व्यक्त किए हैं जिसका स्थायी मूल्य है। इससे गुजरते हुए हम पाते हैं कि स्वामी अछूतानन्द ने एक बेहतर दुनिया की कल्पना की जिसमें भक्तिकालीन और समाज सुधारक संतों के स्वप्न और आधुनिक राजनेताओं की वैचारिकी का सुंदर संयोग था।

अफ्रीकन-अमेरिकन साहित्य एवं दलित चेतना का अंतर्राष्ट्रीय जुड़ाव और सबलीकरण

अफ्रीकन-अमेरिकन अश्वेत साहित्य ने दलित साहित्य और आंदोलन दोनों को आंदोलित एवं आलोकित किया-संबल दिया और जो लोग दलित साहित्य के सृजन पर ही प्रश्न उठाते थे उन्हें मुंह-तोड़ जवाब देने के लिए एक ढाल का काम भी किया। हालाँकि अफ्रीकन-अमेरिकन साहित्य की दलित साहित्य से बहुत सी समानताएं हैं, इसके बावजूद बहुत असमानताएं भी हैं। अफ्रीकन-अमेरिकन अश्वेत और दलितों के आंदोलन अलग-अलग मार्ग और मोड़ों से आगे बढ़ गए हैं पर ये दोनों आंदोलन मानवीय हक और अधिकारों की माँग और शोषण के विरुद्ध संघर्ष करने वाले हैं। अफ्रीकन-अमेरिकन और दलितों की अमानवीय स्थितियों के कारण ही उनका संघर्ष है। देश-प्रदेश, परिस्थिति, समाज और भाषा अलग होने पर भी इन दोनों समाजों के जीने और मरने में जो समानता दिखाई देती है, वह दलित एवं अफ्रीकन-अमेरिकन समाज का अन्याय-अत्याचार और गुलामी का शिकार होना है। इसी कारण दोनों की वेदना विश्वस्तर की है। श्वेत और सवर्ण समाज की स्वामित्व अधिकार की वर्ण श्रेष्ठता की भावना तथा अफ्रीकन-अमेरिकन और दलितों की गुलामगिरी के विरुद्ध

विद्रोह की भावना समान है। इस समानता के कारण ही अफ्रीकन-अमेरिकन की वेदना दलित लेखकों को अपनी वेदना लगती है। अफ्रीकन-अमेरिकन ने अपनी व्यथा वेदना ब्ल्यूज बैंड, कथा, उपन्यास, नृत्य और संगीत के माध्यम से व्यक्त की है। दलित लेखकों ने भी अपनी वेदना अपने साहित्य के माध्यम से प्रकट की है। अफ्रीकन-अमेरिकन और दलित साहित्य में पहली अभिव्यक्ति आध्यात्मिक स्वरूप की मिलती है। अफ्रीकन-अमेरिकन की इस आत्म-अभिव्यक्ति की भावना में से उनकी आध्यात्मिक रचनाएं पैदा हुईं। ऐसी ही आत्म-अभिव्यक्ति की भावना दलित संतों के लेखन में भी दिखाई देती है। इस तरह से अफ्रीकन-अमेरिकन की वेदना दयाभाव जाग्रत करने वाली है। अफ्रीकन-अमेरिकन साहित्य का प्रारम्भिक स्वर दलित साहित्य और लेखन के प्रारम्भिक काल में दिखाई पड़ता है। अफ्रीकन-अमेरिकन अश्वेत साहित्य का प्रारम्भिक काल लोकसाहित्य के माध्यम से व्यक्त होता है। इसमें अनेक बार बाइबल के विषय आए हैं। अफ्रीकन-अमेरिकन लोगों ने अपनी भाषा और बोली में रचनाएं प्रस्तुत की। इन रचनाओं में करुणा भाव व्यक्त हुए। जिस तरह से अफ्रीकन-अमेरिकन साहित्य करुणा के भाव से भरा लगता है। उसी तरह से दलित साहित्य का आरंभिक काल दलित कवियों, कलाकारों के लोकनाट्य और लोककला से भरपूर है। दलितों का लोकनाट्य और साहित्य भी करुणा के बंधु भाव से भरा हुआ है। अंबेडकरी आंदोलन से लोकनाट्य का स्वरूप बदला और उसका रूपांतर अंबेडकरी जलसे में हो गया।

1980 का दशक : दलित प्रश्न का संस्थानीकरण वाया दलित साहित्य

दलित चेतना और दलित आंदोलन के विकास के साथ-साथ दलित साहित्य भी विकसित हुआ जिसने जनवाद, प्रगतिवाद के सांस्कृतिक मुद्दों को अपने अनुभव और यथार्थ की कसौटी पर घिस कर, अपने अनुरूप तराशकर इसे प्रखर रूप दिया। इसके साथ ही नीग्रो साहित्य ने दलित साहित्य और आंदोलन दोनों को आंदोलित एवं आलोकित किया-संबल दिया और जो लोग दलित साहित्य के सृजन पर ही प्रश्न उठाते थे उन्हें मुंह-तोड़ जवाब देने के लिए एक ढ़ाल का काम भी किया। हालाँकि नीग्रो साहित्य की दलित साहित्य से बहुत सी समानताएं हैं, इसके बावजूद बहुत असमानताएं भी हैं।[131]

131. शरण कुमार लिंबाले (2000): 11.

शरण कुमार लिंबाले लिखते हैं कि जब मराठी साहित्य में सूक्ष्म, विशद और व्यापक बहस चल रही थी तो हिंदी पट्टी में एक दूसरी धारा बह रही थी। मराठी में दलित चेतना आंदोलन जब संघर्ष, शिक्षा, संगठन और साहित्य के बल पर आत्मसम्मान, स्वाभिमान और समाज में आमूल-चूल परिवर्तन की तरफ़ बढ़ रहा था तथा राजनीतिक भागीदारी के लिए संघर्षरत था तो हिंदी पट्टी में सामाजिक स्तर पर सुधारवादी धारा चल रही थी। साहित्यिक स्तर पर इनकी दबी-दबी, इक्का-दुक्का आवाजें उठती तो थीं पर नक्कारखाने में तूती की आवाज़ सी गुम हो जाती थीं।[132] कभी अकेला पड़ जाने के कारण तो कभी सवर्णों की धमकियों के डर से इनकी आवाज़ कमज़ोर पड़ जाती थी। स्वामी दयानंद सरस्वती ने जो महाराष्ट्र में पैदा हुए थे, हिंदी पट्टी में खासकर पश्चिमी उत्तर प्रदेश के मेरठ और सहारनपुर आदि क्षेत्रों एवं पंजाब को अपना केंद्र बनाया था। पंजाब में पहले ही सिक्ख धर्म के कारण हिंदू कट्टरता कम थी। पंज प्यारों के कारण अछूत, अस्पृश्य और शूद्र 'निंहंग सिक्ख' व 'कुर्के' के रूप में गुरूद्वारों में समानता का दर्जा पा गए थे और जनता में एक मर्यादा भी उन्हें प्राप्त हो गयी थी। लेकिन यह भी सच है कि उनका सवर्ण सिक्खों के साथ समानता का यह रिश्ता, गुरूद्वारे तक सीमित था। उनके साथ बेटी-रोटी का संबंध आज भी कायम नहीं हुआ। लेकिन यह भी एक बड़ा सत्य है कि सिक्ख बनने के बाद वे अछूत नहीं रहे। गुरूद्वारे में पूरी जनता उनके हाथों से बांटा गया कढ़ाह-प्रसाद खाती है। अमृत भी इन्हीं लोगों के हाथों लोगों को छकाया जाता है। इनका पेशा भी मैला ढोने का नहीं रहा। गुरूद्वारे की हर शोभा यात्रा में ये ही अगुवाई करते हैं, तलवारे लेकर आगे चलते हैं और लोगों की श्रद्धा के प्रतीक माने जाते हैं, बस श्रद्धा के प्रतीक। दरअसल स्वामी दयानंद सरस्वती के प्रभाव के अंर्तगत हिंदी पट्टी में चलाया जा रहा अछूतोद्धार का अभियान सुधारात्मक ही था। वह वर्ण व्यवस्था को सुरक्षित रखते हुए भेद-भाव मिटाने की बात को चलाते थे लेकिन मनु द्वारा बनाई गई वर्ण व्यवस्था को ख़त्म करने की बात नहीं करते थे।[133]

उत्तर प्रदेश में उन्नीसवीं सदी में ही डॉ. आंबेडकर से कुछ पहले ही स्वामी

132. शरण कुमार लिंबाले (2000) : 12-13.
133. शरण कुमार लिंबाले (2000) वही : 14.

अछूतानन्द ने 'आदि हिंदू आंदोलन' चलाया जिसके फलस्वरूप जाति पर प्रहार करने वाला प्रचार और साहित्य लिखा जाने लगा था।[134] ठीक इसके विपरीत महाराष्ट्र में डॉ. आंबेडकर ने मनु के विधान को नष्ट करने की बात कही थी जिसे उन्होंने मनुस्मृति दहन कर एक आंदोलनात्मक स्वरूप दिया था। स्वामी दयानंद की सोच सुधारवादी के साथ-साथ धर्म पर आधारित थी। बाबा साहेब पूरी तरह वैज्ञानिक सोच पर परिवर्तनवादी मुहिम चला रहे थे जिसके शिक्षा, संघर्ष और संगठन हथियार थे, धर्म नहीं। यही जमीन आसमान का फ़र्क़ हिंदी पट्टी और महाराष्ट्र के साहित्य के उद्‌भव और उनकी सोच का है।[135] इस प्रकार से यह सुधारवादी आंदोलन भी एक सीमित दायरे में चलाया जा सकता था, जो चला भी। बाकी क्षेत्र तो उससे भी अछूते रह गए। मोहनदास नैमिशराय 'दलित चेतना : सोच' नामक आलेख में लिखते हैं कि ''इलाहाबाद के रामचंद्र बनोधा ने धनंजय कीर से भी पूर्व 1950 के पहले ही हिंदी में बाबासाहेब की आत्मकथा लिखी थी। उत्तर प्रदेश में आगरा में बाबासाहेब का अधिक प्रभाव पड़ा। जिन लोगों ने सामाजिक और साहित्यिक दिशा में उन दिनों योगदान दिया, उनमें भगवान दास यादवेंदु, डॉ. खेमचंद बोहरे, बाबू करण सिंह केन, गोपी चंद पिप्पल और छत्रपति अंबेश प्रमुख थे। भगवान दास का 'अछूत का बेटा' तथा 1950 से 60 तक के बीच मेरठ के देवीदयाल सैम का उपन्यास 'मानव की परख' दिल्ली के आत्माराम एंड संस ने प्रकाशित किया था। उन्होंने कई कहानियाँ भी लिखीं जो धर्मयुग आदि में छपी थीं। उन्हीं दिनों सीताराम खोडावाल की पुत्रहंता, विश्वामित्र और शंकराचार्य का अंतर्द्वंद्व काफ़ी चर्चित हुईं जो 'आजकल' में छपी थीं। खोडावाल की देवली और साढूपुर हत्याकांडों की प्रतिक्रिया में उत्तर प्रदेश में 'जाति वैमनस्य' नामक लेख हिंदुस्तान साप्ताहिक में छपा था जिसके चलते उन्हें सवर्णों के लगभग एक सौ धमकी भरे पत्र आए थे। इन पत्रों में उन्हें जान से मारने की धमकी दी गयी थी। उन्हीं दिनों उन्हीं का एक कहानी संग्रह 'मन चंगा तो कठोती में गंगा' भी प्रकाशित हुआ था। कवि बिहारी लाल 'हरित' की 'अछूतो का पिस्तौल', 'फूल और शूल', गुरू दक्षिणा' आदि रचनाएँ प्रमुख रहीं। उसी पीढ़ी में डॉ.सोहन लाल शास्त्री, डॉ.शंकरानंद शास्त्री, नानक चंद रतू एवं

134. शरण कुमार लिंबाले (2000) वही : 13.
135. शरण कुमार लिंबाले (2000) वही : 14.

डॉ.डी.पी. वरूण, डॉ.छेदी लाल साथी, गया प्रसाद 'प्रशांत' हुए जिन्होंने साहित्यिक योगदान दिया। चंद्रिका प्रसाद 'जिज्ञासु' ने बाबा साहेब के साहित्य को संकलित किया जो हिंदी पट्टी में दलित साहित्य का प्रेरणा स्त्रोत बना।''[136]

इसके साथ ही समकालीन समय में लोकप्रिय स्तर पर दलित लेखकों जैसे दया पवार,कौशल्या ताई, बेबी काम्बले, कंवल भारती, जय प्रकाश कर्दम, श्यौराज सिंह बेचैन, शरण कुमार लिंबाले, ओमप्रकाश वाल्मीकि और मोहनदास नैमिशराय ने दलितों के जीवन पर लिखा है। 'दोहरा अभिशाप' (आत्मकथा) कौशल्या बैसंत्री, 1981,'मैं भंगी हूँ' (भगवान दास), 1995, 'अपने-अपने पिंजरे' (भाग-1, मोहनदास नैमिशराय), 1997, 'जूठन' (ओमप्रकाश वाल्मीकि), 2000, 'अपने-अपने पिंजरे' (भाग-2, मोहनदास नैमिशराय), 2000, तिरस्कृत (डॉ.सूरजपाल चौहान), 2005, 'नागफनी' (रूपनारायण सोनकर), 2006, संतप्त (डॉ. सूरजपाल चौहान), 2007, 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' (श्यौराज सिंह बेचैन), 2009, 'मेरी पत्नी और भेड़िया' (डॉ.धर्मवीर), 2010 'मुर्दहिया' (भाग-1, तुलसी राम), 'झोपड़ी से राजमहल', माता प्रसाद, 2010, 'मेरी हक़ीक़त' (भालचन्द मुंगेकर), 2011,'इनसान से ईश्वर तक', 'मेरे मन की बाइबिल', 'रुकी हुई रोशनी' (नवेन्दु महर्षि), 2011,'उचक्का', लक्ष्मण गायकवाड़, 2012,'शिकंजे का दर्द' (सुशीला टाकभोरे), 2012, 'मेरा बचपन मेरा संघर्ष' (नवेन्दु महर्षि), 2012 'छंग्या रुख' (बलवीर माधोपुरी), 2013 'मुर्दहिया' (भाग-2, तुलसी राम), 'खसम खुशी क्यों होय? (डॉ.धर्मवीर), 'अक्करमाशी', (शरण कुमार लिंबाले), 'घुटन' (रमाशंकर आर्य), 'मेरी सफ़र मेरी मंज़िल' (डी.आर.जाटव) आदि आंगिक बुद्धिजीवियों का लेखन दलित अध्ययनों की वैचारिक जमीन तैयार करने के लिए महत्त्वपूर्ण रहा है।

इसके साथ ही इस दौर में दलित लेखिकाओं का हस्तक्षेपकारी उभार हुआ है, जिन्होंने अपने लेखन के माध्यम से महिला आंदोलन और दलित महिलाओं की मुक्ति के सवालों को धारदार, स्पष्ट और समावेशी बनाया है। दलित लेखिकाओं ने कथाओं और गैर-कथाओं के माध्यम से समाज और जातिवाद से जूझती एक महिला के संघर्ष से समाज को अवगत करवाया है। दलित लेखिकाएं दु:ख, भेदभाव और विपत्ति से जूझकर, अपनी किताबों और सक्रियता से समाज की

136. मोहनदास नैमिशराय (2014): 35-36.

अन्य महिलाओं को एक नई दिशा दिखाती हैं। शिक्षा ग्रहण कर इन दलित महिलाओं ने अपनी कहानी दुनिया को सुनाई है। शांताबाई कांबले एक मराठी लेखिका एवं दलित कार्यकर्त्ता हैं। साथ ही वह आत्मकथा लिखने वाली प्रथम लेखिका हैं। कांबले ने 'माज्य जमालची चित्तरथा' में अपने जीवन से प्रेरित कहानी द्वारा दलित समाज में जन्मी नाज़ा (सखाराम बाबर) की संघर्ष गाथा, जाति और उत्पीड़न का उल्लेख किया है। इस पुस्तक को मुंबई विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में शामिल किया गया है। सोलापुर के महार दलित परिवार में जन्मी, शांताबाई को शिक्षा ग्रहण करने से वंचित कर दिया गया था। इसके बावजूद, वह कक्षा के बाहर बैठ कर पढ़ती थीं। शांताबाई जाति के अत्याचार सहने वाले लोगों की वक़ालत करने वाली प्रसिद्ध दलित कार्यकर्त्ता हैं। पी. शिवकामी एक प्रशंसित तमिल दलित लेखिका हैं। शिवकामी ने दलित और नारीवादी विषयों पर केंद्रित चार प्रशंसित उपन्यास लिखे हैं। उनमे से एक, 'ग्रिप ऑफ़ चेंज' शिवकामी द्वारा स्वयं अंग्रेज़ी में अनूदित किया गया है। वह हर माह 'पुधिया कोडंगी' सम्पादित करती हैं जिसे वह 1995 से प्रकाशित कर रही हैं। अनीता भारती एक प्रमुख कवियित्री और लेखिका हैं जो हिंदी साहित्य में दलित महिलाओं के नज़रिये को दर्शाने वाली एवं दलित और महिलाओं के अधिकारों के लिए लड़ने वाली एक कार्यकर्त्ता हैं। उन्होंने हाल ही में 65 कवियों का कविता संग्रह, 'यथास्थिति से टकराते हुए दलित स्त्री जीवन से जुड़ी कविताएँ' का सम्पादन एवं प्रकाशन किया है। उनका एक और महत्त्वपूर्ण योगदान है– सामाजिक क्रांतिकारी गबदू राम बाल्मीकि की जीवनी। कौशल्या नंदेश्वर बैसंत्री की आत्मकथा 'दोहरा अभिशाप' (1999) दलित समाज में महिला जीवन के तमाम संघर्षों का उल्लेख करती है। यह आत्मकथा उनके व उनके मां–बाप के संघर्षों से भरे जीवन का चित्रण करती है। उन्होंने दलित समाज की अच्छाई बुराई सभी का विवरण अपनी आत्मकथा में दिया है। उर्मिला पवार की आत्मकथा– आयदान, समाज को आईना दिखाने वाली एक ऐसी कहानी है जो काफ़ी चर्चित रही। उन्होंने न केवल एक दलित महिला होने के अपने अनुभवों पर लिखा है, बल्कि जाति और लिंग के मुद्दों के बारे में लघु कथाएं भी लिखी हैं। लेकिन हिंदी पट्टी में दलितों को अपना कोई सशक्त संगठन या नेतृत्व नहीं था जो महाराष्ट्र की तरह इन्हें आंदोलन से जोड़ सकता। महाराष्ट्र में दलित नेता और साहित्यकार अपने बल पर अपने संगठन के आधार पर डॉ. आंबेडकर के नेतृत्व में उनके विचारों से लैस हो सामाजिक

के साथ-साथ राजनीतिक प्रतिबद्धता और पुष्ट दृष्टिकोण के साथ उभरे। इसी कारण वहाँ दलित साहित्य एक क्रांतिकारी और स्पष्ट समझ के साथ विकसित हुआ और आज वह महाराष्ट्र में मुख्यधारा का साहित्य बन गया है।[137] इसका एक कारण यह भी है कि हिंदी पट्टी में दलित, सवर्णों के मंच के साथ राजनीति या राजसत्ता में आए और पनपे, जबकि महाराष्ट्र में उन्होंने स्वतंत्र राजनीतिक सत्ता का नेतृत्व किया, भले विपक्ष में ही रहकर। वहाँ उन्हें वामपंथियों का भी जबरदस्त समर्थन मिला। दलित पैंथर उनका एक प्रतिबद्ध संगठन रहा जो सामाजिक और राजनीतिक मंच को संभालता रहा। बाद में उसमें भी विभाजन हुए, और वे बिखर गए।

हिंदी पट्टी के हर राज्य में कई संस्थाएं खड़ी हो गई जो दलित साहित्यकारों को मंच पर लाने लगीं। भारतीय दलित साहित्य अकादमी की शाखाएँ भी सभी हिंदी राज्यों में फैल गईं और हर वर्ष दलित साहित्कारों को जुटाने और उन्हें सम्मानित कर प्रोत्साहित करने लगीं। गैरदलित संस्थाओं में पहले-पहल 1997 में बिहार में रमणिका फाउंडेशन और विनोबा भावे विश्वविद्यालय द्वारा हज़ारी बाग में अखिल भारतीय स्तर पर दलित साहित्य लेखक सम्मेलन आयोजित किया गया। इसमें 'दलित साहित्य को पाठ्यक्रम में शामिल करने', 'दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र और उसकी अवधारणा' तथा 'हिंदी महिला लेखिकाओं द्वारा आदिवासी संस्कृति पर लिखे गए उपन्यास' आदि विषयों पर दलितों और गैर दलितों ने पहली बार खुलकर बहस की जिससे परस्पर संवाद कायम हुआ। इस सम्मेलन ने हिंदी पट्टी में पहली बार साहित्यिक मुद्दों पर दो दिन तक गंभीर चर्चा चलाकर दलित साहित्य के एजेंडे की पृष्ठभूमि तैयार करने में भी एक सार्थक भूमिका निभाई। इंडियन इंस्टिट्यूट ऑफ़ एडवांस स्टडी, राष्ट्रपति निवास, शिमला में 'ब्लैक और दलित लेखन: कुछ प्रवृत्तियाँ' विषय पर मृणाल मीरी, चमनलाल और हरीश नारंग ने एक संगोष्ठी 14-17 अक्तूबर 1997 को आयोजित की और साहित्य में दलित धारा के अस्तित्व को स्वीकृति दी। इसमें लगातार चार दिनों तक एक गंभीर बहस चली जिसमें महाराष्ट्र, कर्नाटक, तमिलनाडु, आंध्रप्रदेश, हिमाचल प्रदेश, उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिम बंगाल, दिल्ली, राजस्थान, गुजरात आदि के अखिल भारतीय स्तर के नामी-गिरामी, दलित-गैरदलित, हिंदी -अहिंदी साहित्कारों व समाज विज्ञानियों ने शिरकत की। 'दलित और नई शिक्षा प्रणाली'

137. शरण कुमार लिंबाले (2000) वही: 15.

विषय पर 5-7 जनवरी, 1998 को दिल्ली में इंडियन सोशल इंस्टिट्यूट ने भी अखिल भारतीय पैमाने पर बहस आयोजित करवाई और एक दलित ऐजेंडा भी तैयार किया। फिर तो जलेस, जसम और प्रगतिशील लेखक संघ द्वारा भी दलित साहित्य और पुस्तकों पर चर्चा गोष्ठियाँ होने लगीं। इस प्रकार बीसवीं सदी में लगभग अस्सी के दशक के बाद विभिन्न दलित व कतिपय गैरदलित संस्थानों द्वारा दलित-चिंतन और दलित साहित्य के विकास हेतु, उसकी पृष्ठभूमि बनाने, दलित अस्मिता का निर्माण करने एवं दलित एजेंडा बनाने के मुद्दों पर महत्त्वपूर्ण भूमिका तो निभाई ही, साथ ही परस्पर बहस चलाकर दलित-गैरदलित संवाद भी कायम किया।[138]

इसके साथ ही कुछ गैर दलित व्यावसायिक एवं लघु पत्रिकाओं ने भी मराठी दलित साहित्य का हिंदी अनुवाद छाप कर हिंदी के सवर्ण-अवर्ण साहित्कारों एवं बुद्धिजीवियों को चौकाया। 'सारिका' (पत्रिका) के कमलेश्वर जी और उनके बाद 'संचेतना' (लघु पत्रिका) के डॉ. महीप सिंह ने यह पहल की। हिंदी के दलित साहित्कारों पर बड़े पैमाने पर छापने की शुरूआत पहले-पहल 'युद्धरत आम आदमी' और 'हंस' जैसी लघु पत्रिकाओं ने की। 'युद्धरत आम आदमी' में 1987 में ही पहली दलित कहानी 'लटकी हुई शर्त' प्रहलाद चंद्र दास की छपी। इसके बाद 'युद्धरत आम आदमी के चार विशेषांक दलित चेतना-कविता, कहानी, साहित्य और सोच पर आए। इन पर आधारित पुस्तकें भी छपीं। जिसमें लगभग एक सौ दलित लेखकों ने योगदान दिया। 'युद्धरत आम आदमी के विशेषांकों के बाद ही बाकी गैरदलित पत्रिकाओं के अपने दलित विशेषांकों की घोषणा हुई। इससे यह मिथक टूटा कि हिंदी में दलित लेखक नहीं हैं और यह भी कि सवर्ण ही लेखक हो सकते हैं। 'युद्धरत आम आदमी' और 'हंस' के संपादकीय में दलित चेतना पर निरंतर चर्चा और नवलेखन प्रकाशन एवं रमणिका फाउंडेशन द्वारा क्रमश: दिल्ली तथा हज़ारी बाग में आयोजित गोष्ठियों एवं सम्मेलनों ने भी हिंदी पट्टी में एक वातावरण निर्मित किया। महाराष्ट्र में दलित साहित्कारों ने नागपुर में 'अंगुत्तर' जैसी गंभीर हिंदी पत्रिका निकाली। उन्होंने दलित मुद्दों को उछालने के साथ-साथ हिंदी के दलित लेखकों को छापना शुरू कर, उन्हें एक मंच दिया। इस बीच हिंदी में भी दिल्ली, पंजाब, उत्तर प्रदेश आदि से कई

138. शरण कुमार लिंबाले (2000) वही : 20-21.

दलित पत्रिकाएं निकलीं। कई पत्रिकाएं बंद हो गईं, कई नई पत्रिकाएं पंजीकृत हुईं-कई आज तक चल रही हैं। इनमें इजाफा ही हो रहा है। 'भीम' आदि पत्रिकाओं ने दलित साहित्य के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।'डॉ. आंबेडकर मिशन', 'शंबूक' (पटना), 'धम्म दर्पण', 'हम दलित', 'हिमायती', 'अभिमूक नायक', 'दलित प्रक्रिया', 'सजग-प्रहरी, 'अश्वघोष', 'समय सरोकार' (दिल्ली), 'निर्णायक भीम', 'लोक सूचक, (कानपुर), 'परिषद संदेश' (मध्य प्रदेश), 'प्रज्ञा' (लखनऊ) आदि पत्रिकाएं निकलने लगीं।

अरुणाचल प्रदेश के राज्यपाल रहे श्री माता प्रसाद जी ने सीधी-साधी भाषा में साहित्य सृजन किया और दोहे, कविता के अतिरिक्त दर्जनों नाटक, खंड काव्य लिख कर दलित सर्वहारा में स्वाभिमान की चेतना का विकास किया। उन्होंने हिंदी पट्टी के साहित्यकारों को भी एकजुट कर, एक मंच पर लाकर उन्हें प्रेरित और आंदोलित किया। उन्होंने इन्हें सुरक्षा कवच देने के साथ-साथ नेतृत्व भी प्रदान किया जिसके अभाव में इस सामंती हिंदी पट्टी में दलित साहित्य खुलकर सामने नहीं आ पा रहा था। इस प्रकार माता प्रसाद ने सामंती मानसिकता से उत्पीड़ित और हीन-भावना से ग्रसित एक बड़े दलित वर्ग को जाग्रत किया। एक-तरफ़ साधारण जनभाषा में लिखकर उन्होंने दलित वर्ग के निचले स्तर तक दलित साहित्य का रिश्ता जोड़ा दूसरी तरफ़ दलित साहित्यकारों के आयोजनों में भागीदारी करके उन्हें गरिमा प्रदान की और अस्मिता दी। इससे बिखरे हिंदी दलित साहित्यकार एक मंच पर जुटने लगे और प्रतिबद्ध होकर लिखने की तरफ़ अग्रसर हुए। माता प्रसाद ने 'दिग्विजयी रावण' खंडकाव्य की रचना कर रावण को नई परिभाषा दी और उसे तुलसी के राम के मुकाबिल ऊँचा उठाया। हिंदी में दलित लेखकों ने शोध कार्य भी शुरू किए और विचारधारात्मक धरातल पर भी गंभीरता से लेखन कार्य शुरू किया। डॉ. धर्मवीर ने 'कबीर के आलोचक' में कबीर को तुलसी के मुकाबिल खड़ा कर यह साबित कर दिया कि कबीर परिवर्तन के प्रतीक थे और तुलसी यथास्थितिवाद के पोषक।

एन. सिंह रचनात्मक लेखन के अतिरिक्त विचारधारा और समीक्षा तथा आलोचना के स्तर पर भी दलित साहित्य को एक नया आयाम दे रहे हैं। जिससे वे अब तक के उपेक्षित-दलित साहित्य को अपनी पहचान दिलाने में सफल हुए हैं। श्यौराज सिंह 'बेचैन' की पुस्तक ने पत्रकारिता के क्षेत्र में सूचनाओं के अंबार

लगा दिए तो चंद्रभान प्रसाद ने 'विश्वासघात' में तथ्यों के प्रामाणिक आँकड़े प्रस्तुत कर स्वाधीनता के पश्चात दलितों की शिक्षा और विकास के झूठे आँकड़ों तथा सत्ता की इच्छा शक्ति के अभाव को बेपर्दा किया। कंवल भारती के राजनीतिक-सामाजिक विश्लेषणात्मक आलेखों से हिंदी पट्टी की पत्रकारिता समृद्ध हो रही है। नवल वियोगी ने दलित परिप्रेक्ष्य में एक नया इतिहास रचने की मुहिम छेड़ रखी है। सुशीला टाकभौरे ने लगभग एक दर्जन पुस्तकें दलित कविता, कहानी और निबंधों को प्रकाशित कर दलित महिला लेखन की सशक्त भागीदारी दर्ज कराई है। रजत रानी 'मीनू' ने दलित कथा साहित्य पर शोध किया और दलित कविता पर एक गंभीर पुस्तक लिखी। जहाँ जयप्रकाश कर्दम ने हिंदी दलित साहित्य को 'छप्पर' नाम का पहला उपन्यास दिया तो प्रेम कपाड़िया ने भी एक उपन्यास लिखा। मोहनदास नैमिशराय की 'अपने-अपने पिंजरे' आत्मकथा विधा की प्रथम पुस्तक के रूप में आयी। ओमप्रकाश वाल्मिकी ने अपनी आत्मकथा 'जूठन' में हिंदी पट्टी में दलित पीड़ा के आयाम को दर्ज करने के साथ-साथ, सवर्ण अभिजात मानसिकता के नासूर को उकेरा जो शिक्षा के क्षेत्र में भी अबोध-बालकों के स्तर पर दोहरे मापदंड का इस्तेमाल कर भारतीय मानस को दुराव, छल, कपट के जहर से मारता रहा है। कौशल्या बैसंत्री ने 'दोहरा अभिशाप' नाम से अपनी आत्मकथा लिखकर दलित महिला लेखन को समृद्ध किया है। इन सबमें दलित और सवर्ण पुरुष का एक जैसी मानसिकता की शिकार एक जुझारू दलित महिला के संघर्ष और अस्मिता निर्माण की आपबीती है। इसके अतिरिक्त कुसुम वियोगी, जयप्रकाश कर्दम, कंवल भारती, श्यौराज सिंह बेचैन, टी.पी.सिंह, मलखान सिंह, सूरजपाल चौहान, प्रेम कपाड़िया, बी.एल. नैयर, सी.बी.भारती, रामकृष्ण राजपूत, शत्रुघ्न कुमार, सुश्री कावेरी, प्रहलाद चंद्र दास, दयानंद बटोही, लालचंद राही, विपिन बिहारी, जियालाल आर्य, रमाशंकर आर्य, ए.के.विश्वास, एस.के.विश्वास, रजनी तिलक, कर्मशील भारती, अ.ला. उके तथा अजय नावरिया जैसे हिंदी के अनेक दलित लेखक रचनात्मक क्षेत्र में कहानी, कविता, उपन्यास, नाटक एवं निबंध की विधाओं को समृद्ध कर रहे हैं। मैनेजर पांडेय एवं हंस के सम्पादक राजेन्द्र यादव ने दलित साहित्य को एक सबल समर्थन ही नहीं दिया बल्कि दलित विरोधियों को कड़ा जवाब भी दिया और दलित साहित्य को एक निश्चित पहचान देने की मुहिम के साथ-साथ, ऐतिहासिक संदर्भों की खोज कर

दलित साहित्य के औचित्य को मज़बूत किया।[139]

अस्सी के दशक के बाद ही दलित साहित्य एक नई शक्ल लेकर अभिजात, उच्च जाति (सवर्ण) के साहित्यकारों के मंच को चुनौती देने लगा। यह सच है कि शुरू के दलित साहित्यिक संस्थान चंद लोगों के लिए उनके राजनीतिक लक्ष्य की सीढ़ी बने। इस प्रकार दलित संगठनों ने भारत सरकार पर दबाव डाल कर डॉ. आंबेडकर का संपूर्ण वाङ्मय छापने को मजबूर किया। ऐसे संस्थानों अथवा कुछ दलित साहित्यकारों द्वारा हिंदी में दलित साहित्य की पत्रिकाएं भी निकाली जाने लगीं। इसी दशक में दलित संस्थानों की सक्रियता भी बढ़ी। डॉ. सोहनलाल सुमनाक्षर के नेतृत्व में भारतीय दलित साहित्य अकादमी के राष्ट्रीय सम्मेलन हर वर्ष होने लगे और यह सिलसिला फिर राज्यों में भी चला। भारतीय दलित साहित्य अकादमी ने हर वर्ष अनेक दलित लेखकों और हजारों की संख्या में दलित चेतना समर्थकों एवं गैर दलित लेखकों को एक साथ, एक मंच पर जुटाने का काम किया। इन्होंने डॉ. आंबेडकर के नाम से फैलोशिप और राष्ट्रीय अवार्ड आदि देने शुरू किए जिससे दलित अस्मिता के निर्माण और विकास को बल मिला। रानी झांसी की बजाय महिलाओं को 'झलकारी बाई' का अवार्ड देने से पुराने मिथक भी टूटे और नये बनने शुरू हुए। दिल्ली में ही 'दलित साहित्य मंच' नाम से एक संस्था राजपाल सिंह 'राज' और लक्ष्मी नारायण सुधाकर द्वारा 1981 में स्थापित की गयी जो साहित्यिक गतिविधियों को संचालित करती आ रही है, भले छोटे ही पैमाने पर। दिल्ली में ही 'सेंटर फॉर अल्टरनेटिव दलित मीडिया' (कदम) 1990 में अस्तित्व में आया और इन्होंने दलित साहित्य के प्रचार-प्रसार तथा 'अभिमूक नायक' अखबार का प्रकाशन शुरू किया। 'दलित साहित्य प्रकाशन संस्था' ने भी दिल्ली में अखिल भारतीय हिंदी दलित साहित्यकार सम्मेलन 22-23 जुलाई, 1995 में आयोजित किया। इसमें 'दलित सृजन को पाठ्यक्रम में शामिल करना' पत्र पत्रिकाओं में दलित लेखकों को बतौर लेखक प्रतिनिधित्व देना' तथा 'दलित साहित्य शोधकों व प्रकाशकों को सरकारी सहायता प्रदान करना' विषय रखे गए। डॉ.चंद्रभान प्रसाद ने 'दलित शिक्षा आंदोलन' की स्थापना कर ब्रिटिश काल से लेकर आज तक दलितों की शिक्षा के अवरोधों और प्रयासों पर शोध करना शुरू किया तो डॉ.कुसुम वियोगी ने 'दलित लेखक संघ' कायम कर साहित्यिक गोष्ठियों और साहित्यिक चर्चा की शुरूआत की।

139. शरण कुमार लिंबाले (2000) वही : 22.

श्यौराज सिंह बेचैन की अध्यक्षता में 'दलित राइटर्स फौरम' गठित हुआ जिसने पत्रकारिता में दलितों की भागीदारी का अभियान विभिन्न गोष्ठियों और सेमिनारों के माध्यम से चलाया एवं दलित साहित्य की समीक्षा एवं दलित एजेंडा पर विमर्श शुरू किया।[140]

नागपुर में विमल कीर्ति ने 'फुले आंबेडकरवादी लेखक संघ' का गठन कर बाबा साहेब के दीक्षा दिवस पर हर वर्ष भारत भर के हिंदी दलित लेखकों का सम्मेलन बुलाने का ऐतिहासिक कार्यक्रम शुरू किया। इस सम्मेलन में दलित साहित्य पर गंभीर चर्चा होनी शुरू हुई जिसने दलित लेखकों को प्रेरणा और दिशा देने तथा हिंदी दलित लेखन को समृद्ध करने का प्रयास किया। नागपुर में ही कुमुद पांवड़े ने आल इंडिया प्रोग्रेसिव वीमेन ऑर्गेनाइजेशन नागपुर के तत्त्वावधान में 2 अक्टूबर 1995 को दलित महिला लेखिकाओं का प्रथम सम्मेलन आयोजित किया। नागपुर में ही हिंदी दलित लेखिकाओं को एक मंच पर लाने हेतु 'दलित लेखिका संघ' की योजना बनी जिसका प्रथम सम्मेलन दिल्ली में 3 जनवरी 1996 को रजनी तिलक की पहल पर हुआ।

बिहार में 'डॉ. आंबेडकर मिशन' का गठन कर बुद्ध शरण हंस ने दलित साहित्कारों को जुटाया। इसी प्रकार उज्जैन में अवंतिका प्रसाद 'मरमट' ने मध्य प्रदेश दलित साहित्य अकादमी तथा पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी ने पहले 'डॉ. आंबेडकर राष्ट्रीय अस्मितादर्शी साहित्य अकादमी' नाम से संस्थान कायम किया और बाद में भारतीय दलित साहित्य अकादमी की मध्य प्रदेश शाखा का गठन किया। हीरालाल पिप्पल तथा सुश्री प्रभा वीसे ने अ.भा. अनुसूचित जाति परिषद् का गठन किया। इन संस्थानों द्वारा प्रतिवर्ष साहित्कारों को जुटाने के आयोजन शुरू किए गए। अवंतिका प्रसाद 'मरमट' ने 'पूर्वदेवा' और प्रभा वीसे ने 'परिषद संदेश' पत्रिकाएं प्रकाशित करनी शुरू की, अपने संस्थानों की ओर से। बिहार में 1997 में रमणिका फाउंडेशन हज़ारी बाग में 1998 में पटना में अवर्ण साहित्कारों की भी एक संस्था गठित हुई, लखनऊ में आंबेडकर इन इंडिया, बनारस में डिप्रेस्ड क्लास मिशन, पत्रिकाएं लगातार निकल रही हैं साथ ही दिल्ली में दलित दस्तक ने अभी पाँच साल पूरे कर लिए हैं। इस प्रकार लगभग हिंदी पट्टी के हर राज्य में कई संस्थाएं खड़ी हो गईं जो दलित साहित्यकारों को मंच पर लाने लगीं और पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित कर रहीं है।

---

140. शरण कुमार लिंबाले (2000) वही : 20.

दलित देशज ज्ञान की निर्मिति एवं दलित पत्रकारिता

डॉ. आंबेडकर एक सफल पत्रकार एवं प्रभावी सम्पादक थे। अखबारों के माध्यम से समाज में जागृति आएगी, इस पर उन्हें विश्वास था। वह आंदोलन में अखबार को बेहद महत्त्वपूर्ण मानते थे। उन्होंने शोषित एवं दलित समाज में जागृति लाने के लिए कई अखबारों एवं पाँच पत्रिकाओं का प्रकाशन एवं सम्पादन किया। इनसे उनके दलित आंदोलन को आगे बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण मदद मिली।[141] उन्होंने कहा है कि, ''किसी भी आंदोलन को सफल बनाने के लिए अखबार की आवश्यकता होती है, अगर आंदोलन का कोई अखबार नहीं है तो उस आंदोलन की हालत पंख टूटे हुए पंछी की तरह होती है।'' डॉ. आंबेडकर ही दलित पत्रकारिता के आधार स्तम्भ हैं क्योंकि वे दलित पत्रकारिता के प्रथम सम्पादक, संस्थापक एवं प्रकाशक हैं।[142] डॉ. आंबेडकर ने सभी पत्र मराठी भाषा में ही प्रकाशित किए क्योंकि उनका कार्य क्षेत्र महाराष्ट्र था और मराठी वहाँ की जन भाषा थी और उस समय महाराष्ट्र की शोषित एवं दलित जनता ज़्यादा पढ़ी-लिखी नहीं थी, वह केवल मराठी ही समझ पाती थी। कई दशकों तक उन्होंने पाँच मराठी पत्रिकाओं का सम्पादन किया था, जिसमें मूकनायक (1920), जनता (1930), बहिष्कृत भारत (1927), समता (1928) एवं प्रबुद्ध भारत (1956) सम्मिलित हैं। इन पाँचो पत्रों में डॉ. आंबेडकर देश के सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक मुद्दों पर अपने विचार व्यक्त करते थे।[143] साहित्यकार व विचारक गंगाधर पंतवाने ने 1987 में भारत में पहली बार डॉ. आंबेडकर की पत्रकारिता पर पीएच-डी के लिए शोध प्रबंध लिखा। उसमें पंतवाने ने डॉ. आंबेडकर के बारे में लिखा है कि, ''इस मूकनायक ने बहिष्कृत भारत के लोगों को प्रबुद्ध भारत में लाया। इस तरह से डॉ. आंबेडकर की पत्रकार के रूप में यह भूमिका बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इन अखबारों के माध्यम से डॉ. आंबेडकर ने दलित

---

141. राजबहादुर, Raj Bahadur (10 फरवरी 2017). " A glance at Dr Ambedkar's writings". Forward Press. अभिगमन तिथि 25 अप्रैल 2019.
142. कृपाशंकर चौबे Kripashankar Chaube (5 जुलाई2017). "Ambedkar's journalism and its significance today". Forward Press. अभिगमन तिथि 25 अप्रैल 2019.
143. http://velivada.com/2018/03/28/dr-ambedkar-as-a-journalist/, यह भी डा. अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङ्मय, खण्ड-1 : 35 एवं डा. अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङ्मय, खण्ड-15 : 10,धनंजय कीर (2016) : 387.

आंदोलन का विचार पक्ष जनता के सामने लाने का कार्य किया और इनके माध्यम से डॉ. आंबेडकर ने अपने विचारों से अछूत समुदाय को जागृत करने का कार्य किया। इससे दलितों की एक पीढ़ी संघर्ष और आंदोलन के लिए तैयार हुई। इस तरह से डॉ. आंबेडकर ने दलित पत्रकारिता की बुनियाद बनाई। डॉ. आंबेडकर ने 31 जनवरी 1920 को मराठी भाषा में मूकनायक पाक्षिक पत्र का प्रकाशन किया था इस तरह से 31 जनवरी 2020 को इसकी 100वीं वर्षगांठ पूरी हुई है। डॉ. आंबेडकर पहले ऐसे नेता थे जिन्होंने अखबार को अपने आंदोलन का अंग मानकर उसका प्रकाशन प्रारम्भ किया।[144]

मूकनायक, बहिष्कृत भारत, समता, जनता, प्रबुद्ध भारत से शुरू हुई दलित पत्रकारिता की यात्रा यहीं नहीं थमती है। आज़ाद भारत में दलित संघर्ष और उसको विचारवाहक के रूप में फैलाने के लिए सम्पूर्ण भारत भर में अनेक प्रकार की संस्थाएँ दलित समूहों द्वारा स्थापित की गईं। इन संस्थाओं के माध्यम से दलित आंदोलन के विचार पक्ष को प्रसारित करने के लिए अनेक प्रकार की पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन किया जा रहा है। दलित पत्रकारिता की यह यात्रा दलित-पिछड़े समूहों के आंगिक बुद्धिजीवियों द्वारा आगे बढ़ाई जा रही है। इस यात्रा में कई तरह की समस्याएँ आईं लेकिन दलित पत्रकारिता की यह यात्रा लगातार जारी है। इनमें से कुछ पत्र-पत्रिकाएँ समय से प्रकाशित हुईं कुछ बीच में ही रुक गईं कुछ लगातार अभी भी निकल रही हैं। लेकिन यह यात्रा कभी रुकी नहीं, कुछ न कुछ नया प्रयोग इसमें होता रहा और इस यात्रा में अनेक नए नाम शामिल होते गए। इनमें मुख्य रूप से 14 अप्रैल राष्ट्रीय हिंदी मासिक पत्रिका, बहुजन वॉइस ए चैंपियन ऑफ़ सोशल रिवोल्यूशन, डॉ. आंबेडकर टुडे, अभिमूकनायक विचार, संघर्ष, और विकल्प की मासिक पत्रिका, बहुजन युग, बेधड़क न्यूज, भीम संगति, दलित अस्मिता, भारत अश्वघोष, बुद्धवाणी, दलित टुडे, हाशिये की आवाज़, धम्म संदेश, डिप्रेस्ड एक्सप्रेस, फॉरवर्ड प्रेस, जनतेचा महानायक मराठी, मायायुग, मिशन डॉ. आंबेडकर, लौकिक धर्म, मैत्री टाइम्स, द आप्रेस्ड इंडियन, बोधिसत्त्व बाबासाहब टुडे, न्याय चक्र, सजग प्रहरी, प्रबुद्ध जगत, बुद्धरत्न सम्राट, संघ प्रकाश, समता संगठक, संघर्ष, सामाजिक न्याय संदेश, आंबेडकर इन इंडिया, डॉ. आंबेडकर मिशन पत्रिका समता स्वतन्त्रता तथा भाईचारा की पत्रिका, अरावली उद्घघोष, आंबेडकर टुडे, अर्जक पत्र, गोंडवाना स्वदेश,

144. विवेक कुमार (2020): 6.

कमेरी दुनिया: मासिक, आंबेडकरवाद : साप्ताहिक, आश्वस्त : भारतीय दलित साहित्य अकादमी, मध्य प्रदेश की मासिक पत्रिका, तीसरा पक्ष : त्रैमासिक, तथागत संदेश: हिंदी मासिक पत्रिका, डॉ. आंबेडकर और बहुजन: बहुजन समाज का हिंदी साप्ताहिक पत्र, डॉ. आंबेडकर विकास : हिंदी मासिक पत्र, बयान : मासिक पत्रिका, अपेक्षा : त्रैमासिक, यादव शक्ति पत्रिका: त्रैमासिक, दलित आंदोलन पत्रिका, दलित दस्तक : मासिक आदि पत्र पत्रिकाएँ शामिल हैं। इसके अलावा बहुत सारे अकादमिक बुद्धिजीवियों ने दलित-बहुजन विचारदृष्टि से अकादमिक पत्रिकाएँ भी प्रकाशित करने का काम किया है जिनमें इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ़ दलित स्टडीज़ द्वारा प्रकाशित की जा रही दलित अस्मिता, इंडियन जर्नल ऑफ़ दलित एंड ट्राइबल स्टडीज़, वाराणसी से, दलित वाइस सेज प्रकाशन से प्रकाशित, इस यात्रा में अनेक पत्र पत्रिकाओं के नाम हैं जिन पर अभी शोध कार्य किया जाना बाकी है। दलित पत्रकारिता के इस क्रम में बहुजन समाज पार्टी के संस्थापक कांशीराम ने अपनी बहुजनवाद की थीसिस के तहत आमजनों को जोड़ने के लिए एक समानांतर बहुजन मीडिया स्थापित करने का प्रयास भी किया। वे मुख्यधारा के मीडिया को मनुवादी कहते थे। इसलिए उन्होंने अपनी स्वयं की पत्रिकाओं और अखबारों का प्रकाशन शुरू किया। उनकी पहली पत्रिका थी 'द अनटचेबल इंडिया' (अछूत भारत)। इस पाक्षिक का प्रकाशन 1 जून, 1972 से शुरू हुआ। सन् 1979 के बाद से उन्होंने बामसेफ के साथ मिलकर 'द आप्रेस्ड इण्डियन' नामक मासिक का प्रकाशन शुरू किया। इस पत्रिका में संपादकीय लेख कांशीराम स्वयं लिखा करते थे। 'बहुजन टाइम्स' नामक दैनिक अखबार का प्रकाशन 31 मार्च, 1984 से मराठी, 14 अगस्त, 1984 से अंग्रेज़ी और 6 दिसम्बर, 1984 से हिंदी में शुरू हुआ। ये समाचार पत्र नई दिल्ली और महाराष्ट्र से एक साथ प्रकाशित होते थे। मान्यवर ने कई अन्य मासिकों का भी प्रकाशन शुरू किया जिनके शीर्षक थे 'बहुजन साहित्य', 'श्रमिक साहित्य', 'इकोनॉमिक अपसर्ज', 'आर्थिक उत्थान' व 'बीआरसी बुलेटिन'। ये पत्रिकाएं और अखबार धीरे-धीरे पैसे की कमी और पाठक वर्ग के अभाव के कारण बंद हो गए। कांशीराम ने 'बहुजन संगठक' व 'बहुजन नायक' नाम से क्रमशः हिंदी और मराठी में नई दिल्ली व महाराष्ट्र से दो साप्ताहिकों का प्रकाशन शुरू किया। बहुजन संगठक तो कांशीराम के परिनिर्वाण के बाद भी कई सालों तक निकलता रहा। इन बहुजन पत्र-पत्रिकाओं ने बहुजनों को जागृत करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

हाशिये के समूहों द्वारा स्थापित पत्र-पत्रिकाओं के संदर्भ में समाजशास्त्री

विवेक कुमार लिखते हैं कि डॉ. आंबेडकर ने 1943 में ही भारतीय मीडिया को हिंदू एवं कांग्रेसी मीडिया कहकर संबोधित किया था। बाद में 1970 के दशक में कांशीराम ने भारतीय मीडिया को मनुवादी कहकर खारिज किया था। विवेक कुमार आगे कहते हैं कि जब मुख्यधारा का मीडिया सवर्ण एवं तथाकथित उच्चवर्णीय एवं जाति के लोगों की खबरों को ब्लैक आउट कर सकता है, पक्षपात कर सकता है तो वह दलितों एवं बहुजनों की बात को कितनी गंभीरता के साथ लेगा यह सोचनीय और कल्पनीय है।[145] इस तरह से अंबेडकरी विचारधारा की पत्रकारिता का दायरा दिनों दिन बढ़ता जा रहा है। अब दलितों का ख़ुद का अपना मीडिया है। जिस भी स्थिति में है धीरे-धीरे वह बढ़ रहा है। डॉ. आंबेडकर, चन्द्रिका प्रसाद जिज्ञासु, स्वामी अछूतानन्द हरिहर ने विषम समय में जब प्रिंट मीडिया की स्थापना की थी वह आज एक कदम आगे बढ़ता हुआ दिख रहा है। प्रिंट मीडिया से आगे बढ़कर इलेक्ट्रानिक मीडिया के माध्यमों जैसे टीवी चैनल, वेब चैनल, सोशल मीडिया तक दलित-पत्रकारिता दमदार दस्तक दे रही है।

निष्कर्ष

इस अध्याय का एक महत्त्वपूर्ण मकसद दलित अध्ययन के लिए नया दृष्टिकोण मुहैया कराना रहा है। इस खंड में लेखकों ने जो पहल की है, उसमें ये चीजें शामिल हैं जैसे कि भारतीय इतिहास के अध्ययन में मनुष्य के आत्मसम्मान जैसे जमीनी मुद्दे को केंद्र में रखना, उन बेतुकी परंपराओं की पड़ताल करना, जिसके कारण जाति आधारित भेदभाव का सिलसिला कायम रहा और उपनिवेशवाद बनाम राष्ट्रवाद के ढाँचे से जुड़ी अवधारणा की सनक से बाहर निकलना। इस अध्ययन के परिचय अध्याय की शुरुआत जिस लंबे उद्धरण के साथ हुई, उसमें भारत के स्वतंत्रता आंदोलन को लेकर माता प्रसाद की व्याख्या थी। उन्होंने इसकी पड़ताल उपनिवेशवाद बनाम राष्ट्रवाद के नज़रिये से नहीं की, जो भारतीय इतिहास लेखन में प्रबल रूप से मौजूद है। प्रसाद ने इसके बजाय इसकी पड़ताल मानव के सम्मान के दृष्टिकोण से की। माता प्रसाद का कहना है कि औपनिवेशिक वर्चस्व के खिलाफ संघर्ष में भारतीय संभ्रातों को हुआ अपमान का अनुभव प्रमुख कारण था। अपमान और सम्मान ऐसे प्रमुख विषय हैं, जो दलित भाषाई साहित्य और संपूर्ण भारत के राजनीतिक जगत में मौजूद हैं। इसके साथ ही इस अध्याय का मुख्य जोर आंगिक बुद्धिजीवियों के लेखन और दलित आंगिक ज्ञान की निर्मिति व दलित लोकवृत्त बनने की प्रकिया में आंगिक बुद्धिजीवियों की भूमिका पर केंद्रित रहा हैं। चूंकि आंगिक (जैविक) यानि ऑर्गेनिक और ट्रेडीशनल यानि

145. विवेक कुमार (2020): 7.

पारंपरिक बुद्धिजीवी की अवधारणा इतालवी विद्वान और मार्क्सवादी चिंतक एंटोनियो ग्राम्सी की देन हैं। ग्राम्सी ने पूंजीवादी समाज और समाजवाद की संक्रमणकालीन अवस्था के दौरान बुद्धिजीवियों की भूमिका पर विचार करने के क्रम में इन धारणाओं का विकास किया था। ग्राम्सी ने बुद्धिजीवियों को उनकी सामाजिक हैसियत के आधार पर परिभाषित किया है। ग्राम्सी के अनुसार बुद्धिजीवी की श्रेणी में वे सब आते हैं, जो समाज के आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक दायरों में व्यवस्थापक या संगठनकर्ता की भूमिका निभाते हैं। ग्राम्सी के अनुसार न केवल चिंतक, विद्वान, कलाकार और पत्रकार के साथ-साथ अफसर, नेता, इंजीनियर, मैनेजर और तकनीशियन भी बुद्धिजीवी की श्रेणी में आते हैं। ग्राम्सी का मानना था कि आर्थिक उत्पादन के बुनियादी धरातल पर उभरता हुआ वर्ग अपने साथ बुद्धिजीवियों का एक या उससे अधिक समूह भी उत्पन्न करता है। बुद्धिजीवियों का यह समूह इस वर्ग को आर्थिक दायरे के साथ-साथ सामाजिक राजनैतिक और सांस्कृतिक दायरों में एकता कायम करते हुए उन्हें अपनी भूमिका के प्रति सचेत करने का काम करता है। ग्राम्सी इन बुद्धिजीवियों को दो भागो में बांटकर देखते हैं। आंगिक यानि (ऑर्गेनिक) और (ट्रेडीशनल) यानि पारंपरिक। ग्राम्सी कहते हैं, कि डॉक्टर, इंजीनियर, प्रबन्धक जैसे लोग अपने विषय और काम में निपुण होने के बावजूद समाज के विकास पर सीमित असर ही डाल पाते हैं। उनकी भूमिका समाज के व्यापक बदलाव में नेतृत्वकारी नहीं होती हैं। ऐसे बुद्धिजीवियों को उन्होंने पारंपरिक या (इन-ऑर्गेनिक) की श्रेणी में रखा है। इसके अलावा, राजनेताओं, चिंतको, पत्रकारों और जनमत बनाने वालों, जनलामबंदी करने वाले बुद्धिजीवियों को उन्होंने आंगिक यानि ऑर्गेनिक करार दिया हैं। क्योंकि वे अपने वर्ग का या समुदाय का एक अंग सा होते हैं। ग्राम्सी का विचार था कि अपनी निम्नवर्गीय स्थिति से मुक्त होकर नेतृत्वकारी स्थिति में आने के लिए मजदूर वर्ग को अपने आंगिक बुद्धिजीवी तैयार करने होंगे। यह आंगिक बुद्धिजीवी वर्ग पूंजीपति वर्ग के आंगिक बुद्धिजीवी वर्ग से बिलकुल भिन्न होगा। इसके साथ ही साथ इसे भावनात्मक उत्तेजना या क्षणिक उत्तेजना पैदा करने वाले भाषणों और लेखन से बचते हुए आंदोलनों में सक्रिय जन भागीदारी भी करनी होगी।[146] इन आंगिक (जैविक) बुद्धिजीवियों की पहचान इनकी नौकरी या आजीविका के पेशे से नहीं बल्कि अपने उस वर्ग के हित में चिंतन की दिशा से होती है जिससे इनके जैविक संबंध हैं।

146. एंटोनियो ग्राम्सी (1970), सांस्कृतिक और राजनीतिक चिंतन के बुनियादी सरोकार, अनुवाद : कृष्णकांत मिश्र (2002), ग्रंथशिल्पी, दिल्ली।

अध्याय : पाँच

दलित अध्ययन और समाजशास्त्र : वैकल्पिक समाजशास्त्र की तलाश में

चूँकि मेरी यह शोध परियोजना इतिहास लेखन के साथ भी संबंधित है इसलिए मैं इस अध्याय को सुसंगत बनाने के लिए समाजशास्त्र के इतिहास पर नज़र डालना उचित समझता हूँ। इसके साथ ही इस अध्याय का मकसद यह भी जानना होगा कि मुख्यधारा के समाजशास्त्र में दलित प्रश्नों की उपस्थिति, मुख्यधारा के समाजशास्त्र में दलित आन्दोलन का परिप्रेक्ष्य, दलित आत्मसम्मान का प्रश्न? आज़ादी के बाद नागरिक समाज की रचना एवं दलित प्रश्न? दलितों द्वारा अस्मितावादी रचना का निर्माण? दलित ज्ञानमीमांसा के मुद्दे? आदि प्रश्नों के संदर्भ में समाजशास्त्र के परिप्रेक्ष्य के आधार पर इतिहास, भारतीय राजनीति, आधुनिकता, उदारवाद तथा लोकतंत्र ने अब तक दलितों के साथ क्या किया? यह सभी प्रश्न आज मुख्यधारा के समाजशास्त्र के सामने हैं। अत: इन प्रश्नों के जवाब इस अध्याय के माध्यम से खोजने का प्रयास किया गया है। दलित अध्ययनों की बढ़ती प्रवृत्ति के सन्दर्भ में एस.एम. माइकल लिखते हैं कि वर्तमान में दलितों की आकांक्षाएं, परम्परागत भारत में दलितों की आकांक्षाओं से पूर्णतया भिन्न हैं। यह परिवर्तन उस दृष्टिगत परिवर्तन का परिणाम है जो भूतकाल में अस्पृश्यों ने देखा था और आज भी देख रहे हैं। दृष्टि, विचार एवं क्रिया, दोनों के लिए कार्यक्रम निर्धारित करती है; दार्शनिक, राजनीतिक एवं सामाजिक सिद्धान्तों का निर्माण उनके आधार पर होता है। एक दृष्टि में विश्वास रखने वाले लोग स्वयं को, दूसरी दृष्टि में विश्वास रखने वाले लोगों से एक भिन्न, नैतिक भूमिका में देखेंगे। इस प्रकार की विरोधी (संघर्षरत) दृष्टियों का शाखा विस्तार आर्थिक, न्यायिक, सैनिक, दार्शनिक एवं राजनीतिक क्षेत्रों तक फैल जाता है। भारत के

इतिहास में यह बात अस्पृश्यों के दृष्टान्त ने स्पष्ट की है।[1] इस सन्दर्भ को गोपाल गुरु एवं वी. गीता और अधिक विशेषीकृत करते हुए लिखते हैं कि पिछले कुछ वर्षों में बढ़ते बौद्धिक सक्रियतावाद ने दलित बहुजन सांस्कृतिक जीवन को, क्षेत्रीय एवं राष्ट्रीय स्तरों पर प्रभावित किया है। इस विकास की एक रूचिकर विशेषता यह है कि यह औपचारिक शिक्षा स्थलों से बाहर हुआ जिन्हें कि इस प्रकार के विकास का सामान्य केन्द्र माना जाता है।[2] दलित बौद्धिक सक्रियतावाद की इस नई प्रवृत्ति को समाजशास्त्रीय रूप से समझना आवश्यक है। अत: वर्तमान भारत में दलित बौद्धिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक सक्रियता एक अत्यधिक रूचिकर परिदृश्य का प्रतिनिधित्व करती है, जिसमें दलित वास्तविकता को एक अमूर्त सैद्धान्तिक स्तर पर अर्थ प्रदान करने की तात्कालिक आवश्यकता महसूस की जा रही है। ये बौद्धिक प्रयास यह भी प्रदर्शित करते हैं कि भविष्य में दलित सिद्धान्त एक व्यापक स्वरूप धारण कर सकता है। यह सर्वविदित है कि 'दलित' शब्द के लिए आलोचना एवं चुनौती दोनों ही हैं, विशेष रूप से उत्तर-आधुनिकता एवं उत्तर-संरचनात्मक विद्वानों द्वारा। कुछ बुद्धिजीवी एवं सक्रियतावादी इस मत के हैं कि 'दलित' शब्द आज से पूर्व के अस्पृश्यों के लिए विरोधी है, और इस शब्द में स्वयं अपनी न तो प्रत्याश्रित तर्क की योग्यता और न ही व्याख्यात्मक क्षमता है जो कि पूर्व-अस्पृश्यों के पूर्ण उत्थान में सहायक हो सके। इसीलिए दलित एक ऐसी श्रेणी है जिसे दलितों एवं गैर-दलितों दोनों से ही हिंसात्मक अस्वीकृति का सामना करना पड़ता है।[3]

दलित श्रेणी के सैद्धान्तिक निर्माण के प्रत्युत्तर में विद्वानों द्वारा दो प्रकार के तर्क प्रस्तुत किए गए हैं। रोमिला थापर का यह विश्वास है कि एक अप्रचलित इतिहास की अवधारणा है जिसमें कुछ श्रेणियां अपना महत्त्व खो देती हैं, उदाहरणार्थ आर्य-अनार्य की श्रेणियां। इसी तर्क के अनुसार हम यह तर्क कर सकते हैं कि शूद्र, आदिधम्म आदि भी ऐसी ही अप्रचलित ऐतिहासिक श्रेणियां हैं। किन्तु वे यह मानती हैं कि दलित एक विशिष्ट श्रेणी है और इसे बनाए रखने के लिए एक राजनीतिक आवश्यकता है। एक अन्य विद्वान सत्यनारायण का यह कथन है कि

1. एस.एम. माइकल (2015) : 13-44.
2. गुरू एवं गीता (1977).
3. एस.एम. माइकल (2015) वही.

दलित को एक निर्मित श्रेणी के रूप में देखना चाहिए, जिसे दलितों के लिखित इतिहास एवं छिपी संस्कृति को भरकर एवं पुन: संभाल कर प्राप्त किया गया है। इस श्रेणी की सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक जड़ों को समझे बिना भारत की जटिल एवं बहुलवादी संस्कृति को समझना सम्भव नहीं होगा।[4] अत: यह सच है कि 'दलित' विषय निरन्तर छानबीन एवं आलोचनात्मक परीक्षण से गुजरा है और गुजर रहा है। हालाँकि कुछ विचारक एवं सक्रियतावादी यह महसूस करते हैं कि दलित श्रेणी का प्रारम्भ आशाजनक था और इसका भविष्य और भी अच्छा होगा, इसलिए इसे वे आसानी से नहीं छोड़ना चाहते हैं।[5] फिर भी इस श्रेणी की पुनर्परिभाषा के पक्ष में सैद्धान्तिक तर्कों के प्रति हमें खुला मन रखना चाहिए, साथ ही और भी अधिक गहन तर्कों के प्रति भी खुला मस्तिष्क रखना चाहिए। इसके लिए दलित ज्ञानमीमांसा एवं दलित ज्ञान व्यवस्थाओं की अत्यधिक आवश्यकता है। दलित समाजशास्त्र का उद्देश्य यह जानना है कि दलित ज्ञान व्यवस्थाएं क्या हैं तथा वे किस सीमा तक दलित पुनरुत्थान की आधुनिक योजना की पुन: प्राप्ति के लिए कहां तक उपयोगी हैं। इस आवश्यकता की व्याख्या यह जानने एवं संवेग रहित खोज के रूप में की जा सकती है कि दलित जीवन एवं संस्थाओं को भूत के गर्त से निकाल सके। दलितों से सम्बन्धित प्रश्नों के सन्दर्भ में ज्ञान एवं ज्ञान शास्त्र केन्द्रीय बन जाते हैं।[6]

ऐतिहासिक समाजशास्त्र का अध्ययन

वर्तमान में हम जिसे ऐतिहासिक समाजशास्त्र कहते हैं, उसका आरंभ 1970 के दशक में हुआ था, लेकिन इसमें निहित चिंतन और उनके प्रतिपादकों की खोज हमें उन्नीसवीं सदी में ले जाती है। ऐतिहासिक समाजशास्त्र अपनी संज्ञात्मक पहचान में इतिहास और समाजशास्त्र के मध्य किसी मिलावट का आभास करवा सकती है, लेकिन ऐसा है नहीं। यह पूर्णत: समाजशास्त्र का ही अंग है जिसमें समाज का अध्ययन ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में किया जाता है। समकालीन समाजशास्त्र में आधुनिकीकरण को मुख्य रूप से विश्लेषित किया जाता है। यानी, सामाजिक परिवर्तन के माध्यम से समाज तत्त्वरूप में कैसे रूपांतरित हो जाता है, मसलन,

4. गुरू एवं गीता (1977) वही.
5. गुरू एवं गीता (1977) वही.
6. एस.एम. माइकल (2015) वही.

पारंपरिक कृषि समाज का आधुनिक औद्योगिक समाज में रूपांतरित होना। समकालीन ऐतिहासिक समाजशास्त्र के इस रूपांतरण को विश्लेषित करने के लिए 'तुलनात्मक अध्ययन' पर आश्रित है। सैद्धांतिक रूप से यह तुलना देश और काल की विभिन्न परिस्थितियों में की जाती है। ऐतिहासिक समाजशास्त्र एक वृहद वैज्ञानिक उपागम है जिसके अंतर्गत कई अध्ययन क्षेत्र और चुनौतियाँ, जैसे, संस्कृति, धर्म, राष्ट्रवाद, राजनीति, अंतरराष्ट्रीय राजनीति, वैश्वीकरण, सामरिक द्वन्द, अर्थव्यवस्था, श्रम, विज्ञान, कला, रोजमर्रा का पारिवारिक जीवन, संगृहीत स्मृतियां आदि कई और उपशीर्षक हैं। ऐतिहासिक समाजशास्त्र का अपना इतिहास है। इसका वृतचित्र खींचने के लिए अकादमिक विधाओं के रूप में समाजशास्त्र और इतिहास के विकास को दोहराना होगा। सामान्यत: यह कहा जा सकता है कि समाजशास्त्र तीन चरणों में विकसित हुआ है। पहले चरण में उन्नीसवीं सदी से लेकर 1920 तक का विस्तार है और इसे मुख्यत: 'वृहद सिद्धांतों' का युग माना जाता है। समाजशास्त्र की विधा यूरोपीय विश्वविद्यालयों में जन्मी और आगस्त कॉम्त, हर्बर्ट स्पेंसर, कार्ल मार्क्स, मैक्स वेबर, फर्डीनांड टोंनिज, जार्ज सिमेल्स, एमिल दुर्खीम और विल्फ्रेडो परेटो जैसे प्रथमवर्गीय विद्वानों के सिद्धांतों और विचारों से सम्बंधित है। अपने विकास के दूसरे चरण में समाजशास्त्र 1920 से 1950 के दशक तक अमेरिका में विकसित हुई जहाँ इसे वैज्ञानिक रूप में उपयोगी निष्कर्षों को निर्गत करने की ओर ले जाया गया। इस होड़ में प्रयोगाश्रित उपागमों का उदय हुआ और प्रश्नावली के आधार पर मात्रात्मक निरीक्षण करने को महत्त्व दिया जाने लगा। इसी कालखंड में अधिकाधिक समाजशास्त्रियों की यह मान्यता बनने लगी कि इस विधा का संबंध मात्र समकालीन समाज से है और इतिहास की तरह इसका अतीत से कोई नाता नहीं होना चाहिए। समाजशास्त्र के विकास के तीसरे और आखिरी चरण का आरंभ 1950 के बाद हुआ जब समाजशास्त्रियों ने फिर से सामाजिक सिद्धांतों की ओर रुख किया। लेकिन जल्दी ही यह बात स्पष्ट हो गयी कि ऐसी कोई भी पहल ऐतिहासिक तथ्यात्मकता के विपरीत है क्योंकि सामाजिक सिद्धांतों का निर्माण देश और काल में ऐतिहासिक वस्तुस्थिति को आंके बिना नहीं किया जा सकता है। टैल्कॉट पार्सन्स इस दौर के प्रसिद्ध नाम हैं। ऐतिहासिक तुलनात्मकता की इसी आवश्यकता से ऐतिहासिक समाजशास्त्र का उदय हुआ। इसके मुख्य प्रतिनिधि हैं नोर्बेर्ट एलिअस, श्मुएल

एन एइसन्स्डट, चार्ल्स टिल्ली, थेडा स्कोच्पोल, माइकल मान और इम्मंयूल वाल्लेर्सटाइन।[7]

इतिहास और समाजशास्त्र का अंत:संबंध

अपनी किताब 'सेंट्रल प्रॉब्लम्स इन सोशल थ्योरी'[8] में एंथोनी गिडेंस ने कहा है कि इतिहास और समाजशास्त्र के मध्य विभाजन करने के लिए कोई तार्किक और प्रणाली सम्बन्धी कारण मौजूद नहीं है। गिडेंस की बात को आगे ले जाते हुए ब्रिटिश ऐतिहासिक समाजशास्त्री फिलिप अब्राम्स ने कहा कि हमेशा से इतिहास और समाजशास्त्र एक ही रहे हैं। ख़ुद गिडेंस ने इस विषय को आगे ले जाते हुए अपनी सुप्रसिद्ध कृति 'द कांस्टीट्यूशन ऑफ़ सोसाइटी' में आग्रह किया है कि प्रचुर तर्कसंगतता से हमारे पास यह साबित करने के लिए कुछ भी नहीं है कि इतिहास और सामाजिक विज्ञान में कोई अंतर है। वे लिखते हैं, ''ऐतिहासिक शोध ही सामाजिक शोध है।''[9] इस संदर्भ में एंथोनी गिडेंस की बात मानी जाए या नहीं, लेकिन तथ्य तो यह है कि इतिहासकार और समाजशास्त्री भिन्न भाषाएँ बोलते हैं। इतिहासकार पीटर बर्क ने हमें इस संबंध में एनाल्स स्कूल[10] के फर्नान्द ब्रौदेल की एक युक्ति का स्मरण करवाया है। ब्रौदेल ने इसे 'बधिर का संवाद' कहा है। बर्क ने दोनों विधाओं की भिन्न भाषाओं पर ध्यान आकृष्ट करवाते हुए कहा है कि इन दोनों की संरचनाएँ भी अलग हैं। एक ओर जहाँ समाजशास्त्री गुणात्मक अंकों पर ध्यान देते हैं। इतिहासकार तथ्यों व शब्दों की बात करते हैं। समाजशास्त्रियों के लिए सामान्य नियमों की खोज जरूरी है लेकिन इतिहासकार व्यक्तिपरकता और विशिष्टता पर ध्यान देते हैं।[11] दोनों विधाओं के मध्य अंतर की पड़ताल करते हुए हम अतीत की पड़ताल में जाएँ तो मालूम होता है कि कई विद्वान जैसे चार्ल्स-लुइ मोंटेसक्यू (1689-1755), एडम फर्ग्युसन

7. जिरि सुब्रट (2017): 6.
8. एंथोनी गिडेंस (1979) : 230.
9. एंथोनी गिडेंस (1986).
10. पत्रिका को वर्ष 1929 में प्रारम्भ किया गया था बाद में इसका नाम बदल दिया गया और 1994 से इसे इसके नए नाम 'ऐनल्स हिस्टॉयरसाइंस सोशल' के साथ प्रकाशित किया जाता है।
11. जिरि सुब्रट (2017) वही : 11.

(1723–1816) और जॉन मिल्लर (1753–1801) ने दोनों विधाओं में एक तरह से विचार किया है। ब्रिटिश इतिहासकार एडवर्ड गिबन (1737–1794) और फ्रेंच इतिहासकार जुल्स मिच्लेट (1798–1874) ने भी इस समानता को बनाये रखा था। लेकिन बाद के वर्षों में, विशेषकर उन्नीसवीं सदी में इतिहासकारों ने समाजशास्त्र की धारा को यह कहकर त्याग दिया कि इसके अंतर्गत उभरने वाले विश्लेषण सरलीकृत होते हैं और घटनाओं की पेचीदगी को समझने में विफल रह जाते हैं। लेकिन प्रचलित ऐतिहासिक समाजशास्त्र आज एक बड़ी महत्त्वाकांक्षी परियोजनाओं की रूपरेखा देता है। इसने तुलनात्मक अध्ययन के लिए कई क्षेत्रों की तरफ़ अपना ध्यान उन्मुख किया है। समाजशास्त्र और इतिहास पूरी तरह से अलग नहीं हुए हैं। इसके विपरीत दोनों शाखाओं के बीच समन्वय को बनाते हुए आगे बढ़ा जा सकता है।

भारत में समाज का समाजशास्त्रीय अध्ययन

भारत में उच्च शिक्षा के तीन स्थानों में समाजशास्त्र और सामाजिक मानवशास्त्र विषयों की शुरुआत की गई। ये स्थान थे कलकत्ता विश्वविद्यालय, बंबई विश्वविद्यालय और लखनऊ विश्वविद्यालय। कलकत्ता और बंबई में बीसवीं शताब्दी के द्वितीय दशक में समाजशास्त्र की पढ़ाई प्रारम्भ हुई। लखनऊ में तीसरे दशक के आसपास समाजशास्त्र को अर्थशास्त्र के एक विषय के रूप में पढ़ाया जाने लगा। कलकता में इन विषयों का आधार बी.एन. शील ने तैयार किया, जहाँ उन्होंने धर्म, संस्कृति और नृजातीयता की शिक्षा को प्रोत्साहित किया। बिनॉय कुमार सरकार द्वारा भारतीय समाज की पाश्चात्य व्याख्याओं पर की गई आलोचनाओं ने बंगाल के बौद्धिक वर्ग और स्वतन्त्रता सेनानियों को प्रभावित किया। निर्मल कुमार बोस (1901–1972) और के.पी.चट्टोपाधाय (1897–1963) ने मिलकर कलकत्ता विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र की पढ़ाई का पहला कदम उठाया। निर्मल कुमार बोस (1901–72) ने 1921 में भूगोल से बीएससी आनर्स की पढ़ाई की और 1923 में एम.एससी करने के लिए कलकत्ता विश्वविद्यालय के मानवशास्त्र विभाग में प्रवेश लिया। पढ़ाई के दौरान आपने आहार एकत्रित करने वाली आदि जाति 'जुआंग' का अध्ययन किया। शुरुआत के दिनों में आपने भूगोल, भू-विज्ञान और मानव भूगोल विषय को पढ़ाया। आपने भूगोल के माध्यम से अपने शिष्यों को मानवशास्त्र का परिचय कराया। 1929 में आपने कल्चरल

एंथ्रोपोलोजी नाम से एक पुस्तक लिखी। महात्मा गाँधी के करीबी सीएफ एंड्रूज़ की सलाह पर बोस ने फीजी से लौटे भारतीय बंधुवा मजदूरों का सर्वेक्षण किया। इसके बाद वे उड़ीसा के मंदिरों की वास्तुकला में रुचि लेने लगे। फिर वे महात्मा गाँधी के स्वतन्त्रता संग्राम में शामिल हो गए। गाँधी जी के साथ रहते बोस अपनी दैनिक डायरी लिखते रहे जो बाद में प्रकाशित हुई। बोस ने 1938 में कलकत्ता विश्वविद्यालय के मानवशास्त्र विभाग में लेक्चरर के पद पर अपनी सेवाएँ आरंभ की और 1946 में वे रीडर नियुक्त किए गए। लगभग 20 वर्षों तक बोस ने ''मैन इन इंडिया'' नामक पत्रिका का सम्पादन किया जिसकी शुरुआत एस. सी. राय ने की थी। यह पत्रिका मानवशास्त्रीय अध्ययनों पर केंद्रित थी। बोस ने 1959 में भारत सरकार के संगठन एंथ्रोपोलोजिकल सर्वे ऑफ़ इंडिया का निदेशक का पदभार ग्रहण किया, जहाँ से 1964 में वह सेवानिवृत हुए। बोस की पुस्तक 'द स्ट्रक्चर ऑफ़ इंडियन सोसाइटी' को खूब सराहा गया है। बंगला भाषा में प्रकाशित इस पुस्तक का 1975 में अँग्रेजी अनुवाद बोस के शिष्य आद्रें बेते ने किया।[12]

कलकत्ता विश्वविद्यालय में मानवशास्त्र विभाग की स्थापना और इस क्षेत्र में शोध को बढ़ावा देने का श्रेय क्षितिज प्रसाद चट्टोपाधाय (1897–1963) को जाता है। भौतिकी विषय में बी.एससी करने के बाद इसी विषय में एम.एससी करने के लिए आप कैंब्रिज विश्वविद्यालय गए। लेकिन वहाँ वे सुप्रसिद्ध मानवशास्त्री डब्ल्यू.एच.आर.रिवर्स (1864–1922) के संपर्क में आए। तब यह निश्चित किया कि वो अपनी स्नातकोत्तर की डिग्री मानवशास्त्र में लेकर ही करेंगे। परिणामस्वरूप उन्हें भारत वापस आने पर कलकत्ता विश्वविद्यालय में नौकरी प्राप्त हो गई। आपने पारिवारिक संबंधों पर काफ़ी सराहनीय कार्य किया। कुछ वर्षों तक पढ़ाने के बाद आपने मानवशास्त्रीय सर्वे संगठन में कार्य किया। लेकिन 1937 में वे पुन: विश्वविद्यालय लौट आए और विभाग के अध्यक्ष नियुक्त किए गए। जहाँ वे आजीवन कार्य करते रहे।[13]

भारतीय मानवशास्त्र के दिग्गज के रूप में पहचाने जाने वाले डी.एन. मजूमदार (1903–60) ने भी कैंब्रिज विश्वविद्यालय से शिक्षा प्राप्त की थी। टी.सी. हाड्सन और जी.एम. मोराण्ट के मार्गदर्शन में अध्ययन के लिए आप 1927 में

12. योगेश अटल (2015) : 26–27.
13. योगेश अटल (2015) : वही.

कैंब्रिज विश्वविद्यालय गए। उन्होंने ब्रोनिस्ला मैलीनोवस्की (1884–1942) से भी संपर्क स्थापित किया। जिनका प्रभाव मजूमदार की रचनाओं में स्पष्ट दिखता है। कलकत्ता विश्वविद्यालय एक प्रमुख बौद्धिक केंद्र था। इस विश्वविद्यालय ने देश के विभिन्न भागों में उच्च शिक्षा के विकास को प्रभावित किया। नए खुलने वाले विश्वविद्यालयों में वहाँ के विभागों को चलाने के लिए कलकत्ता विश्वविद्यालय के पढ़े हुए लोगों को रखा जाने लगा। 1940 में राधाकमल मुखर्जी को लखनऊ विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्र विभाग का अध्यक्ष बनाया गया और उनके भाई राधाकुमुद को इतिहास विभाग का अध्यक्ष नियुक्त किया गया। एक अन्य विद्वान डी.पी. मुखर्जी की भी अर्थशास्त्र विभाग में नियुक्त हुई। इन आचार्यों ने अर्थशास्त्र विभाग में समाजशास्त्र के पर्चे पढ़ाने चालू किए और यह व्यवस्था भी की गई कि बीए आनर्स करने वाले विद्यार्थियों के पास दोनों विकल्प हों। समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र। यहाँ समाजशास्त्र राधाकमल मुखर्जी और डीपी मुखर्जी पढ़ाया करते थे। चूँकि वहाँ मानवशास्त्र का पद नहीं था। इसलिए डी.एन. मजूमदार की यहाँ नियुक्ति 'आदिवासी अर्थशास्त्र' विषय के लेक्चरर पद पर की गई। इस तरह यहाँ के विभाग ने भावी समाजशास्त्रियों और मानवशास्त्रियों को पढ़ाना शुरू किया, जिनकी मूल उपाधि अर्थशास्त्र में होती थी। इन विद्वानों में सेवा राम शर्मा, अवध किशोर सरन, राम नारायण सक्सेना और ब्रज राज चौहान प्रमुख थे। ये सभी बाद में समाजशास्त्र के प्रतिष्ठित समाजशास्त्री बने।[14]

इसके बाद कालान्तर में मानवशास्त्र विषय को स्वायत्त दर्जा दिया गया और डी.एन. मजूमदार को उसका अध्यक्ष बनाया गया। इसी तरह से समाजशास्त्र और सामाजिक कार्य को भी अर्थशास्त्र से पृथक किया गया और लखनऊ विश्वविद्यालय में चार विभाग हो गए। अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, मानवशास्त्र, और सामाजिक कार्य। मजूमदार ने ईस्टर्न एंथ्रोपोलोजिस्ट नामक पत्रिका का प्रकाशन शुरू किया। जो भारत के मानवशास्त्र की पुरानी पत्रिकाओं में से है। आज यह पत्रिका मुख्यत: सामाजिक मानवशास्त्र पर केंद्रित है। मानवशास्त्र के लेक्चरर की उपलब्धता न होने के कारण मजूमदार ने अध्यापन कार्य में उनका हाथ बंटाने के लिए श्यामाचरण दुबे (1922–96) को आमंत्रित किया। दुबे उस समय लखनऊ विश्वविद्यालय के राजनीति विज्ञान विभाग में व्याख्याता थे। यद्यपि दुबे राजनीति विज्ञान में स्नातक

14. योगेश अटल (2015) वही : 27.

थे लेकिन वे अपनी पी-एचडी. मानवशास्त्र में कर रहे थे। शोध के लिए उन्होंने छत्तीसगढ़ के कमार आदिवासियों का अध्ययन किया। मजूमदार ने मानवशास्त्रियों के प्रशिक्षण के लिए क्षेत्र अध्ययन को आवश्यक बनाया था। गर्मी की छुट्टियों में वे अपने विद्यार्थियों को आदिवासी क्षेत्रों में क्षेत्र अध्ययन के लिए ले जाया करते थे। स्नातकोत्तर डिग्री के लिए शोध प्रबंध लिखना आवश्यक था। समाजशास्त्र और मानवशास्त्र का अध्ययन करने के बाद लखनऊ के छात्र उत्तर भारत के अन्य संस्थानों में इसे पढ़ाने के लिए गए। आर.एन. सक्सेना ने इसकी शुरुआत देहरादून स्थिति डीएवी कालेज में की, तत्पश्चात आपने आगरा विश्वविद्यालय में समाज विज्ञान संस्थान की स्थापना की। रांची विश्वविद्यालय में मानवशास्त्र की शुरुआत सच्चिदानंद ने की थी। जो मूलत: एक इतिहासकार थे। और कुछ समय लंदन के स्कूल ऑफ़ ओरियंटल एंड एशियन स्टडीज़ में रहकर आए थे। राजस्थान में उदयपुर के महाराना भोपाल कालेज में समाजशास्त्र और मानवशास्त्र विषय को ब्रजराज चौहान ने पढ़ाना शुरू किया। यह कालेज राजस्थान विश्वविद्यालय से सम्बद्ध था। श्यामाचरण दुबे लखनऊ छोड़कर हैदराबाद स्थिति उस्मानिया विश्वविद्यालय चले गए। और क्रिस्टाफ फान फ्यूरर हैमेण्डार्फ द्वारा रिक्त किए गए पद पर आसीन हुए। 1957 में आपको सागर विश्वविद्यालय में पहले प्रोफेसर के रूप में नियुक्त किया गया। दुबे के आने से पहले सागर विश्वविद्यालय में एक विभाग एंथ्रोपोजिओग्राफी के नाम से हुआ करता था। जिसके अध्यक्ष एक ब्रिटिश विद्वान थे। यह भूगोल और मानवशास्त्र का एकीकृत विभाग था। 1957 में इस विभाग को दो भागों में बांटा गया। एक मानवशास्त्र और दूसरा भूगोल। समाजशास्त्र का अध्यापन दुबे ने अपने विभाग में शुरू किया और उसका नाम इस प्रकार बदला कि दोनों विषय इसमें झलकने लगे। सागर विश्वविद्यालय छोड़ने के बाद दुबे के ही शिष्य इस विभाग को दो भागों में विभक्त करने में सफल हुए। समाजशास्त्र और मानवशास्त्र। इसका परिणाम यह रहा कि मानवशास्त्र विभाग में सामाजिक मानवशास्त्र को दोयम दर्जा प्राप्त हुआ। मूलत:यह शारीरिक मानवशास्त्र का विभाग बन गया। कलकत्ता विश्वविद्यालय में सामाजिक मानवशास्त्र का प्रवेश यदि भूविज्ञान, मानवभूगोल और इतिहास के माध्यम से हुआ तो लखनऊ में समाजशास्त्र और मानवशास्त्र का प्रवेश अर्थशास्त्र के मार्ग से हुआ। बंबई में इन इन विषयों के प्रवेश की कहानी कुछ अलग थी। न्यूजीलैंड के नागरीय भूगोलशास्त्री सर पेट्रिक गिड्स ने 1914 में बंबई विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र

और समाजशास्त्र के संयुक्त विभाग की स्थापना की। बंबई विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र का अपना स्वतंत्र विभाग 1919 में जी.एस.घुर्ये (1893–1983) के नेतृत्व में स्थापित किया गया।[15]

भारत विद्या उपागम में प्रशिक्षित घुर्ये पर ब्रिटिश सामाजिक मानवशास्त्र का प्रभाव भी था। भारतीय संस्कृति पर आपके अनेक कार्यों में इन दोनों विषयों के प्रभाव स्पष्ट नज़र आते हैं। आदिजातियों और जातियों के अध्ययन से लेकर घुर्ये ने भारतीय साधुओं का भी अध्ययन किया, वहीं दूसरी तरफ़ महादेव कोलियों के नृवंश विज्ञान का वर्णन भी प्रस्तुत किया। उनके सहयोगी के एम कपाड़िया ने धार्मिक ग्रंथों के आधार पर हिंदू विवाह और संबंध प्रणाली पर लिखा है। इरावती कर्वे (1905–70), जिन्होंने पूणे में समाजशास्त्र विभाग की स्थापना की, उन्होंने भी भारत में संबंध प्रणाली और जाति व्यवस्था पर विस्तार से लिखा है। कर्वे का प्रशिक्षण जर्मनी में शारीरिक मानवशास्त्र में हुआ था, और उन्होंने एंथ्रोपोमेट्रिक अध्ययन भी किए। भारतीय समाज की अपनी व्याख्याओं में आपने शारीरिक और सामाजिक मानवशास्त्र के दृष्टिकोण को समाजशास्त्र और भारतीय विद्या के साथ जोड़ने का काम किया है। बंबई के दूसरे समाजशास्त्री अक्षय देसाई ने मार्क्सवादी विचारधारा का अनुसरण करते हुए उल्लेखनीय रचनाएँ लिखी। एम.एन. श्रीनिवास भी उसी शाखा के विद्यार्थी थे। वे भारतीय समाज के अध्ययन में सामाजिक मानवशास्त्र के दृष्टिकोण को लेकर आए। पारंपरिक मानवशास्त्रियों से भिन्न, आपने गैर–आदिवासी समुदायों पर अपना कार्य किया। ग्राम–समाजों के अध्ययन को उन्होंने नई दिशा दी। देश के अनेक हिस्सों में खासतौर से गुजरात, महाराष्ट्र और कर्नाटक में समाजशास्त्र के विकास को बंबई के विद्वानों ने प्रभावित किया। वड़ोदरा के एम.एस. विश्वविद्यालय में कुछ वर्षों तक पढ़ाने के उपरांत श्रीनिवास दिल्ली विश्वविद्यालय आए जहाँ आपने दिल्ली स्कूल ऑफ़ इकोनोमिक्स के तहत समाजशास्त्र विभाग की स्थापना की। बंबई के ही एक अन्य स्नातक ईश्वर पी. वडोदरा में ही रहे। और अंतत: सेवानिवृत्ति लेकर सूरत चले गए जहाँ उन्होंने एक शोध संस्था की स्थापना की। यद्यपि दिल्ली विश्वविद्यालय में मानवशास्त्र का पृथक विभाग है जहाँ सामाजिक मानवशास्त्र के विशेषज्ञ शिक्षक भी हैं, फिर भी यहाँ का समाजशास्त्र का विभाग सामाजिक मानवशास्त्र की ओर उन्मुख रहा।

15. योगेश अटल (2015) वही : 27–29.

इस विभाग में कुछ विख्यात विद्वान भी रहे। आंद्रे बेते जो कलकत्ता से मानवशास्त्र की पढ़ाई करके आए थे। एम.एस.ए.राव बंबई से स्नातक, ए.एम.शाह बड़ौदा के स्नातक, जे.पी.एस. ओबेराय जो आस्ट्रेलिया से मानवशास्त्र की डिग्री लेकर आए थे। अनेक विद्वान दिल्ली में समाजशास्त्र विभाग को मानवशास्त्र का विभाग ही मानते हैं क्योंकि इसका मुख्य लक्ष्य जाति और गाँव का अध्ययन रहा। इसमें तुलनात्मक रूप से सर्वे पद्धति व सांख्यिकी का कम उपयोग होता है।[16]

इस प्रकार से 1950 और 1960 के दशकों में देश के अनेक विश्वविद्यालयों में समाजशास्त्र और मानवशास्त्र के विभागों के खुलने से इन विषयों का अकादमिक जगत में प्रवेश हुआ। इसी दौरान इस बात पर विवाद हुआ कि क्या दोनों विषयों, समाजशास्त्र और मानवशास्त्र को, पृथक स्थान दिया जाए? और यह भी विचार किया गया कि भारतीय समाजशास्त्र में क्या आना चाहिए? भारत में समाजशास्त्र का व्यवसायीकरण 1950 के दशक के अंतिम वर्षों में दो पृथक कारणों के चलते हुआ। घुर्ये की पहल पर कार्य करते हुए बंबई विश्वविद्यालय के भूतपूर्व छात्र इंडियन सोशियोलोजिकल सोसाइटी में शामिल हुए। यह सोसाइटी कभी-कभार सेमिनार का आयोजन करती थी और एक पत्रिका 'सोशियोलोजिकल बुलेटिन' का प्रकाशन भी इसके तत्त्वाधान में प्रारम्भ हुआ।[17]

दूसरी तरफ़ समाजशास्त्रियों, मानवशास्त्रियों तथा सामाजिक विषयों में रुचि रखने वाले अर्थशास्त्रियों और सामाजिक मनोवैज्ञानिकों जो सभी लखनऊ विश्वविद्यालय से किसी तरह से जुड़े थे, मिलकर प्रथम अखिल भारतीय समाजशास्त्रीय सम्मेलन 1956 में देहरादून में आयोजित किया। डीएवी कालेज, देहरादून के तत्कालीन प्राचार्य आर.एन.सक्सेना ने इसकी मेजबानी की और डी.पी. मुखर्जी ने सम्मेलन की अध्यक्षता की। इसका द्वितीय सम्मेलन 1957 में पटना में आयोजित किया गया जिसकी अध्यक्षता डी.एन. मजूमदार ने की। तृतीय सम्मेलन 1958 में आगरा में हुआ। आगरा विश्वविद्यालय में नव स्थापित समाज विज्ञान संस्थान के निदेशक पद पर देहरादून से आर.एन. सक्सेना आ चुके थे। तृतीय सम्मेलन की अध्यक्षता राधाकमल मुखर्जी ने की थी। कोलकाता स्थित भारतीय सांख्यिकी संस्थान में चौथा सम्मेलन 1959 में हुआ जिसके अध्यक्ष आर.एन. सक्सेना थे। लखनऊ में पाँचवां सम्मेलन 1960 में अर्थशास्त्री डी.जी.

16. योगेश अटल (2015) वही : 29.
17. योगेश अटल (2015) वही.

कर्वे की अध्यक्षता में हुआ तथा उसी वर्ष छठा सम्मेलन सागर में हुआ। जिसकी अध्यक्षता मनोवैज्ञानिक काली प्रसाद ने की जो लखनऊ से थे। इस तरह से सम्मेलनों की गतिविधि में लगे सभी लोग प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से लखनऊ से जुड़े थे, बंबई से जुड़े विद्यानों ने इसमें भाग नहीं लिया। यह भी उल्लेख करना होगा कि इन तमाम सम्मेलनों में, समाजशास्त्र और मानवशास्त्र को एकीकृत विषय माना गया। प्रत्येक सम्मेलन में समाजशास्त्र, सामाजिक मानवशास्त्र, सामाजिक मनोविज्ञान और शोध प्रविधि पर पृथक सत्र हुआ करते थे। और इन सम्मेलनों की अध्यक्षता भी अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, मानवशास्त्र अथवा सामाजिक मनोवैज्ञानिक के विशेषज्ञों ने ही की। आने वाले वर्षों में सम्मेलनों की गतिविधियों पर विराम लग गया क्योंकि 1961 से लेकर 1966 तक कोई सम्मेलन आयोजित नहीं किया गया, यद्यपि अनेक स्थानों पर क्षेत्रीय और राष्ट्रीय सेमिनारों का आयोजन किया जाता रहा। कालांतर में सम्मेलनों की परंपरा को पुनः जीवित करने की आवश्यकता महसूस की जाने लगी।

इंडियन सोशियोलोजिकल सोसाइटी के तत्कालीन अध्यक्ष, प्रोफेसर श्रीनिवास ने विषय के प्रतिष्ठित विद्वानों से बातचीत कर सम्मेलनकर्त्ताओं और सोसाइटी को साथ मिलाने की पहल की। सभी की सहमति से 1967 में बंबई की टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ़ सोशल साइंसेज के आथित्य में एक सम्मेलन आयोजित किया गया। इस सम्मेलन की अध्यक्षता टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ़ सोशल साइंसेज के तत्कालीन निदेशक एम.एस. गोरे ने की। इस सम्मेलन में यह प्रस्ताव पारित किया गया कि इस सम्मेलन को पिछले छः सम्मेलनों की शृंखला में जोड़ा जाए और उसे सातवाँ सम्मेलन माना जाए, यह भी प्रस्तावित किया गया कि ये सभी सम्मेलन इंडियन सोशियोलोजिकल सोसाइटी की गतिविधि माने जाएँ और इस प्रकार दो समूहों का विलय हो गया। इस तरह 1967 का बंबई सम्मेलन अखिल भारतीय समाजशास्त्रीय सम्मेलन की शृंखला का सातवाँ सम्मेलन बना। इंडियन सोशियोलोजिकल सोसाइटी ने दिसंबर 2019 तक कुल 45 सम्मेलनों का आयोजन किया है।[18] अथार्त 1967 के बाद से प्रत्येक वर्ष एक सम्मेलन का आयोजन।

इस तरह से इंडियन सोशियोलोजिकल सोसाइटी के दो प्रमुख क्रिया कलापों

18. http://www.insoso.org/images/pdfs/Website_matter_of_Chronology_of_AISCs.pdf पर उपलब्ध।

में से एक है 'सोशियोलोजिकल बुलेटिन' का प्रकाशन और दूसरा मुख्य कार्य है प्रत्येक वर्ष वार्षिक सम्मेलन का आयोजन। इंडियन सोशियोलोजिकल सोसाइटी के अब तक छह: हजार से अधिक आजीवन सदस्य हैं जिनमें सौ से अधिक विदेशों के आजीवन सदस्य हैं, यद्यपि प्रत्येक सदस्य वार्षिक सम्मेलन में शामिल नहीं होता है फिर भी हर वर्ष सम्मेलन में उपस्थिति की संख्या काफ़ी अच्छी ख़ासी होती है। इस तरह से इस वार्षिक सम्मेलन में कार्यकारी पत्रक पेश किए जाते हैं और सब थीम (उप शीर्षक) के अनुसार छोटे समूहों में वह शोध पत्र पेश किए जाते हैं और उन पर चर्चा होती है। इसके साथ ही पूर्णकालिक सत्रों के साथ ही पैनल सत्र भी आयोजित किए जाते हैं जिनको विषय विशेषज्ञ और आमंत्रित वक्ता और विद्वान संबोधित करते हैं।

इंडियन सोशियोलोजिकल सोसाइटी प्रत्येक वर्ष वार्षिक सम्मेलन के लिए एक विशेष विषय का चुनाव करती है और इसके साथ ही उसके उपविषय भी। इस प्रकार से आज समाजशास्त्र विषय से सबंधित अनेक सूचकांकों पर व्यापक परिवर्तन देखे जा सकते हैं, जैसे विभागों की संख्या, अध्यापकों की संख्या, पीएच.-डी. करने वालों की संख्या, स्नातकोत्तर डिग्री में पंजीकृत छात्रों की संख्या, प्रकाशनों की संख्या, इंडियन सोशियोलोजिकल सोसाइटी के सदस्यों की संख्या, सभी में अत्यधिक वृद्धि हुई है। आज हम कोई भी सूचकांक ले लें विषय में विस्तार ही हुआ है। आज भारत के समस्त राज्यों और केंद्र शासित इलाकों में कुल 89 विश्वविद्यालयों में समाजशास्त्र का अध्यापन होता है। 1970 में भारत के विश्वविद्यालयों में पढ़ाए जाने वाले समाजशास्त्र के विभागों की संख्या 49 थी, जो आज बढ़कर 89 हो गई है। इन विश्वविद्यालयों से संबद्ध महाविद्यालयों की संख्या और उनमें समाजशास्त्र पढ़ाने वालों की संख्या तो और भी अधिक है। इनमें यदि उन संस्थाओं को भी सम्मिलित किया जाए जो तकनीकी, प्रबंधन और व्यापार प्रशासन को पढ़ाने के लिए बनाई गई हैं और जहाँ समाजशास्त्र के कुछ अंश अनिवार्य हैं तो संख्या काफ़ी अधिक है। इस दृष्टि से विगत वर्षों में समाजशास्त्र ने अत्यधिक लोकप्रियता अर्जित की है। मानवशास्त्र के विषय में भी यही बात देखने को मिलती है। 1970 में मानवशास्त्र के पंद्रह विभाग थे। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा 1982 में प्रकाशित स्टेटस रिपोर्ट ऑन एंथ्रोपोलोजी के अनुसार उस समय 22 विश्वविद्यालयों में कुल 26 विभाग थे,

जिनमें से दो-दो विश्वविद्यालयों में क्रमश: 2 और 3 विभाग थे। सोलह पूर्णत: मानवशास्त्र के विभाग थे। छ: संयुक्त विभाग थे। आज मानवशास्त्र के कुल 33 विश्वविद्यालयी विभाग हैं। जिसमें सबसे हाल का विभाग उत्तर प्रदेश के झांसी स्थिति बुंदेलखंड विश्वविद्यालय में है। मानवशास्त्र के विभागों में वृद्धि के बावजूद सामाजिक मानवशास्त्र की अंदरूनी हालत अच्छी नहीं है। यहाँ तक कि सामाजिक मानवशास्त्र का प्रमुख अध्ययन क्षेत्र जिसे माना जाता था अर्थात आदिम समुदायों पर शोध, वह भी अब लोकप्रिय नहीं रहा है। भारत में सामाजिक मानवशास्त्र के तहत ग्रामीण अध्ययनों की अग्रणी भूमिका थी, उनका हाल भी वही है। भारतीय अकादमिक जगत में समाजशास्त्र अब एक सुस्थापित विषय है और समाजशास्त्री और मानवशास्त्री दोनों ही उसके विकास में योगदान दे रहे हैं। समाजशास्त्र विषय के तहत भारत में शोध मुख्यत: विकास औद्योगीकरण व शहरीकरण, भारतीय आप्रवासी, किसान आंदोलन, लैंगिक अध्ययन तथा भूमि संबन्धित क्षेत्रों पर हो रहा है। इस तरह से समाजशास्त्रीय अन्वेषण आज विभिन्न क्षेत्रों में तेजी से बढ़ रहा है।

इस तरह से अध्ययन और शोध के केन्द्रों के विकास के साथ ही व्यावसायिक समाजशास्त्रियों और सामाजिक मानवशास्त्रियों द्वारा किए गए असंख्य व विविध प्रकाशनों में भी लगातार वृद्धि हो रही है। अकादमिक शोधपूर्ण लेखन के साथ ही पुस्तकों की लगातार विस्तृत धारा के साथ ही व्यावसायिक शोधपत्र (जर्नल्स) भी हैं। इस कड़ी में सबसे पुराना और अब तक निकलने वाला शोध पत्र 'मैन इन इंडिया (1922 में प्रारम्भ हुआ) है जिसके माध्यम से मानवशास्त्र और समाजशास्त्र को वैचारिक बल मिला। इसी तरह भारतीय समाजशास्त्र परिषद ने सोशियोलोजिकल बुलेटिन को आज़ादी के ठीक बाद 1951 में प्रकाशित करना शुरू किया। इसके साथ ही एक अन्य जर्नल जिसने समाजशास्त्रियों और मानवशास्त्रियों को अपने पृष्ठों में स्थान प्रदान किया वह है 'कंट्रीब्यूशन टू इंडियन सोशियोलोजी' जिसका प्रकाशन 1957 में प्रारम्भ हुआ। इनके अतिरिक्त अन्य सामाजिक जर्नल भी हैं जो की समाज विज्ञान के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं जिसमें मुख्य रूप से इकोनोमिक एंड पॉलिटिकल वीकली, सेमिनार, सोशल चेंज, सोशल साइंटिस्ट आदि हैं। ये सभी समाजशास्त्र और मानवशास्त्र के साथ ही समाज विज्ञान के अन्य क्षेत्रों पर शोध पत्र प्रकाशित करते हैं।

भारतीय समाजशास्त्र में जाति व्यवस्था का अध्ययन : इतिहास की उपेक्षा

साहित्यिक विधाओं और रूपों के इतिहास का समाज के इतिहास से गहरा संबंध होता है। साहित्यिक विधाओं के इतिहास में उनके उदय, परिवर्तन, विकास, ह्रास, रूपान्तरण और पुनर्नवीनीकरण की व्यापक प्रक्रिया चलती है। कई बार दो विधाओं के मेल से एक नई विधा विकसित होती है, तो कई बार नए सामाजिक विकास के साथ एकदम नई विधा विकसित होती है। कुछ विधाएँ लंबी ऐतिहासिक प्रक्रिया में अनेक परिवर्तनों और परिष्कारों के साथ जीवित रहती हैं। कभी-कभी एक विधा कुछ समय तक रचना व्यवहार से अलग-थलग रहने के बाद पुन: सर्जनात्मक हो उठती है। इस तरह विधाओं के जीवन में निरंतरता और अंतराल की स्थितियाँ आती रहती हैं। साहित्य की विधाओं और रूपों के इतिहास की यह जटिल समग्रता अनेक रूपों में समाज के इतिहास से प्रभावित होती रहती है। समाज के इतिहास से साहित्यिक विधाओं और रूपों के इतिहास के अनेक स्तरीय संबंधों का विश्लेषण साहित्य के समाजशास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है।[19]

सुवीरा जायसवाल ने अपनी पुस्तक कास्ट: ओरिजिन, फंक्शन एंड डाइमेंशंस ऑफ़ चेंज में स्वातन्त्रयोत्तर समाजशास्त्रीय अध्ययनों के बारे में टिप्पणी करते हुए लिखा है कि ये अध्ययन इतिहास के पहलू को एक प्रकार से उपेक्षित करते हैं। इन अध्ययनों का पूरा ज़ोर जाति के समकालीन स्वरूप की बारीकियों का अध्ययन करने पर होता है, लेकिन उसके उद्‌भव तक जाने का ये प्रयास नहीं करते, या कम-से-कम संजीदगी से नहीं करते।[20] यह बात काफ़ी हद तक सही प्रतीत होती है। चूँकि जाति व्यवस्था का अध्ययन करते हुए ये समाजशास्त्री उसके उद्‌भव और मूल की उपेक्षा करते हैं और उसे केवल उसकी समकालीनता में देखते हैं, इसलिए उनके अध्ययन बेहद अलग और अधूरे नतीजे तक पहुँचते हैं। अलग-अलग क्षेत्रों में जातियों के बीच अलग-अलग पदानुक्रम के मिलने पर वे अचम्भित होते हैं, और उसके बाद उसके सैद्धान्तिकीकरण के प्रयासों में वे विचित्र नतीजों तक पहुँच जाते हैं। निसन्देह रूप से उनके अध्ययन समकालीन

19. मैनेजर पांडे (1989): 210.
20. सुवीरा जायसवाल (1998).

जाति व्यवस्था के बारे में कई अंतर्दृष्टियाँ देते हैं। लेकिन इन अंतर्दृष्टियों का वे बेहतर उपयोग नहीं कर पाते, बल्कि इतिहासकार करते हैं।[21]

इन समाजशास्त्रियों में सबसे प्रसिद्ध थे लूई ड्यूमों, जिनकी पुस्तक 'होमो हाइरार्किकस'[22] जाति व्यवस्था का अध्ययन करने वाले समाजशास्त्रियों के लिए बहुत अधिक महत्त्व रखती है, चाहे वे उससे सहमत हों या असहमत। इसका एक कारण यह है कि ड्यूमों की व्याख्या बहुत ही तराशी हुई है। उसमें कहीं कोई बड़ा अंतर्विरोध नहीं दिखता। अलग-अलग अवधारणाएँ एक बारीकी से तराशे हुए ढाँचे में फिट कर दी गयी हैं। जैसा पुस्तक का नाम ही दिखला रहा है, यह उन लोगों या समुदायों के बारे में है, जो कि समानता के सिद्धान्त को नहीं मानते। ड्यूमों के अनुसार पश्चिम का मनुष्य अपने व्यक्तिवाद के कारण समानता के सिद्धान्त में यकीन करता है (होमो इक्वालिस या होमो इकोनॉमिकस)। लेकिन हर समाज को पदानुक्रम की ज़रूरत पड़ती है। ड्यूमों के अनुसार जैसे ही आप किसी मूल्य को अपनाते हैं, आप वास्तव में एक पदानुक्रम को स्वीकार कर रहे होते हैं। हिंदू समाज की सबसे बड़ी ख़ासियत यह है कि यह पदानुक्रम सामंजस्यपूर्ण है। इस पदानुक्रम यानी कि जाति व्यवस्था का भौतिक और आर्थिक कारकों से कोई लेना-देना नहीं है। (ड्यूमों का ये नजरिया सही नहीं है...) जाति व्यवस्था को निर्धारित करने और यहाँ तक कि निर्मित करने वाला तत्त्व है कर्मकांडीय पदानुक्रम (रिचुअलिस्टिक हाईरार्की)। यह कर्मकांडीय सिद्धान्त वह बुनियादी संरचना है (लेवी स्ट्रॉस वाले अर्थों में) जो कि वास्तविकता को निर्धारित कर रहा है। ब्राह्मणवादी कर्मकाण्डी विचारधारा हिंदू समाज में सामाजिक यथार्थ का निर्माण करती है। इस विचारधारा का सबसे बुनियादी तत्त्व है शुद्धता और प्रदूषण के सिद्धान्त के आधार पर एक समूचे सामाजिक पदानुक्रम की रचना करना जिसमें ब्राह्मण शीर्ष पर हैं, और अस्पृश्य सबसे नीचे। हर जाति अन्य जातियों से अपने संबंधों के आधार पर परिभाषित होती है, और नतीजे के तौर पर हमें पदानुक्रम में व्यवस्थित जातियों का एक पूरा ढाँचा मिलता है। ड्यूमों के पास इस सवाल का जवाब भी है कि शुद्धता और प्रदूषण का विचार कहाँ से आया है! उनका कहना है कि यह वह मूलभूत मूल्यों की संरचना है जो कि

21. सुवीरा जायसवाल (1998).
22. लूई ड्यूमों (1980).

यथार्थ का निर्माण करती है, और यह पूर्वप्रदत्त है। ऐसा मूल्य समुच्चय हर समाज में होता है। पदानुक्रम एक अनिवार्य मूल्य है और हर समाज को इसकी ज़रूरत होती है। जाति व्यवस्था इस रूप में हिंदू समाज को एक ऐसा पदानुक्रम का ढाँचा देती है, जो कि अप्रतिस्पर्द्धापूर्ण है, सामंजस्यपूर्ण है, अपरिवर्तनीय है और समाज को स्थिर बनाता है। ड्यूमों इन सारी विशिष्टताओं को बार-बार पश्चिमी समाज के बरक्स रखते हैं, और यह सवाल एक प्रकार से अंतर्निहित होता है कि समानता और व्यक्तिवाद के मूल्यों ने पश्चिमी सभ्यता को क्या दिया? इस प्रकार से ड्यूमों, जेराल्ड बारेमैन के शब्दों में, जाति का ब्राह्मणवादी दृष्टिकोण अपना लेते हैं। यह एक प्रकार से जाति व्यवस्था को सही ठहराये जाने के समान है। ड्यूमों इस बात की कोई व्याख्या नहीं कर पाते हैं कि उद्योगों और पूँजीवाद के विकास के साथ जाति-सम्बन्धी पेशागत बंधन और खान-पान के पूर्वाग्रह कम होते गए हैं, जैसा कि जी.एस. घुर्ये और ई.के. गफ ने प्रदर्शित किया था, और जिसे ड्यूमों भी मानने के लिए मजबूर हैं; जो एकमात्र गुण बचा है वह है सजातीय विवाह। ड्यूमों मानते हैं कि इन राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक बदलावों से जाति व्यवस्था पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है, वे जाति व्यवस्था के भीतर ही समाहित हो जाते हैं। इन परिवर्तनों से ड्यूमों कोई नतीजा नहीं निकालते हैं। ड्यूमों के लिए हिंदू समाज अपनी जाति व्यवस्था और पदानुक्रम के साथ एक आदर्श, अपरिवर्तनशील समाज बन जाता है। जाहिर है, ड्यूमों की व्याख्या के खण्डन के लिए हमें ज़्यादा शब्द ख़र्च करने की ज़रूरत नहीं है।

जावेद आलम ने एक जगह सही ही टिप्पणी की है कि ऐसे ज़्यादातर समाजशास्त्रीय सिद्धान्त वास्तव में मार्क्सवाद और भौतिकवादी द्वन्द्ववादी ऐतिहासिक पद्धति के साथ एक प्रच्छन्न युद्ध (शैडो बॉक्सिंग) के लिए रचे जाते हैं। दरअसल, एक जगह ड्यूमों मार्क्स की आलोचना करते हैं कि उन्होंने रेलवे और बड़े पैमाने के उद्योगों के विकास के साथ जाति के ख़ात्मे की बात कही थी। वास्तव में वहाँ मार्क्स जातिगत आनुवंशिक श्रम विभाजन के टूटने की बात कर रहे थे, और इस मायने में मार्क्स की भविष्यवाणी कमोबेश सही सिद्ध हुई है। ड्यूमों के अनुसार चूँकि भारतीय सामाजिक ढाँचा अपरिवर्तनीय है, चिरन्तन है, इसलिए उसका कोई इतिहास नहीं लिखा जा सकता है। यह दृष्टिकोण पुराने औपनिवेशिक दृष्टिकोण के काफ़ी करीब जाकर खड़ा होता है, जिसे एडवर्ड जॉन थॉम्सन ने काफ़ी अच्छी अभिव्यक्ति दी थी। थॉम्सन ने कहा था कि भारत इतिहास से

बिल्कुल वंचित देश है। इरफ़ान हबीब ने ड्यूमों के इस विचार के बारे में ठीक ही लिखा है: ''अगर भारत के इतिहास को ऐसा होना है, ताकि एक समकालीन पश्चिमी समाजशास्त्री की जाति व्यवस्था की कल्पना के साथ वह फिट बैठे, तो क्या इस बात की ज़्यादा सम्भावना नहीं है कि इस कल्पना के साथ कुछ गड़बड़ है, न कि भारतीय इतिहास के साथ?... पिछले सौ से कुछ अधिक वर्षों के दौरान, आनुवंशिक श्रम विभाजन अगर पूरी तरह बिखरा नहीं है, तो कम-से-कम बुरी तरह से झकझोर दिया गया है। नतीजतन, यह पहलू जाति के जीवित बचे क्षेत्र के भीतर काफ़ी हद तक पृष्ठभूमि में चला गया है। हालाँकि, शुद्ध रूप से धार्मिक और व्यक्तिगत पहलू कम प्रभावित हुए हैं। (आप देख सकते हैं कि यह बात सिर्फ भारत की विशिष्टता नहीं है: धार्मिक विचारधारा उस समाज के ग़ायब हो जाने के काफ़ी बाद तक जीवित रहती है, जिसे तर्कसंगत आधार देने का काम वह विशिष्ट धर्म कर रहा था।)''[23]

इन समाजशास्त्रीय अध्ययनों में जाति व्यवस्था को स्थैतिक रूप में देखने की जो प्रवृत्ति है, उनके कारण हम इन अलग-अलग समाजशास्त्रियों में नहीं खोज सकते हैं। हमें यह समझना होगा कि यह कमी वास्तव में समाजशास्त्र की अकादमिक शाखा की कमी है। समाजशास्त्र की शाखा को खड़ा ही इसलिए किया गया था कि मार्क्सवाद के द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टिकोण का खण्डन किया जा सके। मिसाल के तौर पर, पदानुक्रम को हर समाज की अनिवार्य आवश्यकता मानने का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण जाति व्यवस्था को भी एक प्रकार से वैधता प्रदान करता है और मार्क्सवाद द्वारा प्रस्तुत समानतामूलक समाज के लक्ष्य पर ही एक प्रश्न चिन्ह खड़ा कर देता है। बाद में, मार्क्सवाद द्वारा प्रस्तुत जवाब के समक्ष समाजशास्त्रीय शाखा में भी कई परिवर्तन आए और तमाम मार्क्सवादी समाजशास्त्री भी पैदा हुए, जिन्होंने वेबर और दुर्खीम के साथ मार्क्स को भी समाजशास्त्र की शाखा के जनक के तौर पर स्थापित किया। समाजशास्त्र का बुनियादी पूर्वाग्रह या पूर्वधारणा एक प्रत्यक्षवादी पूर्वधारणा है, जिसके मूल अगस्टे कॉम्टे के विचारों में ढूँढ़े जा सकते हैं। हम यहाँ समाजशास्त्र की पूरी ज्ञान शाखा की आलोचना नहीं कर सकते हैं, लेकिन इतना स्पष्ट है कि जाति व्यवस्था के समाजशास्त्रीय अध्ययनों में मौजूद ख़ामी का मूल इस पूरी

23. इरफ़ान हबीब (1995): 164.

ज्ञान शाखा में मौजूद ऐतिहासिक दृष्टि की कमी, बल्कि एक प्रकार का सचेतन निषेध है। नतीजतन, समकालीनता को इतिहास से पूरी तरह काट कर किया गया अध्ययन टुकड़े-टुकड़े में कुछ मूल्यवान अंतर्दृष्टियाँ देता है, लेकिन जाति व्यवस्था की व्याख्या का कोई सुसंगत अप्रोच या पद्धति नहीं देता।

इन समाजशास्त्रीय व्याख्याओं के अलावा, जी.एस. घुर्ये द्वारा जाति व्यवस्था का अध्ययन भी एक अहम योगदान था। घुर्ये ने मोटे तौर पर जाति व्यवस्था के नस्लीय मूल पर ज़ोर दिया था। उनके अलावा कुछ अन्य समाजशास्त्री भी थे, जैसे कि एन.के. दत्त, डी.एन. मजूमदार और आर.पी. चन्द्र जिन्होंने इस नस्लीय मूल के सिद्धान्त का समर्थन किया था। इनके मुताबिक आर्यों ने भारतीय उपमहाद्वीप के उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र पर हमला किया, और द्रविड़ीय मूल के लोगों को अपने अधीन किया। इस अधीनस्थ आबादी को ढाँचागत तौर पर अधीन रखने के लिए ब्राह्मणों ने शुद्धता/प्रदूषण के सिद्धान्त की रचना की। इसी सिद्धान्त के आधार पर ब्राह्मणों की तुलना में सापेक्षिक शुद्धता/प्रदूषण के आधार पर जाति पदानुक्रम की रचना हुई और जाति व्यवस्था अस्तित्व में आयी। लेकिन जैसा कि सुवीरा जायसवाल ने बताया है, इस सिद्धान्त के लिए प्रमाण मौजूद नहीं हैं। समाजशास्त्रियों ने वर्ण और जाति के बीच फ़र्क़ को लेकर भी काफ़ी बहस की है। मैक्स वेबर ने वर्ण को यूरोपीय 'एस्टेट' से मिलती-जुलती परिघटना माना था। ट्राउटमैन ने जाति को एक वास्तविक परिघटना और वर्ण को 'एस्टेट' जैसी परिघटना करार दिया था। कई समाजशास्त्री यह मानते हैं कि वर्ण व्यवस्था जाति व्यवस्था की एक किताबी तस्वीर पेश करती है, जो कि एक आदर्शीकृत श्रेणीकरण प्रदान करती है। जातियाँ वास्तविक परिघटना हैं, जो कि अपने पैदा होने के साथ इन वर्णों में स्थापित होती गयीं। इसीलिए वर्ण का चरित्र देशव्यापी है, जबकि इनमें जातियों की सहयोजित होने के अलग-अलग स्थानीय पैटर्न देखे जा सकते हैं। लेकिन एक बात हर जगह समान है। हर जाति की शुद्धता की परिभाषा का पैमाना, या उसे मापने की इकाई ब्राह्मण की उच्चतम शुद्धता होती है। यानी सारी जातियाँ जाति व्यवस्था में ब्राह्मणों से अपनी सापेक्ष दूरी के अनुसार स्थान पाती हैं। जाति और वर्ण की अवधारणा में समाजशास्त्री जो फ़र्क़ स्थापित करते हैं, वह भी केवल और केवल समकालीन जाति व्यवस्था के अधार पर स्थापित किया गया फ़र्क़ है। इस बात से कोई इंकार नहीं कर सकता कि इन दोनों अवधारणाओं में फ़र्क़ है। लेकिन इनके उद्‌भव और विकास को समझे

बग़ैर समाजशास्त्रियों ने वर्ण व्यवस्था को जिस प्रकार से 'बुक व्यू ऑफ़ कास्ट' और जातियों को 'फील्ड व्यू ऑफ़ कास्ट' का नाम दिया है, वह पूरी तरह से अनैतिहासिक है। प्राचीन इतिहास दिखलाता है कि शुरुआती दौर में वर्ण और जाति का प्रयोग एकार्थी रूप में किया जाता था। लेकिन वर्ण व्यवस्था शब्द के प्रयोग का अर्थ था कि उस चार वर्णों की क्लासिकीय आदर्शीकृत व्यवस्था की बात की जा रही है जिसका ज़िक्र पहली बार ऋग्वेद के उत्तरवर्ती हिस्से के 'पुरुषसूक्त' में किया गया था, जिसके अनुसार वैदिक समाज चार सामाजिक श्रेणियों में विभाजित था- ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य व शूद्र। जाति शब्द के प्रयोग का अर्थ था कि हम उन जनजातीय समूहों की बात कर रहे हैं जिन्हें वैदिक समाज में शामिल कर लिया गया था, और विभिन्न कारकों के प्रभाव के अनुसार उन्हें चार वर्णों की व्यवस्था में किसी वर्ण का अंग मान लिया गया था। लेकिन जब तक जातियों का उदय नहीं हुआ था तब तक जाति और वर्ण शब्द का इस्तेमाल एक ही अर्थ में किया जाता था। जाति शब्द का पहला उल्लेख 200 ईसा पूर्व से पहले के दौर में मिलता है। सुवीरा जायसवाल का विचार है कि अभी वर्ण व्यवस्था के भीतर जातियों की संख्या में वृद्धि की परिघटना व्यापक रूप में शुरू नहीं हुई थी और वैदिक काल के ठीक बाद के साहित्य में और विशेषकर बुद्ध के दौर के स्रोतों में जाति शब्द का ज़िक्र अपने आप में जातियों की व्यवस्था के पूरी तरह से अस्तित्व में आने की निशानी नहीं थी। वास्तव में अभी भी जाति शब्द का इस्तेमाल वर्ण के रूप में ही हो रहा था। वर्ण से जाति की ओर का संक्रमण किस प्रकार हुआ इसके बारे में इतिहासकारों के अलग-अलग मत हैं और इसे सन्तोषजनक रूप से समझने के लिए प्राचीन भारत के इतिहास लेखन के पास बार-बार जाना होगा।

लेकिन एक तथ्य यह भी है कि भारत के जिन भी सार्वजनिक और निजी विश्वविद्यालयों में समाजशास्त्र विभाग हैं, वहाँ पर दलित प्रश्नों से जुड़े विषयों पर चिंतन-मनन-अध्यापन और शोध शुरू हो रहे हैं। यह तब शुरू हुआ जब दलित समुदाय से आए दलित समाजशास्त्रियों ने दलित प्रश्नों पर समाजशास्त्र से सवाल किए और समाजशास्त्रियों को चुनौती दी। तब समाजशास्त्र ने दलित प्रश्नों पर ध्यान देना शुरू किया और उस पर अपनी प्रतिक्रिया देना प्रारम्भ किया। इस तरह से समाजशास्त्र ने दलित प्रश्न को गंभीरता से लिया है। लेकिन इसमें देरी की है। चिंतन-मनन-अध्यापन और शोध की यह पहलें अनायास नहीं उपजी

हैं बल्कि भारतीय समाजशास्त्रीय आधार के विस्तृत और व्यापक होने के कारण हुई हैं। बंबई विश्वविद्यालय के समाजशास्त्र विभाग ने दलित प्रश्न को आरंभ में ही देखना प्रारम्भ कर दिया था। वास्तविकता भी यही है कि बंबई प्रांत में दलित आंदोलनों की पृष्ठभूमि तैयार हुई। 1924 में आंबेडकर बंबई में काफ़ी सक्रिय थे। यहीं पर 1942 में आल इंडिया शेड्यूल्ड कास्ट्स फेडरेशन की स्थापना की थी। दलित प्रश्न और समाजशास्त्र पर पी.जी.जोगदंड और रमेश कांबले[24] ने सोशियोलोजिकल बुलेटिन में 'सोशियोलोजिकल ट्रेडिसन्स एंड देयर मार्जिन्स द बॉम्बे स्कूल ऑफ़ सोशियोलॉजी एंड दलित्स, सोशियोलोजिकल बुलेटिन, 62 (2) मई–अगस्त. 2013, इंडियन सोशियोलोजिकल सोसाइटी, में एक सुंदर सा लेख लिखा है।

भारतीय समाजशास्त्र में दलित प्रस्थिति के संदर्भ में अपने लेख ''सिच्युवेटिंग दलित्स इन इंडियन सोशियोलॉजी : अंडरस्टैंडिंग द मिसअंडरस्टैंडिंग अबाउट दलित्स'' भारतीय समाजशास्त्र में दलितों की स्थिति : दलितों के बारे में भ्रांतियों की समझ, के संदर्भ में समाजशास्त्री विवेक कुमार लिखते हैं कि गाँधी जी ने आंबेडकर से हुई दलितों की समस्याओं पर परिचर्चा के बाद महादेव देसाई से पूछा की आंबेडकर ने ऐसा क्यों कहा की उसकी कोई मात्रभूमि नहीं हैं। देसाई ने उत्तर दिया की इसलिए क्योंकि आंबेडकर एक ''अछूत'' हैं। गाँधी यह जानकर दंग रह गए क्योंकि वे सोचते थे कि आंबेडकर एक विवेकशील ब्राह्मण हैं, जो अछूतों के हक में आवाज़ उठाता है। बाद में 1960 में आरक्षण की नीति के बारे में अपना तर्क पेश करते हुए जवाहरलाल नेहरू ने कहा ''यह सच है कि हम अनुसूचित जाति और जनजाति की मदद करने के लिए कुछ खास नियमों तथा परंपराओं के तहत बंधे हुए हैं। वे मदद हासिल करने के भागीदार हैं, तब भी मैं किसी भी तरह के आरक्षण को नापसंद करता हूँ। खास करके नौकरी के मामले में अगर हम जाति तथा नस्ल के आधार पर आरक्षण को लागू रखते हैं तो हम काबिल और प्रतिभाशाली लोगों को दलदल में धकेल कर दूसरे और तीसरे दर्जे पर बने रहेंगे।[25] यहां तक कि 1999 में जाति पर गहन अध्ययन करने वाले एक प्रसिद्ध यूनिवर्सिटी प्रोफेसर ने मुझसे पूछा ''जय श्री राम तथा जय

24. पी.जी.जोगदंड, रमेश कांबले (2013).
25. बी.आर. अम्बेडकर (1989): 456–57.

भीम में क्या अंतर हैं। दोनों ही धार्मिक प्रतीक हैं।'' मुझे उस प्रबुद्ध प्रोफेसर को स्पष्टीकरण देना पड़ा कि जयभीम में भीम महाभारत वाला नहीं हैं बल्कि भीमराव आंबेडकर का पहला नाम है तथा यह अब दलितों में अभिवादन का प्रतीक बन चुका है। इसी के साथ एक दूसरा व्याख्यान एक छोटी लड़की का है जिसने अपने अभिभावकों से पूछा कि क्या हम अनुसूचित जाति से संबंध रखते हैं। लड़की ने बताया कि कक्षा में अध्यापक ने कहा जो छात्र अनुसूचित जाति से संबंध रखते हैं उन्हे किताबें तथा स्कूल की ड्रेस या वर्दी मुफ्त में मिलेगी ?[26]

विवेक कुमार इस बात को आगे बढ़ाते हुए राजनेताओं तथा सामाजिक सुधारकों, अकादमिक जनों की (देश की कुल भारतीय जनसंख्या के 16 प्रतिशत के बारे में यानि दलितों के बारे में) सतही समझ होने का दावा करते हैं। यह विवरण बेशक, दलितों के बारे में खास तथ्यों पर गलत समझ की ओर स्पष्ट इशारा करते हैं। सबसे अहम सवाल दलितों का यह है कि दलितों को समझने में अकादमिया कैसे विफल हो गई, इसलिए यह प्रश्न पैदा होता है कि क्या भारतीय समाजशास्त्रियों ने कभी दलितों को निष्पक्षता से समझने की कोशिश की ? यह इस बात की ओर इशारा करेगा कि किस तरह सामान्यतया भारतीय समाजशास्त्रियों तथा खास करके हिंदू समाजशास्त्री दलितों को भारतीय समाज के परिप्रेक्ष्य में समझने में असफल रहे। क्यों देश में समाजशास्त्र के विकसित हो जाने के सौ साल बाद भी दलितों की स्थिति संदेहास्पद बनी हुई है। खास करके हिंदू सामाजिक व्यवस्था में ?[27] जाति के बारे में किताबी नज़रिये के अनुसार समाज में चार वर्ण हैं परंतु भारतीय, युरोपीय तथा दूसरे समाजशास्त्रियों के अनुसार हिंदू समाज में दलित पाचवां वर्ग हैं हालाँकि वे इसकी कोई विश्वसनीय व्याख्या नहीं देते। हालाँकि दलितों को शोषित समाज में शामिल किया जाता है पर क्यों हिंदू सामाजिक व्यवस्था के सिद्धान्त में उन्हें पाँचवा वर्ण कह कर शामिल किया जाता है। कोई भी समाजशास्त्री इसकी विश्वसनीय व्याख्या नहीं दे पाया है। हालाँकि वे मजदूरी की लूट में दलितों को शामिल करते हैं पर दूसरे सारे संबन्धित सामाजिक तथ्यों से उन्हे बाहर कर देते हैं। भारतीय समाजशास्त्रियों

26. विवेक कुमार (2014): 3-22.
27. विवेक कुमार (2014) वही.

द्वारा अपनी विचार चर्चा में दलितों के लिए राजनैतिक तौर पर गलत पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया गया।[28]

इस बात को विवेक कुमार लिखते हैं कि भारतीय समाजशास्त्रियों ने निरपेक्षता के नाम पर दलितों के लिए अछूत, नीच जाति, हरिजन इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया है। इस शब्दावली का निर्माण अभिजात वर्ग ने किया है इसलिए इसे वस्तुनिष्ठता के घेरे में नहीं रखा जा सकता। वस्तुनिष्ठता इस बात में होती है की दलितों को या तो क्षेत्रीय जाति नाम से बुलाया जाए या अछूत के समानान्तर कोई पारिभाषिक शब्दावली खोजी जाय।[29] विवेक कुमार इस संदर्भ को और आगे बढ़ाते हुए लिखते हैं कि दलितों के लिए नैतिक मूल्यों, मान्यताओं वाली शब्दावली का प्रयोग करने वाले भारतीय समाजशास्त्री कोई प्रामाणिक दलील नहीं पेश कर पाए हैं। समाजशास्त्रीय खोजों में सामाजिक बहिष्कार पर बिना किसी गुणात्मक तथा मात्रात्मक अध्ययन के दलितों के बारे में विवरण पेश किए गए हैं। भारतीय समाजशास्त्रियों ने सामाजिक बहिष्कार के दलितों की जिंदगी तथा सांस्कृतिक धरोहर पर पड़े दुष्प्रभावों के बारे में चुप्पी साध रखी है। भारतीय समाजशास्त्रियों ने अर्थव्यवस्था, राजनीति तथा समाज में दलितों के बहुपक्षी योगदान को पहचानने की कभी कोशिश नहीं की। इसके अतिरिक्त दलित लेखनी में या लेखन में संस्कृति को दृढ़ कथन के रूप में लिया गया है तथा इसने दलितों को बेहतर जीवन यापन की ओर प्रेरित किया। इसको उच्च जातियों की नकल के रूप में नहीं देखा। दूसरा मुख्य बिन्दु है कि विदेशी सिद्धांतों, संकल्पनाओं जैसे वर्ग सापेक्ष वंचना और वंचितता, गरीबी इत्यादि दलितों के हालातों की समीक्षा गलत तथा नाकाफ़ी है। इस तरह विवेक कुमार दलितों के सामाजिक बहिष्कार की सही जाँच करने के लिए नए सिद्धांतो को गढ़ने या स्थापित सिद्धांतों में तब्दीली की जरूरत की तरफ़ इशारा करते हैं।[30]

दलितों के सामाजिक बहिष्कार पर समाजशास्त्रीय साहित्य की अवस्थिति

जहाँ तक दलितों के सामाजिक बहिष्कार का सवाल है भारतीय समाजशास्त्रियों ने सिर्फ इसका विवरण ही दिया है। कुछ एक समाजशास्त्रियों टी.के. उम्मेन ने

28. विवेक कुमार (2014) वही.
29. विवेक कुमार (2014) वही.
30. विवेक कुमार (2014) वही.

परिभाषित करने की कोशिश की कि दलितों का वर्गीकरण कैसे किया गया है या ज़्यादा से ज़्यादा उनका पेशा-धंधा क्या था।[31] समाजशास्त्री साहित्य इस पर चुप्पी साध लेता है कि हिंदू सामाजिक व्यवस्था से स्वतंत्र होने के लिए दलितों ने कितने आंदोलन छेड़े। आदि-हिंदू, आदि-द्रविण, आदि-आंध्र, आदि-कर्नाटक, आदि-धर्म आंदोलन इस श्रेणी के अंतर्गत आते हैं।[32] समाजशास्त्री साहित्य मध्यकाल में दलितों के इस्लाम तथा सिख-धर्म परिवर्तन तथा आधुनिक समय में ईसाई धर्म परिवर्तन के बारें में चर्चा नहीं करते। इस विषय पर साहित्य की कमी एक तरफ़ तो असलियत में दलितों के धर्म परिवर्तन के कारणों को छुपाती है दूसरी तरफ़ हिन्दुओं के हाथों दलितों के तीक्ष्ण शोषण पर चुप्पी की ओर इशारा करती है।

दलितों की अपनी संस्कृति तथा अपना साहित्य है। उनके अपने लोकगीत, नाच तथा कलाएँ और कला रूप हैं। मीडिया, बुद्धिजीवियों की अवधारणा तथा शैक्षिक जगत जानबूझकर इस तथ्य को नजरंदाज कर देते हैं। उम्मेन इस संदर्भ में विस्तृत रूप से कहते हैं : ''जहाँ तक दलित बहुजन के जीवन संसार के बारे में ज्ञान का प्रश्न है, आज तक भारतीय समाज विज्ञान ने जानबूझकर इस विषय पर चुप्पी साधे रखी है। हालाँकि दलित बहुजन का जीवन जीने का ढंग उच्च जातियों से बहुत भिन्न है जैसे खान-पान, आदतें, पूजा-अर्चना का ढंग, लिंग संबंध इस तथ्य को योजनापूर्ण ढंग से स्वीकार किया है। पर इन भिन्नताओं का विश्लेषण तथा इन भिन्नताओं के क्या कारण हैं इस बारे में अधिक चर्चा नहीं हुई है।''[33] भारतीय समाज तथा खास करके हिंदू सामाजिक व्यवस्था में दलितों के बहिष्कार तथा शोषण की प्रक्रिया पर कोई भी गुणात्मक तथा मात्रात्मक विश्लेषण नहीं हुआ है। वे दलित समाजों पर सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक शोषण के प्रभावों को दर्ज करने में नाकामयाब रहे। किस तरह दलितों की सांस्कृतिक धरोहर का नुकसान हुआ ? इसलिए पीढ़ी दर पीढ़ी दलितों का शोषण होता रहा। दलितों को लोकतन्त्र की आधुनिक संस्थाओं जैसे कानून, अफसरशाही, न्यायपालिका, मीडिया से कैसे बेदखल किया गया ? मुख्यधारा के समाजशास्त्री इसका विश्लेषण करने में नाकामयाब रहे। बहुत सारे समाजशास्त्रियों ने यह

31. टी.के. उम्मेन (2001) : 21.
32. टी.के. उम्मेन (2001) वही : 21.
33. टी.के. उम्मेन (2001) वही : 21.

स्वीकार किया की यह संस्थाएं भारतीय सामाजिक सरंचना जाति प्रबंध (पूर्वाग्रह) से ग्रस्त हैं।[34] हालाँकि समाजशास्त्रियों ने यह स्वीकार नहीं किया कि सार्वभौमिक सिद्धान्त पर काम करने के लिए बनाई गई संस्थाएं किसी एक खास जाति के मूल्यों से प्रभावित थीं। हिंदू जातियों का प्रशासन की संस्थाओं पर एकाधिकार तथा दलितों की इन संस्थाओं में हाशियागत स्थिति साबित करती है कि इन संस्थाओं में दलितों का शोषण हुआ है। अगर ऐसा न हुआ होता तो प्रशासनिक संस्थाओं में दलितों की गिनती नाम मात्र न होती। पर इन तथ्यों ने मुख्यधारा के भारतीय समाजशास्त्रियों का ध्यान आकर्षित नहीं किया। इसी तरह आधुनिक बाजार तथा मीडिया में जाति की क्या भूमिका है? इस पर भी मुख्यधारा के समाजशास्त्रियों ने ध्यान नहीं दिया। उपहास या बहिष्कार का एक रूप दलितों पर प्रचलित मुहावरों तथा लोकोक्तियों पर भारतीय समाजशास्त्री ध्यान देने में असमर्थ रहे। यह उपहास धार्मिक पुस्तकों तथा आमलोगों की चेतना में देखा जा सकता है। इस संदर्भ में योगेंद्र सिंह लिखते हैं: भारतीय समाज तथा संस्थाओं का विश्लेषण करने वाले बुद्धिजीवियों की विचारधारा इस बात में नज़र आती है कि उन्होंने इन संस्थाओं को परिभाषित कैसे किया तथा इनका अध्ययन करते समय कौन सा तरीका अपनाया, सामाजिक यथार्थ को पेश करने में उनके योगदान को चेतन तथा अवचेतन रूप में भेदभाव से स्वतंत्र नहीं माना जा सकता।[35] इसी तरह जाति के मुद्दे पर दलित पृष्ठभूमि से आने वाले समाजशास्त्रियों को भी प्रतिशोधात्मक माना जाता है। दलित श्रम की अनदेखी यह समझ से परे है कि क्यों भारतीय समाजशास्त्री दलितों के योगदान का विश्लेषण तथा लेखा-जोखा करने में असफल रहे, दबे-कुचले तथा शोषण का शिकार होने के बावजूद दलितों ने भारतीय समाज, अर्थव्यवस्था तथा राजतंत्र को निर्विघ्न चलाने में अपना रचनात्मक योगदान दिया। दलित महिलाओं द्वारा दाई वाला काम करते हुए लाखों महिलाओं को बच्चा जनने में मदद की लेकिन इस काम का कभी मूल्यांकन ही नहीं किया गया और न ही इंसानियत के लिए नैतिक योगदान, ना ही परंपरागत ज्ञानबोध के हिस्से के तौर पर। इसी तरह मुख्यधारा के समाजशास्त्रियों ने कब्र खोदने वाले या दाह संस्कार में मदद करने वाले डोम तथा कारखानों एवं खेतों में काम करने वाले भूमिहीन दलितों के योगदान को नहीं पहचाना। न सिर्फ उनके श्रम

34. योगेंद्र सिंह (1994) एवं एम.एन. श्रीनिवास (1985):129-54.
35. योगेंद्र सिंह (1986): 3.

को नजरंदाज किया बल्कि उनके श्रम की तकनीक तथा सौंदर्यबोध का भी जिक्र नहीं किया। उदाहरण स्वरूप मरे हुए पशुओं की खाल उतारकर चमकदार तथा मुलायम जूते बनाने की कला क्या उनकी तकनीक के बिना संभव थी? इसे गलत ना समझा जाए मैं दलितों द्वारा किए जाने वाले जटिल तथा लांछित कार्यों की भूरि-भूरि प्रशंसा या सरंक्षण देने की कोशिश नहीं कर रहा। इसके विपरीत मेरी कोशिश, विभिन्न भूमिकाओं में दलितों के योगदान की ओर इशारा करना है, भारतीय समाज के विकास में दलितों द्वारा दिये गए योगदान को नज़रअंदाज़ करने का सीधा अर्थ है उन्हे लांछित करना जैसे दलित गंदे, शराबी, अयोग्य, समाज पर भार, जंगली, अभरोसे योग्य आदि हैं।[36]

क्या दलित साहित्य इस कमी को पूरा कर सकता है? समाजशास्त्र अध्ययन में जब दलितों के बारे में तथ्य तथा आँकड़े पूरी तरह गायब हैं तो हम इसकी पूर्ति कैसे कर सकते हैं? क्या हम दलित साहित्य की मदद ले सकते हैं? दलित साहित्य में दलितों द्वारा लिखी गई हर एक प्रकार की रचनाएँ शामिल हैं, जैसे सृजनात्मक साहित्य, राजनैतिक तथा विचारधारात्मक रचनाएँ आदि। 15 वीं सदी के संत कवि रविदास के दोहों से लेकर 19वीं सदी के आदि हिंदू तथा आदि द्रविड़ नेताओं तक तथा विदेशों में अँग्रेजी शिक्षा हासिल आंबेडकर से लेकर लोक भाषा में लिखने वाले अर्धशिक्षित तथा शिक्षित समकालीन दलित लेखकों तक। दलित हर एक शैली में कविता, गद्य, नाटक, जीवनी, उपन्यास, राजनैतिक तथा विचारधारात्मक रचनाएं तथा संस्थाओं में खोज सामग्री लिख रहे हैं। यह लेखन एक तरह से समाजशास्त्री रचनाएँ ही हैं क्योंकि वे दलितों के अस्तित्व तथा अनुभव के यथार्थ से ही निकली हैं इसके अतिरिक्त इनका अपना इतिहास लगातार गतिमान है इसके साथ ही दलितों और देश के सामाजिक-राजनैतिक हालात बदलने पर इनमें भी बदलाव आ जाता है। खास करके समकालीन दलित साहित्य डॉ. आंबेडकर के सामाजिक तथा राजनैतिक दर्शन से प्रभावित होकर महाराष्ट्र में 1960 में शुरू हुआ।[37] दलित साहित्य की परंपरा इतनी शक्तिशाली थी की इसने पूरे देश में एक आंदोलन का रूप ले लिया। इस आंदोलन को विभिन्न भाषाओं में छपने वाले छोटे साप्ताहिकों, द्विसाप्ताहिक, मासिक या सालाना

36. विवेक कुमार (2014) वही.
37. एम.एन. वानखड़े (1992): 315.

पत्रों तथा पत्रिकाओं ने आगे बढ़ाया। इसके अतिरिक्त एक बड़ी मौखिक परंपरा भी है जिसे खास करके दलित सामाजिक सुधारकों तथा संत कवियों के जन्म तथा परिनिर्वाण दिवसों को मनाने के लिए किये जाने वाले विभिन्न सम्मेलनों तथा नुक्कड़ सभाओं, बैठकों (मीटिंग्स) में देखा जा सकता है। क्योंकि दलित लेखन दलितों द्वारा देश के विभिन्न क्षेत्रों में सहन की गई पीड़ा तथा बहिष्कार की उपज हैं तथा यह इस सब से मुक्ति की बात करता है। इसलिए उनमें साझेपन तथा एकता की भावना तथा उद्देश्य हैं। दलित साहित्य ने दलितों के आर्थिक, राजनैतिक तथा सामाजिक बहिष्कार जैसे मुद्दों को उठाया है। इस साहित्य ने शोषण तथा बहिष्कार के दलितों पर पड़े गुणात्मक तथा मात्रात्मक प्रभाओं तथा भारतीय समाज, राजनीति तथा अर्थव्यवस्था को निर्विघ्न चलाने के लिए दलितों के योगदान का मुद्दा उठाया।[38] कुहन का तर्क था कि वैज्ञानिक ज्ञान में क्रांति सिर्फ आँकड़े इकट्ठा करने से नहीं आई बल्कि शोषण के ताने-बाने में बदलाव तथा नए प्रश्न पैदा होने से एक बदले परिप्रेक्ष्य के कारण आई। इस संदर्भ में हम अपने लेखन द्वारा दलित लेखकों को परिप्रेक्ष्य बदलने तथा नए अस्तित्व तथा नए अनुभवों द्वारा नए प्रतिमान स्थापित करने वाले मान सकते हैं। भारतीय समाजशास्त्र में इसके दो नतीजे निकले। पहला दलित लेखकों तथा मुख्यधारा के भारतीय समाजशास्त्रियों में बहुत सारे पहलुओं को लेकर संघर्ष शुरू हुआ। दलित लेखकों ने मुख्यधारा के भारतीय समाजशास्त्रियों के तर्क की भारतीय समाज में जाति, गाँव इत्यादि स्थायी सरंचना को नकार दिया है। दूसरा दलित साहित्य का विचार है कि दलितों को एक समूह के रूप में विश्लेषण करने के लिए मुख्यधारा के भारतीय समाजशास्त्रियों द्वारा प्रयोग किए गए पश्चिमी सिद्धान्त ठीक तथा पर्याप्त नहीं हैं। उदाहरण के लिए लोगों की गरीबी तथा खास करके दलितों की गरीबी का अध्ययन करने के लिए श्रेणी (क्लास) सिद्धान्त का प्रयोग किया गया है। श्रेणीबद्धता या क्लास का सिद्धांत एक व्यक्ति की आर्थिकता से संबन्धित है। परंतु एक गरीब ब्राह्मण तथा एक गरीब दलित की सामाजिक स्थिति की तुलना करना बहुत मुश्किल है। यह तर्क आसानी से दिया जा सकता कि उच्च जातियों के गरीब तथा तथाकथित निचली जातियों के गरीब एक समान नहीं हैं। दलितों की गरीबी तथा उच्च जातियों की गरीबी के कारण भिन्न-भिन्न हैं। जैसे एक गरीब ब्राह्मण माँग सकता है तथा देने वाले को आशीर्वाद दे सकता है। इसके उलट

38. थॉमस कुहन (1970).

अपनी मेहनत से जूते पालिश करने वाले मोची को नफरत की नज़र से देखा जा सकता है तथा उसको पैसे भी दूर से फेंक कर दिये जाते हैं। इसी तरह एक अमीर कारखानेदार काशी या हरिद्वार के पंडित के पास जाता है तथा उसके पैरों में अपना सर झुकाता है। दूसरी ओर राजपूत या क्षत्रिय चाहे अपने खेत में हल ना चलाएं, चाहे कितने ही गरीब हों क्या वो अपनी जाति की दर्जेबंदी में नीचे आ जाएँगे ? इसी तरह संस्कृतिकरण का यह पहलू स्वीकार नहीं किया जा सकता कि दलित हिंदू जातियों की नकल करते हैं। दलितों का मानना है हिंदू जातियों की नकल का कोई सवाल ही नहीं है। हर एक इंसान स्वच्छता के साथ जिंदगी जीना चाहता है। स्वच्छता के साथ जिंदगी जीना किसी की नकल नहीं हो सकती। इसके विपरीत दलित अपनी अस्मिता का ज़ोरदार इजहार कर रहे हैं अभिव्यक्ति कर रहे हैं, तथा कह रहे हैं कि, ''उन्हें दलित होने पर गर्व है''। इसलिए आज समाजशास्त्री दलित समाज तथा संस्कृति को समझने के लिए दलित साहित्य का प्रयोग कर सकते हैं। दलित साहित्य में से चुनाव करके कुछ पुस्तकों को समाजशास्त्र के पाठ्यक्रम में लगाया जा सकता है। हालाँकि इन पुस्तकों से जान-पहचान कराना ही नाकाफ़ी होगा इसलिए इन्हें यह यकीनी बनाना चाहिए कि इन्हें अध्यापकों द्वारा पढ़ाया जाए तथा परीक्षा में इनमें से प्रश्न भी पूछे जाएँ। विद्यार्थियों को दलित संबन्धित विषयों पर शोध करने के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। दलितों के रहन-सहन में जाकर की गई खोज और शोध दलित साहित्य में और प्रामाणिकता लाने में मदद करेगी। आखिर में समाजशास्त्र में एक अलग शाखा 'दलित समाजशास्त्र' को विभिन्न विश्वविद्यालयों में तथा दूसरे उच्च शिक्षा से संबन्धित संस्थाओं में शुरू किया जाना चाहिये। यह बिना किसी शक से कहा जा सकता है कि क्योंकि भारतीय समाजशास्त्रियों ने दलित संबन्धित ऊपरलिखित मुद्दों को नज़रअंदाज़ किया इसलिए वे भारतीय समाज में से सामाजिक बहिष्कार को जाँचने की कोई विधि ईजाद नहीं कर पाए। इसलिए यह लाजिमी है कि एक सही सिद्धांत बनाना चाहिए जो दलितों के सामाजिक बहिष्कार को जाँच सके।

इसी परिप्रेक्ष्य में विवेक कुमार ने एक मानव विकास वेदना सूचकांक[39] (ह्युमन डिस्ट्रेस इंडेक्स) बनाया है जो दलितों की ज़िंदगी से जुड़े बहुत सारे

39. विवेक कुमार (2014) वही. (देखें अपेंडिक्स-II)

संरचनात्मक तथा सांस्कृतिक पहलुओं को शामिल कर सके। उदाहरणस्वरूप हम हिंदू जातियों द्वारा दलितों पर किए गए अत्याचारों को शामिल कर सकते हैं क्योंकि इन अत्याचारों के प्रभाव गैर दलितों द्वारा सहन किए गए प्रचलित अत्याचारों के प्रभाव से भिन्न हैं। दलितों पर हुए अत्याचारों के बहुत सारे प्रकार तथा कारण हैं। इनमें कत्ल, दलित महिलाओं से बलात्कार, आगजनी, ताने मारना, खिल्ली उड़ाना, बंधुआ मजदूरी आदि शामिल हैं तथा इन अत्याचारों का कारण दलितों द्वारा बंधुआ मजदूरी से इंकार से लेकर कानूनी अधिकारों की माँग तक हो सकता है। वास्तव में ज़्यादातर अत्याचारों का बुनियादी कारण दलितों का हिंदू जातियों की कल्पना तथा पूर्व धारणाओं के अनुसार काम करने से मना करना है। यह पहलू भारतीय अर्थव्यवस्था को चलाने के लिए दलित मजदूरों के योगदान की ओर इशारा करता है। इसी तरह इस संदर्भ में हिंदू जाति के पुरुषों द्वारा किए गए दलित महिलाओं के बलात्कार से दलितों पर हुए अत्याचारों को जाँचा जा सकता है। किसी भी महिला के साथ किया गया बलात्कार एक जघन्य अपराध है पर दलित महिलाओं के साथ किया गया बलात्कार गुणात्मक रूप में भिन्न है। इसको सिर्फ महिला के साथ जबर्दस्ती शारीरिक सम्बंध बनाने तक सीमित नहीं किया जा सकता। पुरातन काल से ही उच्च हिंदू जातियों द्वारा दलितों पर अत्याचार दलित महिलाओं पर केंद्रित रहा है। दलितों के साथ आमसंघर्ष में जाति दर्जेबंदी में उच्च स्थिति पर विराजमान जातियाँ दलित महिलाओं पर अत्याचार करके दलितों को सबक सिखाना चाहती हैं। इससे पूरे दलित समाज में डर की भावना फैल जाती है। दलित महिलाओं के साथ बलात्कार में भी जाति अत्याचार शामिल होता है। अगर यह सिर्फ बलात्कार हो तो बलात्कार के बाद महिला को छोड़ दिया जाता है। परंतु बहुत सारे मामलों में यह देखने में आया है कि उच्च जातियों के मर्द दलित महिलाओं के गुप्तांगों को जानबूझ कर खंडित करते हैं ताकि उनके मर्दों को सबक सिखाया जा सके। इसलिए दलितों पर होने वाले अत्याचारों की बुनियाद सामाजिक ताने–बाने में जाति पूर्वाग्रह हैं। इसलिए अत्याचार, खतरनाक तथा अस्वच्छता वाले धंधे, छुआछूत का चलन तथा राजनैतिक तथा आर्थिक बहिष्कार सामाजिक बहिष्कार की दर्जेबंदी करते हैं। यह दर्जेबंदी दलितों की जिंदगी में सर्वमान आत्मसम्मान की अहमियत पर आधारित है। इसलिए दलित महिलाओं के बलात्कार पर सबसे अधिक ज़ोर दिया जाता है। इसके अतिरिक्त दलितों के सामाजिक बहिष्कार को न्यायोचित ठहराने में धर्म द्वारा

निभाई गई भूमिका को तथा दलितों के अंदरूनी अत्याचार की भूमिका को शामिल करना होगा। मानव वेदना सूचकांक की मदद से हम दलितों के सामाजिक बहिष्कार को प्रभावशाली ढंग से जाँच सकेंगे।

शिव विश्वनाथन ने अपने एक लेख दलित स्पर्श से डरता समाजशास्त्र के माध्यम से लिखते हैं कि भारतीय समाजशास्त्र कुछ-कुछ एंटीसेप्टिक किस्म का है। वह अपने क्षेत्र में दक्षता हासिल करने की कोशिश करता हुआ तो दिखाई पड़ता है और उसमें तथ्यों के प्रति वफादारी की प्रवृत्ति भी है लेकिन उसने भारतीय परिस्थिति में निहित जटिलता की गहरी समझ विकसित नहीं कर पाई है। हमारे विद्वान एक साझा सहमति के आधार पर क्लर्क की तरह समाजशास्त्र रचने में जुटे रहते हैं और हालात में हुए परिवर्तनों को नापने के लिए अपर्याप्त मेहमानों का इस्तेमाल करके अपना काम चला लेते हैं। भारतीय समाजशास्त्र के पिछले 20 साल के इतिहास पर एक नज़र डालते ही लगेगा कि शायद मंडल, नर्मदा, भोपाल और पंजाब के आतंकवाद जैसे प्रकरण का अभी तक हमारे सामाजिक सरोकारों की दुनिया में प्रवेश ही नहीं हुआ है। यह एक तथ्य है कि जब मंडल आयोग की रपट ने हमारे समाजशास्त्रियों को झकझोर कर लंबी नींद से जगाया तो उन्हें एहसास हुआ कि दुनिया बदल चुकी है। जब ज्ञान प्रणाली पर हावी सीधी सहमति को चुनौती मिली तभी पहली बार यह विद्वतजन कुछ-कुछ युद्ध की मुद्रा में आए। केवल तभी ड्यूमों और श्रीनिवास के भद्रतापूर्ण समाजशास्त्र ने ख़ुद को समस्या ग्रस्त महसूस किया। केवल तभी प्रगति के मध्यवर्गीय स्वप्न को अपनी दीवार हिलती हुई दिखाई दी।[40]

नस्लवाद पर हुए डरबन सम्मेलन में जाति और नस्ल की श्रेणियों को आमने सामने रखते हुए एक का दूसरे में समावेश करने की कोशिश करके एक बार फिर भारतीय समाजशास्त्र को झकझोर दिया है। गैर सरकारी संगठनों में सक्रिय मार्टिन मैक्वान, प्रकाश लुईस, ज्ञान प्रकाश, अंब्रोस पिंटो और गेल ओम्वेट जैसे कार्यकर्त्ता लेखकों की रचनाओं में इसी नई बहस को उठाया गया है। आन्द्रे बेते जैसे विख्यात समाजशास्त्री ने उन्हें जवाब दिया है। लेकिन बहस का स्तर यह है कि दोनों पक्ष एक दूसरे के तर्कों में बचकानी खामियाँ निकालने और उन्हें दुरुस्त करने में लगे हुए हैं। बहस के दोनों धड़ों के बीच कितना फासला है

40. शिव विश्वनाथन (2005) : 363-364.

कि लगता है दोनों को अपनी-अपनी जानकारियों की कोठियों में कैद रहना पड़ेगा। जबकि जरूरत इस बहस में एक नए दृष्टिकोण से हस्तक्षेप करने और दलित समाजशास्त्र को अकादमिक नज़रिये से ना देखकर दलित समुदाय के अपनी स्वत: उद्‌भूत श्रेणियों की रोशनी में समझने की है।[41]

दूसरी तरफ़ जाति को लुई ड्यूमों की तर्ज पर एक मोहक विचारधारा के रूप में समझते हुए उसे पश्चिमी व्यक्तिवाद की समतामूलकता के बरअक्स भी रखा जा सकता है। एम.एन. श्रीनिवास या मेलकम मेरियट की तरह जाँच के बारे में बात करते समय जातियों की अन्योंक्रिया संस्कृतिकरण की प्रक्रिया और छुआछूत से संबंधित शब्दावली भी इस्तेमाल की जा सकती है। या धीरुभाई सेठ की तरह जाति को कुछ अधिक आक्रामक और रचनात्मक शैली में मंडल आधारित चुनावी समाजशास्त्र की तरह भी पढ़ा जा सकता है। जिसमें जातियों की संरचना को ऊपर से नीचे के बजाय दाएं से बाएं फैले हुए संगठनों की तरह देखते हुए ना केवल सजातीय विवाह करने वाली इकाइयों के रूप में बल्कि राजनीतिक गठजोड़ के आधार की तरह भी देखा जाता है। समस्या यह है कि जाँच के तमाम पाठों में से किसी में भी हताशा, संत्रास और घृणा जैसे मनोभावों का समाजशास्त्रीय श्रेणी के रूप में वजूद नहीं मिलता। जाहिर है कि दलित समाजशास्त्र के लिए क्रोध का केंद्रीय महत्त्व है। अगर समाजशास्त्र अनुभूति को ग्रहण करने का विज्ञान है तो निश्चित रूप से इस प्रकार की समझदारी उसके लिए निर्णायक साबित हो सकती है।[42]

प्रकाश लुईस ने अपनी रचना 'दलित और डरबन का विमर्श'[43] डरबन सम्मेलन में एक खास तरह के दलित विमर्श की स्थापना की जोरदार वकालत की है। इस संदर्भ में शिव विश्वनाथन लिखते हैं कि यहां स्थान के रूप में डरबन और विमर्श के दलित होने के आग्रह का एक खास मतलब निकलता है। डरबन रंगभेदी दक्षिण अफ्रीका की याद दिला देता है। डरबन दक्षिण अफ्रीका में भारतीय उपस्थिति को बताने वाला नाम है। ऐतिहासिक रूप से डरबन नस्लवाद के खिलाफ गाँधी के संघर्षों का प्रतिनिधित्व भी करता है। जाहिर है कि डरबन को बार-बार शुरू हो जाने वाले विवादों और व्याख्याओं के पुराने रंगमंच के रूप

41. शिव विश्वनाथन (2005) वही : 364.
42. शिव विश्वनाथन (2005) वही : 364
43. प्रकाश लुईस (2001).

में देखा जा सकता है। आज वही डरबन अफ्रीका के उत्तर रंगभेदी युग में एक ऐसे स्थल के रूप में उभर चुका है जहाँ जाति के मसले को एक भूमंडलीय घटना के रूप में देखने पर बहस का सबसे ताजा अध्याय रचा गया है। डरबन की ही तरह दलित विमर्श जैसी अभिव्यक्ति भी महत्त्वपूर्ण है। इसके तहत भिन्न-भिन्न तरह के संबन्धित मतों अथवा उधार लिए हुए सिद्धांतों को नहीं बल्कि दुनिया को दलित नज़रिये से देखने और व्यक्त करने वाली एक स्वायत्त साहित्य भाषा को रखने पर जोर दिया जाता है। यह विमर्श ना तो अकादमिक समाजशास्त्र की भाषा में और न ही किसी पश्चिमी विचारधारा के संदर्भ में दलितों को देखने के लिए तैयार है। वह तो दलित आंखों से देखी गई दलितों की दुनिया की नुमाइंदगी करना चाहता है। अर्थात दलित विमर्श को पाठ्य पुस्तकों में वर्णित श्रेणियों में रुचि ना होकर दलित उत्पीड़न के वास्तविक यथार्थ से दो-चार होने में दिलचस्पी है। वह सेमोर मार्टिन लिपसेट की भाँति जाति, वर्ग और नस्ल के बीच कहीं स्थित नहीं है और न ही वह इस सुधार के समाजशास्त्र के दम पर काम चलाने का इच्छुक है। दलित विमर्श का समाजशास्त्र जो अपनी चेतना जगत की भक्ति भावनाओं और अनुभूतियों के माध्यम से बनाना चाहता है वह तो एक ऐसे समाजशास्त्र का प्रतिनिधि है जिसने आक्रोश के गर्भ से जन्म लिया है।[44] प्रकाश लुईस के अनुसार दलित विमर्श का समाजशास्त्र अत्याचारों की हिंसक कार्यवाही से उपजता है। एक घटना के रूप में अत्याचार का वजूद दो तरह की हिंसा के बीच स्थित रहता है। एक तरह की हिंसा यातना देने के तरीकों में व्यक्त होती है तो दूसरी तरह की हिंसा सामूहिक है और जाति संहार से ताल्लुक रखती है। अत्याचार को केंद्र बनाकर अपनी शुरुआत करने वाले विमर्श में दलितों की सामाजिक, आर्थिक प्रगति छुआछूत मिटाने और ऐसे ही अन्य विचारों का महत्त्व कम रह जाता है। यही कारण है कि दलित विमर्श में अत्याचारों के समाजशास्त्र की मुख्य भूमिका होती है। अत्याचारों और संत्रास का मुकाबला करने के मामले में अकादमिक समाजशास्त्र की भूमिका एंटीसेप्टिक और घिसी-पिटी लगने लगती है। इस तरह का समाजशास्त्र उत्पीड़न के भुक्तभोगियों की आवाज़ के ऊपर समाज विशेषज्ञों की राय को ज़्यादा महत्त्व देने की समस्या से ग्रस्त होता है। यहां प्रकाश लुईस का आग्रह है कि घृणा, उत्पीड़न, हताशा, अवमानना और

44. शिव विश्वनाथन (2005) वही : 366-366.

ऐसी ही अन्य श्रेणियाँ उस भारतीय समाजशास्त्र को नया रूप प्रदान कर सकती हैं। जो अब तक वर्ग समाज व्यवस्था, जातिगत गतिशीलता, आर्थिक शोषण और छुआछूत विरोध की प्रचलित मार्क्सवादी यानि टकराव पर आधारित वृतिमूलक यानि समुदाय संबंधी सहमति अथवा प्रतीक आधारित खुराक पर पलता रहा है। भारतीय समाजशास्त्र के इस नए रूप में क्रोध और अवमानना के प्रश्न को अनिवार्यत: अंतर्संबंधित किया जाएगा।[45] प्रकाश लुईस कहते हैं कि अत्याचार को एक सामाजिक यथार्थ के रूप में समझना जरूरी है। एक हिंसक क्रिया के रूप में कोई भी अत्याचार किसी व्यक्ति को यातना देने से लेकर किसी समुदाय तबके के सामूहिक उन्मूलन के बीच कहीं स्थिति होता है। अत्याचार की हिंसा हमेशा कुछ ज़्यादा ही बड़े पैमाने पर होती है। ऐसी हिंसा ताकतवर समुदाय की प्रतिष्ठा पर लगी किसी काल्पनिक अथवा खतरे की अनुभूति मात्र से या किसी विवाद के बहाने भड़क उठती है। एक तरफ़ तो हिंसा की अनावश्यक विकरालता रहती है और दूसरी तरफ़ उसका जवाब देने की कमजोरी साफ नज़र आती है। सरकार आम तौर पर जाँच समिति (कमेटी) बैठा देती है। देर तक चली जाँच से इंसाफ ही नहीं, मुआवजे की जायज संभावनाओं पर भी पानी फिर जाता है। बची रह जाती है वह घटना और नृशंसता के वे प्रकार जिन्हें हम संगसार करने, पिटाई करने, आगजनी बलात्कार और शरीर दागने जैसी कार्यवाइयों के रूप में जानते हैं। यह घटनाएँ छुआछूत की किसी सामान्य घटनाओं से कहीं ज़्यादा उत्पीड़न की अनुभूति, संत्रास और विवशता की छटपटाहट पैदा करती हैं। अकादमिक समाजशास्त्र अत्याचार की घटनाओं को सामुदायिक सहमति और टकराव के सिद्धांतों के बीच विरोध के जरिए समझने की कोशिश करता है। जबकि असल में अत्याचार कि वह घटना सिर्फ टकराव के समाजशास्त्र का प्रतिनिधित्व नहीं करती। वह तो बुराई को समझने और उस दृश्य प्रपंच से जुड़ी चुनौती है जिसका स्थापित समाजशास्त्र को अभी अता-पता ही नहीं। आखिर में होता यह है कि अत्याचार के बारे में उस पीड़ित का बयान समाज विज्ञानी के विमर्श में फिट नहीं होता। विशेषज्ञ का आकलन और उत्पीड़न का विवरण अक्सर अलग-अलग दिशाओं में जाते दिखाई देते हैं। अंतिम विश्लेषण में प्रचलित समाजशास्त्री औजारों के माध्यम से किसी अत्याचार को व्याख्यायित करने का परिणाम अतियथार्थवादी

45. प्रकाश लुईस (2001) वही.

ही साबित होता है।[46] शिव विश्वनाथन इस संदर्भ को आगे बढ़ाते हुए लिखते हैं कि आज अकादमिक समाजशास्त्र को इसी संदर्भ में चुनौतीपूर्ण दृष्टि से देखने की जरूरत है। समाजशास्त्र की इस अकादमिक प्रवृत्ति के एक बड़े उदाहरण निसंदेह आन्द्रे बेते हैं।[47]

शिव विश्वनाथन इस तर्क को आगे बढ़ाते हुए लिखते हैं कि दलित विमर्श के रचयिता के रूप में लुईस के दिमाग में यह बात स्पष्ट होनी चाहिए समाज विज्ञान के स्तर पर की गई लड़ाई से उनका काम नहीं चलने वाला है क्योंकि दलितों पर ढाए गए हर जुल्म के प्रत्युत्तर में किसी दलित की प्रगति अथवा चुनावी होड़ के जरिए हुए किसी सबलीकरण की खुशनुमा कहानी पेश की जा सकती है। लेकिन इसके जरिए राजनीति तय नहीं होने वाली। वह तो कहानी जिस शैली में कही जाएगी उसी के मुताबिक कहने वाले की राजनीतिक पक्षधरता तय होगी। इसी जगह एक और सवाल का जवाब जरूरी है। क्या जाति का अंतर्राष्ट्रीयकरण एक राजनीतिक शरारत भर है। क्या इसके माध्यम से राष्ट्र के प्रति घृणा प्रकट की जा रही है या संयुक्त राष्ट्र में यह मुद्दा उठाने के साथ-साथ राष्ट्रप्रेम का दावा भी किया जा सकता है? इन सवालों के जवाब आसान नहीं हैं लेकिन इनका सामना तो करना ही पड़ेगा। और इस प्रक्रिया में हमें इस बात का एहसास हो सकता है कि पाठ्य पुस्तकीय समाजशास्त्र के साथ-साथ हमें किसी और चीज की जरूरत पड़ सकती है। हमें अपनी राजनीति को व्यक्त करने के लिए सर्जनात्मक मिथकों की जरूरत पड़ सकती है। हो सकता है कि बेते जैसों के लिए पाठ्य पुस्तकीय समाजशास्त्र ही अपने आप में अपर्याप्त मिथक हो पर निश्चित रूप से लुईस जैसों का मकसद केवल इससे हल नहीं हो सकता।[48]

इस बहस में जैसे ही जाति को संकीर्ण मानकर उसके और नस्ल के बीच अवधारणात्मक फासला पैदा किया जाता है वैसे ही जाति का दायरा स्थानीय राजनीति तक ही सीमित हो जाता है। भले ही असल में 24 करोड़ लोग उससे प्रभावित हो रहे हों नस्ल को दुनिया के पैमाने पर एक त्याज्य श्रेणी माना जा चुका है, और नस्लवाद को सार्वभौमिक रूप से एक घिनौना विचार करार दिया जा चुका है। लेकिन जाति को अभी तक स्थानीय समस्या ही समझा जाता है

46. प्रकाश लुईस (2001) वही.
47. शिव विश्वनाथन (2005) वही : 366-367.
48. शिव विश्वनाथन (2005) वही : 370.

और दुर्भाग्य से स्थानीय समस्याएं अंतरराष्ट्रीय स्तर पर ध्यान आकर्षित नहीं कर पाती। उन पर संयुक्त राष्ट्र और अंतरराष्ट्रीय एजेंसियों के मंच पर चर्चा नहीं होती वे क्षेत्रीय अथवा राष्ट्रीय राजनीति के दायरे तक ही सीमित रहती हैं।[49] बेते के समाजशास्त्र में दलित आंदोलन के प्रति कोई हमदर्दी नहीं दिखती खासतौर से जुल्म ज्यादती के शिकार लोगों के प्रति करुणा तो उनमें कतई लापता है।[50]

प्रकाश लुईस के मुताबिक चुनावी लोकतंत्र संविधानवाद या विकास की अवधारणा में दलितों के लिए नागरिकों के रूप में जगह ही नहीं है। मुख्यधारा के विमर्श में दलित न व्यक्ति के रूप में और न ही किसी तरह की गुंजाइश के रूप में कहीं उपस्थिति हैं। सामाजिक सूचकांकों की दृष्टि से लुईस बताते हैं कि संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम की मानव विकास रिपोर्ट 2001, में भारत को उन 72 देशों में रखा गया है जिन्होंने वास्तव में कुछ प्रगति की है। इसमें सूचना प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में हुई प्रगति को महत्त्वपूर्ण माना गया है पर दलितों पर हुए अत्याचारों का मानव विकास सूचकांक में उल्लेख नहीं है।[51] समाचार माध्यमों और मीडिया में बेल्लारी में हुई सोनिया गाँधी और सुषमा स्वराज की लड़ाई में दिलचस्पी दिखती है लेकिन वहाँ दलितों पर हुई ज्यादतियाँ खबर नहीं बनती। राजनीति हो, अर्थशास्त्र हो या न्याय हो, दलितों का जिक्र तभी होता है जब वह प्रतिरोध करते हैं, उस प्रतिरोध को भी नाजायज हस्तक्षेप के रूप में देखा जाता है न कि राजनीति के वैध रूप की तरह। चालू राजनीतिक विमर्श के प्रचलित मुहावरे में किसी दलित के लिए शायद ही कोई स्थान होता है। कई रूपों में दलितों को भारत के नागरिक की वास्तविक हैसियत नहीं मिल पाती। लेकिन जाति का ऐसा नुकसानदेह असर मध्य वर्ग अथवा अन्य पिछड़े वर्गों पर क्यों नहीं होता? कहीं ऐसा तो नहीं है कि जाति दलितों को तो सता रही हो पर मंडल और उसके कारण हुए सुधारों के कारण दूसरी जातियाँ भारतीय राज्य के प्रति खुशनुमा एहसास से भरी हुई हों? इसी बिंदु पर दलित विमर्श के लिए एक कार्यभार निकलता है कि उसे दलित और मंडलवादी पक्ष के बीच फ़र्क़ करके देखना होगा। दोनों के बीच समानताएं खोजने से भी ज़्यादा महत्त्वपूर्ण होगा उनके

49. शिव विश्वनाथन (2005) वही : 371.
50. प्रकाश लुईस (2001) वही.
51. प्रकाश लुईस (2001) वही.

बीच अंतरों की शिनाख्त करना। दलित विमर्श अंतरराष्ट्रीय मंचों पर ध्यानाकर्षण की राजनीति करने के लिए मजबूर है क्योंकि शायद बहिर्मुखी राजनीति ही उसे मौजूदा प्रतिमानों में जगह दिला सकती है। इस तरह दलित विमर्श संवैधानिकता, अधिकारों और लोकतंत्र के चालू प्रतिमानों को चुनौती देता नज़र आता है। वह बताता है कि राजनीति की प्रचलित परिभाषाओं में उसके लिए जगह न के बराबर ही उपलब्ध है, और इसके दो कारण हैं पहला अभिजनों में राजनीतिक इच्छाशक्ति का अभाव और दूसरा रोजमर्रा के जीवन में दलितों का कतई हाशिए पर होना और उनकी बेतहाशा दरिद्रता। लोकतंत्र और विकास केवल उन्हीं के काम आते हैं जो कम से कम दलित होने की सीमा रेखा से ऊपर हैं। बहस के इस मुकाम पर दलित विमर्श अकादमिक समाजशास्त्र को नहीं बल्कि मंडलवादी राजनीति को चुनौती देता नज़र आता है। दलित विमर्श मंडलवादी नज़रिये से अचेतन संघर्ष कर रहा है इस सिलसिले में उकसावे के लिए लेखन करने के लिए आरोप का जोखिम उठाते हुए भी।[52] दरअसल दलित विमर्श बुनियादी तौर पर एक अलग तरह की राजनीति की खोज का नाम है जो उस मंडलवाद से कहीं परे जाती है जो अपने आप को भारतीय राजनीति के नए चरण की तरह देख-देख कर आत्ममुग्धता का शिकार हो चुका है। मंडलवाद भारतीय लोकतंत्र के संविधान, समाजवाद, राष्ट्र-राज्य, आरक्षण और चुनावी राजनीति के दायरे में काम करता है। नए दलित विमर्श की तलाश इस दायरे के बाहर जाकर ही हो सकती है। मुक्ति की नई राजनीति डरबन को एक पाठ के रूप में भी और एक बहाने की तरह भी इस्तेमाल कर सकती है। दलितों पर होने वाली ज़्यादतियाँ और जुल्मों-सितम मानवाधिकार उल्लंघन के भद्र दायरों में परिभाषित करके सीमित नहीं किए जा सकते। मुक्ति का नया सिद्धांत तो गढ़ना ही पड़ेगा। जिसमें साहित्य और राजनीतिक सिद्धांत का एक नवीन तालमेल होगा। दलित समस्या मात्र मानवाधिकार उल्लंघन से संबंधित समस्या है भी नहीं। अपने हल के लिए वह मुक्ति के ऐसे सिद्धांत की माँग करती है जिसकी पहुँच का विस्तार कहीं ज़्यादा होगा, जो एक साथ विविध आवाजों में बोलेगी और जिसे थका कर यथास्थिति द्वारा हड़प लेना मुमकिन नहीं होगा। हमें पूछना होगा कि मुक्ति के प्रश्न को दलित विमर्श किस तरह देखता है। जब दलित साहित्य और राजनीति एक दूसरे में

52. शिव विश्वनाथन (2005) वही : 372-373.

समाएंगे तो उनके समागम से कौन सी आवाज़ निकलने की उम्मीद की जानी चाहिए। यह दलित विमर्श न तो काल के जरिए व्यक्त हो सकता है और ना ही किसी निजी अथवा संहिता के दायरे में इसे नापा जा सकता है। यह बार-बार इस पर अनुमोदन की समस्या नहीं है।[53]

दलितों की निगाह में जाति की संस्था नियंत्रण से परे जाने वाली किसी बेहद द्रुत प्रक्रिया का नाम नहीं है। वे तो जाति को एक ऐसे नियंत्रणकारी मचान के रूप में देखते हैं जो निहायत ही लचीले ढंग से समाज के आंतरिक जीवन का अंग बन चुका है। और जिस पर बैठ कर ऊंची जातियाँ निगरानी करने की भूमिका निभा रही हैं। दलितों की हर हरकत इस मचान से देख ली जाती है। चाहे वास्तविक हो या काल्पनिक, सामाजिक नियमों के हर उल्लंघन का जवाब उन्हें हिंसा से मिलता है, और हिंसा की भरपूर मात्रा उनके दलित होने की प्रतिक्रिया का परिणाम होती है। जब अत्याचार हदों को तोड़ चुके हैं तो मुक्ति की दलित अवधारणा क्यों हदों में रहनी चाहिए? समता की नपी-तुली तलाश या मुआवजे की माँग से काम नहीं चलने वाला है। डरबन के बाद की परिस्थिति में दलित सिद्धांतकारों और उनके हमदर्दों को चाहिए कि वे नकारात्मकता से मुक्ति के सकारात्मक विचार की ओर यात्रा करें जिसका जन्म संस्कृति के दलित सिद्धांत से हो सकता है।[54] इस तरह से शिव विश्वनाथन का सुझाव है की इस मुकाम पर दलितों को ऐसे बुद्धिवाद के सिद्धांत की जरूरत पड़ेगी जो दलितों को भारतीय समाज में कहीं गहरे जड़ जमाए बैठी हिंसा को विखंडित करना पड़ेगा खासतौर से जाति प्रथा को प्रतीकात्मक रूप से स्थापित करने वाली हिंसा को। असल में दलित उस सामाजिक संविदा का पुनर्लेखन करना चाहते हैं जिसके तहत हाशिए पर पड़े लोगों के लिए नागरिकता उपलब्ध ही नहीं है।[55] दलित विमर्श सत्ता की अवधारणा को भी भिन्न तरीके से समझेगा। इस तरह ज्ञान के दलित सिद्धांत के बारे में सवाल पूछा जा सकता है कि वह लोकतंत्र की चालू परिभाषा को कैसे बदलेगा? क्या दलितों का सिद्धांत अन्य लोगों के सिद्धांत से अलग होगा?[56]

---

53. शिव विश्वनाथन (2005) वही : 375-376.
54. शिव विश्वनाथन (2005) वही : 376.
55. शिव विश्वनाथन (2005) वही: 376.
56. शिव विश्वनाथन (2005) वही : 378.

दलित अस्मितावादी लेखन : ज्ञान, अनुभव और सिद्धान्त की बहस वाया सृजनशीलता और सामाजिकता का संदर्भ

गोपाल गुरु और सुंदर सरुकाई ज्ञान, अनुभव, उसकी प्रामाणिकता और उसकी ज्ञान मीमांसा की पड़ताल करते हैं। गोपाल गुरु का तर्क है कि केवल वे लोग जो सबाल्टर्न के रूप में रहते हैं, उनका सही प्रतिनिधित्व कर सकते हैं, सुंदर सरुकाई को लगता है कि समुदाय के बाहर स्थित लोग भी उनका प्रतिनिधित्व कर सकते हैं।[57] मुद्दा यह है कि दलितों का प्रतिनिधित्व कौन करे। आज़ादी के संघर्ष के दौरान गाँधी जी कहते थे कि मैं अछूतों का प्रतिनिधि हूँ, डॉ. आंबेडकर का दावा था कि मैं उनका प्रतिनिधि हूँ। हिंदी साहित्य में यह बहस उतर कर प्रेमचंद और स्वामी अछूतानन्द के बीच आ गयी। इन दोनों में से दलितों का प्रतिनिधि कौन है? कौन सच्चा साहित्य लिख रहा है। यह बहस अभी कुछ वर्षों पहले ही हुई है। कुछ लोग सृजनशीलता के संदर्भ में वर्ण या जाति के विशिष्ट अनुभव का सवाल उठाते हैं। दलित लेखन में कुछ लोगों ने यह बहस चलाई कि दलित ही दलित के बारे में सही ढंग से प्रामाणिक ढंग से लिख सकता है। क्योंकि दलित होने का जो अनुभव उनका है और किसी का नहीं हो सकता यह बात सच भी है। मैं इस तरह की खेमेबंदी से सहमत नहीं हूँ। साहित्य, इतिहास और समाज विज्ञान में ये नहीं हो सकता कि जिसका जो अनुभव है वही उसको समझ सकता है। अगर ये स्थिति रह गई तो आज क्या कोई अठारहवीं या सत्रहवीं सदी का इतिहास या साहित्य कैसे पढ़ और पढ़ा सकता है।[58]

मनुष्य की सबसे पहले सर्जनात्मक क्रिया है भाषा को सीखना और उसका व्यवहार करना। दूसरी बात यह है कि अतीत में ऐसी बहुत सी चीजें हैं जो इंसान ने बड़ी मेहनत और सदियों की कोशिशों से बनाई हैं। अगर आप उनको अपनी पूँजी नहीं बनाएँगे तो भविष्य कैसे बनाएँगे। समय कोई स्लेट तो है नहीं कि आपने उसको साफ किया और लिखना शुरू कर दिया। यह आप नहीं कर सकते क्योंकि समय वह स्लेट है जिस पर पहले से बहुत कुछ लिखा हुआ है और उसी पर आगे आपको लिखना है। अब यह आप पर है कि अतीत की चीजों में से क्या चुनें क्या छोड़ें और अतीत को किस नज़र से देखें। मसलन कुछ

57. गोपाल गुरु, सुंदर सरुकाई (2012).
58. एजाज अहमद (2004): 9–11.

लोग अतीत के आधार पर भारतीय परंपरा की बात करते हैं रामराज की बात करते हैं लेकिन वे समझते हैं कि अतीत में जो कुछ किया ब्राह्मणों और क्षत्रियों ने यानि उच्च वर्ग के या शासक वर्ग के लोगों ने किया। मेरा कहना यह है कि साहित्य हो, कला हो, विज्ञान हो, तकनीक हो, स्थापत्य हो सबके इतिहास श्रम के इतिहास हैं। लेकिन वर्ग व्यवस्था का सबसे बड़ा कारनामा यह है कि जो चीज मेहनत ने पैदा की है, सदियों की मेहनत ने, उसे किसी एक व्यक्ति या एक राजा या एक जाति से जोड़ दिया है कि देखिए यह ग्रंथ फलाँ ने लिखा यह ईजाद फलाँ ने की, यह इमारत फलाँ ने बनवाई। लेकिन वह सब चीजें आम लोगों की सदियों की मेहनत से पैदा हुई हैं। हम उनका श्रेय उच्च वर्ग के लोगों को नहीं दे सकते। उच्च वर्ग के लोगों की सब कला-वला असल में मेहनतकश लोगों की सृजनशीलता पर निर्भर करती है।[59]

कुछ लोग सर्जनशीलता के संदर्भ में वर्ण या जाति के विशिष्ट अनुभव का सवाल उठाते हैं मसलन नारीवादी या दलितवादी लोगों में से कुछ लेखक, यह कहते पाए जाते हैं कि औरत ही औरत के बारे में प्रामाणिक लेखन कर सकती है या दलित ही दलित लेखन के बारे में बात कर सकता है लिख सकता है या दलित ही दलित के बारे में सही ढंग से लिख सकता है। क्योंकि औरत या दलित होने का उनको जो अनुभव है किसी और को नहीं हो सकता। इस पर मेरा कहना यह है कि इस तरह की बाड़ेबंदी कम से कम साहित्य में बिल्कुल गलत है। मैंने अमेरिका में यूरोपीय साहित्य पढ़ाया है यानी गोरों को गोरों का गणित पढ़ाया है मुझसे कभी किसी ने नहीं कहा कि यह तुम्हारी समझ में नहीं आ सकता क्योंकि तुम गोरे नहीं हो। अगर कोई ऐसा कहे तो मैं उसके मुंह पर चांटा मारूंगा और कहूँगा कि मैं तुम्हारे बाप दादा का साहित्य तुम्हें इसलिए पढ़ा रहा हूँ कि मैंने उसे पढ़ा है, सीखा है, मेहनत की है। साहित्य में यह नहीं हो सकता कि जिसका जो अनुभव है वही उसको समझ सकता है। वरना आज का कोई आदमी 18वीं सदी का साहित्य कैसे पढ़ पाता? उन्नीसवीं सदी में जो साहित्य लिखा गया या 1920 में जो शायरी की गई उसका आज के आदमी के तजुर्बे से क्या ताल्लुक। इस संदर्भ को आगे बढ़ाते हुए एजाज अहमद आगे यह भी कहते हैं कि यह तो सही है कि औरत ना होने के कारण हम औरत का दुख दर्द एक औरत की

59. एजाज अहमद (2004) वही : 9-11.

तरह महसूस नहीं कर सकते दलित या आदिवासी ना होने के कारण मैं एक दलित या आदिवासी के दुख दर्द उत्पीड़न को महसूस नहीं कर सकता। लेकिन औरत, दलित या आदिवासी के अनुभव का वह हिस्सा जो उसका बिल्कुल अपना है बहुत छोटा हिस्सा है और उसके बारे में मैं किसी औरत, दलित या आदिवासी से पूछकर जान सकता हूँ। लेकिन अगर कोई कहता है कि आप मेरे अनुभव को समझ ही नहीं सकते तो इसका जवाब मेरे पास बहुत कड़ा है। वह यह कि अगर मैं आपके अनुभव को समझ भी नहीं सकता हूँ तो आप मुझसे हमदर्दी की कोई उम्मीद ना रखें जो चीज मेरी समझ में ना आए उसके बारे में मैं हमदर्दी कैसे दिखाऊंगा। अगर आपको मुझसे किसी हमदर्दी की उम्मीद है तो आप मुझे समझाइए कि वह बात क्या है जिसके बारे में आपको मेरी हमदर्दी चाहिए सॉलिडेरिटी के लिए आपस में संप्रेषण होना एक दूसरे के अनुभवों को साझा करना निहायत जरूरी है और यह तमाम बिंदुओं के बावजूद हो सकता है। इस तरह से यदि अगर साहित्य का संबंध व्यक्तिगत अनुभव से होता तब तो एक आदमी की लिखी चीज दूसरा समझ ही नहीं पाता। एक समाज का साहित्य दूसरा समाज पढ़ ही नहीं पाता। दो इंसान आपस में बात ही न कर पाते भाषा और साहित्य व्यक्तिगत अनुभव की चीज नहीं सामाजिक अनुभव की चीज हैं सृजनशीलता व्यक्तिगत नहीं सामाजिक है यह बुनियादी बात है। आपके अनुभव का एक हिस्सा ऐसा हो सकता है जिस तक मेरी पहुँच ना हो लेकिन आप अपने अनुभव के उस रिश्ते की बात मुझसे कहते हैं तो आपकी बात मेरी समझ में आ सकती है और मैं उससे कुछ सीख सकता हूँ।[60]

लेखन और विमर्श की सृजनशीलता के इस संदर्भ में अभय कुमार दुबे लिखते हैं कि दलित विमर्श इस वक्त हिंदी का विजेता विमर्श है। दलित विमर्श विजेता विमर्श किस तरह है, इसका सबसे बड़ा उदाहरण यह है कि जो गैर-दलित साहित्यकार हैं यानि जो दलित बिरादरी में पैदा नहीं हुए, जो जन्मना दलित नहीं हैं, उन्होंने ने भी दलित विमर्श को केंद्र में रखकर कहानियाँ लिखी हैं। बिल्कुल इस तरह से कि अगर आप उनका नाम हटाकर कोई दलित नाम लिख दें तो आपको लगे कि किसी दलित द्वारा लिखी गई कहानी है। दलित विमर्श की जो हैसियत है, इस वक्त अगर आप हिंदी के दो प्रमुख प्रकाशकों (वाणी,

60. एजाज अहमद (2004) : 9-11.

राजकमल) में से किसी से बात करें तो वे बताएँगे कि सबसे ज़्यादा बिकने वाली किताबें वे हैं जो कि दलित और स्त्री विमर्श से संबन्धित होती हैं। लेकिन अंतर्विरोध यह है कि विजेता विमर्श होने के बावजूद दलित विमर्श आज भी बीसवीं सदी के दूसरे दशक में खड़ा हुआ है। दुनिया लगातार बदल रही है और दलित विमर्श भी उसी के हिसाब से बदल रहा है। लेकिन जब उस बदलते हुए दलित विमर्श को सार्वजनिक मंच के ऊपर अभिव्यक्ति देने का, वाणी देने का प्रश्न आता है तब तमाम दलित बुद्धिजीवी पुरानी बात कहते हुए नज़र आते हैं। वह उस बदले हुए दलित विमर्श को सूत्रबद्ध नहीं करते। दलित विमर्श में जबर्दस्त परिवर्तन हुआ है। उसको नए सिरे से सूत्रबद्ध करने की जरूरत है।[61] इस बात को समझने के लिए तुलसीराम की आत्मकथा मुर्दहिया की तुलना दक्षिणी अफ्रीका के ट्रुथ एंड रिकंसिलिएसन कमीशन की प्रक्रिया से की जा सकती है। यह एक ऐसा सिलसिला है जिसमें हिंसा करने वाले और हिंसा झेलने वाले के बीच एक मुकदमे की कार्यवाही तो होती ही है, साथ ही मानवीय स्तर पर एक संवाद भी हो रहा होता है, और इस संवाद का एक मनोवैज्ञानिक परिणाम होने की सम्भावना है कि हिंसा-लिप्त समाज के मानस को हिंसा-मुक्त किया जा सके। मुर्दहिया के लेखक का संयम और समाज में शोषण-उत्पीड़न के निरपेक्ष विश्लेषण से पाठक के मन में जो भाव पैदा होता है उसमें समाज को हिंसा मुक्त करने की क्षमता होती है। शायद इसका कारण है लेखक द्वारा मार्क्सवाद की विश्लेषण क्षमता को आत्मसात किया जाना और बुद्ध की करुणा के प्रति गहरी आस्था का होना। समाजशास्त्र में ज्ञान के इन दो स्रोतों के बीच संवाद और उसके द्वारा भारतीय समाज को समझने की क्षमता का विकास शायद अभी तक सम्भव नहीं हो पाया है।[62] यदि हम वैकल्पिक समाजशास्त्र की बात करना चाहते हैं तो हमें इन आलोचनाओं से विकल्प को गढ़ना होगा। निश्चित रूप से विकल्प केवल नकारात्मक आलोचनाओं से नहीं बन सकता है, बल्कि उसके लिए हमें कुछ रचनात्मक संवाद की जरूरत भी पड़ेगी। खास कर हमें भारतीय ज्ञान-परंपरा, जनांदोलन और

61. अभय कुमार दुबे (2014): 17-41. (इसकी विस्तृत व्याख्या के लिए देखें भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला द्वारा 'हिंदी आधुनिकता : एक पुनर्विचार' विषय पर आयोजित हिंदी सप्ताह कार्यशाला-2007 में ओमप्रकाश वाल्मीकि द्वारा 'दलित लेखन की आधुनिकता और सांस्कृतिक विरासत' पर प्रस्तुत किए गए पर्चे की बहस को।)
62. मणींद्र नाथ ठाकुर (2013): 62.

शोषण की संरचनाओं से उत्पन्न अनुभवजन्य ज्ञान से निरंतर संवाद स्थापित करना होगा।[63]

इस संदर्भ में मणींद्र ठाकुर के हवाले से कहें तो समाजशास्त्र के ज्ञान पर प्रभाव के क्या मापदंड हो सकते हैं? आमतौर पर समाज के विषय में ज्ञान की प्रामाणिकता क्या है? भारत में समाजशास्त्र के ज्ञान का समाज के साथ कोई खास रिश्ता नहीं दिखता है और न ही उसमें बहुत मौलिकता होती है। इस संबंध में भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद (2007) की रपट उल्लेखनीय है। इसमें माना गया है कि भारत में समाज की समझ और सरकारी नीतियों का प्रभावित करने की दृष्टि से समाजशास्त्रीय शोध का स्तर ठीक नहीं है। ज़्यादातर शोध और अध्ययन में नूतनता और मौलिकता के बदले अपने प्रायोजकों के सरोकार और लाभ का ध्यान रखा जाता है। उनके उपागम और उनकी सैद्धांतिक संरचना इतनी लचर होती है कि उनके आधार पर कोई सामान्य या व्यापक निष्कर्ष निकालना सम्भव नहीं है। इस तरह के स्वतंत्र और मौलिक कामों के लिए सरकारी आर्थिक सहायता की भी भारी कमी दिखती है। यहाँ न केवल बौद्धिक रूप से सक्षम शोधकर्ताओं की कमी है, बल्कि उत्तम शोध के लिए सही शैक्षणिक माहौल का भी अभाव है।[64]

दलित विमर्श (डिस्कोर्स) को कौन नियंत्रित करता है और उसमें समाजशास्त्र की क्या भूमिका है?

व्यक्ति से ज़्यादा संस्थान महत्त्वपूर्ण हो सकते हैं। कभी-कभी तो व्यक्ति और समुदाय वही सोचने लगते हैं जो संस्थान और सरकारें चाहती हैं। इसे ही विमर्श का नियंत्रण कहा जाता है। संस्थान विमर्शों की चौहद्दी निर्धारित करने का प्रयास करते हैं। भारत में यूजीसी, विश्वविद्यालय, शोध संस्थान यही करते हैं। विदेशों में भी यही काम होता रहा है। उनमें थिंक टैंक भी यह भूमिका निभाते हैं। पिछले दो दशकों में अमेरिका में भारत के अध्ययन को मजबूती मिलने और दोनों देशों के बीच विद्वानों के बढ़ते आदान-प्रदान ने दलित अध्ययन के उभार को अतिरिक्त रफ्तार दी है। अफ्रीकी-अमेरिकी सिविल राइट्स आंदोलन और

63. मणींद्र नाथ ठाकुर (2013): 58.

64. 'रिस्ट्रक्चरिंग द इंडियन काउन्सिल ऑफ़ सोशल साइंस रिसर्च : अ रिपोर्ट ऑफ़ द फोर्थ रिव्यू कमेटी' (मार्च, 2000). आईसीएसएसआर, दिल्ली : 20-22.

अमेरिका में अश्वेत अध्ययन विभाग की मौजूदगी के कारण तुलनात्मक अध्ययन और आदान-प्रदान के लिए मंच भी उपलब्ध हुआ है। दलित मुद्दों का वैश्विक स्तर पर प्रसार, दलित प्रवासियों की संख्या में बढ़ोतरी और विविधता और नस्ल से जुड़े सवालों से जुड़ाव ने जाति पर बहस को समृद्ध करने और इसका विस्तार करने में मदद मिली है। इस प्रकार से दलित प्रश्नों के संदर्भ में लेखकों और समाज विज्ञानियों ने दलित अध्ययन के इतिहास में नए अध्याय का सूत्रपात किया है। आखिरकार भारत सरकार की आर्थिक लाभों की नीति के प्रावधान और अकादमिक स्तर पर विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा शोध को बढ़ावा देने के क्रम में नए अध्ययन केंद्रों-मसलन आंबेडकर अध्ययन केंद्रों[65] के साथ ही 'सामाजिक उपेक्षा और समावेशी नीति अध्ययन केंद्र' (सेंटर फॉर द स्टडी ऑफ़ सोशल एक्सक्लूजन एंड इन्क्ल्युसिव पॉलिसी)[66] एवं महिला अध्ययन केंद्र[67] खोलकर दलित प्रश्नों पर अपना ध्यान देना शुरू किया गया। ऐसे हालिया घटनाक्रमों के बाद संस्थागत रूप में दलित अध्ययन का क्षेत्र काफ़ी व्यापक हो गया है।

समाजशास्त्रीय अध्ययनों और विमर्शों की परिघटना को भारत में भारतीय समाजशास्त्र परिषद के इतिहास से समझ सकते हैं। इसकी स्थापना 1952 में हुई थी। अपने स्थापना काल से इसने वार्षिक सम्मेलनों का आयोजन प्रारम्भ कर दिया था। वर्ष 2019 तक कुल 45 सम्मेलन आयोजित किए जा चुके हैं। इसका पहला वार्षिक सम्मेलन 1955 में देहरादून में किया गया था। इंडियन सोशियोलोजिकल सोसाइटी प्रत्येक वर्ष वार्षिक सम्मेलन के लिए एक विशेष विषय का चुनाव करती है और इसके साथ ही उसके उपविषय भी। इंडियन सोशियोलोजिकल सोसाइटी के ये वार्षिक सम्मेलन देश के विभिन्न भागों से आए विभिन्न पीढ़ियों के समाजशास्त्रियों को एक साथ एकत्र कर विषय के व्यवसाय को एकता एवं निरंतरता प्रदान करते हैं। इस प्रकार से भारतीय समाजशास्त्र परिषद द्वारा 1955 से लेकर अब तक आयोजित किए गए वार्षिक सम्मेलनों की सूची

65. इसके लिए https://www.ugc.ac.in/pdfnews/5759091_Epoch-Making-Social-Thinkers-of-India.pdf पर उपलब्ध।
66. इसके लिए https://ugc.ac.in/pdfnews/4750856_CentrestudySocial Exclusion InclusivePolicy.PDF पर उपलब्ध देखे अपेंडिक्स-III)
67. इसके लिए https://www.ugc.ac.in/pdfnews/1509354_List-of-Universities-having-Women-Study-Centres.pdf पर उपलब्ध (देखे अपेंडिक्स-IV)

और विषयों को देखा जाए तो भारतीय समाजशास्त्र और समाजशास्त्रियों के दृष्टिकोण का पता चल जाएगा। भारतीय समाजशास्त्र परिषद के इन वार्षिक सम्मेलनों के थीम विषयों को देखिये। 1955 से 2019 तक समाजशास्त्र ने अभी तक किसी भी वार्षिक सम्मेलन को दलित विषय को थीम नहीं बनाया है। जाति का विषय तो भारतीय समाजशास्त्र परिषद की बौद्धिक कल्पना में शामिल है लेकिन दलित विषय प्रत्यक्ष रूप से भारतीय समाजशास्त्र परिषद के विमर्श में शामिल नहीं रहा है। इस बात को दशक दर दशक आयोजित किए गए सम्मेलनों की सूची से समझ सकते हैं।[68]

S. No	Year & Date	Venue	Themes
		1955-1960	
I	1955	Dehradun	Social Change
II	1957	Patna	
III	1958	Calcutta	
IV	1959	Lucknow	Psychology, Social Stratification
V	1960	Agra	
1961-1970			
VI	1961	Sagar	
VII	14-16 Oct, 1967	Tata Institute of Social Sciences, Bombay	Sociological Prerequisites of Democratic Polity, Education and Social Change, Industrialisation and its Social Consequences
VIII	1-3 Sept, 1968	Institute of Social Sciences, Agra University,Agra	Religion and Modernisation, Political Sociology, Changing Patterns of Stratification

68. http://www.insoso.org/images/pdfs/Website_matter_of_Chronology_of_AISCs.pdf (देखे अपेंडिक्स-I)

IX	22-25 Nov, 1969	Department of Humanities and Social Sciences, IIT, New Delhi	Gandhi's Contribution to Indian Thought and Action, Science, Technology and Society, Sociology of Religion, Sociology of Kinship, Education and Society and Teaching Sociology in Regional Languages
X	26-28 Dec, 1970	Osmania University, Hyderabad	Sociology of National Integration,Socialist Revolution, Sociology of Social Organisation
1971-1980			
XI	28-30 April, 1972	Gujarat University Ahmadabad	Social Demography, Sociology of Development, Changing Pattern of Caste, Urbanism and Urbanisation
XII	28-30 Oct, 1974	Banaras Hindu University Varanasi	Sociology of Conflict, Sociology of Development, Sociology of Law
XIII	26-28 Dec, 1976	Punjab University, Chandigarh	Sociologist Observer, Analyst or Interventionist, Sociology of Social Movements, Sociology of Peasant and Workers, Towards reorientation ofTeaching and Research in Sociology
XIV	28-30 Dec, 1978	Jabalpur University, Jabalpur	Education Policies inIndia,Transformation of Tribal Societies, Changing Status of Women

XV	2-4 Nov, 1980	Meerut University, Meerut	Social Stratification, Family, Social Change
1981-1990			
XVI	29-31 Dec, 1982	Annamalai University, Tamil Nadu	Caste, Class and Gender
XVII	27-29 Dec, 1984	South Gujarat University,Surat	Social Action for Change, Ethnicityand Ethnic Processes
XVIII	19-21 May, 1987	North Eastern Hill University, Shilong	Sociology and Social Transformation
XIX	3-5 March, 1989	Haryana Agriculture University, Hissar	Rural Development
1991-2000			
XX	29-31 Dec, 1993	Saint Aloyius College, Mangalore	Identity, Equality and Social Transformation
XXI	19-21 Dec, 1994	Jawaharlal Nehru University, New Delhi	Cultural Dimensions of Social Change
XXII	16-18 Dec, 1995	Barkatullah University, Bhopal	Challenge of Change and Indian Sociology Retrospect and Bhopal Prospects
XXIII	23-25 Nov, 1996	Shivaji University, Kolhapur	Ecology, Society and Culture
XXIV	22-24 Dec, 1997	Osmaia University, Hyderabad	Fifty Years of India's Independence and Beyond
XXV	17-19 Dec, 1998	Aligarh Muslim University, Aligarh	Nation, Nationality and NationalIdentity: South Asia
XXVI	2-31 Dec, 2000	University of Kerala, Thiruvantapuram	Civil Society in India

2001-2010			
XXVII	26-28 Dec, 2001	Guru Nanak Dev University, Amritsar	Half a Century of Sociology in India (1951-2001) Challenges, Responses and Expectations
XXVIII	18-20 Dec,	IIT, Kanpur 2002	Globalisation and the Indian Society
XXIX	21-23 Dec, 2003	Maharana Pratap University of Agriculture and Technology, Udaipur	Social Policy Governance and Mobilisation
XXX	27-29 Dec, 2004	DDU University, Gorakhpur	National Policy of Social Sciences
XXXI	25-27 Oct, 2005	University of Jammu, Jammu	Redesigning Sociology, Teaching and Research
XXXII	27-29 Dec, 2006	University of Madras, Chennai	Science, Technology and Society
XXXIII	28-29 Dec, 2007	Karnataka University, Dharwad	State, Civil Society and Social Justice
XXIV	27-29 Dec, 2008	University of Rajasthan, Jaipur	Youth, Globalisation and SocialTransformation
XXXV	10-12 Oct, 2009	University of Kashmir, Srinagar	Identity, Development and Nation Building
XXXVI	27-29 Dec, 2010	Ravenshaw University, Cuttack	Development, Polity and Social Tensions
2011-2019			
XXXVII	11-13 Dec, 2011	Jawaharlal Nehru University, New Delhi	Sociology and the Crises of Social Transformation in India

XXXVIII	27-29 Dec, 2012	Mohanlal Sukhadia University, Udaipur	Contemporary Indian Society:Challenges and Responses
XXXIX	27-29 Dec, 2013	Karnataka State Open University, Mysore	Inequality, Social Justice and Empowerment
XL	29-30 Nov-1 Dec,2014	Department of Sociology, Mahatma Gandhi Kashi Vidyapeeth, Varanasi	Development, Diversity and Democracy
XLI	27-29 Dec, 2015	Kalinga Institute of Social Sciences, KIIT University, Bhubaneswar	Development, Marginalisation and People's Movements
XLII	27-30 Dec, 2016	Department of Sociology, Tezpur University, Tezpur	Rethinking Sociological Traditions of India
XLIII	9-12 Nov, 2017	Department of Sociology, Lucknow University	Neoliberalism, Consumption and Culture
XLIV	December 27, 28 and 29, 2018	St. Philomena's College (Autonomous) Bannimantap, Mysuru – 570015 Karnataka, India	Reconstructing Sociological Discourse in India: Perspectives from the Margins
XLV	27, 28 & 29 Dec. 2019	Kariavattom Campus, University of Kerala Thiruvananthapuram	Environment, Culture and Development:Discourses and Intersections

अखिल भारतीय समाजशास्त्रीय सम्मेलन (एआईएससीएस) का कालक्रम[69]

1955 से 1960 के दशक तक आयोजित पाँच सम्मेलन सामाजिक परिवर्तन, मनोविज्ञान और सामाजिक स्तरीकरण तक सीमित रहे। 1961 से 1970 के बीच

69. http://www.insoso.org/images/pdfs/Website_matter_of_Chronology_of_AISCs.pdf क्रोनोलोजी ऑफ़ आल इंडिया सोशिओलोजिकल कान्फ्रेंस (एआईएससीएस) अखिल भारतीय समाजशास्त्रीय सम्मेलन (एआईएससीएस) का कालक्रम.

कुल पाँच सम्मेलन आयोजित किए गए। औद्योगिकीकरण और भारतीय समाज पर उसके प्रभाव, धर्म और आधुनिकता, राजनीतिक समाजशास्त्र, सामाजिक स्तरीकरण के बदलते प्रतिमान, विज्ञान तकनीकी के साथ ही गाँधी का भारतीय समाज को योगदान, धर्म का समाजशास्त्र, नातेदारी का समाजशास्त्र, शिक्षा का समाजशास्त्र, भारतीय क्षेत्रीय भाषाओं में समाजशास्त्र की शिक्षा, राष्ट्रीय एकता के लिए समाजशास्त्र, समाजवादी क्रांति, समाजशास्त्र में सामाजिक संगठन।

1971 से 1980 के दशक में कुल पाँच वार्षिक सम्मेलन आयोजित हुए। इस दशक में आयोजित सम्मेलनों के विषय सामाजिक जनसांख्यिकी, विकास का समाजशास्त्र, जाति के बदलते प्रतिमान, शहर और शहरीकरण,संघर्ष का समाजशास्त्र, कानून का समाजशास्त्र, सामाजिक आंदोलनों का समाजशास्त्र, समाजशास्त्री पर्यवेक्षक, विश्लेषक या हस्तक्षेपकर्ता, किसान और मजदूर, समाजशास्त्र में शिक्षण और अनुसंधान के पुनर्संरचना की ओर, भारत में शिक्षा नीतियाँ, जनजातीय समाज का रूपान्तरण, सामाजिक स्तरीकरण परिवार और सामाजिक परिवर्तन पर केंद्रित रहे।

1981 से 1990 के दशक में कुल चार वार्षिक सम्मेलन आयोजित किए गए। जाति, वर्ग और जेंडर, परिवर्तन, जातीयता और जातीय प्रक्रियाओं के लिए सामाजिक कार्रवाई, समाजशास्त्र और सामाजिक परिवर्तन, ग्रामीण विकास तक ही सीमित रहे। इस प्रकार से भारत में ये दशक महिला आंदोलन के बढ़ते प्रभाव, महिला दशक की घोषणा, राजीव गाँधी की ग्रामीण विकास के लिए बनाई गई नीतियों से भी प्रभावित रहा है।

1991 से 2000 बीसवीं सदीं का अंतिम दशक भारत में अनेक परिवर्तनों का दौर रहा इस दशक में कुल 7 आयोजित वार्षिक सम्मेलन पहचान, समानता, सामाजिक रूपान्तरण, सामाजिक परिवर्तन के सांस्कृतिक आयाम, परिवर्तन और भारतीय समाजशास्त्र रेट्रोस्पेक्ट और भोपाल संभावनाओं की चुनौती, पारिस्थितिकी, समाज और संस्कृति, भारत की स्वतंत्रता और उससे परे के पचास वर्ष, राष्ट्र, राष्ट्रीयता और राष्ट्रीय पहचान: दक्षिण एशिया, भारत में सिविल सोसाइटी, इन विषयों को लिए यह दशक नई आर्थिक नीतियों और उनसे प्रभावित हो रही सामाजिक संरचना के साथ ही, भारत की आज़ादी के पचास वर्षों का लेखा-जोखा के साथ राष्ट्र और राष्ट्रीयता के पहचान की और भारत में बढ़ते नागरिक अधिकार आंदोलनों से समाजशास्त्र प्रभावित रहा।

21वीं सदी के पहले दशक में कुल 10 वार्षिक सम्मेलन आयोजित किए गए। इस दशक में भारत में समाज की आधी सदी (1951–2001) चुनौतियाँ, प्रतिक्रियाएँ और अपेक्षाएँ, वैश्वीकरण और भारतीय समाज, सोशल पॉलिसी गवर्नेंस एंड मोबिलाइजेशन, सामाजिक विज्ञान की राष्ट्रीय नीति, रिडिजाइनिंग सोशियोलॉजी, टीचिंग एंड रिसर्च, विज्ञान, प्रौद्योगिकी और समाज, राज्य, सिविल सोसायटी और सामाजिक न्याय, युवा वैश्वीकरण और सामाजिक परिवर्तन, पहचान, विकास और राष्ट्र निर्माण, विकास, राजनीति और सामाजिक तनाव इन विषयों के साथ समाजशास्त्र का शोध और विमर्श 21वीं सदी की चुनौतियों के साथ सामने आया। ये दशक समाजशास्त्र के लिए बिलकुल नई चुनौतियों के साथ सामने आया। ये दशक नई–नई पहचानों के साथ समुदायों और समूहों की नई–नई आकांक्षाओं को जन्म दे रहा था। इस दशक में नई आर्थिक नीतियों से भारत के हाशिए के समूहों पर पड़ रहे प्रभावों की वजह से समाजशास्त्र में काफ़ी नए विषयों का शोध देखने को मिला।

2011 से 2019 तक आयोजित कुल 9 वार्षिक सम्मेलन समाजशास्त्र और भारत में सामाजिक परिवर्तन के संकट, समकालीन भारतीय समाज: चुनौतियाँ और प्रतिक्रियाएँ, असमानता, सामाजिक न्याय और अधिकारिता, विकास, विविधता और लोकतंत्र, विकास, हाशिए के समूहों के आंदोलन, भारत की सामाजिक परंपराओं को पुनर्जीवित करना, नवउदारवाद, उपभोग और संस्कृति, भारत में समाजशास्त्रीय प्रवचन का पुनर्निर्माण: से परिप्रेक्ष्य हाशिये के विषयों को देखकर ऐसा लगता है कि भारतीय समाजशास्त्र परिषद के वार्षिक सम्मेलन भारतीय समाज की समस्यात्मक चुनौतियों के इर्द–गिर्द घूमते रहे। 2019 का वार्षिक सम्मेलन भी केरल में दिसंबर में आयोजित किया गया है जिसका विषय पर्यावरण, संस्कृति और विकास: प्रवचन, विरोधाभास और अंतर्क्रिया पर केंद्रित किया गया है। इस तरह से इस दशक का समाजशास्त्रीय शोध और विमर्श सामाजिक आंदोलनों की उन क्रियाओं पर अपना ध्यान केंद्रित करता है जो समस्यात्मक रहे हैं। साथ में यह भी महत्त्वपूर्ण है कि भारतीय समाजशास्त्र परिषद के वार्षिक सम्मेलन भारत की आज़ादी के बाद देश की सामाजिक संरचना के साथ ही देश के विकास के लिए राज्य की नीतियों से भी प्रभावित रहे हैं। इस बात को दशक दर दशक आयोजित किए गए सम्मेलनों की सूची से समझा जा सकता है।

इस तरह से भारतीय समाजशास्त्र परिषद अपनी स्थापना 1952 से लेकर 2019 तक कुल 45 वार्षिक सम्मेलनों का आयोजन कर चुका है। इन सम्मेलनों

के मुख्य शीर्षक (थीम) देखकर ऐसा लगता है की इनकी चिंताओं में दलित और हाशियाकृत समुदाय हाशिये पर ही रहे हैं। भारतीय समाजशास्त्र परिषद ने कभी भी अपने वार्षिक सम्मेलनों में दलित विषयों को लेकर मुख्य थीम के आधार पर सम्मेलन आयोजित नहीं किए। बाद के वर्षों में भारतीय समाजशास्त्र परिषद ने रिसर्च कमेटी दलित एंड बैकवर्ड क्लासेस का गठन जरूर किया जिसके अंतर्गत इन समुदायों के ऊपर अकादमिक प्रस्तुतीकरण जरूर होता है। इस संदर्भ में यह बात भी महत्त्वपूर्ण है कि दलित विषयों पर समाजशास्त्र में विमर्श व्यवस्थित तरीके से तब प्रारम्भ हुआ जब भारतीय समाजशास्त्र परिषद ने अपने विकास के क्रम में रिसर्च कमेटियों का विस्तार किया। चार नई रिसर्च कमेटी बनाई गई। रिसर्च कमेटी–7, आदिवासी और जनजातीय अध्ययन, रिसर्च कमेटी–9, दलित अध्ययन, रिसर्च कमेटी–10, जेंडर अध्ययन और रिसर्च कमेटी–17, सोशल मूवमेंट।[70] यह सब तब संभव हुआ जब अकादमिक जगत में खासकर दलित लोगों द्वारा दलित विषयों पर अध्ययनों का काम किया जाने लगा और समाजशास्त्र की प्रचलित औपनिवेशिक–उत्तर औपनिवेशिक संरचनात्मक–प्राकार्यात्मक, मार्क्सवादी उपागमों और प्रतिमानों को आलोचना का सामना करना पड़ा। इस तरह से इन सारे वार्षिक सम्मेलनों के विषयों को देखते हुए ऐसा लगता है कि समाजशास्त्र के पास दलितों, आदिवासियों के लिए जगह नहीं है, जिसकी उन्हें दरकार है। लेकिन अब यह स्थिति नहीं है, समाजशास्त्र ने अब सुधार किया है और दलित समाजशास्त्रियों के सकारात्मक हस्तक्षेप की वजह से अपने विमर्शों में दलित प्रश्न के प्रति गंभीरता लेना शुरू किया है।

भारतीय समाजशास्त्र में चिंतन–मनन–अध्यापन और शोध की यह पहलें अनायास नहीं उपजी हैं बल्कि भारतीय राजनीति और समाजशास्त्रीय आधार के विस्तृत और व्यापक होने के कारण हुई हैं। एक सांस्कृतिक परंपरा के रूप में गैर–ब्राह्मणीय आधारों पर बात हुई है। दलित प्रश्न के अंदर स्त्रियों के मुद्दे को विजया रामास्वामी और महत्त्वपूर्ण रूप से शर्मिला रेगे ने जो काम किया है, वह तेरहवीं शताब्दी से लेकर बीसवीं शताब्दी तक फैला है।[71] आप यदि सावित्री

70. के. सत्यनारायण (2005), दलित स्टडीज़ एज ए न्यू परस्पेकटिव इन द इंडियन अकेडमिया, इन दलित स्टडीज़ इन हायर एजूकेशन विजन एंड चैलेंज एडिटेड बाई अरुण कुमार, देशकाल पब्लिकेशंस, नई दिल्ली : 87.
71. विजया रामास्वामी (2019, 2013,2016, 2006, 1996) एंड शर्मिला रेगे (2013,2006, 2003).

बाई फुले का जीवन देखें और आंबेडकर के द्वारा चलाए गए आंदोलनों को देखें तो वहाँ महिलाएं पूरे जोशो-खरोश के साथ मौजूद हैं। भारत के हजारों साल के धर्मशास्त्रीय अनुभवों को आंबेडकर ने पढ़ा था, उस पर गहन तरीके से चिंतन और मनन किया था। इसलिए वे लगातार महिलाओं के हक के लिए खड़े रहे। जब उन्होंने मनुष्य और उसके पानी पीने के गरिमापूर्ण अधिकार के लिए महाड़ सत्याग्रह किया था तो उसमें महिलाओं की भागीदारी थी। यह 1927 की बात है। इस घटना को भुला दिया जाता है और मुख्यधारा के इतिहास लेखन में कहा जाता है कि महात्मा गांधी ने स्त्रियों को बाहर निकाला। आंबेडकर ने दलित स्त्रियों को पढ़ने और अपनी आवाज बुलंद करने की अपील की। बम्बई की मिलों से जुड़ी मजदूर बस्तियों में वे जाते और उन्हें शिक्षित करते थे। कौशल्या बैसंत्री की आत्मकथा पढ़िए तो आप जान पाएंगे कि भारत की करोड़ों दलित महिलाओं के जीवन को उन्होंने कैसे बदल दिया (देखें हाउ भीमराव आंबेडकर चेंज अवर लाइफ़्स)।[72] समाजशास्त्र और उससे गहरे ढंग से जुड़े विषयों में इस पर विचार किया गया है। क्लेरिंडा स्टिल का काम दक्षिण भारत की दलित महिलाओं के जीवन दृश्य को सामने लाते हुए बताता है कि इज्जत और पितृसत्तावाद के दोहरे चौखटे के बीच दलित महिलाओं का राजनीति से क्या रिश्ता बन पाया है और क्या नहीं बन पाया है।[73]

भारतीय समाज में दलितों की राजनीतिक प्रस्थिति पर जो काम हुए हैं, वे जाति के प्रश्नों या कास्ट क्वेश्चन से भी निकलते हैं। अनुपमा राव की किताब का नाम ही है-द कास्ट क्वेशचन : दलित्स एंड पालिटिक्स आफ माडर्न इण्डिया।[74] विवेक कुमार की किताब का नाम है- कास्ट एंड डेमोक्रेसी इन इण्डिया : अ पर्सपेक्टिव्स फ्राम बिलो, दलित लीडरशिप इन इंडिया, बहुजन समाज पार्टी एवं संरचनात्मक परिवर्तन : एक समाजशास्त्रीय अवलोकन, जाति, प्रजातंत्र एवं

72. आकाश जोशी, 10:44 AM ISThttps://www.thequint.com/voices/opinion/watch-video-the-many-ways-in-which-dr-ambedkar-changed-our-lifeŒÌ 22.08.2022 को देखा गया.
73. क्लेरिंडा स्टिल (2014, 2017).
74. अनुपमा राव (2011), द कास्ट क्वेशचन : दलित्स एंड पालिटिक्स आफ माडर्न इण्डिया, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी.

आरक्षण।[75] इस संन्दर्भ में अनुपमा राव और विवेक कुमार की किताबों का नाम देखिए। दोनों किताबों के उपशीर्षक देखिये जो दलित, राजनीति, लोकतंत्र, भागीदारी और राष्ट्र निर्माण के अंतर्संबंधों पर बात करती हैं। विवेक कुमार थोड़ा और विशेषीकृत हो जाते हैं। उन्होंने जाति, दलित समुदायों और उससे निकली राजनीति व दलित नेतृत्व पर काम किया है। उन्होंने बहुजन समाज पार्टी की राजनीति पर समाजशास्त्रीय तरीके से अपना विश्लेषण किया है। दलितों द्वारा की जा रही राजनीतिक लामबंदी और आंदोलनों के बाद विवेक कुमार ने समाजशास्त्र के अन्दर जाति प्रश्न के सन्दर्भ में समाजशास्त्रीय बिरादरी के समक्ष एक गंभीर प्रश्न खड़ा किया। यह लेख बाद में इंडियन सोशियोलोजिकल सोसायटी के गोल्डन जुबिली वर्षगांठ के अवसर पर पुस्तकों के प्रकाशन की श्रृंखला में एक महत्त्वपूर्ण अंक के रूप में परमजीत एस.जज. द्वारा संपादित पुस्तक टुवर्ड्स सोशियोलोजी ऑफ़ दलित्स में भी यह ''सिच्युवेटिंग दलित्स इन इंडियन सोशियोलोजी'' शीर्षक के साथ प्रकाशित किया गया।[76] इस मुद्दे को और अधिक धार देने के लिए विवेक कुमार समाज विज्ञान के महत्त्वपूर्ण जर्नल इकनोमिक एंड पोलिटिकल वीकली के अपने आलेख ''हाउ इगैलिटेरियन इंडियन सोशियोलोजी ?'' में समाजशास्त्र के समक्ष पद्धतिशास्त्रीय सवाल खड़ा किया।[77] विवेक कुमार के इन लेखों के बाद समाजशास्त्र की अकादमिक विमर्श परम्पराओं में एक हलचल सी शुरू हुई जिसने भारतीय समाजशास्त्रीय बिरादरी को दलित प्रश्नों पर सोचने के लिए मजबूर किया। इसके साथ ही विवेक कुमार अपने गंभीर शोधपरक अध्ययनों के आधार पर और अधिक विशेषीकृत होते हुए डॉ. आंबेडकर द्वारा संविधान सभा में निभाई गई महत्त्वपूर्ण भूमिका के आधार पर उन्हें राष्ट्र निर्माता कहते हैं, वहीं आरक्षण नीति द्वारा प्राप्त प्रतिनिधित्व को वह राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया की संज्ञा देते हैं।[78] दलित नेतृत्व के संदर्भ में वह उसे दो तरह से विश्लेषित करते हैं एक है स्वतंत्र दलित नेतृत्व (इंडिपेंडेंट) और

75. विवेक कुमार (2014, 2002, 2007, 2014).
76. विवेक कुमार (2005, 2010).
77. विवेक कुमार (2016), हाउ इगैलिटैरियन इज इंडियन सोशियोलोजी ? इकनॉमिक एंड पोलिटिकल वीकली 51 (इश्यु न. 25) 33-39.
78. विवेक कुमार (2005), अंडरस्टैंडिंग द पॉलिटिक्स ऑफ़ रिजर्वेशन: ए पर्सपेक्टिव फ्रॉम बिलो, इकनॉमिक एंड पोलिटिकल, 803-806.

दूसरा परतंत्र (डिपेंडेंट) दलित नेतृत्व, जहाँ दलित आन्दोलन के माध्यम से निकले दलित नेतृत्व को वह दलित आन्दोलन की स्वतंत्र दलित अभिव्यक्ति व भारतीय लोकतंत्र के सामने जोरदार उपस्थिति मानते हैं। वहीं परतंत्र दलित नेतृत्व को उच्च जातियों–वर्गों द्वारा बनाये गए राजनीतिक दलों में पिछलग्गू दलित नेतृत्व कहते हैं। इसके साथ ही वह दलित राजनीति को दो भागों निर्भर दलित राजनीति तथा आत्मनिर्भर दलित राजनीति में विभक्त करते हैं। जिन्हें बहुजन समाज पार्टी के संस्थापक कांशीराम ने ''चमचा''[79] संज्ञा दी थी। दलित नेतृत्व

79. बहुजन समाज पार्टी के संस्थापक कांशीराम ने दलित राजनीति और दलित नेतृत्व को लेकर पूना–पैक्ट की 50 वीं वर्षगाठ के अवसर पर सन 1982 में एक किताब (द चमचा एज : एन एरा ऑफ़ द स्टूजेस–The Chamcha Age : An Era of the Stooges) चमचा युग लिखी थी। कांशीराम इस पुस्तक के उद्देश्य के विषय में लिखते हैं कि ''इस पुस्तक को लिखने का उद्देश्य दलित शोषित समाज को और उसके कार्यकर्त्ताओं एवं नेताओं को दलित शोषित समाज में व्यापक स्तर पर विद्यमान पिट्ठू तत्त्वों के बारे में शिक्षित, जागृत और सावधान करना है। इस पुस्तक को जनसाधारण को और विशेषकर कार्यकर्त्ताओं को सच्चे एवं नकली नेतृत्व के बीच अन्तर को पहचानने की समझ पैदा करने की दृष्टि से भी लिखा गया है। चमचा एक आम चलन का शब्द है जो ऐसे व्यक्ति के लिए प्रयुक्त किया जाता है जो अपने आप क्रियाशील नहीं हो पाता है बल्कि उसे सक्रिय करने के लिए किसी अन्य व्यक्ति की आवश्यकता पड़ती है। वह अन्य व्यक्ति चमचे को सदैव अपने व्यक्तिगत उपयोग और हित में अथवा अपनी जाति की भलाई में इस्तेमाल करता है जो स्वयं चमचे की जाति के लिए हमेशा नुकसानदेह होता है।'' (पृष्ठ: 80, चमचा युग)। इस किताब में कांशीराम मुख्य रूप से चमचों/मौका परस्तों को छ: भागों में बांटते है–(1):– जाति या समुदायवार चमचे: अनुसूचित जाति:–(अनिच्छुक चमचे), इन्होने संघर्ष करके उज्जवल युग में प्रवेश करने का प्रयास किया लेकिन गांधी और कांग्रेस ने अनिच्छुक चमचा बना दिया। अनुसूचित जनजाति:–(नवदीक्षित चमचे), इन्हें दलितों के संघर्ष के कारण पहचान एवं अधिकार मिल गया लेकिन ये अपने उत्पीड़क को अपना हितैषी समझते हैं। अन्य पिछड़ा वर्ग:–(महत्वाकांक्षी चमचे), ये अब महसूस करते हैं कि वे दलितों से भी पीछे हो गये हैं इसलिए इन्हें महत्वाकांक्षा बहुत है। इसी कारण बहुजन आंदोलन से जुड़ रहे हैं। अल्पसंख्यक:– (मजबूर चमचे), ईसाई, मुसलमान, सिख, बौद्ध ये मजबूर चमचे हैं क्योंकि ये शासक जातियों के रहमोकरम पर हैं। (2):– पार्टीवार चमचे:– ये चमचे अपने आपको दलीय अनुशासन में जकड़े होने का हवाला देकर समाज विरोधी कार्य करते हैं। (3):– अबोध या अज्ञानी चमचे:– ये वो चमचे हैं जो अपने शोषकों को ही अपना उद्धारक मानते हैं। (4):– ज्ञानी चमचे आंबेडकरवादी चमचे:– ये वो लोग हैं जो बड़ी–बड़ी बातें करते हैं आंबेडकर को पढ़ते और कोड भी करते हैं लेकिन आचरण उसके विपरीत करते हैं। (5):– चमचों के चम्मच:– ये राजनैतिक चम्मच अपनी जाति

एवं उसकी राजनीति को समझने के लिए उनके एक आलेख ''नेचर एंड क्राइसिस ऑफ़ दलित लीडरशिप : ए ब्रीफ सोशियो-हिस्टोरिकल प्रोफाइल'' और उनकी पुस्तक ''दलित लीडरशिप इन इंडिया'' को संदर्भ के तौर पर देखना चाहिए।[80] दलित आन्दोलन के माध्यम से निकली दलित राजनीतिक सत्ता को वह ''रोरिंग रिवोल्यूशन'' कहते हैं।[81] आत्मनिर्भर दलित राजनीति एवं दलित अस्मिता की राजनीति के विश्लेषण को आगे बढ़ाते हुए विवेक कुमार कहते हैं कि दलित अस्मिता स्वाभिमान एवं स्वावलम्बन का प्रतीक है एवं दलित आन्दोलन भारतीय जनतांत्रिक व्यवस्था में प्रतिनिधित्वकारी जनतंत्र (रिप्रेजेंटेटिव डेमोक्रेसी) का एक रूप है जो कि धीरे-धीरे भागीदारी जनतंत्र (पार्टिसिपेटरी डेमोक्रेसी) की ओर बढ़ रहा है। इसके बाद विवेक कुमार और अधिक विशेषीकृत हो जाते हैं और सामाजिक शोषण, वंचना के बाद दलित समुदाय में अपने अधिकारों को लेकर पनपी पहचान, नागरिकता एवं भागीदारी के सवालों को लेकर बढ़ती पहचान व चेतना की अभिव्यक्ति के रूप में व्यापक फलक पर बढ़ते दलित आन्दोलन के कारण अकादमिक संस्थानों में दलित अध्ययनों की वैश्विक अभिव्यक्ति को वह ''दलित डायस्पोरा'' की संज्ञा देते हैं।[82] इस तरह से विवेक कुमार ने अपने गहन शोध के बाद विकसित सैद्धांतिकी के माध्यम से जाति प्रश्न पर समाजशास्त्र के प्रचलित प्रतिमानों के समक्ष गंभीर प्रश्न चिन्ह लगा दिए हैं?

या समुदाय में पैठ दिखाने के लिए अपने चमचे बनाते हैं। जो शासक जातियों की पूरी सेवा करने के लिए तत्पर रहते हैं। शिक्षित-नौकरी पेशा वाले लोग अपने निजी फायदे के लिए इन चम्मचों की चमचागिरी करते हैं। (6):- चमचे विदेशों में:- विदेश में रहने वाले अछूत जिन्हें लगता है कि भारत में चमचों की कमी है तो वे भारत आकर शासक जाति की चमचागीरी चालू करते हैं और अपने आपको डॉ. आंबेडकर समझने लगते हैं। जैसे ही दलित बहुजन आंदोलन गति पकड़ेगा वे पुनः खुले रूप में बाहर आ जायेंगे। इस तरह से बहुजन आन्दोलन गद्दारों का आन्दोलन न बन पाये इसलिए भविष्य को ध्यान में रखकर उन्होंने आगाह करने के लिए यह किताब लिखी। वे आंबेडकर के शब्दों को मंत्रों की तरह रटने के लिए नहीं बल्कि उनको अंगीकार करने पर जोर देते हैं। (इसकी विस्तृत व्याख्यायों के लिए देखें, कांशीराम (1982), द चमचा एज : एन एरा ऑफ़ द स्टूजेस-The Chamcha Age : An Era of the Stooges).

80. विवेक कुमार (1999, 2002).

81. विवेक कुमार (2006, 2004, 2009, 2013, 2021).

82. विवेक कुमार (2004, 2009, 2013, 2021).

इसके साथ ही भारतीय विश्वविद्यालयी परिसरों में पिछले दो दशकों के दौरान दलित-पिछड़े समुदाय के छात्रों की राजनीतिक-सांस्कृतिक सक्रियता व भारत में उच्च शिक्षा में छात्र प्रतिरोध को अमेरिका के वर्जीनिया में ईस्टर्न मेनोनाइट यूनिवर्सिटी (ईएमयू) के सेंटर फॉर जस्टिस एंड पीस बिल्डिंग में प्रोफ़ेसर भारतीय मूल के युवा दलित समाजशास्त्री गौरव जे. पठानिया ने अपने गहन शोध के माध्यम से अपनी किताब ''द यूनिवर्सिटी एज अ साईट ऑफ़ रजिस्टेंस : आइडेंटिटी एंड स्टूडेंट पॉलिटिक्स'' में दर्ज किया है। जिसमें वह विश्वविद्यालयी परिसरों में जाति के आधार पर दलित-पिछड़े छात्रों के शोषण की कहानियों व उससे उपजी राजनीतिक छात्र सक्रियता को दर्ज करते हैं। इसमें उन्होंने छात्र आन्दोलनों के संदर्भ में वामपंथी छात्र राजनीति व दक्षिणपंथी छात्र राजनीति के बरक्स स्वतंत्र रूप से उभर रहे दलित-पिछड़े छात्रों के आन्दोलन व छात्र राजनीति के कारणों को सूक्ष्मता के साथ दर्ज किया है।[83] दलित समुदायों द्वारा राजनीतिक दावेदारी या पोलिटिकल एसर्सन पर विवेक कुमार, क्रिस्टोफ़ जैफरलाट, सुधा पाई, बद्री नारायण, राजकुमार हंस, रोनकी राम, गौरव जे. पठानिया के कामों ने सार्थक हस्तक्षेप किए हैं। वहीं एक विषय के रूप में समाजशास्त्र के अंदर जाति प्रश्न के साथ दलित समाजशास्त्र पर सी. पार्वथ्मा, नन्दूराम, वाई.बी. अब्बसायलू, वाय. शिमाद्री, श्यामलाल, वर्जिनियस खा-खा, एस.एम. दहीवाले, पी.जी. जोगदंड, एम.एच. मकवाना, करुप्प्या, एस.एल. गायकवाड़, ए. रामय्या, डी.आर.नागराज, गेल ओम्वेट, एलिनार जेलिएट, परमजीत एस.जज., विवेक कुमार, नागराजू गुंडीमेडा, चन्द्रैय्या गोपानी, गौरव जे. पठानिया आदि ने अपने कार्यों से एक जोरदार अभिव्यक्ति व दलित समाजशास्त्र को एक सार्थक योगदान दिया है।

लोकप्रिय स्तर पर दलित लेखकों जैसे दया पवार, कौशल्या ताई, बेबी काम्बले, कंवल भारती, जयप्रकाश कर्दम, श्यौराज सिंह बेचैन, शरण कुमार लिंबाले, ओमप्रकाश वाल्मीकि, तुलसीराम और मोहनदास नैमिशराय आदि ने दलितों के अनुभवजन्य जीवन के समाजशास्त्र को लिखा है। साहित्य की सामाजिकी के तहत किया गया यह लेखन उन बुद्धिजीवियों की अपनी कहानी तो कहता

83. गौरव जे. पठानिया (2018), द यूनिवर्सिटी एज ए रेजिस्टेंस: आइडेंटिटी एंड स्टूडेंट पॉलिटिक्स, ऑक्सफ़ोर्ड।

ही है बल्कि यह लेखन उस पूरे समुदाय की कहानी को उसकी सामुदायिकता को और उस समाज की कहानी को अपने माध्यम से बयान कर रहा होता है। इस लेखन में एक समाजशास्त्र छिपा होता है जिसे अब सूक्ष्म तरीकों से अध्ययन व विश्लेषित करना होगा।

इस प्रकार प्रस्तुत अध्याय में जाति प्रश्न के चरणबद्ध विश्लेषण व बहस के आधार पर निष्कर्ष निकलता है कि भारतीय समाज की सामाजिक संरचना को समझने के लिए जाति की पड़ताल जरूरी शर्त है। इस तथ्य को ध्यान में रखना जरूरी है कि भारतीय समाज की पड़ताल के लिए हम जो भी तरीका अपनाएं, इसमें जाति की समझ आवश्यक है। इस संदर्भ में समाजशास्त्री योगेंद्र सिंह लिखते हैं: 'भारतीय समाज तथा संस्थाओं का विश्लेषण करने वाले बुद्धिजीवियों की विचारधारा इस बात में नजर आती है की उन्होंने इन संस्थाओं को परिभाषित कैसे किया तथा इनका अध्ययन करते समय कौन सा तरीका अपनाया सामाजिक यथार्थ को पेश करने में उनके योगदान को चेतन तथा अवचेतन रूप में भेदभाव से स्वतंत्र नहीं माना जा सकता।'[84]

अध्याय के अंत में समाजशास्त्र में जाति प्रश्न पर जो महत्त्वपूर्ण कार्य हुए हैं उनका विवरण देना मैं उचित समझता हूँ क्योंकि यह विवरण जाति एवं दलित प्रश्न के विमर्श की कड़ियों को आगे विस्तारित करता है। इन प्रमुख कार्यों में [जी.एस.घुर्ये : कास्ट एंड रेस इन इंडिया कास्ट एंड क्लास इन इंडिया (घुर्ये)], [एस.सी.दुबे : इंडियन विलेज इंडियाज चेंजिंग विलेज, ट्रेडीशन एंड डेवलपमेंट, कोंटेम्परेरी इंडिया एंड इट्स मार्डनाइजेशन, चेंजिंग स्टेट्स ऑफ डिप्रेस्ड कास्ट इन कंटेम्परेरी, (दुबे)], [धीरेन्द्र नाथ मजूमदार : रेसेज एंड कल्चर्स ऑफ इंडिया, कास्ट एंड कम्यूनिकेशन इन एन इंडियन विलेज, रूरल प्रोफाइल्स, सोशल कण्टुवर्स ऑफ ए इंडस्ट्रियल सिटी: सोशल सर्वे ऑफ कानपुर (1954-56), द मैट्रिक्स ऑफ इंडियन कल्चर, एन इंट्रोडक्सन टू सोशल एंथ्रोपोलोजी (मजूमदार)], (टी.एन. मदन: ऑन अंडरस्टैंडिंग कास्ट, सोशियोलोजिकल ट्रेडीशंस मेथड्स एंड पर्सपेक्टिवस इन द सोशियोलोजी इन इंडिया, पाथवेज एप्रोचेस टू द स्टडी ऑफ इंडियन सोसाइटी (मदन)], [(एम.एन. श्रीनिवास : कास्ट इन मॉडर्न इंडिया एंड अदर एसेज, द रेमम्बर्ड विलेज, विलेज कास्ट, जेंडर एंड मेथड

84. योगेंद्र सिंह (1986), इंडियन सोशियोलोजी सोशल कन्डीशनिंग एंड इमेर्जिंग कंसर्न्स, विस्तार पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली।

: एसेज इन इंडियन सोशल एंथ्रोपोलोजी, सोशल चेंज इन मॉडर्न इंडिया, इंडिया सोशल स्ट्रक्चर, डोमिनेंट कास्ट एंड अदर एसेज, कास्ट : इट्स 20टीथ सेंचुरी अवतार, द कोहेसिव रोल ऑफ संस्कृताइजेशन एंड अदर एसेज (श्रीनिवास)], [(आन्द्रे बेते : कास्ट क्लास एंड पावर चेंजिंग पैटर्न्स ऑफ स्ट्राटिफिकेशन इन ए तंजौर विलेज, कास्ट्स: ओल्ड एंड न्यू, एसेज इन सोशल स्ट्रक्चर एंड सोशल स्ट्रेटिफिकेशन, द बैकवर्ड क्लासेज एंड द न्यू सोशल ऑर्डर (बेते)], [(टी.के.उम्मेन : सोशल ट्रांसफ़ार्मेशन इन रूरल इंडिया : मोबिलाइजेशन एंड स्टेट इंटरवेंशन, प्रोटेस्ट एंड चेंज स्टडीज़ इन सोशल मूवमेंट्स, सिटीजनशिप, नेशनलिटी एंड इथ्नीसिटी रिकांसिलिंग कंपीटिंग आइडेंटिटी, सिटीजनशिप एंड नेशनल आइडेंटिटी, प्लूरलिज़्म, इक्वालिटी एंड आइडेंटिटी कंप्रेरेटिव स्टडीज़, नेशन सिविल सोसाइटी एंड सोशल मूवमेंट्स एसेज इन पॉलिटिकल सोशियोलोजी, क्राइसिस एंड कंटेंशन इन इंडियन सोसाइटी, नालेज एंड सोसाइटी सिच्युवेटिंग सोशियोलोजी एंड सोशल एंथ्रोपोलोजी, सोशल इंक्लूजन इन इंडिपेंडेंट इंडिया डाईमेंसन एंड एप्रोरोचेज़, सोशल मूवमेंट्स : इस्यूज ऑफ आइडेंटिटी सोशियोलोजी एंड सोशल एंथ्रोपोलोजी, सोशल मूवमेंट्स : कंसर्न्स ऑफ इक्विटी एंड सेक्यूरिटी सोशियोलोजी एंड सोशल एंथ्रोपोलोजी (उम्मेन)], [(एम.एस.गोरे : नॉन ब्राह्मण मूवमेंट इन महाराष्ट्र, द सोशल कांटेक्स्ट ऑफ एन आइडियोलॉजी : अंबेडकर्स पोलिटिकल एंड सोशल थाट, सोशल डेवलपमेंट चैलेंजेज़ फ़ेस्ड इन एन अनइक्वल एंड प्लूरल सोसाइटी, यूनिटी इन डाइवर्सिटी : द इंडियन एक्सपीरिएन्स इन नेशन बिल्डिंग (गोरे)], [(एन.जयराम : सोशल कान्फ़्लिक्ट, नोविंग द सोशल वर्ड पर्सपेक्टिव्स एंड पोसिबिलिटीज़ (जयराम)], [(नंदूराम : द मोबाइल शेड्यूल्ड कास्ट्स: राइज़ ऑफ़ ए न्यू मिडल क्लास, इन्साइक्लोपीडिया ऑफ सेड्यूल्ड कास्ट इन इंडिया, कास्ट सिस्टम एंड अंटचेबिलिटी इन साउथ इंडिया (नंदूराम)], [(दीपांकर गुप्ता : कास्ट इन क्वेस्चन : आइडैनटिटि ऑर हाइरार्की, इंटरोगेटिंग कास्ट : अंडरस्टैंडिंग हाइरार्की एंड डिफरेंस इन इंडियन सोसाइटी, सोशल स्ट्राटिफिकेशन, (गुप्ता)], [(घनश्याम शाह : कास्ट एंड डेमोक्रेटिक पॉलिटिक्स इन इंडिया, अंटचेबिलिटी इन रूरल इंडिया, सोशल मूवमेंट्स एंड द स्टेट, एजुकेशन एंड कास्ट इन इंडिया : द दलित क्वेस्चन, दलित एंड द स्टेट, सोशल जस्टिस : ए डायलाग, दलित आइडेंटिटी एंड पॉलिटिक्स कल्चरल सबोर्डिनेशन एंड द दलित चैलेंज, सोशल मूवमेंट्स इन इंडिया : ए रिवीव ऑफ लिट्रेचर (शाह)], [(नर्मदेश्वर प्रसाद : जाति व्यवस्था, द मिथ ऑफ द कास्ट सिस्टम (प्रसाद)], [(सच्चिदानंद सिन्हा : कास्ट सिस्टम मिथस, रियल्टी चैलेंज (सिन्हा)],

[सच्चिदानंद : द हरिजन इलीट : ए स्टडी ऑफ देयर स्टेटस, नेटवर्क्स, मोबिलिटी एंड रोल इन सोशल ट्रांस्फ़ार्मेशन (सच्चिदानंद)], [के.एल. शर्मा, कास्ट, सोशल इनइक्वालिटी एंड मोबिलटी इन रूरल इंडिया रिकानसेप्युच्यूलाईजिंग द इंडियन विलेज, सोशल स्ट्राटिफिकेशन इन इंडिया, कास्ट एंड क्लास इन इंडिया (शर्मा)], [सुरिंदर एस. जोधका : कास्ट : ऑक्सफोर्ड इंडिया शॉर्ट इंटरोडकसन, कास्ट इन कंटेम्परेरी इंडिया, चेंजिंग कास्ट : आडियोलोजी, आइडेंटिटी एंड मोबिलिटी, कम्यूनिटी एंड आइडैनटिटी : कंटेम्प्रेरी डिसकोर्स ऑन कल्चर एंड पॉलिटिक्स इन इंडिया, इंटरोगेटिंग इंडियाज़ मॉडर्निटी : डेमोक्रेसी, आइडैनटिटी एंड सिटीजनशिप, मैपिंग द एलीट : पावर, प्रिविलेज और इनइक्वलिटी, कंटेस्टेड हाइरार्की, पर्सिस्टिंग इन्फ़्लुएन्स : कास्ट एंड पावर इन ट्वेंटी फ़र्स्ट सेंचुरी इंडिया, द इंडियन मिडिल क्लास (जोधका)], [विवेक कुमार, कास्ट एंड डेमोक्रेसी इन इंडिया : ए पर्सपेक्तिव फ्रोम बिलो], [(सतीश देशपांडे : कोण्टेंपरेरी इंडिया: अ सोशियोलोजिकल वीव, द प्रॉबलम ऑफ कास्ट, बियोंड इंक्लूजन : द प्रेक्टिस ऑफ इक्वल एक्सेस इन इंडियन हायर एजुकेशन (देशपांडे)] आदि समाजशास्त्रियों के कार्यों में जाति के विभिन्न पहलुओं पर लेखन एवं शोधकार्य किया गया है। इसके साथ ही एक विषय के रूप में जाति प्रश्न के सन्दर्भ में दलित अध्ययनों की शुरुआत भी हुई जिसको वैचारिक रूप से मार्क्सवादी विद्वानों, सबाल्टर्न अध्ययनकर्त्ताओं एवं स्वतंत्र दलित अध्ययनकर्त्ताओं, विद्वानों, लेखकों एवं दलित आंगिक बुद्धिजीवियों द्वारा अकादमिक विमर्श के रूप में समृद्ध किया गया। समाजशास्त्र में दलित अध्ययनों पर जो काम हुआ है, उसमें मुख्य रूप से दलितों की प्रस्थिति (सामाजिक–आर्थिक) एवं सांस्कृतिक शोषण, वंचना व लोकतांत्रिक भागीदारी और दलितों के आन्दोलनों के सन्दर्भ में काम किया गया है। इसमें दो महत्त्वपूर्ण सवाल उठते हैं पहला यह कि यह दलित अध्ययनों की एक राजनीतिक सैद्धान्तिकी है दूसरी यह दलितों के अनुभव की राजनीति है।

निष्कर्ष

यह अध्याय मुख्य रूप से दो महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं पर केंद्रित रहा एक तो भारत में समाजशास्त्र एक विषय के तौर पर कैसे स्थापित हुआ। भारत में अध्ययन के लिए समाजशास्त्र ने अब तक किन विषय क्षेत्रों को अपने अध्ययन–अध्यापन की विषयवस्तु समझा। इस अध्याय के माध्यम से भारतीय समाजशास्त्र और समाजशास्त्रियों की उन कमजोरियों पर भी जानकारी मिलती है जिनको उन्होंने

जानबूझकर अपना विषय क्षेत्र नहीं बनाया। दूसरा इस अध्याय के तहत जाति प्रश्न किस तरह से समाजशास्त्र में आया और इस जाति प्रश्न के आलोक में दलित प्रश्न ने समाजशास्त्र और समाजशास्त्रियों को यह सोचने पर मजबूर कर दिया कि दलित ज्ञानमीमांसा भी कोई विषय क्षेत्र है जिसको समाजशास्त्रीय अध्ययनों में सम्मिलित किया जा सकता है।

प्रस्तुत अध्याय में शोध परियोजना से जुड़ी जो मुख्य बात मैंने लक्षित की है, वह यह है कि क्या मुख्यधारा का समाजशास्त्र दलितों की विशेष आकांक्षाओं और उनकी आत्मीयता को व्यक्त करने में अभी तक असमर्थ रहा है। यह दलितों की आवाज़ को, उनकी अपनी अस्मिता–अस्तित्व की पहचान एवं आत्मसम्मान की खोज को दर्ज करने में सक्षम नहीं हो पा रहा है, विशेषकर वे जो पीछे छूट गए हैं और जिन्हें अकादमिक जगत में ठीक से जगह नहीं मिली है? इस सबके बावजूद थोड़ा रुककर यह देखने की आवश्यकता है कि आज़ादी के संघर्ष के दौरान उठे प्रश्नों और दलित समूहों को शेष समाज के बराबर लाने के स्वप्नों, भारतीय संविधान के राजनीतिक प्रावधानों के बावजूद अनुसूचित जातियाँ कहाँ खड़ी हैं? आज़ादी के 75 वर्षों पश्चात् भी अनुसूचित जातियों की स्थिति में पर्याप्त उत्थान नहीं हुआ है। वे अब भी प्रताड़ना और विभिन्न प्रकार की अपवंचनाओं की शिकार हैं। भारतीय लोकतन्त्र में केवल कुछ अनुसूचित जातियों ने ही अपनी आवाज़ उठाने की क्षमता और विश्वास को हासिल किया है। उत्तर प्रदेश, बिहार, झारखंड, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़, हरियाणा, पंजाब और हिमाचल प्रदेश, पश्चिम बंगाल और आंध्र प्रदेश के राजनीतिक अनुभव, विशेषकर प्रतिनिधित्व के क्षेत्र में, साफ तौर पर बताते हैं कि केवल कुछ जातियाँ लोकतांत्रिक विमर्श और राजनीति में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रही हैं। बद्री नारायण ने अपनी किताब 'फ्रैक्चर्ड टेल्स : द इनविजिबल इन इण्डियन डेमोक्रेसी' में इस बात की ओर ध्यान दिलाया है कि हमें इस बात पर सोचने की जरूरत है कि क्यों कुछ दलित जातियाँ राजनीतिक रूप से सक्षम और दृश्यमान हो सकी हैं जबकि शेष अन्य जातियाँ राज्य निर्देशित लोकतंत्र में पीछे छूटती गयी हैं।[85] इस दशा में कई अनुसूचित जातियाँ जो वंचित हैं लोकतंत्र में अपनी आवाज़ उठाने में सक्षम नहीं हैं। जिससे वे अपनी समस्याओं को सही ढंग से प्रस्तुत नहीं कर पा रहे हैं। अधिकांश अनुसूचित जातियों का वंचित बने रहना एक बड़ी समस्या है। इस प्रक्रिया को ठीक से जानने के लिए दलित अधीनस्थ समाजशास्त्र, सीमान्त जनसमूह

85. बद्री नारायण (2016).

की इन्हीं आकांक्षाओं एवं संघर्षों का अध्ययन करता है।

इस तरह से यह अध्याय जो कि भारत के संदर्भ में अधीनस्थों, अस्पृश्यों, जिन्हें अब दलित के रूप में जाना जाता है, के समाजशास्त्रीय अध्ययन पर ध्यान केंद्रित कर भारतीय समाजशास्त्र में एक प्रमुख दलित समाजशास्त्र की प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व हो सकता है। आधुनिक भारतीय समाज में हमारे समय का दलित रूपांतरण एक प्रकार का आश्चर्यजनक परिवर्तन है, जिसके कारण जातिगत संबंधों से जुड़े परिवर्तन अत्यधिक तनाव में हैं। भारतीय समाज की दलित दृष्टि उच्च जातियों की दृष्टि से भिन्न है। अस्पृश्य एवं दलित अपनी नई मानवता के एक नये अर्थ तक पहुँच चुके हैं और एक नये आधुनिक भारत के निर्माण की ओर अग्रसर हैं। इस तरह से यह उचित ही होगा की मुख्यधारा के समाजशास्त्र को इस दलित रूपांतरण की प्रक्रिया के सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक तत्त्वों को खोजने का प्रयास करना चाहिए। मुख्यधारा के समाजशास्त्र को इस दलित रूपांतरण को, राष्ट्र के लिए इसकी उपयोगिता एवं भविष्य के लिए इस दलित रूपांतरण के संभावित परिणामों पर भी ध्यान केंद्रित करना होगा।[86]

इस अध्याय में एक मुख्य प्रश्न यह उभरकर आया कि मुख्यधारा के समाजशास्त्र द्वारा दलित समस्या पर ध्यान केंद्रित न किए जाने के कारण, समाज में जिन्हें निम्नतम स्थान प्राप्त था वे, उच्च जाति, मध्यम वर्ग, नगरीय हिंदू समाजशास्त्रियों द्वारा ध्यान न दिये जाने के कारण सदैव अदृश्य रहे, आज वे पूर्ण दृष्टि में हैं, और साथ ही साथ ज्ञान के प्रतिनिधित्व में अपनी उचित हिस्सेदारी की माँग भी कर रहे हैं। उनके द्वारा अपनी ज्ञान व्यवस्था का निर्माण करने का उद्देश्य जाति व्यवस्था को समाप्त करना भी है। इस तरह से मुख्यधारा के समाजशास्त्र के सामने इस बढ़ते बौद्धिक दलित सक्रियतावाद ने दलित बहुजन सांस्कृतिक जीवन को, क्षेत्रीय एवं राष्ट्रीय स्तरों पर भी प्रभावित किया है। मुख्यधारा के समाजशास्त्र को इस अधीनस्थ दलित बौद्धिक सक्रियतावाद की नई पद्धति को समझना आवश्यक है।[87]

अत: मुख्यधारा के समाजशास्त्र एवं समाजशास्त्रियों द्वारा दलितों की समस्याओं पर गम्भीरता से ध्यान न देने के कारण वर्तमान समय में दलितों की समस्याओं के अध्ययन हेतु एक नवीन परिप्रेक्ष्य की आवश्यकता महसूस की जा रही है। जिसे हम दलित अध्ययन या दलित समाजशास्त्र कह सकते हैं।

86. एस.एम. माइकल (2015) वही.

87. एस.एम. माइकल (2015) वही.

अध्याय : छः

समाहार

भारतीय समाज की बनावट एवं उसके अंतर्विरोधों के बारे में आकलन करने की दलित दृष्टि उच्च जातियों की दृष्टि से भिन्न है। अस्पृश्य एवं दलित मानवता का एक नया मुक़ाम स्थापित करना चाहते हैं। वे मानवता के एक नये अर्थ की तलाश में हैं जिससे नया देश, नई दुनिया बने। इस तरह से यह उचित ही होगा कि मुख्यधारा का समाजशास्त्र इस दलित रूपांतरण की प्रक्रिया के सामाजिक,राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक तत्त्वों को खोजने के प्रयास का सहायक बने, उसे आगे बढ़ाए और आत्मसात करे। मुख्यधारा के समाजशास्त्र को इस दलित रूपांतरण पर, राष्ट्र के लिए इसकी उपयोगिता एवं भविष्य के संभावित परिणामों पर भी ध्यान केंद्रित करना होगा।

पिछले अध्यायों में हम देख चुके हैं कि हमारे समय में अस्मितावादी पहचान की राजनीति के प्रसार के पीछे प्रमुख कारण यह है कि अब तक के दमित समूह युगों पुरानी चुप्पी तोड़ रहे हैं और वे वह प्रभुत्वशाली समूह की श्रेणियों द्वारा परिभाषित होने से मना कर रहे हैं। भारत में पहचान या अस्मिता की राजनीति काफ़ी तीव्र हो गई है। हम सांस्कृतिक स्वायत्तता और विभेद की स्वीकृति और राजनीतिक-आर्थिक क्षेत्र में वैध स्थान के लिए संघर्ष देख रहे हैं। भारत के राजनीतिक इतिहास का कोई भी विद्वान जानता है कि किस प्रकार विभिन्न जाति समूहों द्वारा समय-समय पर प्रभुत्वशाली राष्ट्रवाद की विचारधारा का विरोध किया गया है।[1] पिछले दशकों में उदारवादी लोकतंत्र ने जाति की चेतना को ख़त्म करने के बजाय जाति आधारित पहचान की राजनीति को नया अर्थ दे दिया है। इसकी एक बड़ी वजह यह है कि तथाकथित नीची जाति के माने जाने वाले लोग

1. अभिजीत पाठक (2013): 113-114.

अब सामाजिक वर्ण व्यवस्था में अपने स्थान को स्वीकार नहीं करते हैं। वे इस बात से इनकार करते हैं कि उनकी कमजोर आर्थिक स्थिति और ऊंची जाति के लोगों से सम्मान नहीं मिलना उनके सामाजिक वजूद में पूर्व निर्धारित रहा है। हम देश के दक्षिणी भाग में ब्राह्मण विरोधी आंदोलन का इतिहास जानते हैं और हम यह भी जानते हैं कि 1950 के दशक में सत्ता का काफ़ी महत्त्वपूर्ण हस्तांतरण हुआ। उदाहरण के लिए तमिलनाडु में ब्राह्मण नेतृत्व का स्थान अन्य नीची जातियों ने ले लिया। आंध्र प्रदेश में रेड्डी, कम्मा ने उनकी जगह ले ली। उत्तर भारत में भी स्थितियाँ बदलने लगी। सच है कि कुछ समय तक कांग्रेस को अनुसूचित जातियों और मुसलमानों का समर्थन मिला लेकिन पिछड़े वर्ग को आकर्षित नहीं कर सकी। राममनोहर लोहिया ने पिछड़ी जातियों को एकजुट करने की कोशिश की और चौधरी चरण सिंह ने भारी संख्या में मध्यवर्गीय और पिछड़ी जातियों के लोगों को अपनी पार्टी में शामिल किया और इस तरह से अंतत: हमने गैर-ब्राह्मण गैर-उच्च जाति के लोगों को सत्ता में आते देखा। पहले जाट फिर यादव और 1990 के दशक के अंत में उत्तर प्रदेश में हमने दलित मुख्यमंत्री देखा। हमने पिछड़ी जातियों के लिए रोजगार में आरक्षण की सिफारिश के लिए मंडल आयोग का कार्यान्वयन देखा। जिसने राजनीतिक परिदृश्य को पूरी तरह बदल कर रख दिया और सामाजिक-राजनीतिक अस्मिता के रूप में जाति का महत्त्व बढ़ गया। विरोधाभासी रूप में निजी जीवन में पेशे के चयन में जाति का महत्त्व कुछ कम हुआ है। लेकिन राजनीतिक अस्मिता के रूप में और सभ्य समाज के संस्थागत तत्त्व के रूप में जाति का महत्त्व बढ़ गया है। अब जाति आधारित शैक्षिक संस्थाएं और छात्रावास और जाति आधारित समितियाँ-सोसाइटियाँ हैं। भारत में जाति आधारित संस्था की संरचनाओं की प्रवृत्ति है जो खुले और समावेशी नहीं है इसलिए यह जातियों के बीच आत्मविश्वास बढ़ाते हैं।[2]

वास्तव में, जाति आधारित पहचान की राजनीति के इस पूरे परिदृश्य में दलितों के दावे काफ़ी महत्त्वपूर्ण हैं। अब दलितों में एक नया आत्मविश्वास, जागरूकता, इसके अलग से सुस्पष्ट संकेत, साहित्य और सांस्कृतिक अभिव्यक्ति भी रेखांकित की जा सकती है।

2. माइनर वीनर (2001) वही : 220.

इस किताब से गुजरते हुए पाठक यह बात लक्षित करेंगे कि यह शोध एक तरह से आधुनिक भारत में दलित समुदाय का इतिहास है। कैसे दलित समुदाय ने अपने आपको सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक दायरों में व्यक्त करने की योग्यता विकसित की है और वे कैसे प्रकट कर रहे हैं, इसे उन्होंने महसूस किया होगा। इसे पढ़ते हुए पाठक यह बातें लक्षित करेंगे कि भारतीय सामाजिक एवं सार्वजनिक जीवन में डॉ. आंबेडकर के आने के बाद भारतीय समाज, राजनीति और संस्कृति का परिदृश्य पहले जैसा नहीं रह गया है बल्कि वह आज बदल गया है। उसमें कहीं-कहीं संघर्ष के स्वर दिखते हैं, विशेषकर मुख्यधारा के समाज और मुख्यधारा की राजनीति के साथ। इसके बाद वे भारत के सार्वजनिक जीवन में अपनी जगह बनाने का प्रयास करते हैं। इसके साथ ही दलित राजनीति और आगे चलकर दलित ज्ञानमीमांसा भारतीय समाज और राजनीति से मुठभेड़ कर रही है, उसे बदल रही है और आगे बढ़कर मोलतोल की हैसियत में भी आ गयी है। लेकिन इस पूरी प्रक्रिया में कुछ ऐसे समूह हैं, जो अभी भी पीछे खड़े हैं अथवा वे जमाने से कदमताल नहीं मिला पा रहे हैं। उनको भी साथ में लाना अग्रिम कार्यवाही का एक अनिवार्य हिस्सा होना चाहिए।

इस किताब को पढ़ते हुए आप पाएँगे कि भारत में एक विशिष्ट किस्म का समाजशास्त्र उभर रहा है जो एक सीमा से आगे जाकर, 1990 से 2010 के बीच, एक सबाल्टर्न समाजशास्त्र का रूपधारण करता है। फिर उसमें 2010 के बाद एक परिवर्तन दिखने लगता है जिसे हम स्पष्ट रूप से दलित समाजशास्त्र कह सकते हैं। यह समाजशास्त्र दरअसल भारतीय समाजशास्त्र को और भारतीय अकादमिक जगत को, इतिहास, राजनीति विज्ञान, राजनैतिक सिद्धांत को थोड़ा सा मानवीय, करुणापूर्ण, न्यायप्रिय, व अमनपसंद बनाने का प्रयास करता है। दलित दृष्टि और दलित जीवन बोध न केवल भारतीय राजनीति को बदलने का प्रयास कर रहे हैं, बल्कि उनसे समाजशास्त्र एक दिशा बोध लेने का प्रयास कर रहा है। अभी यह प्रयास बहुत मन से तो नहीं हो रहे हैं लेकिन वे अपनी जगह बना रहे हैं। मुख्यधारा के समाजशास्त्र को आगे बढ़कर उसका साथ देना चाहिए और अपनी गलतियाँ दुरुस्त करनी चाहिए। एक देश और समाज के रूप में भारत का जो मूल्यांकन समाजशास्त्री करते रहे हैं, यदि वे और भी समावेशी, करुणा आधारित और न्यायपूर्ण हो सके तो यह उनकी एक शानदार उपलब्धि होगी।

इस पुस्तक से जुड़ी जो अंतिम बात बताना चाहता हूँ वह यह है कि .....

दलित आंदोलनों, दलित साहित्य लेखन, दलित आंगिक बुद्धिजीवियों एवं दलित राजनीतिक कार्यकर्ताओं ने भारतीय समाज एवं राजनीति की प्रभुत्वशाली विचारधाराओं द्वारा निर्मित कई मिथकों को तोड़ा है। दलित प्रश्न को हल करने के लिए इन विचारधाराओं को अपनी समीक्षा हेतु बाध्य होना पड़ा है। फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि दलित, मुख्यधारा की राजनीति के भीतर एक दबाव-समूह मात्र बन कर रह गये हैं जिससे कि उनकी सामाजिक परिवर्तन की क्रांतिकारिता की धार धीरे-धीरे कमजोर पड़ती जा रही है। उनकी योजनाओं, कूटनीतियों, क्रियाकलापों, वैचारिक नजरिये, गठबंधनों और यहाँ तक की उनके लक्ष्यों पर भी विवाद खड़े हो गये हैं। दलित आंदोलन एक गतिरोध की स्थिति में पहुँच गया है। उम्मीद है इस गतिरोध का आकलन और विश्लेषण समाजशास्त्र के विद्वान और अध्येता करेंगे। राजनैतिक, सामाजिक परिस्थितियाँ और अधीनस्थ जनों की सामूहिक पहलकदमियां भी इस गतिरोध को तोड़ने में अपना असर डालेंगी। आने वाले समय में समाज विज्ञान के विद्वानों, शोधार्थियों के सामने ये चुनौती है कि वे इस गतिरोध को किस नजर से देखते हैं व कैसे इसका विश्लेषण करते हैं? साथ ही सामाजिक, राजनैतिक हालात तय करेंगे कि ये गतिरोध बना रहेगा या टूटेगा? या क्या करवट लेगा।

संदर्भ सूची

अभय कुमार दुबे (2007), आधुनिकता के आईने में दलित, सीएसडीएस-वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।

अभय कुमार दुबे (2014), हिंदी आधुनिकता : एक पुनर्विचार, भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान-वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।

अभय कुमार दुबे (2018), साहित्य में अनामंत्रित, सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली।

अजय बोस (2008), बहन जी : मायावती एक राजनैतिक जीवनी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।

अचिन विनायक (1990), द पेनफुल ट्रांजीशन बुर्जुआजी डेमोक्रेसी इन इंडिया, वर्सो, लंदन।

अरुंधति रॉय, बी.आर. आंबेडकर (2014), एनहिलेशन ऑफ़ कास्ट: एनोटेटेड क्रिटिकल एडिशन, रैंडम हाउस।

अरुंधति राय (2017), द डॉक्टर एंड द सेंट कास्ट रेस एंड एननिहिलेशन ऑफ़ कास्ट द डिबेट बिटवीन डॉ. बी.आर. आंबेडकर एंड एम.के. गाँधी, हेमार्केट बुक्स।

अरुंधति रॉय (2019), डॉक्टर एंड द संत- द आंबेडकर -गाँधी डिबेट : कास्ट, रेस, एंड एनहिलेशन ऑफ़ कास्ट, पेंग्विन, भारत।

अतुल कोहली (2012), पावर्टी एमिड प्लेण्टी इन द न्यू इंडिया, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज।

अतुलचन्द्र प्रधान (1986), द इमरजेंस ऑफ़ द डिप्रेस्ड क्लासेज, बुकलैंड इंटरनेशनल, भुवनेश्वर।

अनुपमा राव (2009), द कास्ट क्वेस्चन दलित्स एंड द पॉलिटिक्स ऑफ़ मॉडर्न इंडिया, बर्कले यूनिवर्सिटी प्रेस।

अवधेश कुमार (1985), रिलिजियस प्रोटेस्ट एंड स्टेटस इम्प्रूवमेंट ए केस स्टडी ऑफ़ सतनामीज ऑफ़ छत्तीसगढ़ इन प्रकाश पिम्प्ले एंड सतीश शर्मा (एडि.),स्ट्रगल्स फॉर स्टेटस, बी.आर.पब्लिशिंग को-आप्रेशन, दिल्ली।

अमर्त्य सेन और ज्यां द्रेज (2013), एन अनसर्टेन ग्लोरी इंडिया एंड इट्स कंट्राडिकेशन, पेंगुइन बुक्स, नई दिल्ली।

आराधना शर्मा (2008), द लोजिक्स ऑफ़ एम्पावरमेंट डेव्लपमेंट जेंडर एंड गवर्नेंस इन न्यूलिबरल इंडिया, यूनिवर्सिटी ऑफ़ मीनेसोटा प्रेस, कैम्ब्रिज।

अतुलचन्द्र प्रधान (1986), द एमरजेंस ऑफ़ द डिप्रेस्ड क्लासेज, बुकलैंड इंटरनेशनल, भुवनेश्वर।

अभिजीत पाठक (2013), आधुनिकता, भूमंडलीकरण और अस्मिता, आकार बुक्स, नई दिल्ली।

अभिजीत पाठक (2013), 'सीमित अस्मिता से परे समावेशी संसार के लिए प्रयास', अभिजीत पाठक, आधुनिकता भूमंडलीकरण और अस्मिता, आकार बुक्स, नई दिल्ली।

आर्थर मायर स्लेजिंगर जूनियर (1998), डिसयूनाइटिंग ऑफ़ अमेरिका : रिफ्लेक्शंस ऑन अ मल्टीकल्चरल सोसाइटी, रिवाइज्ड एंड इनलार्ज्ड एडिशन, डब्ल्यू.डब्ल्यू. नॉर्टन एंड कंपनी, न्यूयॉर्क।

अल्पा शाह (2010), इन द शैडोज़ ऑफ़ द स्टेट इंडीजीनियस पॉलिटिक्स इनवायरमेंटलिज्म एंड इनसरजेंसी इन झारखंड इंडिया, डरहम, ड्यूक यूनिवर्सिटी प्रेस।

अशोक सेन (1986), 'डिस्कसन ऑन सबाल्टर्न स्टडीज़ कैपिटल, क्लास एंड कम्युनिटी' इन रणजीत गुहा (एडि.), सबाल्टर्न स्टडीज़, 5. ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

अजंता सुब्रमण्यन (2011), कमेंट्स ऑन न्यू सबाल्टर्न्स पैनल एनुयल कांन्फ्रेंस ऑफ़ द एसोसिएशन ऑफ़ एशियन स्टडीज़, होनोलूलू, 31 मार्च-3 अप्रैल।

अर्जुन डांगले (1992), दलित लिट्रेचर पास्ट प्रेजेन्ट एंड फ्युचर, इन अर्जुन डांगले, प्वाइजण्ड ब्रेड ट्रांसलेशन फ्रॉम मॉडर्न मराठी दलित लिट्रेचर, ओरिएंट ब्लैकस्वान।

अनुपमा राव (2005), जेंडर एंड कास्ट इश्यूज इन कंटेम्प्रेरी इंडियन फेमिनिज़्म, जेड बुक्स।

अनुपमा राव (2009), द कास्ट क्वेस्चन दलित्स एंड द पॉलिटिक्स ऑफ़ मॉडर्न इंडिया, बर्कले यूनिवर्सिटी प्रेस।

अनुपमा राव (2011), द कास्ट क्वेशचन : दलित्स एंड पॉलिटिक्स ऑफ़ मॉडर्न इंडिया, परमानेंट ब्लैक, रानीखेत।

अनिरुद्ध कृष्ण (2003), ''व्हाट इज हैपनिंग टू? ए वीव फ्रॉम सम नार्थ इंडियन विलेजेज'' जर्नल ऑफ़ एशियन स्टडीज 62, संख्या. 4 ।

अँगने लाल और राहुल राज (2011), उत्तर प्रदेश में दलित आन्दोलन, गौतम बुक सेंटर, नई दिल्ली।

आकाश सिंह राठौर, अजय वर्मा (2011), बी.आर. आंबेडकर : द बुद्धा एंड द धम्मा, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

आकाश सिंह राठौर (2020), अंबेडकर्स प्रियंबल ए सीक्रेट हिस्ट्री ऑफ़ द कान्स्टीट्यूशन ऑफ़ इंडिया, पेग्विन इंडिया।

आनंद कुमार (अक्टूबर. 5. 2012), नेशनल सेमिनार ऑन द पॉलिटिक्स ऑफ़ आइडेंटिटी इन इंडिया, कांशीराम शोधपीठ लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ.

आनंद तेलतुम्बडे (1997), आंबेडकर इन एंड फॉर द पोस्ट आंबेडकर दलित मूवमेंट, सुगावा पब्लिकेशंस, पुणे।

आनंद तेलतुम्बडे (2005), स्टेट मार्केट एंड डेवलपमेंट ऑफ़ दलित्स, इन अट्रोफी ऑफ़ दलित पॉलिटिक्स इंटरवेंशन, (एडि.) गोपाल गुरू, विकास अध्ययन केंद्र, मुंबई।

आनंद तेलतुम्बडे (2005), हिन्दुत्व एंड दलित्स : पर्सपेक्टिव्स फॉर अंडरस्टैंडिंग कम्यूनल प्रैक्सिस, साम्या कोलकाता।

आनंद तेलतुम्बडे (2007), रिवेर्टिंग टू द ओरिजिनल विजन ऑफ़ रिज़र्वेशन इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली, 42, न. 25 ।

आनंद तेलतुम्बडे (2008), खैरलांजी अ स्ट्रेंज एंड बिटर क्रॉप, नवयान, नई दिल्ली।

आनंद तेलतुम्बडे (2010), द पर्सिस्टेंस ऑफ़ कास्ट, ज़ेड बुक्स, नई दिल्ली।

आनंद तेलतुम्बडे (2015), महाड: द मेकिंग ऑफ़ द फर्स्ट दलित रिवोल्ट, आकार, नई दिल्ली।

आनंद तेलतुम्बडे (2016), दलित्स : पास्ट, प्रेजेंट एंड फ्यूचर,रूटलेज इंडिया।

आनंद तेलतुम्बडे (2017), बी.आर.आंबेडकर इंडिया एंड कम्यूनिज़्म, लेफ्टवर्ड, नई दिल्ली।

आनंद तेलतुम्बडे (2018), रिपब्लिक ऑफ़ कास्ट : थिंकिंग ऑफ़ इक्वलिटी इन द एरा ऑफ़ न्यूलिबर्लिज़्म एंड हिन्दुत्व, नवयान, नई दिल्ली।

आनंद तेलतुम्बडे (2018), द रेडिकल इन आंबेडकर, पेंगुइन रैंडम हाउस, नई दिल्ली।

ऑलिवर मेंडेलसॉन एंड मारिका विक्जियानी (1998), दि अनटचेबल्स : सबोर्डिनेशन पॉवर्टी एंड दि स्टेट इन मॉडर्न इंडिया, कैंब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, कैंब्रिज।

ओवेन एम. लिंच (1969),पॉलिटिक्स ऑफ़ अनटचेबिलिटी: सोशल मोबिलिटी एंड सोशल चेंज इन अ सिटी ऑफ़ इंडिया, कोलंबिया यूनिवर्सिटी प्रेस।

आदित्य निगम (1999) 'मार्क्सिज्म एंड द पोस्टकोलोनियल वर्ड : फुटनोट्स टू ए लॉन्ग मार्च', इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली–34. (1–2), जनवरी।

आन्द्रे बेते (1965), कास्ट क्लास एंड पावर चेंजिंग पैटर्न्स ऑफ़ स्ट्राटिफिकेशन इन ए तंजौर विलेज, यूनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफोर्निया प्रेस।

आंद्रे बेते (1969), कास्ट ओल्ड एंड न्यू, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बॉम्बे।

आंद्रे बेते (1969), कास्ट्स: ओल्ड एंड न्यू, एसेज इन सोशल स्ट्रक्चर एंड सोशल स्ट्रेटिफिकेशन, एशिया पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।

आन्द्रे बेते (1982), द बैकवर्ड क्लासेज एंड द न्यू सोशल ऑर्डर, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

वाई.बी. अब्बासयलू, (1978), अनुसूचित जाति के अभिजात वर्ग, बुक लिंक, हैदराबाद।

इरफ़ान हबीब (1995), कास्ट इन इण्डियन हिस्ट्री एसेज़ इन इण्डियन हिस्ट्री, तूलिका बुक्स, नई दिल्ली।
इरफान हबीब (1995), भारतीय इतिहास में जाति और मुद्रा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।
इरफान हबीब (1995), एसेज़ इन इंडियन हिस्ट्री : टूवर्ड्स ए मार्क्सिस्ट परसेप्शन, तुलिका, नई दिल्ली।
इरावती कर्वे (1953), किनशिप ऑर्गेनाइजेशन इन इंडिया : ए स्टडी ऑफ़ वैरियस सोशल इंस्टीट्युशन इन इंडिया, डेक्कन कॉलेज पोस्ट ग्रेजुवेट एंड रिसर्च इंस्टीटयूट।
इमानुएल वॉलस्टाइन (1996), ओपन द सोशल साइंसेस : रिपोर्ट ऑफ़ द गुलबेलियन कमीशन ऑन द रिस्ट्रक्चरिंग ऑफ़ सोशल साइंसेस, स्टैनफर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, स्टैनफर्ड।
इवा मारियॉ हार्डमन (2009), द दलित मूवमेंट इन इन्डिया लोकल प्रैक्टिसेज ग्लोबल कनेक्शन्स,ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।
इंडिपेंडेंट लेबर पार्टी : इट्स फाउंडेशन एंड इट्स एम्स, रिप्रिंटेड फ्रॉम द टाइम्स ऑफ़ इंडिया, 15 अगस्त 1936, आईएलपी पब्लिकेशंस न. 1 ऑफ़ 1937 ।
ई.टी. डाल्टन (1872), डेस्क्रिप्टिव एथोनोलॉजी ऑफ़ बंगाल, कलकत्ता।
ई.श्रीधरन (2011), इतिहास लेख एक पाठ्यपुस्तक–500 बी. सी. 2000 ए. डी., ओरिएंट ब्लैकस्वान, नई दिल्ली।
उत्तम भोइटे, अनुराधा भोइटे (1977), द दलित साहित्य मूवमेंट इन महाराष्ट्र ए सोशियोलॉजिकल एनालिसिस, सोशियोलॉजिकल बुलेटिन. 26(1), मार्च।
उमा चक्रवर्ती (1987), सोसिअल डाइमेंशन्स ऑफ़ अर्ली बुद्धिज्म, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
उमा चक्रवर्ती, मैत्रेयी कृष्णा राज, जेम्स एफ. (2009), जेंडरिंग कास्ट : थ्रू ए फेमिनिस्ट लैंस, रूटलेज बुक फंड, स्त्री साम्या, कोलकाता।
उर्मिला पवार (1994), व्हाट हैज द दलित मूवमेंट आफ़र्ड टू वुमेन ? इन संदीप पेंडसे (एडि.) एट क्रास रोडस दलित मूवमेंट टुडे विकास अध्ययन केंद्र, मुंबई।
उर्मिला पवार एंड मीनाक्षी मून (2008), वी मेड आल्सो हिस्ट्री, वुमेन इन द अंबेडकराइट मूवमेंट, ज़ुबान, नई दिल्ली।

एजाज अहमद (1993), 'ओरिएंटलिज्म एंड हिस्टोरिसिज्म: एंथ्रोपोलॉजिकल नॉलेज ऑफ़ इंडिया' स्टडीज़ इन हिस्ट्री 7(1)।

एजाज अहमद (2004), सृजनशीलता हमेशा सामाजिक होती है, गार्गी पुस्तिका–दो, गार्गी प्रकाशन, नई दिल्ली।

ए.जे. सैय्यद (1985), डी.डी. कोसंबी ऑन हिस्ट्री एंड सोसाइटी, बॉम्बे, डिपार्टमेन्ट ऑफ़ हिस्ट्री, यूनिवर्सिटी ऑफ़ बाम्बे, बाम्बे।

एबे जे.ए. डुबोईस (1818), 'ए डेस्क्रिपशन्स ऑफ़ द कैरेक्टर, मैनर्स एंड कस्टम्स ऑफ़ द पिपुल ऑफ़ इंडिया एंड ऑफ़ देयर इन्स्टीट्यूशन्स, रिलिजियस एंड सिविल, हेनरी के. ब्यूचैम्प (सम्पादक) 1906 द्वारा सम्पादित फ्रेंच से अनुवादित और नोट्स, सुधार के साथ, (2005) पुनः प्रकाशित रूपा एंड कंपनी, नई दिल्ली।

एडवर्ड विलियम सईद (1995), ओरियंटलिज़्म : वेस्टर्न कन्सेप्सन ऑफ़ द ओरियंट, पेंगुइन, नई दिल्ली।

एस.जी. सरदेसाई (1986), प्रोग्रेस एंड कन्जर्वेटिज्म इन एनशिएंट इंडिया, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस. नई दिल्ली।

एंथोनी गिडेंस (1979), सेंट्रल प्रॉब्लम्स इन सोशल थ्योरी एक्सन स्ट्रक्चर एंड कंट्राडिक्सन इन सोशल एनालिसिस, कैलिफोर्निया यूनिवर्सिटी प्रेस।

एंथोनी गिडेंस (1986), द कांस्टीट्यूशन ऑफ़ सोसाइटी, यूनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफोर्निया प्रेस।

एमिली मैरी सेनार्त (1930), कास्ट इन इंडिया द फैक्ट्स एंड द सिस्टम, परिवर्धित संस्करण, (2019), रूटलेज।

एंटोनियो ग्राम्सी (1971), सिलेक्शन्स फ्रॉम द प्रिज़न नोटबुक ऑफ़ एंटोनियो ग्राम्सी, क्यू. होरे और जी.एन. स्मिथ द्वारा अनुवादित और संपादित, इंटरनेशनल पब्लिशर्स, न्यूयॉर्क।

एंटोनियो ग्राम्सी (2005), सांस्कृतिक एवं राजनीतिक चिंतन के बुनियादी सरोकार, कृष्णकांत मिश्र (अनुवादित), ग्रंथशिल्पी, नई दिल्ली।

एम.एन. श्रीनिवास (1985), आधुनिक भारत में जाति और अन्य निबंध, एशिया पब्लिशिंग हाउस।

एरिक हॉब्सबाम एंड टेरेन्स रैंजर (1983), द इन्वेन्शन ऑफ़ ट्रेडीशन, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज।

एरिक हाब्सबाम (1997),'ऑन हिस्ट्री फ्रॉम बिलो', इन एरिक हाब्सबाम (एडि.) ऑन हिस्ट्री, वाइडेनफेल्ड एंड निकोलसन, लंदन।

ए.आर. रैडक्लिफ ब्राउन (1922), अंडमान आइसलैंडर्स, द यूनिवर्सिटी प्रेस, द यूनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफोर्निया।

ए.एम. होकार्ट (1950), कास्ट : ए कंपरेटिव स्टडी, मैथ्यूएन लंदन।

एलिनॉर जेलिएट (1966), बुद्धिज़्म एंड पॉलिटिक्स इन महाराष्ट्र इन डी.ई. स्मिथ (एडि.), साउथ एशियन पॉलिटिक्स एंड रिलिजन, प्रिंसटंन यूनिवर्सटी प्रेस, एन.जे.।

एलिनॉर जेलिएट (1969), डा. आंबेडकर एंड द महार मूवमेंट, पेन्सिल्वेनिया विश्वविद्यालय में एलिनॉर जेलिएट का अप्रकाशित पीएच.डी. शोधप्रबंध।

एलिनॉर जेलिएट (1970), लर्निंग द यूज ऑफ़ पॉलिटिकल मींस द महार्स ऑफ़ महाराष्ट्र, इन रजनी कोठारी (एडि.), कास्ट इन इण्डियन पॉलिटिक्स, ओरिएण्ट लांगमैन, नई दिल्ली।

एलिनॉर जेलिएट (1978), दलित न्यू कल्चर कांटेक्स्ट फार ओल्ड मराठी वर्ल्ड, कांट्रीब्यूशन टू एशियन स्टडीज़, अंक–2.

एलिनॉर जेलिएट (1992), फ्रॉम अनटचेबल टू दलित : एस्सेज ऑन द आंबेडकर मूवमेंट, मनोहर पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली।

एलिनॉर जेलिएट (1992), दलित लिटरेचर : द हिस्टोरिकल बैकग्राउंड इन मुल्कराज आनंद, एलिनॉर जेलिएट (एडि.), एन एंथोलोजी ऑफ़ दलित लिटरेचर (पोईम्स), ज्ञान पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।

एलिनॉर जेलिएट (1992), फ्रॉम अनटचेबल टू दलित ऐसेज आन दि आंबेडकर मूवमेंट, मनोहर, नई दिल्ली।

एलिनॉर जेलिएट (2001), द मीनिंग ऑफ़ आंबेडकर, इन घनश्याम शाह (एडि.), दलित आइडेंटिटी एंड पॉलिटिक्स, सेज पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली।

एलिनॉर जेलिएट एंड रोहिणी मोकाशी पुनेकर (2005), अनटचेबल संत्स एन इंडियन फिनोमेनोन, मनोहर पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली।

एलिनॉर जेलिएट (2005), अंबेडकर्स कन्वर्सन, क्रिटिकल क्वेस्ट, नई दिल्ली।

एलिनॉर जेलिएट (2013), आंबेडकर्स वर्ल्ड द मेकिंग ऑफ़ बाबासाहेब एंड द दलित मूवमेंट, नवयान, नई दिल्ली।

एड्गर थर्स्टन एंड के. आर. रंगाचारी (1909), कास्ट्स एंड ट्राइब्स ऑफ़ सदर्न इंडिया, वॉल्यूम. 9. मद्रास गवर्नमेंट प्रेस।

ए.मदनीपौर (1998), सोशल एक्सक्लूज़न एंड स्पेस, ए. मदनिपौर, जी. कार्स, और जे. एलन (एडि.), सोशल एक्सक्लूज़न इन एयूरोपियन सिटीज, जेसिका किंग्सले, लंदन।

ए.अयप्पन (1994), इरावास एंड कल्चर चेंज, मद्रास गर्वनमेंट प्रेस।

ए.रघुरामराजू (2010), 'प्राब्लमेटाइजिंग लिव्ड दलित एक्सपीरिएंस' इकनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली, खंड 45, अंक 29, 17 जुलाई।

ओवेन लिंच (1969), द पोलिटिक्स ऑफ़ अनटचेबिलिटी सोशल मोबिलिटी एंड सोशल चेंज इन ए सिटी ऑफ़ इंडिया, कोलंबिया यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयार्क।

ओवेन लिंच (1974), द पॉलिटिक्स ऑफ़ अनटचेबिलिटी, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।

ओमप्रकाश वाल्मीकि (2001), दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली।

ओमप्रकाश वाल्मीकि (2013), दलित साहित्य अनुभव, संघर्ष एवं यथार्थ, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली।

ओमप्रकाश वाल्मीकि (2014),'दलित लेखन की आधुनिकता और सांस्कृतिक विरासत' अभय कुमार दुबे (सम्पादक), हिंदी आधुनिकता : एक पुनर्विचार, भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान-वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।

बाबूराव बागुल (1978), दलित साहित्य : आजचे क्रांति विज्ञान, बुद्धिस्ट पब्लिशिंग हाउस, नागपुर।

कुमकुम रॉय, (1999), वीमेन इन अर्ली इंडियन सोसाईटीज, पब्लिसड बाय मनोहर, न्यू डेल्ही।

कौशल्या बैसंत्री (2009), दोहरा अभिशाप, किताबघर, नई दिल्ली।

काँचा इलैया (1996), व्हाई आई एम नॉट ए हिंदू ए शूद्र क्रिटिक ऑफ़ हिंदुत्व फिलोसफी कल्चर एंड पोलिटिकल इकोनोमी, साम्या कोलकाता।

काँचा इलैया (2001), दलितिज्म वर्सेस ब्रह्मनिज़्म द इपीस्टिमोलोजीकल कोन्फ़्लक्ट इन हिस्ट्री, इन घनश्याम शाह (एडि.), दलित आइडेंटिटी एंड पॉलिटिक्स, सेज पब्लिकेशनस, नई दिल्ली।

काँचा इलैया (2009), पोस्ट हिंदू इंडिया ए डिस्कोर्स इन दलित बहुजन सोशियो स्प्रिचूएल एंड साइंटिफिक रिवोल्यूशन, सेज पब्लिकेशंस, नई दिल्ली।

के.पी. कन्नन (1988), ऑफ़ रूरल प्रोलेटेरियन स्ट्रग्लस मोबिलाइजेशन एंड आर्गेनाइजेशन ऑफ़ रूरल वर्कर्स इन साउथ-वेस्ट इंडिया, आक्सफोर्ड यूनिर्वसिटी प्रेस, दिल्ली।

कार्ल मार्क्स 'ऑन द ज्यूश क्वेश्चन, (1972), ट्रांस्लेशन टी.बी. बाटोमोर इन द मार्क्स-एंगेल्स रीडर,सम्पादक रोबर्ट सी. टकर, ए.ए. नॉर्टन, न्यूयॉर्क।

क्लेरिंडा स्टिल (2015), दलित वुमेन, ओरिएंट ब्लैक्सवान, नई दिल्ली।

क्लेरिंडा स्टिल (2019), दलित्स इन न्यूलिबरल इंडिया मोबिलिटी ऑर मार्जिनलाइजेशन, रूटलेज, नई दिल्ली।

क्लाड लेवी-स्ट्रास, (1973), स्ट्रक्चरल एंथ्रोपोलोजी-2, पेंगुइन बुक्स, न्यूयार्क ।

कैरोल ए. ब्रेकेनरिज एंड पीटर वैन डेर वीर (1993) 'नंबर इन द कोलोनियल इमेजिनेशन' (एडि.) यूनिवर्सिटी ऑफ़ पेन्सिलवेनिया प्रेस।

कोसीमों जेने (2013), द पोलिटिकल फिलोसोफीज ऑफ़ अंतोनिओ ग्राम्शी एंड डॉ.बी.आर. आंबेडकर इटनरिज ऑफ़ दलित्स एंड सबाल्टर्न्स, रूटलेज।

के.सी. दास (2004), इंडियन दलित वॉइस एंड पॉलिटिक्स, कॉमनवेल्थ पब्लिकेशन हाउस, दिल्ली।

के.एस.सिंह (1966), डस्ट स्टॉर्म एंड हैंगिग मिस्ट : द स्टोरी ऑफ़ बिरसा मुंडा एंड हिज मूवमेंट-1872-1901, सीगल बुक्स कलकता।

क्रिस्टोफ़ वॉन फ़्यूरर-हैमडॉर्फ (1946), द नेकेड नागाज : हेड हन्टर्स ऑफ़ आसाम इन पीस ऐंड वार, ठाकर स्पिक एंड कंपनी, कलकत्ता।

के.स्वामीनाथ, सी.एन. पटेल (1988), द गाँधी रीडर,ओरिएंट लॉन्गमैन, मद्रास।

के.पी.सिंह (1999),लिबरेशन मूवमेंट्स इन कम्परेटिवः दलित इंडियंस एंड ब्लैक अमेरिकन्स, इन एस.एम.माइकल (एडि.),दलित्स इन मॉडर्न इंडिया, विजन एंड वैल्यूज, विस्तार पब्लिकेशंस, नई दिल्ली।

क्रिस्टोफ़ जेफ्रेलोट (2003), इंडियाज़ साइलेंट रिवोल्यूशन : द राइज़ ऑफ़ द लोवर कास्ट इन नॉर्थ इंडिया, परमानेंट ब्लैक, रानीखेत।

क्रिस्टोफ़ जेफ्रेलोट (2005), डॉ. आंबेडकर एंड अनटचेबिलिटी : फाइटिंग दि इंडियन कास्ट सिस्टम, परमानेंट ब्लैक, नई दिल्ली।

क्रिस्टोफ़ जेफ्रेलोट एंड नरेंद्र कुमार (2018), डॉ. आंबेडकर एंड डेमोक्रेसी : एन एंथोलोजी, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

क्रिस्टोफ़ बेली, रैलिंग अराउंड द सबाल्टर्न, ''जर्नल ऑफ़ किसान स्टडीज़'', 16, 1 (1988).

कांस्टीटुएंट एसेंबली डिबेट, खण्ड दस, ऑफ़ीशियल रिर्पोट।

के.सत्यनारायण (2005), दलित स्टडीज़ एज ए न्यू परस्पेकटिव इन द इंडियन अकेडमिया, इन अरुण कुमार, संजय कुमार (एडि.) दलित स्टडीज़ इन हायर एजूकेशन विजन एंड चैलेंज, देशकाल पब्लिकेशंस, नई दिल्ली।

के.सत्यनारायण एंड सूसी थारु, (2011), नो एल्फाबेट इन साइट न्यू दलित राइटिंग फ्रॉम साउथ इंडिया, पेंगुइन, नई दिल्ली।

के.सत्यनारायण एंड सूसी थारु, (2013), द दलित वुमेन क्वेस्चन इन स्टील निब्स आर स्प्राऊटिंग न्यू दलित राइटिंग फ्रॉम साउथ इंडिया–2,हार्पर कॉलिन्स।

के.सत्यनारायण (2014), दलित रीकॉन्फ़िगरेशन ऑफ़ कास्ट रिप्रेजेंटेशन आइडेंटिटी एंड पोलिटिक्स, क्रिटिकल क्वार्टर्ली, वॉल्यूम. 56, अंक.3, अक्टूबर।

के.सत्यनारायण (2016), 'द दलित रीकॉन्फ़िगरेशन ऑफ़ मॉडर्निटी: सिटीजन एंड कास्ट्स, इन द तेलुगू पब्लिक स्फीयर' रामनारायण एस. रावत, के. सत्यनारायण (एडि.), दलित स्टडीज़, ड्यूक यूनिवर्सिटी प्रेस।

के.एस. माथुर (1991), हिंदू वैल्यूज ऑफ़ लाइफ़ कर्मा एंड धर्मा इन टी.एन. मदन (एडि.), रिलीजन इन इंडिया, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

कंवल भारती (2011), स्वामी अछूतानन्द जी हरिहर और हिंदी नवजागरण, स्वराज प्रकाशन, दरियागंज नई दिल्ली।

कंवल भारती (2011), स्वामी अछूतानन्द : रचना संचयन, प्रकाशक महात्मा गाँधी अंतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा।

कंवल भारती (2017), चन्द्रिका प्रसाद जिज्ञासु ग्रंथावली, खंड-1, भारत के आदि निवासियों की सभ्यता, मार्जिनलाइज्ड पब्लिकेशन नई दिल्ली।

क्लेरिंडा स्टिल (2014), दलित्स इन न्यूलिबरल इंडिया : मोबिलिटी ऑर मार्जिनलाइजेशन, रूटलेज इंडिया।

क्लेरिंडा स्टिल (2017), दलित वीमेन, ऑनर एंड पैट्रिआर्की इन साउथ इंडिया, रूटलेज इंडिया।

गंगाधर पंतवाने (1986), इवौल्विंग अ न्यू आईडेन्टिटी द डेवलपमेन्ट ऑफ़ दलित कल्चर, इन बारबरा जोशी (एडि.), अनटचेबल, वाइस ऑफ़ द लिबरेशन मूवमेंट, विकास पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।

गुरबीर ब्रार (1985), सोशियो-रिलिजियस रिफार्म मूवमेंटस एंड अनटचेबल्स इन नार्दन इंडिया, इन प्रकाश पिम्प्ले एंड सतीश शर्मा (एडि.), स्ट्रगल फॉर स्टेटस, बी.आर. पब्लिशिंग कॉरपोरेशन, दिल्ली।

गौरी विश्वनाथन (2001), आउटसाइड द फ़ोल्ड कन्वर्सन मॉडर्नर्नीटी एंड बिलीफ, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

गौरव जे. पठानिया (2018), द यूनिवर्सिटी एज ए रेजिस्टेंस: आइडेंटिटी एंड स्टूडेंट पॉलिटिक्स, ऑक्सफ़ोर्ड।

गेल ओम्वेट (1976), कल्चरल रिवोल्ट इन ए कोलोनियल सोसाइटी : नान ब्राह्मण मूवमेंट इन वेस्टर्न इंडिया, 1873-1930, बाम्बे साइंटिफिक सोशलिस्ट एजुकेशन ट्रस्ट, बंबई।

गेल ओम्वेट (1982), क्लास, कास्ट एंड लैंड इन इंडिया: एन इंट्रोडक्टरी एस्से, इन गेल ओम्वेट (एडि.) लैंड कास्ट एंड पॉलिटिक्स इन इंडियन स्टेट्स, आथर्स गिल्ड पब्लिकेशंस, दिल्ली।

गेल ओम्वेट (1993), रिइनवेंटिंग रिवोल्यूशन न्यू सोशल मूवमेंट्स एंड द सोशलिस्ट ट्रेडीशन इन इंडिया, ईस्ट गेट, न्यूयॉर्क।

गेल ओम्वेट (1994), दलित्स एंड द डेमोक्रेटिक रिवोल्यूशन : डॉ. आंबेडकर एंड द दलित मूवमेंट इन कोलोनियल इंडिया, सेज पब्लिकेशंस, नई दिल्ली।

गेल ओम्वेट (1995), दलित विजंस, ओरिएंट ब्लैक स्वान, नई दिल्ली।

गेल ओम्वेट (2001), आंबेडकर एंड आफ्टर द दलित मूवमेंट इन इंडिया, इन घनश्याम शाह (एडि.),दलित आइडेंटिटी एंड पॉलिटिक्स, सेज पब्लिकेशंस, नई दिल्ली।

गेल ओम्वेट (2006), दलित विजन्स द एंटी कास्ट मूवमेंट एंड द कंस्ट्रक्शन ऑफ़ एन इंडियन आइडेंटिटी, ओरिएंट ब्लैक स्वान, हैदराबाद।

गेल ओम्वेट (2006), दलित विजन्स द एंटी कास्ट मूवमेंट एंड द कंस्ट्रक्शन ऑफ़ एन इंडियन आइडेंटिटी, ओरिएंट ब्लैक स्वान, हैदराबाद।

गेल ओम्वेट (2008), आंबेडकर टूवार्ड्स एन इनलाइटेंड इंडिया, पेंगुइन, नई दिल्ली।

गेल ओम्वेट (2009), दलित और प्रजातान्त्रिक क्रांति उपनिवेशीय भारत में डा. आंबेडकर एवं दलित आन्दोलन, सेज पब्लिकेशंस /रावत पब्लिकेशंस, नई दिल्ली।

गेल ओम्वेट (2011), कल्चरल रिवोल्ट इन कोलोनियल सोसाईटी, मनोहर पब्लिकेशन/सेज पब्लिकेशंस, नई दिल्ली।

गेल ओम्वेट (2011), सीकिंग बेगमपुर द सोशल विजन ऑफ़ एंटीकास्ट इंटेलेक्चुवल्स, नवान्या।

गेल ओम्वेट एंड भरत पाटनकर (2012), सोंग्स ऑफ़ तुकोबा, मनोहर पब्लिशर्स, नई दिल्ली।

गैरी माइकल टार्टाकोव (2012), दलित आर्ट एंड विजुअल इमेजरी, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

ग्लोरिया गुडविन रहेजा (1988), द पॉइज़न इन द गिफ्ट, शिकागो, शिकागो यूनिवर्सिटी प्रेस।

गुरू एंड गीता (1977) दलित इन्टेलेक्च्युअल एक्टिविज्म : रीसेंट ट्रेंड्स, वीएके पब्लिकेशन्स।

गोपाल गुरू (1988), द पॉलिटिक्स ऑफ़ नेमिंग, सेमिनार 471, 'दलित', नवंबर 1998 ।

गोपाल गुरू (1993), दलित मूवमेंट इन मेनस्ट्रीम सोशियोलोजी, वॉल्यूम 28, नंबर 14 (अप्रैल 3, 1993)।

गोपाल गुरू (1995), दलित वुमेन टॉक डिफरेंटली, इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली, 14-21 अक्टूबर,1995 ।

गोपाल गुरू (1998), द पॉलिटिक्स ऑफ़ नेमिंग, सेमिनार अंक. 471, 'दलित', नवंबर 1998 ।

गोपाल गुरू (1999), 'मुख्यधारा समाजशास्त्र में दलित आन्दोलन' एस.एम. माइकल (सम्पादक), आधुनिक भारत में दलित आंदोलन दृष्टि एवं मूल्य, रावत पब्लिकेशंस नई दिल्ली।

गोपाल गुरू (2000), दलित्स इन परसुइट ऑफ़ मॉडर्निटी, इन रोमिला थापर (एडि.), इंडिया एनअदर मिलेनियम, पेंग्विन-वाइकिंग नई दिल्ली।

गोपाल गुरू (2001), इंटरफेस बिट्वीन आंबेडकर एंड द दलित कल्चरल मूवमेंट इन महाराष्ट्र, इन घनश्याम शाह (एडि.), दलित आइडेंटिटी एंड पॉलिटिक्स, सेज पब्लिकेशंस, नई दिल्ली।

गोपाल गुरू (2001), द लैंग्वेज ऑफ़ दलित-बहुजन पॉलिटिक्ल डिस्कोर्स, इन घनश्याम शाह (एडि.), दलित आइडेंटिटी एंड पॉलिटिक्स, सेज पब्लिकेशंस, न्यू दिल्ली।

गोपाल गुरू (2002), हाऊ एगैलिटेरियन आर सोशल साइंसेज इन इंडिया? इकोनौमिक एंड पोलिटिकल वीकली, वॉल्यूम 37, अंक संख्या 50, 14 दिसंबर, 2002 ।

गोपाल गुरू (2007, 2008), 'अवमानना के आयाम-हीनता की मनोग्रन्थि : स्रोत और निराकरण', अभय कुमार दुबे (सम्पादक), आधुनिकता के आईने में दलित, सीएसडीएस-वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।

गोपाल गुरू (2009), रिजेक्शन ऑफ़ फोरग्राउडिंग सेल्फ रेस्पेक्ट इन ह्यूमिलिएशन, क्लेम्स एंड कांटेक्स्ट, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

गोपाल गुरू और सुंदर सरुकाई (2012), द क्रैक्ड मिरर: एन इंडियन डिबेट ऑन एक्सपीरियंस एंड थ्योरी, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

गोपाल गुरू (2016), द इंडियन नेशन इन इट्स एग्लिटेरियन कॉन्सेप्ट इन रामनारायण एस. रावत, के.सत्यनारायण (एडि.), दलित स्टडीज़, ड्यूक यूनिवर्सिटी प्रेस।

घनश्याम शाह (1975), पॉलिटिक्स ऑफ़ शेड्यूल्ड कास्टस एंड शेड्यूल्ड ट्राइब्स, वोरा पब्लिशर्स, बाम्बे।

घनश्याम शाह (1980), एंटी अन्टचबिलिटी मूवमेंट्स इन रिमूवल ऑफ़ अनटचबिलिटी, गुजरात यूनिवर्सिटी अहमदाबाद।

घनश्याम शाह (1988), ग्रास रूटस मोबिलाइजेशंसइन इण्डियन पॉलिटिक्स, इन अरून कोहली (एडि), इंडियाज डेमोक्रेसी एंड एनालिसस ऑफ़ चेंजिंग स्टेट सोसाइटी रिलेशंस, प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन।

घनश्याम शाह (1998), सोशल जस्टिस : ए डायलाग, रावत पब्लिकेशंस नई दिल्ली।

घनश्याम शाह (2001), सोशल मूवमेंट्स एंड द स्टेट, सेज पब्लिकेशंस, नई दिल्ली।

घनश्याम शाह (2001), दलित आइडेंटिटी एंड पॉलिटिक्स : कल्चरल सबोर्डिनेशन एंड द दलित चैलेंज, सेज पब्लिकेशंस, नई दिल्ली।

घनश्याम शाह (2001), 'दलित मूवमेंटस एंड सर्च फॉर आइडेंटिटी', इन घनश्याम शाह (एडि.), दलित आइडेंटिटी एंड पॉलिटिक्स, सेज पब्लिकेशंस, नई दिल्ली।

घनश्याम शाह (2002), दलित एंड द स्टेट, कांसेप्ट पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।

घनश्याम शाह (2004), कास्ट एंड डेमोक्रेटिक पॉलिटिक्स इन इंडिया, परमानेंट ब्लैक, रानीखेत।

घनश्याम शाह (2004), सोशल मूवमेंट्स इन इंडिया : ए रिविव ऑफ़ लिट्रेचर, सेज पब्लिकेशंस, नई दिल्ली।

घनश्याम शाह, सुखदेव थोराट (2006), अनटचेबिलिटी इन रुरल इंडिया, सेज पब्लिकेशंस, नई दिल्ली।

घनश्याम शाह (2007), दलित आइडेंटिटी एंड पॉलिटिक्स, सेज पब्लिकेशंस।

घनश्याम शाह (2009), भारत में सामाजिक आंदोलन : संबंधित साहित्य की समीक्षा, रावत पब्लिकेशंस, नई दिल्ली।

घनश्याम शाह (2020), एजुकेशन एंड कास्ट इन इंडिया : द दलित क्वेस्चन, रूटलेज इंडिया।

चमन लाल (2001), भारतीय साहित्य में दलित एवं स्त्री लेखन, सारांश प्रकाशन, हैदराबाद, दिल्ली।

चार्ल्स टेलर (1992), द पॉलिटिक्स ऑफ़ रिकोग्नीशन इन चार्ल्स टेलर मल्टीकल्चरिलिज़्म विथ कम्मेंट्री बाय के. एंथोनी एप्पीआह, जुर्गेन हेबरमास, स्टीवन सी. रोक्क्फ़ेलर माइकल वाल्जर, एंड सुसान वुल्फ़, एडिटेड एंड इंट्रोड्यूसड बाय एमी गुटमन्न, प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस।

चारू गुप्ता (2007), दलित वीरांगना एंड रीइन्वेंशन ऑफ़ 1875, इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली, 42, न.19 ।

चार्ल्स राइट मिल्स (1959), द सोशियोलॉजिकल इमेजिनेशन, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, फोर्टिथ एनिवर्सरी एडिशन (1999)।

चिन्नाया जंगम (2016), डिलेमाज ऑफ़ दलित एजेंडा : पोलिटिकल सबजुगेशन एंड सेल्फ इमेंशिपेशन इन तेलगू कंट्री, (1910–50), इन रामनारायण एस. रावत (एडि), दलित स्टडीज़, ड्यूक यूनिवर्सिटी प्रेस।

जयंत लेले (1981), ट्रेडीशन एंड मॉर्डेनिटी इन भक्ति मूवमेंटस, ई.जे. ब्रिल लाइडेन।

जे.आर.काम्बले, (1979), राइज एंड अवेकिंग ऑफ़ डिप्रेश्ड क्लास इन इंडिया,नेशनल पब्लिशिंग, दिल्ली।

जॉन सी. बी. वेबस्टर (1994), द दलित क्रिश्चियन हिस्ट्री, आईएसपीसीके, नई दिल्ली।

जे.एच.हट्टन (1929), सेन्सस ऑफ़ इंडिया वोल्यूम.–1. इंडिया पार्ट.–1. रिपोर्ट गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया, मैनेजर ऑफ़ पब्लिकेशन गवर्नमेंट प्रेस, इंडियन (1929), स्टेट्टरी कमीशन ओरल एविडेंस फौर्टींथ मीटिंग मद्रास,1. मार्च सिविल लाइन्स दिल्ली।

जे.एच. हट्टन (1929), सेन्सस ऑफ़ इंडिया वोल्यूम–1. इंडिया पार्ट.–1.रिपोर्ट गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया, मेनेजर ऑफ़ पब्लिकेशन गवर्नमेंट प्रेस, इंडियन 1929 स्टेट्टरी कमीशन ओरल एविडेंस फौर्टींथ मीटिंग मद्रास,1. मार्च सिविल लाइन्स दिल्ली. अनुसूचित जाति (ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा दिया गया), जे.एच. हट्टन सेन्सस ऑफ़ इंडिया वो.–1. इंडिया पार्ट.–1.रिपोर्ट गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया, मेनेजर ऑफ़ पब्लिकेशन गवर्नमेंट प्रेस, इंडियन 1929 स्टेट्टरी कमीशन ओरल एविडेंस फौर्टींथ मीटिंग मद्रास,1. मार्च सिविल लाइन्स दिल्ली।

जे.एच.हट्टन (1946), कास्ट इन इंडिया : इट्स नेचर, फंक्शन एंड ओरिजिन्स, कैम्ब्रिज (रिप्रिंट एंडीसाइट प्रेस, 2015)।

जे.एच. हट्टन (1980), कास्ट इन इंडिया : इट्स नेचर, फंक्शन एंड ओरिजिंस, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

जे.एच. हट्टन (2007), भारत में जाति प्रथा स्वरूप कर्म और उत्पत्ति, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।

जी.एल.हार्ट (1976), द रिलेशन बिटवीन तमिल एंड क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, विस्बाडेन ओट्टो हैरासोवित्ज़।

जॉन कोलिन्सन नेसफील्ड (1885) ब्रीफ़ व्यू ऑफ़ द कास्ट सिस्टम ऑफ़ द नॉर्थ वेस्टर्न प्रोविन्सेज ऐंड अवध, टूगेदर विथ ऐन एक्जामिनेशन ऑफ़ नेम्स ऐंड फिगर्स शोन इन द सेन्सस रिपोर्ट, इलाहाबाद।

जी.एस.घुर्ये (1932), कास्ट एंड रेस इन इंडिया, पापुलर प्रकाशन, बाम्बे।

जी.एस.घुर्ये (1957), कास्ट एंड क्लास इन इंडिया, पापुलर प्रकाशन, बाम्बे।

जी.एस. घुर्ये (1969), कास्ट एंड रेस इन इंडिया, पाँचवां संस्करण, पापुलर प्रकाशन, बॉम्बे।

जॉन गैलाधर, गार्डन जॉनसन एंड अनिल सील (1973), (एडि.) लोकलिटी, प्रोविंस ऐंड नेशन : एसेज इन इंडियन पोलिटिक्स, 1870 –1940, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज।

जॉन कटिंघम (1992), द कैम्ब्रिज कम्पेनियन टु डेकार्त, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज।

जी.ए.वाई. हेगेल (1956), द फिलॉसफी ऑफ़ हिस्ट्री, ट्रांस जे.सिब्री, न्यूयॉर्क, डोवर।

जे.माइकल महार (1972), द अनटचेबल्स इन कंटेम्परेरी इंडिया, यूनिवर्सिटी ऑफ़ एरिजोना प्रेस।

जेम्स मिल (1858), द हिस्ट्री ऑफ़ ब्रिटिश इंडिया, वॉल्यूम : 2, एडिटेड बाय एच.एच. विल्सन, जे. मैडेन, पाइपर, स्टीफेंसन, स्पेन्स 1858 (1817), वॉल्यूम–1. लंदन।

जॉर्ज विल्हेम फ्रेडरिक हेगेल (1956), द फिलोसफी ऑफ़ हिस्ट्री, पुनर्मुद्रित कोसिमो (2007), न्यूयॉर्क : 160–1 ।

जवाहर लाल नेहरू (1946), द डिस्कवरी ऑफ़ इंडिया, पेंगुइन इंडिया (2009)।

जगदीश भगवती एंड अरविंद पनगढ़िया (2013), रीफ़ोर्म्स एंड इकनोमिक ट्रांस्फ़ार्मेशनइन इंडिया, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

जॉन हैरिस (2011), व्हाट इज गोइंग ऑन इन इंडियाज रेड कॉरीडोर ? क्वेस्चनस एबाउट इंडियाज़ माओईस्ट इन्सरजेंसी, पैसिफिक अफेयर्स, 84 (2) : 309-27 ।

नंदिनी सुंदर (2012), इन्सरजेंसी काउंटर इन्सरजेंसी एंड डेमोक्रेसी इन सेंट्रल इंडिया, इन रॉबिन जेफ्री रोनोंजय सेन एंड प्रथिमा सिंह (एडि.),मोर दैन माओइज़्म पॉलिटिक्स पोलिसिज एंड इन्सरजेंसी इन साउथ एशिया, मनोहर पब्लिशर्स, नई दिल्ली।

जावेद आलम (1983),पीजेंटरी, 'पॉलिटिक्स एंड हिस्टीरियोग्राफी : क्रिटिक ऑफ़ न्यू ट्रेंड इन रिलेशन टू मार्क्सिज्म, सोशल साइंटिस्ट, 117-वॉल्यूम 11-2, फरवरी 1983 ।

जी.डब्ल्यू.ब्रिग्स (1990), द चमार्स, लो प्राइस पब्लिकेशंस, दिल्ली।

जे.टी.इफ. जोरडेण्टश (1978), दयानन्द सरस्वती हिज लाइफ़ एंड आइडियॉज, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

जयश्री गोखले, (1979), द दलित पैंथर एंड द रेडिकलाइजेशन ऑफ़ अनटचेबल्स, जर्नल ऑफ़ कॉमनवेल्थ एंड काम्प्रेटिव पॉलिटिक्स, 28 (1), मार्च।

जी.अलॉयसियस (1998), रिलीजन एज इमेन्सिपेटरी आइडेंटिटी ए बुद्धिस्ट मूवमेंट अमंग द तमिल्स अंडर कोलोनियलिज़्म, न्यू एज इंटरनेशनल।

जे.आर. काम्बले (1979), राइज एंड अवेकिंग ऑफ़ डिप्रेस्स्ड क्लास इन इंडिया, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।

जे.माइकल महार (1972), द अनटचेबल्स इन कंटेंपरेरी इंडिया, यूनिवर्सिटी ऑफ़ एरिजोना प्रेस।

जे.माइकल महार, (1972), एजेंट्स ऑफ़ धर्मा इन ए नॉर्थ इंडियन विलेज, इन द अनटचेबल्स इन कोण्टेंपरेरी इंडिया, यूनिवर्सिटी प्रेस एरिज़ोना प्रेस, टक्सन।

जे. माइकल महार (1972), डा. बी.आर. आंबेडकर मिथ एंड कैरिज्मा इन द अनटचेबल्स इन कॉन्टेमपरेरी इंडिया, माइकल महार (एडि), द यूनिवर्सटी ऑफ़ एरिजोना प्रेस, टक्शन।

जे.सी. झा, (1987), ट्राइबल रिवोल्ट ऑफ़ छोटानागपुर-1831-32, के.पी. जायसवाल इंस्टीट्यूट, पटना।

जितेंद्र गुप्ता (2011), भारतीय इतिहास बोध का संघर्ष और हिंदी प्रदेश, ग्रंथशिल्पी इंडिया, नई दिल्ली।

जिरि सुब्रट (2017), द पर्सपेक्टिव ऑफ़ हिस्टॉरिकल सोशियोलोजी : द इंडिविजुवल एज़ होमो-सोशियोलोजिकस थ्रू सोसाइटी एंड हिस्ट्री, एमरल्ड पब्लिशिंग, यूनाइटेड किंगडम।

टी.के.उम्मेन (1986), सोशल ट्रांस्फ़ार्मेशन इन रुरल इंडिया : मोबलाइजेशन एंड स्टेट इंटरवेनशन, विकास पब्लिशिंग हाउस।

टी.के.उम्मेन (1990), प्रोटेस्ट एंड चेंज स्टडीज़ इन सोशल मूवमेंट्स, सेज पब्लिकेशंस नई दिल्ली।

टी.के.उम्मेन (1990), सिटीजनशिप, नेशनलिटी एंड इथ्नीसिटी रिकांसिलिंग कंपीटिंग आइडेंटिटी, सेज पब्लिकेशंस नई दिल्ली।

टी.के.उम्मेन (1990), प्रोटेस्ट एंड चेंज स्टडीज़ इन सोशल मूवमेंटस, सेज पब्लिकेशंस , नई दिल्ली।

टी.के.उम्मेन (1997), सिटीजनशिप एंड नेशनल आइडेंटिटी फ्रॉम कोलोनियलिज़्म टू ग्लोबलिज़्म, सेज पब्लिकेशंस।

टी.के. उम्मेन (1997), सिटीजनशिप नेशनलिटी एंड इथिनिसिटी रिकोंशिलिंग कंपीटिंग आइडेंडिटीज़, रावत, नई दिल्ली।

टी.के.उम्मेन (2000), प्लूरलिज़्म इक्वालिटी एंड आइडेंटिटी कंप्रेरेटिव स्टडीज़, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

टी.के.उम्मेन (2001), अंडरस्टैंडिंग द इंडियन सोसाइटी : द रेलेवेन्स ऑफ़ पर्सपेक्टिव फ्रॉम (समसामयिक पेपर शृंखला-4). पुणे: समाजशास्त्र विभाग, पुणे विश्वविद्यालय।

टी.के.उम्मेन (2004), नेशन सिविल सोसाइटी एंड सोशल मूवमेंट्स : एसेज इन पॉलिटिकल सोशियोलोजी, सेज, नई दिल्ली।

टी.के.उम्मेन (2004), नेशन सिविल सोसाइटी एंड सोशल मूवमेंट्स एसेज इन पॉलिटिकल सोशियोलोजी, सेज पब्लिकेशंस, नई दिल्ली।

टी.के.उम्मेन (2005), क्राइसिस एंड कंटेंशन इन इंडियन सोसाइटी, सेज पब्लिकेशंस, नई दिल्ली।

टी.के.उम्मेन (2007), नालेज एंड सोसाइटी सिच्युवेटिंग सोशियोलोजी एंड सोशल एंथ्रोपोलोजी, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

टी.के.उम्मेन (2010), सोशल मूवमेंट्स : 1, इस्यूज ऑफ़ आइडेंटिटी सोशियोलोजी एंड सोशल एंथ्रोपोलोजी, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

टी.के.उम्मेन (2010), सोशल मूवमेंट्स : 2, कंसर्न्स ऑफ़ इक्विटी एंड सेक्यूरिटी सोशियोलोजी एंड सोशल एंथ्रोपोलोजी, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

टी.के.उम्मेन (2014), सोशल इंक्लूजन इन इंडिपेंडेंट इंडिया डाईमेंसन एंड एप्रोरोचेज़, ओरिएंट लोंगमेन, नई दिल्ली।

टी.एन. मदन (1971), ऑन अंडरस्टैंडिंग कास्ट, वॉल्यूम 6, नंबर 34 (21 अगस्त, 1971), पीपी.1805-1808, इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली।

टी.एन. मदन (1994), पाथवेज एप्रोचेस टू द स्टडी ऑफ़ इंडियन सोसाइटी, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

टी.एन.मदन (2011), सोशियोलोजिकल ट्रेडीशंस मेथड्स एंड पर्सपेक्टिव्स इन द सोशियोलोजी इन इंडिया, सेज पब्लिकेशंस नई दिल्ली।

टी.वी. कट्टीमनी (2013), दलित साहित्य का समाज विज्ञान, शिल्पायन प्रकाशन, नई दिल्ली।

डी.आर. नागराज (2007), 'आत्मशुद्धि बनाम आत्मसम्मान' अभय कुमार दुबे (सम्पादक), आधुनिकता के आईने में दलित, सीएसडीएस-वाणी, प्रकाशन, नई दिल्ली।

डी.आर. नागराज (2011), द फ्लेमिंग फीट एंड अदर एसेज द दलित मूवमेंट इन इंडिया, पर्मानेंट ब्लैक, रानीखेत।

डी.के. खापर्डे (1990), महात्मा ज्योतिराव फुले, विकास पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।

डेक्लान क्विगली (2000), द इंटरप्रेटेशन ऑफ़ कास्ट, ऑक्सफ़ोर्ड इंडिया।

डेन्ज़िल इब्बेट्सन (1916), पंजाब कास्ट्स, लाहौर, द सुपरिंटेंडेंट, गवर्नमेंट प्रिंटिंग, पंजाब।

डेविड लुडेन (1993), ओरियंटलिस्ट एम्पिरिज्म : ट्रांसफ़ोरमेशन ऑफ़ कोलोनियल नॉलेज, इन कैरॉल ब्रेकेनरिज एंड पीटर वैन डेर वीर (एडि)।

डी.डी. कोसंबी (1965), 'कल्चर एंड सिविलाइज़ेशन ऑफ़ एंशियण्ट इंडिया इन हिस्टोरिकल आउटलाइन', रूटलेज एंड के. पॉल, लन्दन।

डी.डी. कोसंबी (1975), एन इंट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑफ़ इंडियन हिस्ट्री, 2 एडिसन, पापुलर प्रकाशन बाम्बे।

डी.डी. कोसंबी (1990), प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।

डेविड लुडेन (2002), रीडिंग सबाल्टर्न स्टडीज़ : क्रिटिकल हिस्ट्री, कॉनट्रेस्ड अर्थ एंड ग्लोबलाइज़ेशन ऑफ़ साउथ एशिया, परमानेंट ब्लैक, नई दिल्ली।

डेविड हार्वी (2010), द क्राईसिस टुडे : मार्क्सिज्म 2008, hip : // www.youtube.com/watch?v = YYOGORANI. 25 मई को दोपहर बाद 3 . 30 को देखा गया।

डी.श्याम बाबू (2016), 'कास्ट एंड क्लास अमंग द दलित्स' रामनारायण एस. रावत, के. सत्यनारायण (एडि.), दलित स्टडीज़, ड्यूक यूनिवर्सिटी प्रेस।

डी.एन. झा (2012), प्राचीन भारत सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक विकास की पड़ताल, ग्रन्थशिल्पी, नई दिल्ली।

डेनिश वाण्डर वेड एंड गाय पोइटविन (1981), रूटस ऑफ़ पिजेंट मूवमेंट, सुभद्दा सरोवत पब्लिकेशंस।

डी.रेड्डी (2001), द एथनिसिटी ऑफ़ कास्ट फॉर एक्स्टेंसिव डिस्कशन ऑन रेस, कास्ट एंड द डरबन कान्फ्रेंस।

डी.सी. दिनकर (2007), स्वतन्त्रता संग्राम में अछूतों का योगदान, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली।

डी.एन. धनागरे (1985), इंडिया, इन योगेश अटल (एडि.), सोशियोलोजी एंड सोशल एंथ्रोपोलोजी इन एशिया एंड द पेसिफिक, नई दिल्ली एंड पेरिस, विले ईस्टर्न/यूनेस्को।

डेन्ज़िल इब्बेट्सन (1916), पंजाब कास्ट्स, गवर्नमेंट प्रिंटिंग प्रेस, लाहौर पंजाब।

डेन्ज़िल इब्बेट्सन (1883), ए ग्लोसरी ऑफ़ द ट्राइब्स एंड कास्ट ऑफ़ द पंजाब एंड नॉर्थ वेस्ट फ्रंटियर प्रोविंस।

डी.जेर्फी आर.अरनोल्ड एंड मेनॉर जे. (1976), कास्ट एशोसिएशन इन साउथ इंडिया ए को-ओपरिएटिव एनालिसिस, द इण्डियन एकोनॉमिक एंड सोशल हिस्ट्री रिव्यू. 13(3), जुलाई-सितम्बर।

डोरोथी एम.फ्यूजैरा, (2015) आर्यन्स, ज्यूज़, ब्राम्हिन्स : थियोराइजिंग एथोरिटी मिथ्स ऑफ़ आइडेन्टिटी' नवयान, नई दिल्ली।

डब्ल्यू.डब्ल्यू. हंटर (1868), द एनल्स ऑफ़ रूरल बंगाल, एल्डर स्मिथ लंदन।

तेजस्विनी निरंजना (1993), इंट्रोडक्शन : कैरियर्स ऑफ़ मॉडर्निटी, द जर्नल ऑफ़ आर्ट्स एंड आइडियाज़, 25-6, 1993 :1

तीला कुमार भटट्, हेमन्त कुमार मट्टू (2009), 'एक विशिष्ट श्रेणी के रूप में जाति, वर्ग, जेंडर एवं नृजातीयता तथा उनका अंतर्संबंध' तपन बिसवाल (सम्पादक), मानवाधिकार जेण्डर एवं पर्यावरण, प्रकाशक वीवा बुक्स, नई दिल्ली।

तपन बिसवाल (2009), मानवाधिकार, जेण्डर एवं पर्यावरण, प्रकाशक वीवा बुक्स, नई दिल्ली।

त्रिलोक नाथ (1987), पॉलिटिक्स ऑफ़ द डिप्रेस्ड क्लाशेज, डैप्यूटी पब्लिकेशंस, दिल्ली।

थॉमस कुहन (1970), द स्ट्रक्चर ऑफ़ साइंटिफिक रिवोल्यूशन, यूनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो प्रेस, शिकागो।

थॉमस आर. मेटकाफ (2016), द आफ्टरमाथ ऑफ़ रिवोल्ट इंडिया (1857-1970) प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यू जर्सी।

दिप्ता चोपड़ा, फिलिप विलियम्स एंड भास्कर वीरा (2011), पॉलिटिक्स ऑफ़ सिटीजनशिप इक्सपीरियनसिंग स्टेट सोसाइटी रिलेशन्स फ्रॉम द मार्जिन्स, कंटेम्प्रेरी साउथ एशिया, 19(3)।

दीपेश चक्रवर्ती (1985), इन्विटेशन टू ए डायलॉग, सबाल्टर्न स्टडीज़-IV, (एडि.) रणजीत गुहा, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

दीपेश चक्रवर्ती (1985), डिस्कसन इन्विटेशन टू ए डाइलोग इन सबाल्टर्न स्टडीज़, 4. ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

दीपेश चक्रवर्ती (1992), पोस्टकोलोनियल्टी एंड द आर्टिफिस ऑफ़ हिस्ट्री : हू स्पीक्स फॉर इंडियन पास्ट? रिप्रेजेंटेशन, 37 विंटर, 1992 ।

दीपेश चक्रवर्ती (1993), दि डिफरेंस डेफरल ऑफ़ ए कोलोनियल मॉडर्निटी: पब्लिक डिबेट्स ऑन डोमेस्टिसिटी इन ब्रिटिश बंगाल, हिस्ट्री वर्कशाप जर्नल, वॉल्यूम 36, अंक 1 ।

दीपेश चक्रवर्ती (1993), मार्क्स आफ्टर मार्क्सिज्म : हिस्ट्री, सबाल्टर्निटी, डिफरेंस, मीनजिन, 52 (3), स्प्रिंग, 1993 ।

दीपेश चक्रवर्ती (1995), रेडिकल हिस्ट्रीज़ एंड एनलाइटेनमेंट रेशनलिज्म : सम रिसेंट क्रिटिक ऑफ़ सबाल्टर्न स्टडीज़, इकोनॉमिक एंड पोलिटिकल वीकली, वॉल्यूम 30 न. 14 (8 अप्रैल 1995) : 751-759 ।

दीपेश चक्रवर्ती (1997), पोस्ट-कोलोनियल एंड द आर्टिफिस ऑफ़ हिस्ट्री : हू स्पीक्स फॉर इंडियन पास्ट्स? इन रणजीत गुहा (एडि.), सबाल्टर्न स्टडीज़ रीडर (1986-1995), मिनिसोटा प्रेस यूनिवर्सिटी, मिनीपोलिस।

दीपेश चक्रवर्ती (2000), प्रोविन्सीयालाइजिंग युरोप पोस्टकोलोनियल थॉट एंड हिस्टोरिकल डिफरेंस, प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस : 10-11 ।

दीपांकर गुप्ता (1992), सोशल स्ट्राटिफिकेशन, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

दीपांकर गुप्ता (2000), इंटरोगेटिंग कास्ट : अंडरस्टैंडिंग हाइरार्की एंड डिफरेंस इन इंडियन सोसाइटी, पेंग्विन, नई दिल्ली।

दीपांकर गुप्ता (2004), कास्ट इन क्वेस्चन : आइडैन्टिटी एंड हाइरार्की, सेज पब्लिकेशंस, नई दिल्ली।

दीपांकर गुप्ता (2010), केग्ड फोनिक्स केन इंडिया फ़्लाइ, न्यू दिल्ली, पेंगुइन बुक्स।

दीपांकर गुप्ता (2013), रिवोल्यूशन फ्रॉम एबव इंडियाज़ फ्यूचर एंड द सिटीजन इलीट, रूपा बुक्स, न्यू दिल्ली।

देबजानी गांगुली (2005), कास्ट, कॉलोनियलिज़्म एंड काउंटर-मॉडर्निटी : नोट्स ऑन ए पोस्ट-कॉलोनियल हर्मेन्युटिक्स ऑफ़ कास्ट, रूटलेज।

दिलीप एम. मेनन (1993), इण्टिमेशंस ऑफ़ इक्वेलिटी श्राइनंस एंड पॉलिटिक्स इन मालाबार, 1900-1923. इन पीटर रॉब (एडि.), दलित मूवमेंटस एंड द मीनिंग्स ऑफ़ लेबर इन इंडिया, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

दीनानाथ तेंदुलकर (1953), महात्मा : लाइफ़ ऑफ़ मोहनदास करमचंद गाँधी, वॉल्यूम. 6. पब्लिकेशन डिवीजन, गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया।

दुआर्ते बरबोसा (1518), द बुक ऑफ़ दुआर्ते बारबोसा ऐन अकाउंट ऑफ़ कंट्रीज़ बार्डेरिंग ऑन द इंडियन ओसन एंड देयर इनहेबिटेन्टस, रिप्रिंट (1989), एशियन एजुकेशनल सर्विसेज।

दीपक नैय्यर (2006), इंडियाज़ अनफ़िनिशिड जर्नी ट्रांसफ़ार्मिंग ग्रोथ इनटू डेवल्पमेंट, मॉडर्न एशियन स्टडीज़, 40. (3): 797-832 ।

देवराज चनाना (1960), स्लेवरी इन एनसिऐंट इंडिया एज डेपिक्टेड इन पाली एंड संस्कृत टेक्स्ट, पीपीएच, नई दिल्ली।

धीरेन्द्र नाथ मजूमदार (1947), द मैट्रिक्स ऑफ़ इंडियन कल्चर, नागपुर यूनिवर्सिटी/ द यूनिवर्सल पब्लिशर्स, लखनऊ।

धीरेन्द्र नाथ मजूमदार (1958), कास्ट एंड कम्यूनिकेशन इन एन इंडियन विलेज, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बाम्बे।

धीरेन्द्र नाथ मजूमदार (1960), रुरल प्रोफाइल्स, इथ्नोग्राफिक एंड फोल्क कल्चर सोसाइटी, लखनऊ।

धीरेन्द्र नाथ मजूमदार (1961), रेसेज एंड कल्चर्स ऑफ़ इंडिया, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बाम्बे।

धीरेन्द्र नाथ मजूमदार एंड एन.एस. रेड्डी, एस. बहादुर (1975), सोशल कण्टुवर्स ऑफ़ ए इंडस्ट्रियल सिटी : सोशल सर्वे ऑफ़ कानपुर, ग्रीनवुड प्रेस।

धीरेन्द्र नाथ मजूमदार (2010), एन इंट्रोडक्सन टू सोशल एंथ्रोपोलोजी रिवाइज्ड एडिशन, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बाम्बे।

धनंजय कीर (1961), आंबेडकर लाइफ़ एंड मिशन, पापुलर प्रकाशन, बॉम्बे।

धनंजय कीर (1964), महात्मा जोतीराव फुले फादर ऑफ़ इंडियन सोशल रिवोल्यूशन, पापुलर प्रकाशन, बाम्बे।

धनंजय कीर (2012), डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर लाइफ़ एंड मिशन, रिवाइज्ड एडिशन, पापुलर प्रकाशन बंबई।

धनंजय कीर (2012), डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर जीवन-चरित्र, पापुलर प्रकाशन बंबई।

धनंजय कीर (2016), आंबेडकर लाइफ़ एंड मिशन, पापुलर प्रकाशन, बाम्बे।

एन.जयराम (2017), नोविंग द सोशल वर्ड पर्सपेक्टिव्स एंड पोसिबिलिटीज़, आईआईएएस शिमला/ओरिएंट ब्लैकस्वान, नई दिल्ली।

एन.जयराम एंड सतीश सब्बरवाल (2011), सोशल कान्फ़्लिक्ट, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

एन.सुधाकर राव (2001), द स्ट्रक्चर ऑफ़ साउथ इंडियन अनटचेबल्स कास्ट्स ए वीव, इन घनश्याम शाह (एडि.), दलित आइडेंटिटी एंड पॉलिटिक्स, सेज पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली।

नंदूराम (1988), द मोबाइल शेड्यूल्ड कास्ट्स: राइज़ ऑफ़ ए न्यू मिडल क्लास, हिंदुस्तान पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।

नंदूराम (1995), बियान्ड आंबेडकर एसेज ऑन दलित्स इन इंडिया, हरआनन्द पब्लिकेशन, दिल्ली।

नंदूराम (2007), इन्साइक्लोपीडिया ऑफ़ सेड्यूल्ड कास्ट इन इंडिया (5-वॉल्यूम), ज्ञान पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।

नंदूराम (2008), कास्ट सिस्टम एंड अनटचेबिलिटी इन साउथ इंडिया, मानक पब्लिकेशंस, नई दिल्ली।

नंदूराम (2008),आंबेडकर दलित्स एंड बुद्धिज़्म : कलेक्शन ऑफ़ आंबेडकर मेमोरियल एन्यूवल लेक्चर्स, मानक पब्लिकेशंस, नई दिल्ली।

नंदूराम (2008), दलित्स इन कंटेम्परेरी इंडिया, सिद्धान्त पब्लिकेशंस।

नानकचंद रत्तू (1997), डॉ. आंबेडकर जीवन के अंतिम कुछ वर्ष, किताबघर, नई दिल्ली।

नानकचंद रत्तू (1997), लास्ट फ्यू ईयर्स ऑफ़ डॉ.आंबेडकर, पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।

नानकचंद रत्तू (2012), बाबासाहेब आंबेडकर संस्मरण और संस्मृतियाँ, सम्यक प्रकाशन नई दिल्ली।

नामदेव ढसाल, दलित पैंथर का जाहीरनामा, उद्धत शरण कुमार लिंबाले (2000), दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।

नरेंद्र कुमार एंड मनोज राय (2006), दलित लीडरशिप इन पंचायत्स: अ कम्प्रेटिव स्टडी ऑफ़ फोर स्टेट्स, आईआईडीएस-रावत पब्लिकेशंस जयपुर।

नरेंद्र जाधव (1992), डॉ. आंबेडकर इकोनॉमिक थाट्स एंड फ़िलॉसफी, पापुलर प्रकाशन बाम्बे।

नरेंद्र जाधव (2014), आंबेडकर : अवेकिंग इंडियाज़ सोशल कंसाइन्स, कोणार्क पब्लिशर्स, नई दिल्ली।

नरेंद्र जाधव (2014), आंबेडकर राइट्स कंप्लीट राइटिंग्स ऑफ़ डॉ. आंबेडकर पोलिटिकल राइटिंग्स, कोणार्क पब्लिशर्स, नई दिल्ली।

नरेंद्र जाधव (2014), आंबेडकर राइट्स कंप्लीट राइटिंग्स ऑफ़ डॉ. आंबेडकर स्कालरली राइटिंग्स, (समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, नृविज्ञान, कानून, संविधान और धर्म), कोणार्क पब्लिशर्स, नई दिल्ली।

नरेंद्र जाधव (2015), आंबेडकर : एन इकनोमिस्ट, कोणार्क पब्लिशर्स, नई दिल्ली।

नरेंद्र जाधव (2015), डॉ. आंबेडकर आत्मकथा एवं जनसंवाद, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली।

नरेंद्र जाधव (2015), डॉ. आंबेडकर सामाजिक विचार एवं दर्शन, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली।

नरेंद्र जाधव (2015), डॉ. आंबेडकर आर्थिक विचार एवं दर्शन, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली।

नरेंद्र जाधव (2015), डॉ. आंबेडकर राजनीति, धर्म एवं संविधान विचार, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली।

नरेंद्र जाधव (2016), भारत रत्ना डॉ.बाबासाहेब आंबेडकर एन इंटेलेक्चुवल कोलोसस, ग्रेट नेशनल लीडर एंड यूनिवर्सल चैंपियन ऑफ़ ह्यूमन राइट्स, नगर निगम ग्रेटर मुंबई।

नरेंद्र जाधव आंबेडकर स्पीक्स : 301 सेमीनल स्पीचेज़ : इंट्रोडकसन आटोबायोग्राफी स्पीचेज़, वॉल्यूम-1, कोणार्क पब्लिशर्स, नई दिल्ली।

नरेंद्र जाधव आंबेडकर स्पीक्स : 301 सेमीनल स्पीचेज़ : सोशल इकोनोमिक रिलीजन लॉ एंड कान्स्टीट्यूशन, वॉल्यूम-2, कोणार्क पब्लिशर्स, नई दिल्ली।

नरेंद्र जाधव आंबेडकर स्पीक्स : 301 सेमीनल स्पीचेज़ : पॉलिटिकल स्पीचेज़, वॉल्यूम-3, कोणार्क पब्लिशर्स, नई दिल्ली।

नरेन्द्र कुमार दत (1931), ओरिजिन एंड ग्रोथ ऑफ़ कास्ट इन इंडिया, लंदन।

नर्मदेश्वर प्रसाद (1957), द मिथ ऑफ़ द कास्ट सिस्टम, समंजना प्रकाशन पटना।

एन.के दत्त (1986), ओरिजिन एंड ग्रोथ ऑफ़ कास्ट इन इंडिया, साउथ एशिया बुक्स रिप्रिंट।

नर्मदेश्वर प्रसाद (1965), जाति व्यवस्था, राजकमल प्रकाशन पटना।

निकोलस डर्क्स (2001), कास्ट्स ऑफ़ माइंड : कोलोनियलिज़्म एंड द मेकिंग ऑफ़ मॉडर्न इंडिया, प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन न्यू जर्सी।

निकोलस जोअल (2006), लर्निंग द यूज ऑफ़ सिंबोलिक मींस दलित्स, आंबेडकर स्टैच्यूज एंड द स्टेट इन उत्तर प्रदेश, कंट्रीब्यूशन टू इंडियन सोशियोलॉजी, अंक 40.

निकोलस बी.डर्क्स (1989), द इन्वेन्शन ऑफ़ कास्ट: सिविल सोसाइटी इन कोलोनियल इंडिया, इन सोशल एनालिसिस, 25, सितंबर 1989 ।

निशिकांत कोलगे (2018), गाँधी अगेन्स्ट कास्ट, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

नैसर्गी दवे (2012), एक्टिविज़्म इन इंडिया ए स्टोरी इन द एंथ्रोपोलोजी ऑफ़ इथिक्स, डरहम एंड लंदन, ड्यूक यूनिवर्सिटी प्रेस।

नंदिनी गुप्तू (1993), कास्ट डिप्राइवेशन एंड पॉलिटिक्स द अनटचेबल्स इन यू.पी. टाउन इन द अर्ली ट्वींथ सेंचुरी इन पीटर रॉब (एडि.), दलित मूवमेंटस एंड द मिनिग्ंस ऑफ़ लेबर इन इंडिया, आर्क्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली।

नंदिनी गुप्तू (2001), द पॉलिटिक्स ऑफ़ अर्बन पुअर इन अर्ली ट्वेंटी सेंचुरी इंडिया, कैंब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, कैंब्रिज।

पुष्पेंद्र (2001), दलित एसर्सन थ्रू इलेक्टोरल पॉलिटिक्स, इन घनश्याम शाह (एडि.), दलित आइडेंटिटी एंड पॉलिटिक्स, सेज पब्लिकेशनस, नई दिल्ली।

प्रकाश परमार एंड सतीश शर्मा (1985), डी-संस्कृताइजेशन ऑफ़ अनटचेबल्स आर्य समाज मूवमेंटस इन पंजाब, इन प्रकाश पिम्प्ले एंड सतीश शर्मा (एडि.), स्ट्रग्ल फॉर स्टेटस, बी.आर. पब्लिशिंग को-आपरेशन, दिल्ली।

प्रसन्न कुमार चौधरी (2015), अतिक्रमण की अंतर्यात्रा: ज्ञान की समीक्षा का प्रयास, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।

प्रवेश कुमार (2011), दलित अस्मिता की राजनीति, मानक पब्लिकेशन, दिल्ली।

पार्थ चटर्जी (1986), 'द मोमेंट ऑफ़ एराइवल' इन नेशनलिस्ट थाट एंड द कोलोनियल वर्ड, ज़ेड बुक्स, लंदन।

पार्थ चटर्जी (1986), नेशनलिस्ट थॉट एंड दी कोलोनियल वर्ल्ड ए डेरिवेटिव डिस्कोर्स, जेड बुक्स।

पार्थ चटर्जी (1989), कास्ट एंड सबाल्टर्न कांसियसनेस इन सबाल्टर्न स्टडीज़ वॉल्यूम VI, रणजीत गुहा (एडि.), ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस नई दिल्ली।

पार्थ चटर्जी (1989), कास्ट एंड सबाल्टर्न कांसियसनेस,रणजीत गुहा (एडि.), सबाल्टर्न स्टडीज़, वॉल्यूम 6, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

पार्थ चटर्जी (1989), ओकेशनल पेपर्स, सेंटर फॉर स्टडीज़ इन सोशल साइन्सेज, कलकत्ता, इन पार्थ चटर्जी (1993), द नेशन एंड इट्स फ्रेगमेंट्स: कोलोनियल एंड पोस्टकोलोनियल हिस्ट्रीज़, प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन।

पार्थ चटर्जी (1993), दि नेशन एंड इट्स फ्रेगमेंट्स कोलोनियल एंड पोस्टकोलोनियल हिस्ट्रीज प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस।

पार्थ चटर्जी (1993), नेशनलिस्ट थॉट इन ए कोलोनियल वर्ल्ड : ए डेरिवेटिव डिस्कोर्स ?, यूनिवर्सिटी ऑफ़ मिनेसोटा प्रेस।

प्रभात कुमार शुक्ल (2012), इतिहास लेखन की विभिन्न दृष्टियाँ, ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली।

प्रभाकर वैद्य (2005), डॉ.आंबेडकर आणि त्यांचा धम्म, सुगावा प्रकाशन।

पी.सुन्दरैया (2014), तेलांगना पीपुल्स स्ट्रगल एंड लेसन्स, कैंब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

पी.सनल मोहन (2016), 'सोशल स्पेस, सिविल सोसाइटी, एंड दलित एजेंसी ट्वेंटीथ-सेंचुरी केरल' रामनारायण एस. रावत, के. सत्यनारायण (एडि.), दलित स्टडीज़, ड्यूक यूनिवर्सिटी प्रेस।

प्रसन्न कुमार चौधरी (2015), अतिक्रमण की अंतरयात्रा : ज्ञान की समीक्षा का प्रयास, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।

पी.जी. जोगदंड (1991), दलित मूवमेंट इन महाराष्ट्र, कनक पब्लिकेशन, नई दिल्ली।

पी.जी. जोगदंड (2000), न्यू इकनॉमिक पॉलिसी एंड दलित्स, रावत पब्लिकेशंस, नई दिल्ली।

पी.जी.जोगदंड, एस. एम. माइकल (2003), ग्लोबलाइज़ेशन एंड सोशल मूवमेंट्स : स्ट्रगल फॉर ह्यूमन सोसाइटी, रावत पब्लिकेशंस, नई दिल्ली।

पी.जी.जोगदंड, प्रशांत पी. बंसोड, एन.जी. मेश्राम (2008), ग्लोबलाइज़ेशन एंड सोशल जस्टिस : पर्सपेक्टिव चैलेंजेज़ एंड प्रैक्सिस, रावत पब्लिकेशंस, नई दिल्ली।

पी.जी. जोगदंड एंड रमेश कांबले (2013), सोशियोलोजिकल ट्रेडिसोन्स अँड देयर मार्जिन्स द बॉम्बे स्कूल ऑफ़ सोशियोलॉजी अँड दलित्स, सोशियोलोजिकल बुलेटिन, 62 (2) मई-अगस्त. 2013. इंडियन सोशियोलोजिकल सोसाइटी, नई दिल्ली।

पी.जी.जोगदंड (2013), दलित विमेन इस्यूज एंड पर्सपेक्टिव, ज्ञान पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।

परमजीत एस.जज, गुरूप्रीत बल (2009), मैपिंग दलित्स कंटेम्प्रेरी रियल्टी एंड फ्यूचर प्रोस्पेक्ट्स इन पंजाब, रावत पब्लिकेशंस, नई दिल्ली।

परमजीत एस.जज (2010), चेंजिंग दलित्स एक्स्प्लोरेशन एक्रास टाइम, रावत पब्लिकेशंस, नई दिल्ली।

परमजीत एस.जज. (2014), टुवर्ड्स सोशियोलोजी ऑफ़ दलित्स, सेज पब्लिकेशन, नई दिल्ली।

प्रकाश लुईस (2001), कास्टिज्म इज मोर डैन्जरस देन रेसिज़्म : डरबन एंड दलित डिसकोर्स, इंडियन सोशल इंस्टीट्यूट, नई दिल्ली।

फ्रांचेस्का आर्सीनी (2011), हिंदी का लोकवृत्त 1920-1940, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।

फ्रैंसिन फ्रैंकेल (2005), इंडियाज पोलिटिकल इकोनोमी द ग्रेजुयल रिवोल्यूशन 1947-2004, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली.

फिलिप विलियम्स भास्कर वीरा एंड दिप्ता चोपड़ा (2011), मार्जिनैलिटी एजेंसी एंड पावर एक्सपीरियनसिंग द स्टेट इन कंटेम्पोरेरी इंडिया, पैसिफिक अफेयर्स, 84 (1)।

फिलिप विलियम्स (2012), इंडियाज़ मुस्लिम लिव्ड सेकुलरिज़्म एंड रियलाईजिंग सिटीजनशिप, सिटीजनशिप स्टडीज़, 16(8) : 979–95 ।

फ्रेडरिक एस. डाउन्स (1996), द क्रिश्चियन इम्पैक्ट ऑन द स्टेटस ऑफ़ विमेन इन नार्थ ईस्ट इंडिया, नॉर्थ ईस्टर्न हिल यूनिवर्सिटी पब्लिकेशंस, शिलांग।

फ्रयूरर हाइमेनडॉर्फ, में उद्धत अभिनव सिन्हा (2014), जाति व्यवस्था–सम्बन्धी इतिहास–लेखन : कुछ आलोचनात्मक प्रेक्षण, 'जाति प्रश्न और मार्क्सवाद' विषय पर चतुर्थ अरविन्द स्मृति संगोष्ठी (12–16 मार्च, चण्डीगढ़) में प्रस्तुत आधार आलेख।

बाबूराव बागुल (1978), दलित साहित्य : आजचे क्रांतिविज्ञान, बुद्धिस्ट पब्लिशिंग हाउस, नागपुर।

बेला हुक्स (1990), मार्जिनलिटी एज अ साइट ऑफ़ रेजिस्टेंस, आर. फर्गुसन (एडि.), आउट देयर : मार्जिनाइलेशन एंड कंटेम्परेरी कल्चर, कैम्ब्रिज, एमआईटी।

बी.एन.एस. यादव (1973), सोसाइटी एंड कल्चर इन नार्दर्न इंडिया इन दि ट्वेल्थ सेन्चुरी, इलाहाबाद।

बर्नार्ड कोहन (1968), 'नोट्स ऑफ़ द हिस्ट्री ऑफ़ इंडियन सोसाइटी एंड कल्चर' मिल्टन सिंगर एंड बर्नार्ड कोहन (एडि.), स्ट्रक्चर एंड चेंज इन इंडियन सोसाइटी, शिकागो, एल्डीन।

बिपन चंद्र (1989), इंडिया'ज स्ट्रगल फॉर इंडिपेंडेंस 1857–194, पेंगुइन इंडिया, नई दिल्ली।

बेनेडिक्ट एंडरसन (2015), इमेजिण्ड कम्युनिटीज रिफ़्लेक्शन्स ऑन द ओरिजिन एंड स्प्रेड ऑफ़ नेशनलिज़्म, रावत पब्लिकेशंस।

बर्नार्ड कोहन (2011), द कमांड ऑफ़ लैंग्वेज एंड द लैंग्वेज ऑफ़ कमांड, इन सबाल्टर्न हिस्ट्री राइटिंग आन साउथ एशियन हिस्ट्री एंड सोसाइटी (एडि.), रणजीत गुहा, खंड–4, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

बारबरा जोशी (1982), डेमोक्रेसी इन सर्च ऑफ़ इक्विटी, हिंदुस्तान पब्लिशिंग कॉरपोरशन, दिल्ली।

बद्री नारायण (2001), 'हिंदी क्षेत्र में दलित चेतना का विकास', (सम्पादक–दीपक कुमार, देवेन्द्र चौबे) हाशिए का वृतांत, आधार प्रकाशन पंचकूला।

बद्री नारायण एवं अन्य (2006), उपेक्षित समुदायों का आत्म इतिहास, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।

बद्री नारायण (2007), रिएक्वेवेटिंग द पास्ट दलित्स एंड मेमोरिज ऑफ़ 1857. इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली 42, न.19 ।

बद्री नारायण (2008), दलित वैचारिकी की दिशाएँ, राधाकृष्ण, नई दिल्ली।

बद्री नारायण (2009), फैसिनेटिंग हिंदुत्व सेफ्रान पॉलिटिक्स एंड दलित मोबिलाइजेशन, सेज पब्लिकेशंस, नई दिल्ली।

बद्री नारायण (2009), हिंदुत्व का मोहिनी मंत्र (2014), राजकमल पब्लिकेशंस, नई दिल्ली।

बद्री नारायण (अक्टूबर, 5. 2012), नेशनल सेमिनार ऑन द पॉलिटिक्स ऑफ़ आइडेंटिटी इन इंडिया, कांशीराम शोधपीठ लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

बद्री नारायण (2018), खंडित आख्यान : भारतीय जनतंत्र में अदृश्य लोग (अनुवाद : रमाशंकर सिंह), ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

बद्री नारायण (2018), द मेकिंग ऑफ़ दलित पब्लिक, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

बर्नाड कोहन (1987), एन एंथ्रोपोलोजिस्ट अमंग हिस्टोरियंस एंड अदर एसेज, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली।

बिनॉय कुमार सरकार (1914), द पॉजिटिव बैकग्राउण्ड ऑफ़ हिंदू सोशियोलॉजी, पाणिनी ऑफिस इलाहाबाद।

बिनॉय कुमार सरकार (1918), हिंदू अचीवमेंट इन एजेक्ट साइन्स ए स्टडी इन द हिस्ट्री ऑफ़ साइंटिफिक डेवलपमेंट, लॉन्गमेंस एंड कंपनी, न्यूयार्क, लंदन।

ब्रूस लिंकन (1999), द प्रीहिस्ट्री ऑफ़ मिथोस एंड लोगोस, इन थियोरिजिंग मिथ: नैरेटिव, आइडियोलॉजी, एंड स्कॉलरशिप, यूनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो प्रेस।

बी.एन.एस यादव (1973), सोसाइटी एंड कल्चर इन नार्दर्न इंडिया इन दि ट्वेल्थ सेन्चुरी, इलाहाबाद।

बी. आर. आंबेडकर (1916), 'कास्ट्स इन इंडिया: देयर मेकेनिज्म, जेनेसिस एंड डेवलपमेंट', डॉ. एलेक्जेंडर गोल्डनवाईजर द्वारा कोलंबिया विश्वविद्यालय में आयोजित शोध संगोष्ठी में 9 मई 1916 को प्रस्तुत शोध प्रबंध। इस प्रबंध का मूल पाठ 'इंडियन ऐंटीक्योरी', खंड 41 (मई 1917) में सर्वप्रथम प्रकाशित हुआ।

बी.आर. आंबेडकर (1917), भारत में जातियाँ : उनका तंत्र, उत्पत्ति और विकास।

बी.आर. आंबेडकर (1917), अनटचेबल्स : हू वेयर दे एंड व्हाय दे बिकेम अनटचेबल्स।

बी.आर. आंबेडकर (1918), भारत में जातिप्रथा: संरचना, उत्पत्ति और विकास द इंडियन एंटीक्वेरी।

बी.आर. आंबेडकर (1948), द अनटचेबल्स : हू वेयर दे आर व्हाय दी बिकम अनटचेबल्स।

बी.आर आंबेडकर का 3.10.1954 का आकाशवाणी पर दिया गया भाषण।

बी.आर. आंबेडकर (1957), द बुद्ध एंड हिज धम्म [भगवान बुद्ध और उनका धम्म], सिद्धार्थ महाविद्यालय, मुंबई।

बी.आर. आंबेडकर (1968), कांग्रेस और गाँधी ने अछूतों के लिए क्या किया, बहुजन कल्याण प्रकाशन, लखनऊ।

बी.आर. आंबेडकर (1979), डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर के लेखन और भाषणों में जाति का उन्मूलन (खंड-1), शिक्षा विभाग, महाराष्ट्र सरकार, बॉम्बे।

बी.आर. आंबेडकर (1989), डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर के भाषण, (खंड-5), (1-27) में अनटचेबल ऑर द चिल्ड्रन ऑफ़ इंडियाज़ घेट्टो, शिक्षा विभाग, महाराष्ट्र सरकार, बॉम्बे।

बी.आर. आंबेडकर (1989), अनटचेबल आर द चिलडर्न ऑफ़ इंडियाज़ घेट्टो, इन डॉ.बाबासाहेब आंबेडकर राइटिंगस एंड स्पीचेज़ (वोल्यूम-5) (1-27), बाम्बे एजूकेशन डिपार्टमेन्ट, गवर्नमेंट ऑफ़ महाराष्ट्रा।

बी.आर. आंबेडकर (1998), डॉ. आंबेडकर राइटिंग एंड स्पीचेज, वॉल्यूम 6, कम्पाइल्ड बाई वसंत मून, डिपार्टमेंट ऑफ़ एजुकेशन, गवर्नमेंट ऑफ़ महाराष्ट्र।

बी.आर. आंबेडकर (1998), डॉ. आंबेडकर राइटिंग एंड स्पीचेज, वॉल्यूम 6, कम्पाइल्ड बाई वसंत मून, डिपार्टमेंट ऑफ़ एजुकेशन, गवर्नमेंट ऑफ़ महाराष्ट्र।

बाबासाहेब डॉ. आंबेडकर सम्पूर्ण वाड्मय, खण्ड-1

बाबासाहेब आंबेडकर, राइटिंग एंड स्पीचेज़, वॉल्यूम-1

बाबासाहेब आंबेडकर, राइटिंग एंड स्पीचेज़, वॉल्यूम-2

बाबासाहेब आंबेडकर, राइटिंग एंड स्पीचेज़, वॉल्यूम-3

बाबासाहेब आंबेडकर, राइटिंग एंड स्पीचेज़, वॉल्यूम–5
बाबासाहेब आंबेडकर, राइटिंग एंड स्पीचेज़, वॉल्यूम–7
बाबासाहेब आंबेडकर, राइटिंग एंड स्पीचेज़, वॉल्यूम–9
बाबासाहेब डॉ. आंबेडकर सम्पूर्ण वाड्मय, खण्ड–15
बैरी ग्रोवर (1997), साइंटिफिक मेथड ऐन हिस्टोरिकल एंड हिस्टोरिकल इंट्रोडकशन, रूटलेज।
भगवान दास (2011), दस स्पोक आंबेडकर : ए स्टेक इन द नेशन, नवयान, नई दिल्ली।
भालचन्द्र मुंगेकर (2016), द एसेंशियल आंबेडकर, रूपा पब्लिकेशंस, नई दिल्ली।
भरत पाटनकर, गेल ओम्वेट (1979), द दलित लिबरेशन मूवमेंट इन कोलोनियल पीरियड, इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली,14 (7/8)।
भिखू पारेख (1987), गाँधीवादी राजनीतिक दर्शन, अजंता, दिल्ली।
माजिद सिद्दीकी (1978), अग्रेरियन अनरेस्ट इन नार्दन इंडिया द यूनाइटेड प्रोविंसेंस, 1998–1922. विकास पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली।
माता प्रसाद (1992), उत्तर प्रदेश में दलित जातियों का दस्तावेज़, किताबघर, नई दिल्ली।
माता प्रसाद (2002), झोपड़ी से राजभवन, नमन प्रकाशन, नई दिल्ली।
माता प्रसाद (2007), उत्तरांचल सहित उत्तर प्रदेश की दलित जातियों का दस्तावेज़, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली।
मार्क्स–एंगेल्स, (1968), द जर्मन आइडियोलॉजी, प्रोग्रेसिव पब्लिशर्स, मॉस्को।
मनचला दीनबंधु क्लार्क, साथियानथान, फिलिप मयूर (2010), दलित थियोलोजी इन द 21.फर्स्ट सेंचुरी : डिस्कोर्डण्ट वाइसेज, डिस्करनिंग पाथवेज, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।
मनीष रंजन द्वारा 18/8/2018 को नेट पर डाली गई पुस्तिका, त्रिवेणी संघ का बिगुल, लेखक : त्रिवेणी बन्धु चौधरी जे. एन. पी. मेहता, प्रकाशक : त्रिवेणी संघ कार्यालय, जितौरा, शाहाबाद, पहला संस्करण 1940. से साभार।
मनोरंजन मोहंती (1989), 'चेजिंग टर्म्स ऑफ़ डिस्कोर्स : अ पोजर', इकनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली, खण्ड 24, अंक. 37 ।

मनोरंजन मोहंती (2004), क्लास कास्ट जेंडर: रीडिंग्स इन इंडियन गवर्नमेंट एंड पॉलिटिक्स सीरीज, सेज पब्लिकेशंस नई दिल्ली।

मोहनदास नैमिशराय (2013), भारतीय दलित आंदोलन का इतिहास, राधाकृशन प्रकाशन, नई दिल्ली।

मोहनदास नैमिशराय (2014), दलित चेतना : सोच, रमणिका गुप्ता (सम्पादक), नवलेखन प्रकाशन हजारीबाग।

मणींद्र नाथ ठाकुर (2013), 'ज्ञान की सामाजिक उपयोगिता और मुर्दहिया' प्रतिमान : समय, समाज, संस्कृति, वर्ष.1, खंड.1, अंक.1., सीएसडीएस-वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।

एम.एन. श्रीनिवास (1962), कास्ट इन मॉडर्न इंडिया एंड अदर एसेज, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बाम्बे।

एम.एन. श्रीनिवास (1966), सोशल चेंज इन मॉडर्न इंडिया, यूनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफोर्निया।

एम.एन. श्रीनिवास (1966), कास्ट: इट्स 20टीथ सेंचुरी अवतार, पेंग्विन नई दिल्ली।

एम.एन. श्रीनिवास (1969), इंडिया सोशल स्ट्रक्चर, हिंदुस्तान पब्लिशिंग कार्पोरेशन।

एम.एन. श्रीनिवास एंड एम.एन.पाणिनी (1973), द डेवलपमेंट ऑफ़ सोशियोलोजी एंड सोशल एंथ्रोपोलोजी इन इंडिया, सोशियोलोजिकल बुलेटिन, 22 (2)।

एम.एन. श्रीनिवास (1976), द रेमम्बर्ड विलेज, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

एम.एन. श्रीनिवास (1985), आधुनिक भारत में जाति और अन्य निबंध, मीडिया प्रमोटर और प्रकाशक, बॉम्बे।

एम.एन. श्रीनिवास (1989), द कोहेसिव रोल ऑफ़ संस्कृताइजेशन एंड अदर एसेज, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

एम.एन. श्रीनिवास (1995), डोमिनेंट कास्ट एंड अदर एसेज, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

एम.एन. श्रीनिवास (1998), विलेज कास्ट, जेंडर एंड मेथड: एसेज इन इंडियन सोशल एथ्रोपोलोजी, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

एम.एन. वानखड़े (1992), दोस्तों, गैरजिम्मेदार लेखकों का दिन ख़त्म हो गया है, अर्जुन डांगले, (संस्करण) में : पोईजएंड ब्रेड (आधुनिक मराठी दलित साहित्य से अनुवादित) (314–23), ओरिएंट लॉन्गमैन, नई दिल्ली।

एम.एन. वानखेड़े, दलितों का विद्रोही वाङ्मय, : 73., उद्धत शरण कुमार लिंबाले, (2000), दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।

माइनर वीनर (2001), द स्ट्रगल फॉर इक्वालिटी कास्ट इन इंडियन पॉलिटिक्स, इन अतुल कोहली (एडि.) द सक्सेस ऑफ़ इंडियाज़ डेमोक्रेसी, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी, प्रेस।

एम.आर.विद्रोही (2004), दलित दस्तावेज़, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली।

एम.एस.गोरे (1989), नॉन ब्राह्मण मूवमेंट इन महाराष्ट्र, सेगमेंट बुक डिस्ट्रीब्यूटर्स, बाम्बे।

एम.एस.गोरे (1993), द सोशल कांटेक्स्ट ऑफ़ एन आइडियोलॉजी : अंबेडकर्स पोलिटिकल एंड सोशल थाट, सेज पब्लिकेशंस नई दिल्ली।

एम.एस.गोरे (2002), यूनिटी इन डाइवर्सिटी : द इंडियन एक्सपीरिएन्स इन नेशन बिल्डिंग, रावत पब्लिकेशंस नई दिल्ली।

एम.एस.गोरे (2003), सोशल डेव्लपमेंट चैलेंजेज़ फ़ेस्ड इन एन अनइक्वल एंड प्लूरल सोसाइटी, रावत पब्लिकेशन, नई दिल्ली।

एम.एस. थॉमस विलकिन्सन (1970), आंबेडकर एंड द न्यू बुद्धिस्ट मूवमेंट, द क्रिश्चियन लिटरेचर सोसाइटी, मद्रास।

एम.एस.एस. पांडियन (2002), वन स्टेप आउटसाइड मॉर्डनिटी, इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली, मई 4, 2002 ।

एम.एम.एस. पांडियन (2007), ब्राह्मिन एंड नॉन–ब्राह्मिन : जिनियोलोजिज ऑफ़ द तमिल पॉलिटिकल प्रेजेंट, परमानेंट ब्लैक, रानीखेत।

एम.एस.ए. राव (1982), सोशल मूवमेंटस इन इंडिया (वोल्यू. 1), मनोहर पब्लिकेशंस, नई दिल्ली।

मेघनाद देसाई (2011), द रीडिस्कवरी ऑफ़ इंडिया, लंदन ब्लूम्सबरी, प्रेस।

मैल्किम मैरियट (1990), इंडिया थ्रू हिंदू कैटेगरीज, नई दिल्ली/ न्यूबरी पार्क/ लंदन, सेज प्रकाशन।

मॉर्टन क्लास (1980), कास्ट : द इमर्जेंस ऑफ़ द साउथ एशियन सोशल सिस्टम, इंस्टीट्यूट फॉर द स्टडी ऑफ़ ह्यूमन ईस्यूज, मनोहर, नई दिल्ली।

मॉर्टन क्लास (1980), 'कास्ट : द इमरजेन्स ऑफ़ द साउथ एशियन सोशल सिस्टम' इंस्टीट्यूट फॉर द स्टडी ऑफ़ ह्यूमन इस्यूज, फिलाडेल्फिया।

मैक्स वेबर (1916), द रिलीज़न ऑफ़ इंडिया सोशियोलोजी ऑफ़ हिंदुइजम एंड बुद्धिज़्म, मुंशीराम मनोहरलाल पब्लिशर्ष, दिल्ली, न्यू एडिशन (1998)।

मौरिस गोडेलियर (1972), रेशनलिटी एंड इरेशनलिटी इन इकोनॉमिक्स, मंथली रिवीव प्रेस, न्यूयॉर्क।

माइकल लेविएन (2012), द लैंड क्वेस्चन स्पेशल इकनॉमिक जोन्स एंड द पॉलिटिकल इकोनोमी ऑफ़ डिसपजेशन इन इंडिया, जर्नल ऑफ़ पिजेंट स्टडीज़, 39 (3-4)।

महेश गावस्कर (1999), कोलोनियलिज़्म विदिन कोलोनियलिज़्म : फुलेज क्रिटिक ऑफ़ ब्राहमिन पावर, एस.एम.माइकल (एडि.), दलित्स इन मॉडर्न इंडिया, विजन एंड वैल्यूज, विस्तार पब्लिकेशंस, नई दिल्ली।

मार्क जुर्गेंसमेयर (1982), रिलिजन ऐज सोशल विजन : द मूवमेंट अगेंस्ट अनटचेबिलिटी इन 20टीथ सेंचुरी पंजाब, यूनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफोर्निया प्रेस, कैलिफोर्निया।

मार्क जुर्गेंसमेयर (1989), रिलीजियस रिबेल्स इन द पंजाब : द सोशल विजन ऑफ़ द अनटचेबल्स, अजंता पब्लिकेशंस, नई दिल्ली.

एम.के. गाँधी, हरिजन, 7 फरवरी 1933 ।

एम.एस.ए. राव (1982), सोशल मूवमेंटस इन इंडिया, वोल्यू.1, मनोहर पब्लिकेशंस, नई दिल्ली।

माइकल मोफट (1979), एन अनटचेबल कम्यूनिटी ऑफ़ साउथ इंडिया स्ट्रक्चर कोंसेंसेस, एन.जे. प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस।

महात्मा ज्योतिराव फुले, वांग्मय।

महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा सम्पादित 'सरस्वती' (सितंबर 1914, भाग 15, खंड 2, पृष्ठ संख्या 512-513) में हीरा डोम की कविता 'अछूत की शिकायत' प्रकाशित हुई थी।

मैनेजर पांडे (1989), 'साहित्यिक रूपों का समाजशास्त्र', साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, हरियाणा साहित्य अकादमी, चंडीगढ़।

मोहनदास नैमिशराय (1996), अपने-अपने पिंजरे एक दलित की आत्मकथा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।

एम.के. गाँधी (1932), माय सोल्स एगोनी : बीइंग गाँधीज़ स्टेट्समेंट्स इस्यूएड फ्रॉम यरवदा प्रिज़न ऑन द रिमूवल ऑफ़ अंटच्बलिटी एमंग हिंदूज़, बॉम्बे प्रोविन्सिल बोर्ड, सर्वेण्ट्स ऑफ़ अनटचेबल्स सोसाइटी, 1932. नवजीवन कार्यालय, प्रिंसेज स्ट्रीट बॉम्बे।

युरगन हैबरमास, जॉक देरीदा एंड जियोवानी बोरादरी (2004), फ़िलॉसफ़ी इन ए टाइम ऑफ़ टेरर : डायलॉग विद युरगन हैबरमास एंड जॉक डेरीदा, यूनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो प्रेस, शिकागो।

यूनाइटेड नेशन्स डेवलपमेंट प्रोग्राम यूएनडीपी, ह्यूमन डेवलपमेंट रिपोर्ट, द राइज़ ऑफ़ द साउथ ह्यूमन प्रोग्रेस इन अ डाइवर्स वर्ल्ड, न्यूयॉर्क, यूएनडीपी (2013), : 13 ।

यूजिन एफ. इशिक (1969), पोलिटिक्स एंड सोशल कॉनफ्लिक्ट इन साउथ इंडिया : द नॉन ब्राह्मण मूवमेंट एंड तमिल सेप्रेटिज्म, 1916-1929, कैलिफोर्निया यूनिवर्सिटी प्रेस, बर्कले, लॉस एंजिल्स।

यगाति चिन्ना राव (2003), दलित स्टडीज़ : अ बिबलियोग्राफ़िकल हैंडबुक, कनिष्क पब्लिशर्स, नई दिल्ली।

यागाती चिन्ना राव (2003), राइज एंड ग्रोथ ऑफ़ दलित मूवमेंट इन आंध्रा, 1906-1946, इण्डियन सोशल साइसं रिव्यू, 5 (1)।

योगेंद्र सिंह, (1986), इंडियन सोशियोलोजी सोशल कन्डीशनिंग एंड इमर्जिंग कंसर्न्स, विस्तार पब्लिकेशंस, नई दिल्ली।

योगेंद्र सिंह (1994), भारतीय परंपरा का आधुनिकीकरण, रावत प्रकाशन, नई दिल्ली।

योगेश अटल (2015), समाजशास्त्र समाज की समझ : भारत में समाजशास्त्र, पियरसन, नई दिल्ली।

राजकुमार हंस (2016), मेकिंग सेंस ऑफ़ दलित सिख हिस्ट्री इन रामनारायण एस.रावत (एडि), दलित स्टडीज़, ड्यूक यूनिवर्सिटी प्रेस।

राज कुमार (2010), दलित पर्सनल नैरेटिव्स: रीडिंग कास्ट, नेशन एंड आइडेंटिटी, ओरिएंट ब्लैकस्वान, नई दिल्ली।

रवि कुमार (2009), वेनोमस टच नोट्स ऑन कास्ट कल्चर एंड पॉलिटिक्स, स्त्री-साम्य प्रकाशन।

रामशरण शर्मा, (1992), प्रारम्भिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास, हिंदी माध्यम, कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय।

रामशरण शर्मा (2018), भारत का प्राचीन इतिहास, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

रमणिका गुप्ता (2000), दलित चेतना साहित्यिक एवं सामाजिक सरोकार, शिल्पायन पब्लिशर्ष नई दिल्ली।

रमणिका गुप्ता (2010), दलित प्रश्न संवाद और यूटोपिया, यश पब्लिकेशंस, नई दिल्ली।

रोबर्ट डिलीज (1999), द अनटचेबल्स ऑफ़ इंडिया, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

रामचन्द्र गुहा (2007), इंडिया आफ्टर गाँधी : द हिस्ट्री ऑफ़ वर्ल्ड्स लार्जेस्ट डेमोक्रेसी, पिकाडोर।

रमाशंकर सिंह (2016), बैसवारी अवधी : उत्तर प्रदेश की भाषाएँ, गणेश देवी, बद्री नारायण (सम्पादक), ओरियंट ब्लैकस्वान, नई दिल्ली।

रमाशंकर सिंह (2017), निम्न जातियों के सामुदायिक अधिकार, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, अप्रकाशित पी.एचडी शोध प्रबंध।

रमाशंकर सिंह (2017), निषाद और उनकी नदी : पहचान, पेशा और दावेदारी के सवाल, प्रतिमान, अंक जनवरी-जून, सीएसडीएस-वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।

रमाशंकर सिंह (2018), लोकतंत्र का परिसर और घुमंतू समुदाय, प्रतिमान, जनवरी-जून, सीएसडीएस-वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।

रमाशंकर सिंह (2020), किसे चाहिए संविधान : भारत के सार्वजनिक जीवन में संविधान की छवियाँ- संविधान सभा के बहाने एक चर्चा, आलोचना, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली।

रमाशंकर सिंह (2022), नदी पुत्र : उत्तर भारत में निषाद और नदी, सेतु प्रकाशन, नोएडा एवं भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला।

रामनारायण. एस. रावत एंड के. सत्यनारायण (2016), दलित स्टडीज़, ड्यूक यूनिवर्सिटी प्रेस, डरहम, नॉर्थ कैरोलिना।

रामनारायण एस. रावत एंड के. सत्यनारायण (2016), 'दलित स्टडीज़ न्यू पर्सपेक्टिव ऑन इंडियन हिस्ट्री एंड सोसाइटी' रामनारायण एस. रावत, के. सत्यनारायण (एडि.), दलित स्टडीज़, ड्यूक यूनिवर्सिटी प्रेस।

रामनारायण एस. रावत एंड के. सत्यनारायण (2016), रिकंसीडरिंग अनटचेबिलिटी : चमार्स एंड दलित हिस्ट्री इन नॉर्थ इंडिया, ओरिएंट ब्लैकस्वान।

रामनारायण एस. रावत (2016), कोलोनियल आर्काइव वर्सेस कोलोनियल सोशियोलॉजी: राइटिंग दलित हिस्ट्री इन रामनारायन एस. रावत एंड के.सत्यनारायन, (एडि.), दलित स्टडीज़, ड्यूक यूनिवर्सिटी प्रेस।

रॉबर्ट एल. हार्डग्रेव (1970), पोलिटिकल पार्टीसिपेशन एंड प्राइमोर्डियल सालिडैरिटी : द नडार्स ऑफ़ तमिलनाडु, इन रजनी कोठारी (एडि.), कास्ट इन इंडियन पॉलिटिक्स, ओरिएंट लॉन्गमैन, नई दिल्ली।

रोमिला थापर (1968), इंटरप्रिटेशन ऑफ़ एंशिएंट इंडियन हिस्ट्री, हिस्ट्री एंड थियरी, वॉल्यूम-7 ।

रोमिला थापर (2014), द पास्ट एज प्रेजेंट : फोर्जिंग कन्टेम्परेरी आइडेंटिटीज थ्रू हिस्ट्री, एलेफ बुक कंपनी।

रोमिला थापर (2018), इतिहास, काल और आदिकालीन भारत, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

रोमिला थापर (2018), इतिहास, काल और आदिकालीन भारत, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

रामशरण शर्मा (2018), भारत का प्राचीन इतिहास, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

रामशरण शर्मा (2018), भारत का प्राचीन इतिहास, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

रॉय भास्कर (1998), पॉसिबिलिटी ऑफ़ नेचरिज्म : अ फिलॉसफ़िकल क्रिटीक ऑफ़ द टेम्परेरी ह्यूमन साइंसेज, रूटलेज, लंदन।

रॉय भास्कर (2008), रियलिस्ट फिलॉसफी ऑफ़ साइंस, टेलर एंड फ्रांसिस, न्यूयार्क।

रोनाल्ड इन्डेन (1990), इमैजिनिंग इंडिया, इंडियाना यूनिवर्सिटी प्रेस।

रोज कीनथ (1983), किंग जार्ज पंचम, वीडनफील्ड एंड निकोल्सन, लंदन।

रबींद्रनाथ टैगोर (1994), राष्ट्रवाद, दूसरा संस्करण, रूपा, नई दिल्ली।

रणजीत गुहा (1982), प्रिफ़ेस इन रणजीत गुहा एडिटेड सबाल्टर्न स्टडीज़-I. राइटिंग ऑन साउथ एशियन हिस्ट्री एंड सोसाइटी, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

रणजीत गुहा (1982), ऑन सम आस्पेक्ट ऑफ़ द हिस्टोरियोग्राफ़ी ऑफ़ कोलोनियल इंडिया इन रणजीत गुहा (एडि.), सबाल्टर्न स्टडीज़-I. राइटिंग ऑन साउथ एशियन हिस्ट्री एंड सोसाइटी, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

रणजीत गुहा (1982), ऑन सम आस्पेक्ट्स ऑफ़ द हिस्टोरियोग्राफ़ी ऑफ़ कोलोनियल इंडिया,सबाल्टर्न स्टडीज़-1, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

रणजीत गुहा (1982), औपनिवेशिक भारत के इतिहास के कुछ पहलुओं पर, रंजीत गुहा (संस्करण) में सबाल्टर्न अध्ययन-I : दक्षिण एशियाई इतिहास और समाज पर लेख (1-8), ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

रणजीत गुहा (1983), एलीमेंट्री आस्पेक्ट्स ऑफ़ पिजेंट इंसर्जेंसी इन कोलोनियल इंडिया, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

रणजीत गुहा (1983), सबाल्टर्न स्टडीज़ .2, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

रणजीत गुहा (1985), सबाल्टर्न स्टडीज़ वॉल्यूम-4, राइटिंग ऑन साउथ एशियन हिस्ट्री एंड सोसाइटी, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

रणजीत गुहा (1987), सबाल्टर्न स्टडीज़-5. ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

रणजीत गुहा (1988), इन इंडियन हिस्टोरियोग्राफ़ी ऑफ़ इंडिया: अ नाइंटीथ सेंचुरी एजेंडा एंड इट्स इंप्लीकेशन्स, के.पी. बागची एंड कंपनी, कलकत्ता।

रणजीत गुहा, (1989), सबाल्टर्न स्टडीज़-6, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, रणजीत गुहा, (1993), सबाल्टर्न स्टडीज़-7. ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

रणजीत गुहा (1995), सबाल्टर्न स्टडीज़-6, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

रणजीत गुहा (2002), हिस्ट्री एट द लिमिट ऑफ़ वर्ड हिस्ट्री, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

रणजीत गुहा (2010), द स्माल वायसेज ऑफ़ हिस्ट्री, ओरिएंट ब्लैकस्वान, नई दिल्ली।

रणधीर सिंह (2006), क्राईसिस ऑफ़ सोशलिज़्म : नोटस : इन डिफेंस ऑफ़ ए कमिटमेंट, अजंता बुक्स इंटरनेशनल, दिल्ली।

राका रे एंड मैरी कटजस्टीन (2005), इन द बिगनिंग देयर वाज द नेहरुवियन स्टेट इन राका रे एंड मैरी कटजस्टीन (एडि.), सोशल मूवमेंट्स इन इंडिया: पोवर्टी, पावर एंड पॉलिटिक्स, लैनहम एमडी रोवमान एंड लिटिलफील्ड।

रंजीत दास गुप्ता, 'सिग्निफिकेन्स ऑफ़ नॉन-सबाल्टर्न मिडीएशन' इंडियन हिस्टोरिकल रिवीव, 12, न.1-2. जुलाई 1985-जनवरी 1986 ।

रोजालिंड ओ'हलान (1998), रिकवरिंग द सब्जेक्ट : सबाल्टर्न स्टडीज़ एंड हिस्ट्री ऑफ़ रेसिस्टेंस इन कॉलोनियल साउथ एशिया, मॉडर्न एशियन स्टडीज़, 22 (1)1998 ।

रोज़ालिंड ओ'हांलोन (2002), हिस्ट्री ऑफ़ ज्योतिराव फुलेज मूवमेंट ऐंड हिज इटेलेक्चुअल वर्ल्ड इन द (1860-1900)।

रोज़ालिंड ओ'हांलोन (2002), कास्ट, कनफ्लिक्ट एंड आइडियोलॉजी : महात्मा जोतीराव फुले एंड लो कास्ट प्रोटेस्ट इन नाइन्टीथ सेंच्युरी वेस्टर्न इंडिया।

रॉबर्ट यंग, व्हाइट (1990), माइथोलॉजीज़ : राइटिंग हिस्ट्री एंड द वेस्ट, रूटलेज, लंदन।

रंगनायकम्मा (2008), जाति प्रश्न के समाधान के लिए बुद्ध काफ़ी नहीं, आंबेडकर भी काफ़ी नहीं, मार्क्स ज़रूरी हैं, राहुल फाउंडेशन, लखनऊ।

रिचर्ड फिक (2007), द सोशल आर्गेनाइजेशन इन नॉर्थ-ईस्ट इंडिया इन बुद्धा टाइम, फोरगोटन बुक्स।

रिचर्ड जेनिकिंस (2014), सोशल आइडेंटिटी, रूटलेज।

राबर्ट हार्डग्रेव (1969), द नडार्स ऑफ़ तमिलनाडू, द पॉलिटिकल कल्चर ऑफ़ ए कम्यूनिटी इन चेंज, यूनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफार्निया प्रेस, बर्कले।

रजनी कोठारी (1994), राइज़ ऑफ़ द दलित्स एंड द रिन्यूड डिबेट ऑन कास्ट, इकनोमिक एंड पोलिटिकल वीकली, वॉल्यूम. 29, नंबर 26 (जून 25, 1994)।

रजनी कोठारी (1998), राइज़ ऑफ़ द दलित्स एंड द रिन्यूड डिबेट ऑन कास्ट इन स्टेट एंड पॉलिटिक्स इन इंडिया, पार्थ चटर्जी (एडि.), ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

आर.एस.खरे (1984), द अनटचेबल एज हिमसेल्फ आइडियोलॉजी आइडेंटिटी एंड प्रेग्मेटिज्म एमंग द लखनऊ चमार्स, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन।

राव साहब कसबे (2009), आंबेडकर और मार्क्स, संवाद प्रकाशन, मेरठ।

रोनॉल्ड इंडेन (1990), इमेजिनिंग इंडिया, बेसिल ब्लैकवेल, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

लुई ड्यूमों एंड डी. पोकॉक (1961), कंट्रीब्यूशन टू इंडियन सोशियोलॉजी अंक. 99

लुई ड्यूमों (1970), होमो हायरार्कीकस : कास्ट सिस्टम एंड इट्स इंप्लीकेशन्स, यूनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो प्रेस।

लुई ड्यूमों (1999), होमो हाइरार्कस द कास्ट सिस्टम एंड इट्स इम्पलिकेशन्स, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

लता सिंह (2002),'इतिहासकारों का सबाल्टर्न' प्रभात कुमार शुक्ल (सम्पादक), इतिहास लेखन की विभिन्न दृष्टियाँ, ग्रंथशिल्पी, नई दिल्ली।

लता मुरूगकर (1991), दलित पैंथर्स मूवमेन्ट इन महाराष्ट्र ए सोशियोलॉजिकल अप्रोजल, पापुलर पब्लिकेशन, बम्बई।

ललित मोहन (2017), दलित अस्मिता : एकवचन या बहुवचन, हंस अंक मई।

लैन्सी लोबो (2001),विजन्स, इल्यूजंस एंड डाइमेनशन्स ऑफ़ दलित क्रिश्चियन्स इन इंडिया, इन घनश्याम शाह (एडि.), दलित आइडेंटिटी एंड पॉलिटिक्स, सेज पब्लिकेशनस, नई दिल्ली।

लियोन डिकाक (1992), इंटरव्यू विद गायत्री चक्रवर्ती स्पीवाक : न्यू नेशन रायटर्स कांफ्रेस इन साउथ अफ्रीका, ए रिव्यू ऑफ़ इन्टरनेशनल इंगलिश लिट्रेचर, 23 (3)।

लूसिया मिशेलट्टी (2008), द वर्नाकुलराइजेशन ऑफ़ डेमोक्रेसी पॉलिटिक्स कास्ट एंड रिलीजन इन इंडिया, रूटलेज, नई दिल्ली।

लायड आई.रूडोल्फ एंड सुजेन एच. रूडोल्फ (1967), मॉडर्निटी ऑफ़ ट्रेडिशन : पोलिटिकल डेवेलपमेंट इन इंडिया, शिकागो यूनिवर्सिटी प्रेस, शिकागो।

लिडल, जोशी (1986), डॉटर ऑफ़ इंडीपेंडेंस जेंडर कास्ट एंड क्लास इन इंडिया, काली फॉर वुमेन।

डब्लयू.एन. कुबेर (1981), भीमराव आंबेडकर, प्रकाशन विभाग भारत सरकार, नई दिल्ली।

लॉरा आर. ब्रूक (2016), क्वेस्चन ऑफ़ रिप्रेजेंटेशन इन दलित क्रिटिकल डिस्कोर्स : प्रेमचंद एंड दलित फेमिनिज़्म रामनारायण एस. रावत, के. सत्यनारायण (एडि.) दलित स्टडीज़, ड्यूक यूनिवर्सिटी प्रेस।

विजय बहादुर सिंह एवं योगेंद्र सिंह (2002), 'भारतीय समाजशास्त्र की खोज', अभय कुमार दुबे (सम्पादक), आधुनिकता के आईने में दलित, सीएसडीएस-वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।

विजया रामास्वामी, (2004), रिसर्चिंग इंडियन वीमेन, मनोहर पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली।

विजया रामास्वामी (2016), वीमेन एंड वर्क इन प्रीकोलोनियल इंडिया, सेज पब्लिकेशंस इंडिया।

विजया रामास्वामी (2019), इन सर्च ऑफ़ विश्वकर्मा, प्राइमस बुक्स।

विजया रामास्वामी (2013), द सोंग ऑफ़ द लूम, प्राइमस बुक्स।

विजया रामास्वामी (2006), टेक्सटाइल्स एंड वीवर्स इन मिडिवल साउथ इंडिया, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

विजया रामास्वामी (1996), डिविनिटी एंड डेविएंस : वीमेन इन वीरसेविसम, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

विजय प्रसाद (2000), अनटचेबल्स फ्रीडम : ए सोशल हिस्ट्री ऑफ़ ए दलित कम्युनिटी, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

वी.आर.के.अय्यर (1976), आंबेडकर मेमोरियल लेक्चर, एआईएसआरटी दिल्ली।

वी.टी. राजेश्वर (1985), दलित एंड दलितिज्म इन दलित वोइस, जून (1-15)।

विवेकानंद झा (1975), स्टेजेज इन दि हिस्ट्री ऑफ़ अनटचेबल्स, दि इंडियन हिस्टारिकल रिव्यू, 2, 1

विवेकानन्द झा (2017), चांडाल : अनटचेबिलिटी एंड कास्ट इन अर्ली इंडिया, प्राइमस बुक्स।

विवेकानंद झा (2004), चांडाल एंड दि ऑरिजिन ऑफ़ अनटचेबिलिटी इन आलोक पराशर-सेन (एडि.),सबोर्डिनेट एंड मार्जिनल ग्रुप्स इन अर्ली इंडिया, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली।

विवेकानन्द झा (2012), जाति,अस्पृश्यता और सामाजिक न्याय, प्रभात कुमार शुक्ल (सम्पादक), इतिहास लेखन की विभिन्न दृष्टियाँ, ग्रंथशिल्पी, नई दिल्ली।

विलियम क्रूक (1896), द ट्राइब्स एंड कास्ट्स ऑफ़ नॉर्थ-वेस्टर्न प्रोविंस एंड अवध, खंड -4

विनय भूषण चौधरी (1993), ट्राइबल सोसाइटी इन ट्रांजिशन : ईस्टर्न इंडिया, (1757-1977) इन मुशीरूल हसन एंड नारायनी गुप्ता (एडि.), इंडियाज कोलोनियल इन्काउंटर : एस्सेज हन मेमोरी ऑफ़ एरिक स्टोक्स, मनोहर, नई दिल्ली।

वेरियर एल्विन (1939), द बैगा, जॉन मूरे, लंदन।

वेरियर एल्विन (1947), द मुरिया ऐड देयर घोटूल, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

वेरियर एल्विन (1950), द बोडो हाईलैंडर, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन।

वेलेरियन रोड्रिग्स (1993), 'मेकिंग ए ट्रेडिशन क्रिटिकल : आंबेडकर रीडिंग ऑफ़ बुद्धिज्म' पीटर रॉब (एडि.), दलित मूवमेंट्स एंड द मीनिंग ऑफ़ लेबर इन इंडिया, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

वेलेरियन रोड्रिग्स (2002), इसेंसियल राइटिंग्स ऑफ़ बी.आर. आंबेडकर, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

वेलेरियन रोड्रिग्स (2011), रीडिंग टेक्स्ट एंड ट्रेडीशन्स : द आंबेडकर -गाँधी डिबेट, इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली,वॉल्यूम. 46, इस्यू न. 02, 08 जनवरी, 2011

वेलेरियन रोड्रिग्स (2017), आंबेडकर एज ए पॉलिटिकल फिलोसफर, वॉल्यूम-52, इस्यू न. 15, 15 अप्रैल, 2017

वेलेरियन रोड्रिग्स (2019), कंवर्सेशन विथ आंबेडकर : 10 आंबेडकर मेमोरियल लेक्चर, तूलिका बुक्स नई दिल्ली।

विनय गिडवानी (2009), सबाल्टर्निटी, इन्टरनेशनल इनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ ह्यूमन जियोग्राफी, एल्स्वेयर साइंस, एमर्सडम।

विद्याभूषण रावत, (1 जून 2014), ''आंबेडकर से जुड़े नेपाल के दलित : गहतराज'' फॉरवर्ड प्रेस, अभिगमन तिथि 25 अप्रैल 2019

वेरबा एस. अहमद, बी. भट्ट, ए. (1972), रेस कास्ट एंड पॉलिटिक्स, सेज पब्लिकेशंस, न्यूयार्क।

विवेक कुमार (1999), नेचर एंड क्राइसिस ऑफ़ दलित लीडरशिप : ए ब्रीफ सोशियो-हिस्टोरिकल प्रोफाइल, दलित्स एंड पीजेन्ट्स : द इमर्जिंग कास्ट क्लास डायनामिक्स, 243-261.

विवेक कुमार (2000), रिपोर्ट ऑन द सेमिनार ऑन इंडियन सोसायटी एट द टर्न ऑफ़ द सेंच्युरी : पर्सपेक्टिव फ्रॉम बिलो, सोशियोलोजिकल बुलेटिन, 135-136.

विवेक कुमार (2001), दलित अस्सर्शन एंड बहुजन समाज पार्टी : ए पर्सपेक्टिव फ्रॉम बिलो, बहुजन साहित्य संस्थान।

विवेक कुमार, उदय सिन्हा (2002), दलित एसर्सन एंड बहुजन समाज पार्टी ए पर्सर्पेक्टिव फ्रॉम बिलों, प्रकाशक, बहुजन साहित्य संस्थान, लखनऊ।

विवेक कुमार (2002), दलित लीडरशिप इन इंडिया, काल्पज पब्लिकेशन, नई दिल्ली।

विवेक कुमार (2004), अंडरस्टैंडिंग दलित डाईस्पोरा, इकनॉमिक एंड पोलिटिकल वीकली, 114-116.

वसंत मून (2002), ग्रोइंग अनटचेबल इन इंडिया ए दलित आटोबायोग्राफी, विस्तार प्रकाशन, नई दिल्ली।

विवेक कुमार (2005), इन्ट्रोडक्शन अन्डरस्टैन्डिंग द मिस अन्डरस्टैन्डिंग एबाउट दलित्स, सोशियोलॉजिकल बुलेटिन : 54 (3) सितम्बर-दिसम्बर।

विवेक कुमार (2005), सिच्युवेटिंग दलित्स इन इंडियन सोशियोलोजी, सोशियोलोजिकल बुलेटिन, 54 (3), 514-532

विवेक कुमार (2005), अंडरस्टैंडिंग द पॉलिटिक्स ऑफ़ रिजर्वेशन: ए पर्सपेक्टिव फ्रॉम बिलो, इकनॉमिक एंड पोलिटिकल वीकली, 803-806.

विवेक कुमार (2006), इंडियाज रोरिंग रिवोल्यूशन दलित असर्शन एंड न्यू होरिजोंस, गगनदीप पब्लिकेशन्स।

विवेक कुमार (2007), बहुजन समाज पार्टी एवं संरचनात्मक परिवर्तन एक समाजशास्त्रीय अवलोकन, सम्यक प्रकाशन दिल्ली।

विवेक कुमार (2007), दलित समाज पुरानी समस्याएँ, नई आकांक्षाएँ, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली।

विवेक कुमार (2009), दलित डायस्पोरा : इनविजिबल एग्जिस्टेंस : डायस्पोरा स्टडीज, 2 (1), 53-74.

विवेक कुमार (2010), सिच्युवेटिंग दलित्स इन इंडियन सोशियोलोजी इन टुवर्ड्स सोशियोलोजी ऑफ़ दलित्स, परमजीत एस.जज (एडि.), इंडियन सोशियोलोजिकल सोसायटी, सेज पब्लिकेशन इंडिया।

विवेक कुमार (2013), द न्यू दलित डायस्पोरा: ए सोशियोलोजिकल एनालिसिस, ड्युअल आइडेंटिटी : इंडियन डायस्पोरा एंड अदर एसेज (एडि.) के.एल.शर्मा एंड रेणुका सिंह, ओरिएंट ब्लैकस्वान।

विवेक कुमार (2014), कास्ट एंड डेमोक्रेसी इन इंडिया ए पर्सपेक्टिव्स फ्रॉम बिलो, ज्ञान पब्लिशिंग हाउस नई दिल्ली।

विवेक कुमार (2014), सिच्युवेटिंग दलित्स इन इंडियन सोशियोलोजी इन परमजीत एस.जज. (एडि.), टुवर्ड्स सोशियोलोजी ऑफ़ दलित्स, सेज पब्लिकेशन, नई दिल्ली।

विवेक कुमार (2014), जाति, प्रजातंत्र एवं आरक्षण, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली।

विवेक कुमार (2016), हाउ इगैलिटैरियन इज इंडियन सोशियोलोजी ? इकनॉमिक एंड पोलिटिकल वीकली 51 (इश्यु न. 25) 33-39.

विवेक कुमार (2020), मूकनायक से दलित दस्तक तक अंबेडकरी पत्रकारिता के 100 साल, दलित दस्तक संयुक्तांक- जनवरी-फरवरी-2020 नई दिल्ली।

विवेक कुमार (2021), डिफरेंट शेड्स ऑफ़ कास्ट एमोंग द इंडियन डायस्पोरा इन द यू. एस. ट्रांससिएंस: ए जर्नल ऑफ़ ग्लोबल स्टडीज प्रोग्राम, 12 (1), 1-12.

वसंत मून (2004), डॉ.बाबासाहब आंबेडकर, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, नई दिल्ली।

वसंत मून (2004), समता के समर्थक आंबेडकर, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, नई दिल्ली।

वी.डी. सावरकर (1910), द इंडियन वार ऑफ़ इंडिपेंडेंस : नेशनल राइजिंग ऑफ़ 1857, लंदन।

शशिभूषण उपाध्याय (2012),'दलितों पर इतिहास लेखन' प्रभात कुमार शुक्ल (सम्पादक), इतिहास लेखन कि विभिन्न दृष्टियाँ, ग्रंथशिल्पी, नई दिल्ली।

शिवानी, जाति, वर्ग और अस्मितावादी राजनीति, http://arvindtrust.org/archives/326. शोध टीम, अरविन्द मार्क्सवादी अध्ययन संस्थान जाति प्रश्न और मार्क्सवाद विषय पर चतुर्थ अरविन्द स्मृति संगोष्ठी (12–16 मार्च, चण्डीगढ़) में प्रस्तुत आधार आलेख।

शाहिद अमीन एंड दीपेश चक्रवर्ती (एडि.), सबाल्टर्न स्टडीज़. 9. (1996), ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

शेखर बंद्योपाध्याय (1997), कास्ट, प्रोटेस्ट एंड आइडेन्टिटी इन कोलोनियल इंडिया: द नामशुद्राज ऑफ़ बंगाल (1872–1947), रूटलेज।

शेखर बंद्योपाध्याय (2010), फ्रॉम प्लासी टू पार्टीशन ए हिस्ट्री ऑफ़ मॉडर्न इंडिया, ओरिएंट ब्लैकस्वान, हैदराबाद।

शैल मायाराम, एम.एम.एस.पांडियन एंड अजय सकारिया (2005), सबाल्टर्न स्टडीज़ वॉल्यूम–XII, मुस्लिम दलित्स एंड द फैब्रिकेशंस ऑफ़ हिस्ट्री, पर्मानेंट ब्लैक।

श्यामलाल (1981), कास्ट एंड पॉलिटिकल मोबिलाइजेशन, पंचशील प्रकाशन, जयपुर।

शर्मिला रेगे (1998), दलित वूमेन टॉक डिफरेण्टली ए क्रिटिक ऑफ़ डिफेरेशंस एंड टूवर्ड्स ए दलित फेमिनिस्ट स्टेंड पॉइंट पोजीशन, इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली, 33(46), अक्टूबर।

शर्मिला रेगे (2003), सोशियोलॉजी ऑफ़ जेंडर: द चैलेन्ज ऑफ़ फेमिनिस्ट सोशियोलॉजिकल थॉट, सेज पब्लिकेशन।

शर्मिला रेगे (2006), राइटिंग कास्ट राइटिंग जेंडर नरेटिंग दलित वीमेन्स टेस्टमनीज़, जुबान, नई दिल्ली।

शर्मिला रेगे (2013), अगेंस्ट द मैडनेस ऑफ़ मनु: बी.आर अंबेडकर्स राइटिंग्स ऑन ब्राह्मणिकल पैट्रियार्की, नवयान।

शरतचन्द्र राय, द मुंडाज एंड देयर कंट्री (1912), द उराँव ऑफ़ छोटा नागपुर (1915), द बिरहोर्स (1925), उराँव रिलीजन एंड कस्टम्स (1927), द हिल भुइयाँज ऑफ़ उड़ीसा (1935), द खारीयाज़ वॉल्यूम-1. (1937) एंड द खारीयाज़ वॉल्यूम-2.(1937)।

श्यामजी कृष्ण वर्मा, द इंडियन सोशियोलोजिस्ट, वाज एन इंडियन नेशनलिस्ट जर्नल इन द अर्लि 20टीथ सेंचुरी, इट्स सबटाइटिल वाज एन ऑर्गन ऑफ़ फ्रीडम एंड पॉलिटिकल सोशल एंड रिलीजियस रिफॉर्म।

शिव विश्वनाथन (2005), 'दलित स्पर्श से डरता समाजशास्त्र', अभय कुमार दुबे (सम्पादक), आधुनिकता के आईने में दलित, सीएसडीएस-वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।

शरण कुमार लिंबाले (2000), दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।

शरण कुमार लिम्बाले (2004), टुवर्ड्स एन एस्थेटिक ऑफ़ दलित लिटरेचर : हिस्ट्री, कंट्रोवर्सीज एंड कांसिडरेशन, ओरिएंट लॉन्गमैन, नई दिल्ली।

सनल मोहन (2016), सोशल स्पेस, सिविल सोसाइटी, एंड दलित एजेंसी इन ट्वेंटिएथ सेंचुरी केरल, इन रामनारायण एस. रावत (एडि.), दलित स्टडीज़, ड्यूक यूनिवर्सिटी प्रेस।

सच्चिदानंद सिन्हा (1982), कास्ट सिस्टम मिथ्स रियल्टी चैलेंज, साउथ एशिया बुक हाउस।

सच्चिदानंद (1976), द हरिजन इलीट : ए स्टडी ऑफ़ देयर स्टेटस, नेटवर्क्स, मोबिलिटी एंड रोल इन सोशल ट्रांस्फ़ार्मेशन, थॉमसन प्रेस, फरीदाबाद।

सारा बेथ हंट (2014), हिंदी दलित लिटरेचर एंड द पॉलिटिक्स ऑफ़ रिप्रजेंटेशन, रूटलेज इंडिया।

साराह जोसेफ (1991), 'इंडीजीनियस सोशल साइंस प्रोजेक्ट : सम पॉलिटिकल इम्लीकेशंस' इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली, खण्ड 26, अंक 15, 13 अप्रैल.

साइमन डी. वीबर (1986), द सेकेंड सेक्स, लंदन पिकाडोर।

संबैयाह गुंडिमेडा (2016), 'सोशल जस्टिस एंड द क्वेस्चन ऑफ़ केटेगराइजेशन ऑफ़ शेड्यूल्ड कास्ट रिज़र्वेशन : द डंडोरा डिबेट इन आंध्र प्रदेश' रामनारायण एस. रावत, के. सत्यनारायण (एडि.), दलित स्टडीज़, ड्यूक यूनिवर्सिटी प्रेस।
सिडनी वेरबा, बसिरिहुद्दीन अहमद, अनिल भट्ट, (1972), पार्टीसीपेसन इन अमेरिका पॉलिटिकल डेमोक्रेसी एंड सोशल इक्वालिटी कास्ट रेस एंड पॉलिटिक्स, सेज पब्लिकेशन।
सुखदेव थोराट, आर.एस.देशपांडे (2001), कास्ट सिस्टम एंड इकोनॉमिक इनइक्वालिटी इकोनॉमिक थियोरी एंड इविडेंस, इन घनश्याम शाह (एडि.), दलित आइडेंटिटी एंड पॉलिटिक्स, सेज पब्लिकेशनस, नई दिल्ली।
सुखदेव थोराट (2007), आंबेडकर इन रिट्रोस्पेक्ट एसेज ऑन इकोनॉमिक्स, पॉलिटिक्स एंड सोसाइटी, रावत पब्लिकेशंस, नई दिल्ली।
सुखदेव थोराट, नरेंद्र कुमार (2009), बी.आर.आंबेडकर : पर्सपेक्टिव ऑन सोशल एक्सक्लूजन एंड इंक्लिसिव पॉलिसीज, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।
सुखदेव थोराट (2009), दलित्स इन इंडिया : सर्च फॉर ए कॉमन डेस्टिनी, सेज पब्लिकेशंस, नई दिल्ली।
सुखदेव थोराट (2011), भारत में दलित सामान्य लक्ष्य की खोज, सेज-रावत पब्लिकेशंस, नई दिल्ली।
सुखदेव थोराट (2019), अंबेडकर्स रोल इन इकनॉमिक प्लानिंग एंड वाटर पॉलिसी, शिप्रा पब्लिकेशंस।
सुंदर सरुक्कई (2006), 'दलित एक्सपीरिएंस एंड द थियरी', इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली, खण्ड 42, अक. 40, 6 अक्टूबर।
सुदीप्त कविराज (1995), बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय एंड द फॉर्मेशन ऑफ़ नेशनलिस्ट डिस्कोर्स इन इंडिया, दिल्ली एंड न्यूयोर्क।
सुधा पाई (2000), न्यू सोशल एंड पॉलिटिकल मूवमेंटस ऑफ़ दलित्स : ए स्टडी ऑफ़ मेरठ डिस्ट्रीक्ट, कंट्रीब्यूशंस टू इण्डियन सोशियोलॉजी (न्यू सीरीज). 34 (2)।
सुधा पाई (2001), फ्रॉम हरिजन्स टू दलित्स आइडेंटिटी फारमेशन, पॉलिटिकल कांशिएसनेस एंड इलेक्टोरल मोबिलाइजेशन शेड्यूल्ड कास्ट्स इन उत्तर प्रदेश, इन घनश्याम शाह (एडि.), दलित आइडेंटिटी एंड पॉलिटिक्स, सेज पब्लिकेशनस, नई दिल्ली।

सुधा पाई (2002), दलित असर्शन एंड द अंफिनिशिड डेमोक्रेटिक रिवोल्यूशन द बहुजन समाज पार्टी इन उत्तर प्रदेश : कल्चरल सबोर्डिनेशन एंड द दलित चैलेंज दलित असर्शन थ्रू इलेक्टोरल पॉलिटिक्स, सेज पब्लिकेशन, नई दिल्ली।

सुधा पाई (2007), पॉलिटिकल प्रोसेस इन उत्तर प्रदेश आइडेंटिटी इकोनॉमिक रीफ़ोर्म्स एंड गवर्नेंस, पियर्सन नई दिल्ली।

सुधा पाई (2013), दलित असेर्शन, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

सुधा पाई (2016), डेवलपमेंटल स्टेट एंड दलित क्वेस्चन इन मध्य प्रदेश : कांग्रेस, रूटलेज इंडिया।

सुधा पाई, अविनाश कुमार (2019), रिविजिटिंग 1956 बी.आर. आंबेडकर एंड स्टेट्स रिओर्गेनाइजेशन, ओरिएंट ब्लैकस्वान, नई दिल्ली।

सुधीर कक्कड़ (1982), सेटिंग द स्टेज द ट्रेडीशनल हिंदू वीव एंड द साइकोलजी ऑफ़ एरिक एच.एरिकसन इन सुधीर कक्कड़ (एडि.), आइडेंटिटी एंड एडल्टहुड, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

सुमित सरकार (1994), ओरिएंटलिज्म रिविज़िटेड : सैडियन फ्रेमवर्क इन द राइटिंग ऑफ़ मॉडर्न इंडियन हिस्ट्री, ऑक्सफ़ोर्ड लिटरेरी रिव्यू 16 ।

सुमित सरकार (1997), द डिक्लाइन ऑफ़ द सबाल्टर्न इन सबाल्टर्न स्टडीज़, इन राइटिंग सोशल हिस्ट्री, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस इंडिया, दिल्ली।

सुमित सरकार (1997), राइटिंग सोशल हिस्ट्री, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

सुमित सरकार (1998), राइटिंग सोशल हिस्ट्री, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

सुमित सरकार (2001), इंडियन डेमोक्रेसी द हिस्टोरिकल इनहेरिटेन्स इन इंडियाज सक्सेजफुल डेमोक्रेसी, (एडि.), अतुल कोहली, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस।

सुमित सरकार (2002), बियाण्ड नेशनलिस्ट फ्रेम्स पोस्ट मॉडर्निज़्म हिंदू फंडामेंटलिज़्म हिस्ट्री, ब्लूमिंग्टन, इंडियाना यूनिवर्सिटी प्रेस।

सुमित सरकार (2004), बियॉण्ड नेशनलिस्ट फ्रेम्स ओरिएंट ब्लैकस्वान, नई दिल्ली।

समीर अमीन (2012), युरोसेंटरिज़्म : मोडर्निटी रिलीजन एंड डेमोक्रेसी : ए क्रिटीक ऑफ़ युरोसेंटरिज़्म एंड कल्चरिज्म, आकार, दिल्ली।

सी.जे. फुल्लर (1992), द कैम्फर फ्लेम पापुलर हिन्दुइज्म एंड सोसाइटी इन इंडिया, प्रींसिण्टन यूनिवर्सिटी प्रेस, प्रींसिण्टन।

सुवीरा जायसवाल (2000), कास्ट : ओरिजिन, फंक्शन एंड डाइमेंशंस ऑफ़ चेंज, मनोहर पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली।

सुवीरा जायसवाल (2004), वर्ण, जाति व्यवस्था: उद्भव, प्रकार्य और रूपान्तरण, ग्रंथशिल्पी, नई दिल्ली।

सूज़न बेली (2005), कास्ट एंड पॉलिटिक्स इन एटीन्थ सेंचुरी इंडिया, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस।

सुरिंदर एस. जोधका (2004), सीखिज्म एंड द कास्ट क्वेस्चन : दलित्स एंड देयर पॉलिटिक्स इन कोण्टेंपोरेरी पंजाब, कंट्रिब्यूशन टू इंडियन सोशियोलोजी वॉल्यूम: 38 अंक: 1–2, 2004 ।

सुरिंदर एस. जोधका (2009), द रविदासिस ऑफ़ पंजाब : ग्लोबल कंटूवर्स ऑफ़ कास्ट एंड रिलीजियस स्ट्राइफ, इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली,वॉल्यूम 44, इसस्यु न.24, 13 जून, 2009 ।

सुरिंदर एस. जोधका (2010), इंगेजिंग विथ कास्ट : अकेडमिक डिस्कोर्सेस आइडेंटिटी पॉलिटिक्स एंड स्टेट पॉलिसी, वर्किंग पेपर सीरीज़ वॉल्यूम–2, न.2, भारतीय दलित अध्ययन संस्थान एंड यूनिसेफ।

सुरिंदर एस. जोधका (2012), कास्ट : ऑक्सफ़ोर्ड इंडिया शॉर्ट इंटरोडक्सन, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

सुरिंदर एस. जोधका (2013), कास्ट इन कंटेम्परेरी इंडिया चेंजिंग कास्ट : आडियोलोजी, आइडेंटिटी एंड मोबिलिटी, सेज पब्लिकेशंस, नई दिल्ली।

सुरिंदर एस. जोधका (2013), कम्यूनिटी एंड आइडेंटिटी : कंटेम्प्रेरी डिसकोर्स ऑन कल्चर एंड पॉलिटिक्स इन इंडिया, सेज पब्लिकेशंस, नई दिल्ली।

सुरिंदर एस. जोधका (2013), इंटरोगेटिंग इंडियाज़ मॉडर्निटी : डेमोक्रेसी, आइडेंटिटी एंड सिटीजनशिप, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

सुरिंदर एस. जोधका (2014), कास्ट इन कंटेम्परेरी इंडिया, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

सुरिंदर एस. जोधका, असीम प्रकाश (2016), द इंडियन मिडिल क्लास, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

सुरिंदर एस. जोधका (2016), 'फ्रॉम जात टू कौम : फ्लुइड कंटूवर्स ऑफ़ द रविदासी आइडेंटिटी इन पंजाब' इन रामनारायण एस. रावत, के. सत्यनारायण (एडि.), दलित स्टडीज़, ड्यूक यूनिवर्सिटी प्रेस।

सुरिंदर एस. जोधका एंड जेम्स मैनर (2017), कंटेस्टेड हाइरार्की, पर्सिस्टिंग इन्फ़्लुएन्स: कास्ट एंड पावर इन ट्वेंटी फ़र्स्ट सेंचुरी इंडिया, ओरिएंट ब्लैक स्वान, नई दिल्ली।

सुरिंदर एस. जोधका, जूल्स नौडेट (2019), मैपिंग द एलीट : पावर, प्रिविलेज एंड इनइक्वालिटी, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

सुनसीला मलिक, (1979), सोशल इंटीग्रेशन ऑफ़ शेड्यूल्ड कास्ट, अभिनव प्रकाशन, नई दिल्ली।

सूर्यकांत वाघमारे (2013), सिविलिटी अगेन्स्ट कास्ट दलित पॉलिटिक्स एंड सिटीजनशिप इन वेस्टर्न इंडिया, सेज पब्लिकेशंस, नई दिल्ली।

सूमी माधोक (2013), रिथिंकिंग एजेंसी डेवलप्मेंटलिज्म जेंडर एंड राइट्स, रूटलेज, नई दिल्ली।

सूरज बड़जात्या (2013), बाबू मंगूराम और आदी-धर्म मंडल आन्दोलन, आईआईडीएस-अनामिका प्रकाशन, नई दिल्ली।

संजय रूपारेलिया (2013), इंडियाज़ न्यू राइट्स एजेंडा जेनेसिस प्रोमिसेस रिस्क्स, पैसिफिक अफेयर्स, 86 (3)।

संजय सेठ (1995), मार्कसिस्ट थियरी एंड नेशनलिस्ट पॉलिटिक्स, सेज पब्लिकेशंस, नई दिल्ली।

संजय सेठ (1995), मार्क्सिज़्म, नेशनलिज़्म एंड द पर्सुईट ऑफ़ माडर्निटी, इन मार्कसिस्ट थियरी एंड नेशनलिस्ट पॉलिटिक्स, सेज पब्लिकेशंस, नई दिल्ली।

सूरज येंगड़े, आनंद तेलतुम्बडे (2018), द रेडिकल इन आंबेडकर : क्रिटिकल रिफ्लेक्शन, पेंगुइन रैंडम हाउस, नई दिल्ली।

संगीता सिंह एवं अन्य (1984) सबाल्टर्न स्टडीज़-II : ए रिव्यू आर्टिकल सोशल साइंटिस्ट-137, वॉल्यूम- 12, 8 अक्टूबर, 1984 ।

संदीप पेंडसे (1994), (एडि.), एट क्रास रोड्स दलित मूवमेंट टुडे, विकास ध्यान केंद्र, बॉम्बे।

स्टुअर्ट कोरब्रिज एंड जॉन हैरिस (2000), रिइनवेंटिंग इंडिया लिबरलाइजेशन हिंदू नेशनलिज़्म एंड पापुलर डेमोक्रेसी, कैम्ब्रिज, पोलिटी, चैप्टर-6 ।

स्टुअर्ट कोरब्रिज, ग्लेन विलियम्स, मनोज श्रीवास्तव एंड रेने वेरोन (2005), सीइंग द स्टेट गवर्नेंस एंड गवर्नमेंटलिटी इन इंडिया, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस।

स्टीफन फुक्स (1999), द चिल्ड्रन ऑफ़ हरि एट दि बॉटम ऑफ़ इन्डियन सोसायटी, इन एस.एम. माइकल (एडि.), दलित्स इन मॉडर्न इंडिया : विजन एंड वैल्यूज, विस्तार पब्लिकेशंस, नई दिल्ली।

स्टीफन हेन्निगम (1981), आटोनॉमी एंड आर्गेनाइजेशन हरिजन्स एंड आदिवासी प्रोटेस्ट मूवमेंटस, इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली, 16(27), जुलाई 4 ।

सतीश सब्बरवाल (1990), मोबाइल मेन लिमिट्स टू सोशल चेंज इन अर्बन पंजाब, मनोहर, नई दिल्ली।

सतीश के. शर्मा (2000), आर्य समाज मूवमेंट इन पंजाब, इन हरीश कुमार पुरी एंड परमजीत एस.जज (एडि.), सोशल एंड पोलिटीकल मूवमेंट्स: रीडिंग ऑन पंजाब, रावत पब्लिकेशंस जयपुर।

सतीश शर्मा (1985), स्ट्रग्लस फॉर स्टेटस, बी.आर. पब्लिशिंग को-आपरेशन, दिल्ली।

सतीश देशपांडे (1998), करेंट इम्पास इन द लैन्गवेज ऑफ़ राइट्स : क्वेश्चन्स ऑफ़ कांटेक्स्ट, इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली, 33 (5), 31, जनवरी, 1998 ।

सतीश देशपांडे (2003), कान्टेम्परेरी इंडिया ए सोशियोलोजिकल वीव, वाइकिंग/पेंगुइन, नई दिल्ली।

सतीश देशपांडे (2014), द प्रॉब्लम ऑफ़ कास्ट एसेज फ्रॉम इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली, ओरिएंट ब्लैकस्वान, नई दिल्ली।

सतीश देशपांडे (2016), बियोंड इंक्लूजन : द प्रैक्टिस ऑफ़ इक्वल एक्सेस इन इंडियन हायर एजुकेशन, रूटलेज इंडिया।

सेलेस्तिन बूगले (1971), एसेज ऑन द कास्ट सिस्टम, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी, प्रेस।

सब्यसाची भट्टाचार्य और यगति चिन्नाराव (2017), द पास्ट ऑफ़ आउटकास्ट : रीडिंग्स इन दलित हिस्ट्री, ओरियंट ब्लैकस्वान, हैदराबाद।

स्वराज बसु (2003), डायनेमिक्स ऑफ़ ए कास्ट मूवमेंट दि राजबंशिज ऑफ़ नॉर्थ बंगाल, 1910–1947. मनोहर पब्लिशर्स, नई दिल्ली।

एस.के. चलम (2018), रिलेवेन्स ऑफ़ अंबेडकरीज्म इन इंडिया, रावत पब्लिकेशंस, नई दिल्ली।

एस.के.राय व अन्य (2010), इतिहास एवं इतिहास लेखन के विविध आयाम, सेंट्रल पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद।

एस.कोरब्रिज एंड जे हैरिस जॉन (2013), भारत का पुनर्निर्माण : उदारीकरण, हिंदू राष्ट्रवाद और लोकप्रिय लोकतंत्र, विले एंड संस।

स्टुअर्ट कोरब्रिज एंड अल्पा शाह (2013), इंट्रोड्क्सन द अंडरबेली ऑफ़ द इंडियन बूम, इकोनोमी एंड सोसाइटी, 42 (3)।

एस.के. गुप्ता (1985), दि शिड्यूल्ड कास्ट इन मॉडर्न इंडियन पॉलिटिक्स : दिअर इमर्जेन्स एज ए पोलिटिकल पावर, मुंशीराम मनोहरलाल, नई दिल्ली।

एस.के.राय व अन्य (2010), इतिहास एवं इतिहास लेखन के विविध आयाम, सेंट्रल पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद।

एस.सी. दुबे (1955), इंडियन विलेज, रूटलेज एंड केगन पॉल।

एस.सी. दुबे (1955), ट्रेडीशन एंड डेवलपमेंट, विकास पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।

एस.सी. दुबे (1958), इंडियाज चेंजिंग विलेज, रूटलेज एंड केगन पॉल।

एस.सी. दुबे (1974), कोंटेम्परेरी इंडिया एंड इट्स मॉडर्नाइजेशन, विकास पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।

एस.सी. दुबे (1988), स्टेट्स ऑफ़ डिप्रेस्ड कास्ट इन कंटेम्परेरी, विकास पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।

एस. वी. केतकर (1911), हिस्ट्री ऑफ़ कास्ट इन इंडिया, रिप्रिंट रावत पब्लिकेशनस (2108), नई दिल्ली।

एस.पी. पुनलेकर (2001), दलित लिट्रेचर एंड दलित आइडेंटिटी, इन घनश्याम शाह (एडि.), दलित आइडेंटिटी एंड पॉलिटिक्स, सेज पब्लिकेशनस, नई दिल्ली।

एस.एम. माइकल, (1999), दलित्स इन मॉडर्न इंडिया : विजन एंड वैल्यूज, विस्तार पब्लिकेशंस, नई दिल्ली।

एस.एम. माइकल (2010), आधुनिक भारत में दलित दृष्टि एवं मूल्य, सेज-रावत पब्लिकेशंस, नई दिल्ली।

हजारी प्रसाद द्विवेदी (2005), अनामदास का पोथा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

ह्यूगो गोरिंगे (2004), अनटचेबल सिटीजन्स दलित मूवमेंट एंड डेमोक्रेटाइजेशन इन तमिलनाडु (कल्चरल सबोर्डिनेशन एंड द दलित चैलेंज), सेज पब्लिकेशन इंडिया।

हर्बर्ट होप रिस्ले (1891), द ट्राइब्स एंड कास्ट्स ऑफ़ एथनोग्राफिक ग्लोसरी : बंगाल खंड-2, एंड द पीपुल ऑफ़ इंडिया (1908), कलकता।

हर्बर्ट होप रिस्ले (1908), द पीपुल ऑफ़ इंडिया, प्रकाशक, ठाकर स्पिंक एंड कंपनी।

हरबंस मुखिया (1985), फ़्यूडलिज़्म एंड नॉन-यूरोपियन सोसायटीज़, रूटलेज नई दिल्ली।

हरकिशन संतोषी (2009), दलितों के दलित दलित और बाल्मीकि समाज का सच, सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली।

तुलसीराम (2011), मुर्दहिया, राजकमल, नई दिल्ली।

तुलसीराम (2014), मणिकर्णिका, राजकमल, नई दिल्ली।

त्रिलोकनाथ (1987), पॉलिटिक्स ऑफ़ द डिप्रेस्ड क्लासेज, डैप्यूटी पब्लिकेशनस, दिल्ली।

ज्ञान प्रकाश (1994), सबालटर्न स्टडीज़ एज पोस्टकोलोनियल क्रिटिस्ज़्म, अमेरिकन हिस्टॉरिकल रिवीव, 99 (5)।

ज्ञान प्रकाश (1994), 'सबाल्टर्न स्टडीज़ इन पोस्टकोलोनियल क्रिटिसिज्म', अमेरिकन हिस्टोरिकल रिव्यू, 99 (5), दिसंबर।

ज्ञान प्रकाश (1986), रिप्रोड्यूशिंग इनइक्वालिटी : स्प्रिट कल्ट्स एंड लेबर रिलेशंस इन कोलोनियल इंडिया, मॉडर्न एशियन स्टडीज़, 20 (2), 1986 ।

ज्ञान प्रकाश (1992), कंटेस्टिंग पावर : रजिस्टेन्स एंड एवरीडे सोशल रिलेशन्स इन साउथ एशिया, इन (एडि.), डगलस हेन्स एंड ज्ञान प्रकाश, कैलिफोर्निया यूनिवर्सिटी प्रेस, बर्कले।

ज्ञान पांडेय (1997), 'इन डिफेंस ऑफ़ द फ्रेगमेंट : राइटिंग अबाउट हिंदू मुस्लिम राइट्स इन इंडिया टुडे' इन रणजीत गुहा (1997), (एडि.), सबाल्टर्न स्टडीज़ रीडर (1986–1995), मिनेसोटा यूनिवर्सिटी प्रेस, मिनीपोलिस।

ज्ञानेन्द्र पाण्डे (1994), द प्रोज ऑफ़ अदरनेस इन (एडि.) डेविड अर्नोल्ड एंड डेविड हार्डमैन, सबाल्टर्न स्टडीज़.8.1994. ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

रिपोर्ट्स

रिस्ट्रक्चरिंग द इंडियन काउंसिल ऑफ़ सोशल साइंस रिसर्च : अ रिपोर्ट ऑफ़ द फोर्थ रिव्य कमेटी' (मार्च, 2000). आईसीएसएसआर, दिल्ली : 20–22 ।

जे. हूपर (1891), (बस्ती जिले के निपटान की रिपोर्ट) रिपोर्ट ऑफ़ द सेटलमेंट ऑफ़ द बस्ती डिस्ट्रिक्ट इलाहाबाद नॉर्थ वेस्टर्न प्रोविंसेस एंड अवध गवर्नमेंट प्रेस : 28 ।

क्रॉस्ट हाइट और नीले, (इटावा जिले के निपटान की रिपोर्ट), रिपोर्ट ऑफ़ द सेटलमेंट ऑफ़ द इटावा डिस्ट्रिक्ट : 20., क्लार्क, रिपोर्ट ऑन द रिविज़न ऑफ़ द बहराइच डिस्ट्रिक्ट, बहराइच: 66., (बहराइच जिले के निपटान के संशोधन पर रिपोर्ट), अवध, क्यूरी, (शाहजहाँपुर जिले के निपटान पर रिपोर्ट), रिपोर्ट ऑन द सेटलमेंट ऑफ़ द शाहजहापुर डिस्ट्रिक्ट: 61., रीड, (रिपोर्ट पर आजमगढ़ जिले में निपटान संचालन), रिपोर्ट ऑन द सेटेलमेंट ओप्रेशंस इन द आजमगढ़ डिस्ट्रिक्ट: 31., टी. स्मिथ रिपोर्ट ऑन द रिविज़न ऑफ़ सेटेलमेंट इन द डिस्ट्रिक्ट अलीगढ़ : 130., राइट, रिपोर्ट ऑफ़ द सेटेलमेंट ऑफ़ द कानपुर, डिस्ट्रिक्ट।

Further Papers Relating to Under- Proprietary Rights and Rights of Cultivators in Oude; Collection of Papers Connected with an Inquiry into the Conditions of the Lower Classes of the Population; Collection of Papers Relating to the Conditions of the Tenancy and the Working of Present Rent Law in Oudh.

एच.जे. बोस (1909), रिपोर्ट ऑन द एलेवेंथ सेटेलमेंट ऑफ़ द मोरदाबाद, इलाहाबाद सुपरिन्टेंडेंट, गवर्नमेंट प्रेस यूनाइटेड प्रोविंस (मुरादाबाद की ग्यारहवीं सेटेलमेंट पर रिपोर्ट)।

ब्रोक्कमन ड्रेक (1921), डी. एल. रिपोर्ट ऑन द सेटेलमेंट आपरेशन्स ऑफ़ द सहारनपुर डिस्ट्रिक्ट, इलाहाबाद सुपरिन्टेंडेंट, गवर्नमेंट प्रेस यूनाइटेड प्रोविंस.

एस.एच.फर्माटैंल, (1903), रिपोर्ट ऑन द सेकंड सेटेलमेंट ऑफ़ द डिस्ट्रिक्ट बरेली, इलाहाबाद सुपरिन्टेंडेंट, गवर्नमेंट प्रेस यूनाइटेड प्रोविंस : 4–5. (बरेली जिले के निपटारे पर रिपोर्ट)।

एच.एफ. इवांस, (1880), रिपोर्ट ऑन द सेटेलमेंट ऑफ़ द आगरा डिस्ट्रिक्ट, इलाहाबाद सुपरिन्टेंडेंट नॉर्थ वेस्टर्न प्रोविंसेस, गवर्नमेंट प्रेस यूनाइटेड प्रोविंस एंड अवध, 1880 ।

आर.एफ. मुडी (1930), रिपोर्ट ऑन द सेटेलमेंट एंड रिकॉर्ड ओपरेशन्स इन डिस्ट्रिक्ट आगरा, सुपरिन्टेंडेंट, गवर्नमेंट प्रेस यूनाइटेड प्रोविंस।

बी. टी. (1891), स्टॉकर, रिपोर्ट ऑन द सेटेलमेंट ऑफ़ लैंड रेवेन्यू इन द बुलंदशहर डिस्ट्रिक्ट, 1891. इलाहाबाद सुपरिन्टेंडेंट नॉर्थ वेस्टर्न प्रोविंसेस एंड अवध, गवर्नमेंट प्रेस,1892 (बुलंदशहर जिले में भूमि राजस्व के निपटान पर रिपोर्ट)।

ड्ब्लेयु.एच.एल. इम्पी (1893), रिपोर्ट ऑन द सेटेलमेंट ऑफ़ द झाँसी डिस्ट्रिक्ट, 1893, इलाहाबाद नॉर्थ वेस्टर्न प्रोविंसेस एंड अवध, गवर्नमेंट प्रेस, 1893 (झांसी जिले के निपटान पर रिपोर्ट)।

ब्रोक्कमन ड्रेक (1921), डी. एल. रिपोर्ट ऑन द सेटेलमेंट आपरेशन्स ऑफ़ द सहारनपुर डिस्ट्रिक्ट, 1921. इलाहाबाद सुपरिन्टेंडेंट, गवर्नमेंट प्रेस यूनाइटेड प्रोविंसेस : (सहारनपुर जिले के निपटान कार्यों पर रिपोर्ट)।

एच.एफ. इवांस, (1880), रिपोर्ट ऑन द सेटेलमेंट ऑफ़ द आगरा डिस्ट्रिक्ट, इलाहाबाद सुपरिन्टेंडेंट नॉर्थ वेस्टर्न प्रोविंसेस, गवर्नमेंट प्रेस यूनाइटेड प्रोविंसेस एंड अवध, 1880 (आगरा जिले के निपटान पर रिपोर्ट)।

एडविन टी.एटकिंसन (1883), स्टेटिकल डिस्क्रिप्टव एंड हिस्टॉरिकल अकाउंट ऑफ़ द नॉर्थ–वेस्टर्न प्रोविंसेस ऑफ़ इंडिया, 3 ।

एस.एच. फैरमंटल (1898), रिपोर्ट ऑन द सेटेलमेंट ऑफ़ द रायबरेली डिस्ट्रिक्ट, इलाहाबाद सुपरिन्टेंडेंट नॉर्थ–वेस्टर्न प्रोविंसेस, एंड अवध, गवर्नमेंट प्रेस : 19।

Further Papers Relating to Under- Proprietary Rights and Rights of Cultivators in Oude, reports by Maconochie, Settlement Officer, Oonao [or Unnao], March 16, 1865, 386 and 407, Harrington, Settlement Officer, [block] Durriabad, Lucknow District, April 4, 1865, p. 518, Settlement Officer, Hurdui [or Hardoi], April 30, 1865, p. 154. 31.

''अवध किसान आंदोलन पर रिपोर्ट'' 687-93, एफ. सं .50 /1921/ बी. नंबर 133-4. सामान्य प्रशासन विभाग, उत्तर प्रदेश राज्य अभिलेखागार, लखनऊ.

1921 के किसान आंदोलन से संबंधित दस्तावेज़, 21, फ़ाइल नंबर 1, बाबा रामचंद्र के पेपर, नेहरू मेमोरियल संग्रहालय और पुस्तकालय, दिल्ली।

वेबसाइट्स :

अभय कुमार https://www.forwardpress.in/2015/08/writings-born-of-experience-hindi/ पर उपलब्ध।

अभिजीत गुहा, https://www.forwardpress.in/2017/06/ambedkars-untouchability-in-indian-anthropology-hindi/ पर उपलब्ध।

अशोक झा https://www.forwardpress.in/2019/03/lalai-singh-yadav-sachchi-ramayan-hindi-2/ पर उपलब्ध।

आकाश जोशी, 14 Apr 2021, 10:44 AM ISThttps://www.thequint.com/voices/opinion/watch-video-the-many-ways-in-which-dr-ambedkar-changed-our-life# 22.08.2022 को देखा गया।

असित दास (2013), मार्क्सिज्म एंड द कास्ट क्वेस्चन एन एक्स्टेंडेड रिवीव ऑफ़ अनुराधा गाँधीज कास्ट क्वेस्चन इन इंडिया, इन आनंद तेलतुंबडे एंड शोमा सेन (एडि.), स्क्रिप्टिंग द चेंज सेलेक्टेड राइटिंग्स ऑफ़ अनुराधा गाँधी, दानिश बुक्स, दिल्ली। देखें http://sanhati.com/excerpted/6046/ पर उपलब्ध।

आनन्द तेलतुम्बड़े, थियोराईजिंग द दलित मूवमेंट ए वीव पोंइंट, 'Theorising the Dalit Movement : A Viewpoint') http://www.ambedkar.org/research/THEORISING%20THE%20DALIT%20MOVEMENT.htm पर उपलब्ध।

अनिरूद्ध देशपांडे (2016), आंबेडकर: द अनसेंटिमेंटल हिस्टोरियन, https://www.forwardpress.in/2016/04/dr-ambedkar-the-unsentimental-historian_hindi/ ON APRIL 14, 2016. पर उपलब्ध।

http://www.insoso.org/images/pdfs/Website_matter_of_Chronology_of_AISCs.pdf

https://ugc.ac.in/pdfnews/4750856_CentrestudySocialExclusionInclusivePolicy.PDF

https://www.ugc.ac.in/pdfnews/1509354_List-of-Universities-having-Women-Study-Centres.pdf

https://www.ugc.ac.in/pdfnews/5759091_Epoch-Making-Social-Thinkers-of-India.pdf

http://thewirehindi.com/21396/bhimrao-ambedkar-buddhism-dalit-dhammadeeksha/amp/

रिस्ट्रक्चरिंग द इंडियन काउंसिल ऑफ़ सोशल साइंस रिसर्च : अ रिपोर्ट ऑफ़ द फोर्थ रिव्य कमेटी (मार्च, 2000). आईसीएसएसआर, दिल्ली।

कृपाशंकर चौबे, (5 जुलाई, 2017). "Ambedkar's journalism and its significance today". Forward Press. अभिगमन तिथि 25 अप्रैल 2019

देवांशु झा https://aajtak.intoday.in/story/book-review-hindutva-ka-mohini-mantra-by-badri-narayan-published-by-rajkamal-prakashan—1-796443.html पर उपलब्ध।

नीलाद्रि भट्टाचार्य (2003), सेमिनार.37.https://www.indiaseminar.com/2003/522/522%20the%20problem.htm. पर उपलब्ध।

यशवंत जगाडे ON SEPTEMBER 14, 2018, https://www.forwardpress.in/2018/09/eleanor-zelliot-and-ambedkar/ पर उपलब्ध।

रवि कुमार (2006), री–रीडिंग पेरियार. https://www.countercurrents.org/dalit-ravikumar020306.htm. पर उपलब्ध।

राजबहादुर, Raj Bahadur (10 फ़रवरी, 2017) A glance at Dr.Ambedkar's writings, Forward Press. अभिगमन तिथि 25 अप्रैल 2019. पर उपलब्ध.
श्यौराज सिंह बेचैन (2008), 'मीडिया में दलित शब्द की मनाही के मायने' http://www.dalitdastak.com/the-meaning-of-prohibition-of-dalit-in-the-media/ दलित दस्तक न्यूज़- सितंबर 8, 2018. पर उपलब्ध।
सिद्धार्थ https://hindi.theprint.in/opinion/why-did-become-a-buddhist-the-sachchi-ramayana-printer-lalai-yadav/44163/ पर उपलब्ध.
श्रीनिवासुलु, कास्ट क्लास एंड सोशल आर्टिकुलेशन इन आंध्र प्रदेश, https://www.odi.org/sites/odi.org.uk/files/odi-assets/publications-opinion-files/2692.pdf. पर उपलब्ध.

अखबार :

एम.के. गाँधी, हरिजन, 7 फरवरी 1933
द टाइम्स ऑफ़ इंडिया, दिल्ली में 5 अक्टूबर, 2008 को ऑप-एड लेख।
प्रबुद्ध भारत की अवधारणा को आंबेडकर द्वारा एक साप्ताहिक अखबार के माध्यम से विकसित किया गया था, अखबार की शुरुआत 1950 के दशक में आंबेडकर ने की थी।
बहिष्कृत भारत, 31 मई 1929
जनता 18 मई, 1937
उत्तपुरम की दीवार नहीं बर्लिन की दीवार, हिंदू, 21 मार्च, 2012; 18 अक्टूबर, 2010 को टाइम्स ऑफ़ इंडिया
अभ्युदय
अमर उजाला
बहिष्कृत भारत
दैनिक जागरण
हिंदुस्तान
प्रभात

शब्दकोष :

प्राकृत हिंदी कोश, (1987), प्राकृत जैन विद्या विकास फंड, अहमदाबाद।

समानांतर हिंदी शब्दकोश, (2013), नेशनल बुक ट्रस्ट ऑफ़ इंडिया।

प्रामाणिक हिंदी शब्दकोश (2009), लोक भारती, इलाहाबाद।

नालन्दा विशाल शब्द सागर, (2012), नवलजी (सम्पादक), आदीस बुक डिपो, नई दिल्ली।

ऑक्सफ़ोर्ड मानक शब्दकोश, (1993), ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

मानक हिंदी शब्दकोश, (2004), हिंदी साहित्य सम्मेलन प्रयाग।

अपेंडिक्स (Appendix)

अपेंडिक्स-I

अखिल भारतीय समाजशास्त्रीय सम्मेलन (एआईएससीएस) का कालक्रम

S. No	Year & Date	Venue	Themes
1955-1960			
I	1955	Dehradun	Social Change
II	1957	Patna	
III	1958	Calcutta	
IV	1959	Lucknow	Psychology, Social Stratification
V	1960	Agra	
1961-1970			
VI	1961	Sagar	
VII	14-16 Oct, 1967	Tata Institute of Social Sciences, Bombay	Sociological Prerequisites of Democratic Polity, Education and Social Change, Industrialisation and its Social Consequences
VIII	1-3 Sept, 1968	Institute of Social Sciences, Agra University,Agra	Religion and Modernisation, Political Sociology, Changing Patterns of Stratification

S. No	Year & Date	Venue	Themes
IX	22-25 Nov, 1969	Department of Humanities and Social Sciences, IIT, New Delhi	Gandhi's Contribution to Indian Thought and Action, Science, Technology and Society, Sociology of Religion, Sociology of Kinship, Education and Society and Teaching Sociology in Regional Languages
X	26-28 Dec, 1970	Osmania University, Hyderabad	Sociology of National Integration,Socialist Revolution, Sociology of Social Organisation
1971-1980			
XI	28-30 April, 1972	Gujarat University Ahmadabad	Social Demography, Sociology of Development, Changing Pattern of Caste, Urbanism and Urbanisation
XII	28-30 Oct, 1974	Banaras Hindu University Varanasi	Sociology of Conflict, Sociology of Development, Sociology of Law
XIII	26-28 Dec, 1976	Punjab University, Chandigarh	Sociologist Observer, Analyst or Interventionist, Sociology of Social Movements, Sociology of Peasant and Workers, Towards reorientation ofTeaching and Research in Sociology

S. No	Year & Date	Venue	Themes
XIV	28-30 Dec, 1978	Jabalpur University, Jabalpur	Education Policies in India,Transformation of Tribal Societies, Changing Status of Women
XV	2-4 Nov, 1980	Meerut University, Meerut	Social Stratification, Family, Social Change
		1981-1990	
XVI	29-31 Dec, 1982	Annamalai University, Tamil Nadu	Caste, Class and Gender
XVII	27-29 Dec, 1984	South Gujarat University,Surat	Social Action for Change, Ethnicity and Ethnic Processes
XVIII	19-21 May, 1987	North Eastern Hill University, Shilong	Sociology and Social Transformation
XIX	3-5 March, 1989	Haryana Agriculture University, Hissar	Rural Development
		1991-2000	
XX	29-31 Dec, 1993	Saint Aloyius College, Mangalore	Identity, Equality and Social Transformation
XXI	19-21 Dec, 1994	Jawaharlal Nehru University, New Delhi	Cultural Dimensions of Social Change
XXII	16-18 Dec, 1995	Barkatullah University, Bhopal	Challenge of Change and Indian Sociology Retrospect and Bhopal Prospects

S. No	Year & Date	Venue	Themes
XXIII	23-25 Nov, 1996	Shivaji University, Kolhapur	Ecology, Society and Culture
XXIV	22-24 Dec, 1997	Osmaia University, Hyderabad	Fifty Years of India's Independenceand Beyond
XXV	17-19 Dec, 1998	Aligarh Muslim University, Aligarh	Nation, Nationality and NationalIdentity: South Asia
XXVI	2-31 Dec, 2000	University of Kerala, Thiruvantapuram	Civil Society in India
2001-2010			
XXVII	26-28 Dec, 2001	Guru Nanak Dev University, Amritsar	Half a Century of Sociology in India (1951-2001) Challenges, Responses and Expectations
XXVIII	18-20 Dec, 2002	IIT, Kanpur	Globalisation and the Indian Society
XXIX	21-23 Dec, 2003	Maharana Pratap University of Agriculture and Technology, Udaipur	Social Policy Governance and Mobilisation
XXX	27-29 Dec, 2004	DDU University, Gorakhpur	National Policy of Social Sciences
XXXI	25-27 Oct, 2005	University of Jammu, Jammu	Redesigning Sociology, Teaching and Research

S. No	Year & Date	Venue	Themes
XXXII	27-29 Dec, 2006	University of Madras, Chennai	Science, Technology and Society
XXXIII	28-29 Dec, 2007	Karnataka University, Dharwad	State, Civil Society and Social Justice
XXIV	27-29 Dec, 2008	University of Rajasthan, Jaipur	Youth, Globalisation and Social Transformation
XXXV	10-12 Oct, 2009	University of Kashmir, Srinagar	Identity, Development and Nation Building
XXXVI	27-29 Dec, 2010	Ravenshaw University, Cuttack	Development, Polity and Social Tensions
2011-2019			
XXXVII	11-13 Dec, 2011	Jawaharlal Nehru University, New Delhi	Sociology and the Crises of Social Transformation in India
XXXVIII	27-29 Dec, 2012	Mohanlal Sukhadia University, Udaipur	Contemporary Indian Society: Challenges and Responses
XXXIX	27-29 Dec, 2013	Karnataka State Open University, Mysore	Inequality, Social Justice and Empowerment
XL	29-30 Nov-1 Dec, 2014	Department of Sociology, Mahatma Gandhi Kashi Vidyapeeth, Varanasi	Development, Diversity and Democracy

S. No	Year & Date	Venue	Themes
XLI	27-29 Dec, 2015	Kalinga Institute of Social Sciences, KIIT University, Bhubaneswar	Development, Marginalisation and People's Movements
XLII	27-30 Dec, 2016	Department of Sociology, Tezpur University, Tezpur	Rethinking Sociological Traditions of India
XLIII	9-12 Nov, 2017	Department of Sociology, Lucknow University	Neoliberalism, Consumption and Culture
XLIV	Dec. 27, 28 and 29, 2018	St. Philomena's College (Autonomous) Bannimantap, Mysuru – 570015 Karnataka, India	Reconstructing Sociological Discourse in India: Perspectives from the Margins
XLV	27, 28 & 29 Dec. 2019	Kariavattom Campus, University of Kerala Thiruvananthapuram	Environment, Culture and Development:Discourses and Intersections

स्रोत : http://www.insoso.org/images/pdfs/Website_matter_of_Chronology_of_AISCs.pdf

क्रोनोलोजी ऑफ आल इंडिया सोशियोलॉजिकल कान्फ्रेंस (एआईएससीएस) अखिल भारतीय समाजशास्त्रीय सम्मेलन (एआईएससीएस) का कालक्रम (देखें अपेंडिक्स-I)

अपेंडिक्स-II

Human Distress Index

विवेक कुमार

Nature of Exclusion		Value
A. Social Exclusion		
1. Atrocities		
A	Rape	10
B	Murder	4
C	Grievous hurt	2
D	Arson/loot	2
E	Ridicule	2
2. Practice of untouchability		
A	Acceptance of food	2
B	Acceptance of water	2
C	Sitting beside/together	2
D	Entry into house	2
E	Entry into kitchen	2
3. Hazardous occupations		
A	Cleaning human excreta	5
B	Removing carcasses	3
C	Removing Corpuses/Digging of graveyard	2
D	Midwifery role of dalit women	2
E	Butchery/piggery	2
F	Cleaning of soiled clothes 1	1
B.	Economic exclusion	5
C.	Political exclusion	5
D.	Religious legitimisation of exclusion	10
E.	Internal oppressor in the caste	5

स्रोत : विवेक कुमार (2013), सिच्युवेटिंग दलित्स इन इंडियन सोशियोलॉजी इन टूअर्ड्स सोशियोलॉजी ऑफ एडिटेड बाई परमजीत एस. जज, सेज नई दिल्ली : 3-22.

अपेंडिक्स–III

University Grants Commission Centre for Study of Social Exclusion and Inclusive Policy

S.No.	Name of University	Name of City
1.	Andhra University	Andhra University, Waltair Junction, Visakhapatnam-530003, Andhra Pradesh.
2.	Hyderabad University	PO Central University Campus
3.	Maulana Azad National Urdu University	Gachibowli
4.	Patna University	Patna-800 005, Bihar
5.	S Mangalore University	New Administrative bldg.
6.	National Law School of India University	Nagarbhavi, PB.7201
7.	Shivaji University	Vidyanagar, Kolhapur-416 004
8.	Tata Institute of Social Sciences	VN Purav Marg, Deonar
9.	Guru Nanak Dev University	Amritsar-143 005 Punjab
10.	Saurasthra University	University Road, Rajkot-360 005
11.	University of Jammu	Baba Saheb Ambedkar Road, Jammu Tawi (J&K)-180006.
12.	Cochin University of Science & Technology	Kochi-682 022
13.	Gokhale Institute of Politics & Economics	846, Shivajinagar Deccan Gymkana
14.	Vikram University	Kothi Road, Ujjain-456 010
15.	Manipur University	Canchipur, Imphal-795003

S.No.	Name of University	Name of City
16.	Sambalpur University	Jyoti Vihar, Sambalpur-768 019
17.	Utkal University	Vani Vihar, Bhubaneswar-751 004
18.	Bharathidasan University	Palkalaiperur, Tiruchirappalli
19.	Babasaheb Bhim Rao Ambedkar University	Vidya Vihar, Raebareli Road
20.	Calcutta University	87/1, College Street
21.	Punjab University	Chandigarh-160 014
22.	Jawahar Lal ehru University	New Mehrauli Road
23.	Srikrishnadevarya University	Anantapur-515 055, Andhra Pradesh
24.	Goa University	Sub Post Office Goa University
25.	Sangalore University	Jnanabharathi
26.	South Gujarat University	University Campus
27.	Pondicherry University	R Venkataraman Nagar, Kalapet
28.	Rajasthan University	Jaipur-302 055
29.	Tripura University	Suryamaninagar-799 130
30.	Banaras Hindu University	Varanasi-221 005 Uttar Pradesh
31.	Manonmaniam Sundranar University	Abishekapatti, Tirunelveli-627 012
32.	Gandhigram Rural University	Gandhigram PO 624 302
33.	University of Mysore	Crawford Hall, Mysore-570 005
34.	Jamia Milla Islamia	Jamia Nagar, New Delhi
35.	SNDT Women's University	Nathibal Thackersey Road, Mumbai-400020

स्रोत : https://ugc.ac.in/pdfnews/4750856_CentrestudySocial ExclusionInclusivePolicy.PDF

अपेंडिक्स–IV

A LIST OF UNNIVERSITIES HAVING WOMEN'S STUDIES CENTRES WITH UGC FINANCIAL ASSISTANCE:

S.No.	Name of University
1.	University of Pune, Pune-411007 (MS)
2.	Punjab University, Chandigarh-160014
3.	University of Kerala, Thiruvananathapuram-695034 (Kerala)
4.	Banaras Hindu University, Varanasi-221005 (UP)
5.	Karnataka State Women University, Bijapur
6.	Sri Padmavati Mahila Vishwavidyalaya, Tirupati-517502 (AP)
7.	Andhra University, Waltair, Visakhapatnam-530003 (A.P)
8.	Karnatak University, Dharwad- (Karnataka)
9.	Panjabi University, Patiala-147002 (Punjab)
10.	University of Delhi, Delhi-11007
11.	Gauhati University, Guwahati -781014 (ASSAM)
12.	Jadavpur University, Kolkata-700032 (WB)
13.	Kurukshetra University, Kurukshetra-136119 (Haryana)
14.	Alagappa University, Karaikudi-630003 (T.N)
15.	M. S. University of Baroda, Fatehgan), Vadodara-390002 (Gujarat)
16.	University of Mysore, Mysore-570005 (Karnataka)
17.	Tata Institute of Social Sciences, Sion-Trobmay Road, Deonar, Mumbai-400088 (MS)
18.	SNDT Women's University 1, Nathibai Thackersey Road, Mumbai-400020 (MS)
19.	University of Calcutta, 87/1. College Street, Kolkata-700073 (W.B)

S.No.	Name of University
20.	Mangalore University, Mangalagangothri, Mangalore-574199
21.	Mohanlal Sukhadia University, Udaipur-313001 (Rajasthan)
22.	Sardar Patel University, Vallabh Vidya Nagar-388120 (Gujarat)
23.	Barkatullah University, Hoshangabad Road, Bhopal462026 (M.P)
24.	Veer Narmad South Gujarat University, Surat-395007 (Gujarat)
25.	Guru Ghasidas University, Bilaspur -495009 (CG)
26.	Maulana Azad National Urdu University, Hydrabad-500032 (AP)
27.	University of Calicut, Malappuram-673635 (Kerala)
28.	University of Kashmir, Hazaratbal, Srinagar-190006 (J&K)
29.	Kannada University, Vidyaranya, Hampi-583276 (Karnataka)
30.	University of Jammu, Bbasaheb Ambedkar Road, Jammu-180006 (J&K)
31.	Banasthali Vidyapeeth, Banasthali-304022 (Rajasthan)
32.	Bharthidasan University, Tiruchirapall-620024 (T.N)
33.	Birla Institute of Technology & Science, Pilani-333031 (Rajasthan)
34.	Jai Narain Vyas University, Jodhpur-342011 (Rajasthan)
35.	Dibrugarh University, Dibrugarh-786004 (ASSAM)
36.	Bharthiar University, Coimbatore-641046(T.N)
37.	Bundelkhand University, Kanpur Road, Jhansi-284128 (M.P)
38.	Nagaland University, Lumami, Kohima-797001 (Nagaland)
39.	Sri Lal Bahadur Shastri Rashtriya Sanskrit Vidyapeeth, New Delhi-110016

S.No.	Name of University
40.	RT.M. Nagpur University, Nagpur-440001 (MS)
41.	University of Hyderabad, Hyderabad-500046[A.P.)
42.	Sri Venkateswara University, Tirupati-517502 A.PT
43.	Gandhigram Rural Institute, Gandhigram-624302 (TN)
44.	Mudural Kamraj University, Palkalai Nagar, Madurai-625021
45.	Dr. Babasaheb Ambedkar Marathwada University, Aurangabad-500033 (MS)
46.	University of Allahabad, Allahabad-211002 (UP)
47.	Cochin University of Science and Technology, Kochi-682022 (Kerala)
48.	North Maharashtra University. Jalgaon- 425001(MS)
49.	Rabindra Bharati University, Kolkata-700050 (WB)
50.	Vidya Sagar University, Midnapore-721102
51.	Tempur University, Tezpur-784028 (ASSAM)
52.	Saint Gadge Baba Amravati University, Amravati 444602 (MS)
53.	Swami Ramanand Teerth Marathwada University, Nanded-431606 (MS)
54.	Goa University, Taleiao Plateau, Goa-403206
55.	Maharishi Dayanand University, Rohtak-124001 (Haryana)
56.	Hemwati Nandan Ilahuguna Garhwal University, Srinagar-246174 (Uttrakhand)
57.	Visva-Bharati University, Santiniketan-731235
58.	Mother Teresa Women's University, Kodaikanal-624102 (TN)
59.	Pondicherry University, Kalapet, Pondicherry-605014 (T.N)
60.	Bangalore University, Bangalore-56056 (Karnataka)

S.No.	Name of University
61.	Jawaharlal Nehru University, New Mehrauli Road, New Delhi-110067
62.	Tamia Millia Islamia Jamia Nagar, New Delhi-110025
63.	Himachal Pradesh University, Summer Hills, Shimla-171005 (H.P)
64.	Utlcal University, Vani Vihar, Bhubneshwar-751004 (Orissa)
65.	North Bengal Unversity, Darjeeling-734013
66.	Kakatiya University, Warangal-506009
67.	Avinashilingam Instt for Home Sc & Higher Edu. for Women, Coimbatore-641043 (TN)
68.	Shivaji University, Vidyaagar, Kolhapur 416004 (MS)
69.	Aligarh Muslim University, Aligarh-202002 (UP)
70.	Rajiv Gandhi University, Itanagar-791112
71.	Mahatma Gandhi National Institute of Research and Social Action. Hyderabad-(A.P.)
72.	Sri Krishnadevaraya University, Anantapur-515055 (A.P.)
73.	Acharya Nagarjuna University, Nagarjuna Nagar, Guntur-522510 (A.P.)
74.	Pt Ravishankar Shulla University, Raipur-492010 (CG)
75.	Manipur University, Chanchipur, Imphal- 795003 (Manipur)
76.	Tripura University, Suryamaninagar-799130 (Tripura)
77.	Manonmaniam Sundaranar University, Tirunelvell- 627012 (Tamil Nadu)
78.	Berhampur University, Bhanja Bihar, Berhampur760007 (Orissa)
79.	Periyar University, Salem-636011 (Kerala)
80.	Osmania University, Hyderabad-500007 (AP)

स्रोत : https://www.ugc.ac.in/pdfnews/1509354_List-of-Universities-having-Women-Study-Centres.pdf

अनुक्रमणिका

अछूत की शिकायत– 266.
अनुसूचित जनजाति (जनजातियों)– 22, 23, 24, 29, 31, 52, 147, 190, 340.
अनुसूचित जाति (जातियों)– 16, 18, 19, 21–28, 30, 52, 58, 72, 109, 124, 132, 142, 146–52, 177, 183, 191, 307, 308, 340, 346, 349.
अर्जुन डांगले– 20, 130, 178, 352.
अस्पृश्य (अस्पृश्यता)– 15–16, 19, 21–27, 82–85, 167, 183, 184, 197, 200, 209, 212, 214–16, 272, 287, 288, 302, 347, 348.
अछूतानंद– 179, 197, 202, 227–28, 230–52, 262.
डॉ. आंबेडकर (आंबेडकर, बाबासाहेब आंबेडकर आदि)– 6, 9, 11, 17, 21, 24, 25, 26, 34, 39, 40, 48, 49, 59, 60, 68, 75, 76, 79, 80, 105–25, 130–133, 137–46, 152–61, 163, 168, 170, 183, 186–92, 197, 201, 209–17, 223, 225–28, 231–39, 243–51, 254, 256, 261–69, 273–75, 278, 280–85, 307, 308, 312, 324, 329, 349, 351, 353, 354, 357, 359–73, 380–89.
आनंद तेलतुम्बडे– 118, 353, 354, 401.
आरक्षण– 56, 57, 72, 132, 139, 166, 168, 177, 183, 185, 190, 191, 193, 203, 230, 307, 322, 339.
इंडियन नेशनल कांग्रेस– 48, 56, 68, 72, 78–89, 145, 151, 164, 168, 169, 214, 219, 220, 225, 231, 251, 257, 285, 340, 349, 380.
इंडियन सोशियोलोजिकल सोसाइटी– 297, 298, 299, 307, 329, 377.
ओमप्रकाश वाल्मीकि– 19–22, 267–74, 279, 327, 350, 358.
एंथ्रोपोलोजिकल सर्वे ऑफ़ इंडिया– 293.

कार्ल मार्क्स (मार्क्सवाद आदि)- 71, 77-79, 81-84, 87, 91, 93, 94, 99, 100-05, 109-14, 118, 136, 160-65, 181, 185, 191, 193, 198, 199, 219, 290, 296, 303, 304, 319, 327, 337, 345, 359.
कंवल भारती- 230, 232, 238-39, 242, 255, 259, 264, 274, 279, 353.
कौशल्या बैसंत्री- 267-68, 274, 279, 351.
गेल ओम्वेट- 27, 68, 84, 115, 134, 146, 148, 155, 159, 160, 191, 316, 342, 361, 362, 381.
चन्द्रिका प्रसाद जिज्ञासु- 58, 197, 227-42, 246-56, 262-66, 269, 274, 285.
जवाहरलाल नेहरू- 47, 71, 75, 78-80, 133, 198, 202, 213, 241, 307, 366.
ज्योतिबा फुले (महात्मा फुले)- 22, 67, 79, 130, 131, 137, 159, 161, 201, 210, 228, 230, 231, 234, 237, 281, 338, 369, 373, 385, 389, 390, 399.
डिप्रेस्ड क्लास- 17, 23, 26, 27, 29, 123, 235, 241, 283, 343.
डोम- 39, 177, 200, 230, 266-68, 311.
तुलसीराम- 268, 327, 342, 403.
दयानंद सरस्वती- 74, 272.
दलित अध्ययन- 3, 7, 8, 9, 56, 85, 121, 126, 145, 156, 176-77, 188-89, 196-98, 208, 226-27, 235, 274, 285, 287-329, 391.
दलित आत्मकथा- 263, 267, 268.
दलित पैंथर- 22, 25-31, 147, 152, 276, 367, 374.
दलित समाजशास्त्र- 131, 132, 289, 314, 317, 342, 350.
दलित साहित्य- 261, 268, 269, 270, 271, 274, 276, 277, 278, 280-284, 312, 313, 314, 322, 326, 350.
दलित विमर्श- 317, 318, 320, 322, 323, 326, 327, 328.
दलित ज्ञान- 133, 139-40, 188-286, 289.
दक्षिण अफ्रीका- 189, 190, 195, 317.
निषाद- 23, 172-74, 269, 386.
नीग्रो साहित्य- 271.
पाउलो फ्रेरे- 153.

पार्थ चटर्जी- 71-78, 90-92, 203, 306.
पेरियार- 23, 56, 58, 79, 131, 161, 192, 197, 200, 227, 257.
पेरियार ललई सिंह यादव- 227-28, 231-32, 234.
प्रबुद्ध भारत- 252, 303, 375, 376, 486.
प्रेमचंद- 182, 264, 324, 391.
बलात्कार- 315, 319.
बहुजन कल्याण प्रकाशन- 262, 277, 261, 252, 253, 380.
बौद्ध धर्म- 153.
बौद्ध दलित- 45, 156.
ब्राहमण (ब्राह्मणवाद आदि)- 22, 41, 42, 44, 45, 47, 49, 50, 57, 60, 61, 62, 67, 73, 79, 107, 108, 114, 124, 125, 128, 134, 143, 144, 149, 151, 159, 167, 168, 181, 184, 193, 200, 205, 206, 210, 212, 214, 216, 221, 232, 233, 235, 237, 257, 260, 266, 268, 302, 303, 305, 307, 313, 325, 327, 344, 349, 361, 383.
भूमिहीन- 27, 28, 31, 79, 311.
महात्मा गांधी- 18, 38, 39, 47, 49, 54, 74, 75-77, 89, 103, 108, 115, 117, 131, 133, 137, 140, 158, 160, 168, 178, 186, 187, 197, 213, 214, 229, 248, 251, 293, 307, 317, 321, 324, 335.
माता प्रसाद- 17, 188-89, 255, 267, 269, 274, 278, 285, 286.
मानव विकास वेदना सूचकांक- 315.
रणजीत गुहा- 74, 86, 93-99, 102, 122, 130, 203, 344, 363, 381-82, 396.
राजेन्द्र यादव- 20.
रामस्वरूप वर्मा- 58, 157, 234, 255, 260, 269.
शिवदयाल सिंह चौरसिया- 260.
सबाल्टर्न स्टडीज- 86-87, 91, 102, 105, 203-05.
सांस्कृतिक पूँजी- 15.
हरिजन- 15, 18, 20, 21, 23, 38, 59, 76, 131, 132, 145-47, 153, 154, 178, 198, 255, 309, 344.
हिंसा- 56, 57, 65, 77, 104, 125, 127, 128, 133, 182, 185, 186, 191, 194, 205, 214, 318, 319, 323, 327.